पूजनीया माता
श्रीमती यशोदा देवी
तथा
पूज्य पिता
श्रीमान् मोहनलाल
के
श्री चरणों में

प्रथम संस्करण की

प्रस्तावना

ग्यारह वर्ष से अधिक हुए, फर्वरी सन् १९३१ में मैं ने तुलसीदास की रचनाओं के काल क्रम का प्रारंभिक अनुसंधान प्रयाग विश्वविद्यालय की एम्० ए० परीक्षा के लिए कवि का अध्ययन करते हुए किया था, तभी मुझे यह प्रतीत हुआ था कि तुलसीदास का अध्ययन कदाचित् मैं डॉक्टर की उपाधि के लिए विषय के रूप में ले सकता हूँ। अवकाश मिलने पर काल-क्रम संबंधी अपना यह अध्ययन मैं ने और पूर्ण किया और तदनंतर उसको एक निबंध के रूप में लिख कर श्री डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा को दिखाया, जिन्हों ने उसे प्रकाशन के योग्य समझ कर 'हिंदुस्तानी' में भेज दिया। निबंध उक्त पत्रिका की जनवरी तथा अप्रैल सन् १९३२ की संख्याओं में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष श्रद्धेय डॉक्टर साहब की प्रेरणा से मैं ने हिंदुस्तानी एकेडेमी के तत्वावधान में होने वाली प्रथम कान्फ्रेंस के सामने "मूल गोसाईं चरित की ऐतिहासिकता पर कुछ विचार" शीर्षक एक निबंध पढ़ा, जो 'हिंदुस्तानी' की जुलाई सन् १९३२ की संख्या में प्रकाशित हुआ। अपने इन दोनों ही निबंधों की कुछ प्रतियाँ सम्मति के लिए मैं ने देश विदेश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों को भेजीं, और उत्तर में प्राप्त सम्मतियों से ऐसा प्रोत्साहित हुआ कि उसी के परिणाम स्वरूप अनेक बाधाओं के निरंतर उपस्थित होने पर भी मैं अपने संकल्प से विचलित नहीं हुआ और ईश्वर की कृपा से अंत में कृतकार्य हुआ। इस बीच सन् १९३६-३७ में प्रयाग विश्वविद्यालय से जो सहायता मुझे रिसर्च स्कालर शिप के रूप में मिली कृतज्ञतापूर्वक उसका भी स्मरण करना आवश्यक होगा।

ग्यारह वर्षों के इस दीर्घ काल में मेरे तुलसीदास के अध्ययन के चार विभिन्न प्रयास हो चुके हैं। प्रथम प्रयास कतिपय स्फुट लेखों के रूप में विभिन्न पत्रिकाओं में मिलता है, जिनका एक संग्रह 'तुलसी-संदर्भ' नाम से सन् १९३५ में स्थानीय विवेक कार्यालय से प्रकाशित हुआ था। दूसरा प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० लिट्० की उपाधि के लिए 'थीसिस' के रूप में सन् १९३७ में तैयार हुआ था। तीसरा वही संशोधित और परिवर्धित रूप में सन् १९४० में

तैयार हुआ था, जब मुझे दुबारा उसे उपस्थित करना पड़ा था, और जो डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। और, चौथा प्रयास प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में है। निरंतर एक के बाद एक प्रयास अधिक पूर्ण और अधिक व्यवस्थित हुआ है, और मुझे संतोष है कि जिस रूप में वह पाठकों के हाथों में रक्खा जा रहा है वह बहुत-कुछ उसका अंतिम रूप है, जिसमें जल्दी परिवर्तन होने की मुझे आशा नहीं है। इस अंतिम रूप को तैयार करने में मुझे उपाधि-प्राप्त के बाद भी कितना परिश्रम करना पड़ा है इसका अनुमान इस बात से ही सकेगा कि इस का एक तिहाई भाग आमूल नवीन है। "कृतियों का पाठ" तथा "आध्यात्मिक विचार" शीर्षक दो अध्याय यद्यपि पिछले प्रयास में भी थे, किंतु प्रस्तुत प्रयास के लिए उन्हें पुन: लिखना पड़ा है, और "कृतियों का कालक्रम" शीर्षक अध्याय अधिकांश नए सिरे से लिखना पड़ा है। शेष अध्यायों में भी पर्याप्त नवीन सामग्री तथा नवीन उद्भावनाएँ हैं। प्रस्तुत प्रयास में पिछले की तुलना में एक कमी अवश्य ज्ञात होगी, वह है "मानस-रहस्य" शीर्षक एक अध्याय की। मेरा अनुमान है कि 'रामचरित मानस' की कथा का एक रहस्य पूर्ण 'आध्यात्मिक' अर्थ भी है जो उसके 'आधिभौतिक' और 'आधिदैविक' अर्थों का पूरक है। अपने इस अनुमान को एक रूप देने का प्रयत्न मैं ने पिछले प्रयास में किया था, किन्तु इधर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कुछ और कार्य उस दिशा में करने के उपरांत ही यह अंश वास्तव में पूर्ण हो सकेगा, इस लिए प्रस्तुत प्रयास में मैं ने उसे रोक लिया है। यदि अवकाश और साधन प्राप्त हुए तो शीघ्र ही उस को भी देने का यत्न करूँगा।

दो एक बातें मुझे अपनी विवेचन प्रणाली के संबंध में भी कहनी हैं। इस समस्त प्रयास में सब से पहले मैं ने इस बात का ध्यान रक्खा है कि मैं सत्य का अनुसंधान करूँ, और इस अनुसंधान में मैं ने यथासंभव वैज्ञानिक विधियों का अनुसरण किया है। मुझे संतोष है कि इस प्रयोग में कदाचित् मैं निरंतर वास्तविकता के अधिकाधिक निकट पहुँचता रहा हूँ, क्यों कि मैं देख रहा हूँ कि मेरे इस दीर्घकालीन अध्ययन में जो भी नई सामग्री प्रकाश में आती गई है उसने प्राय: मेरे पूर्वकल्पित निष्कर्षों का समर्थन किया है। दूसरी बात जिस पर मैं ने बराबर ध्यान रक्खा है वह यह है कि मैं इस महाकवि का स्वतंत्र अध्ययन करूँ, और उसके संबंध में किसी प्रकार के तुलनात्मक या ऐतिहासिक विस्तार में न जाऊँ। केवल उसके व्यक्तित्व, उसकी कृतियों, उस की कला

और उस के विचारों को ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न करूँ। इस सीमित परिधि में जो कुछ मैं कर सका हूँ वह इस ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत है। महाकवि की कृतियों के साधारण पाठ के लिए 'मानस' का गीता प्रेस संस्करण, 'सतसई' का एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल संस्करण, तथा शेष के नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण मैंने ग्रहण किए हैं।

'थीसिस' के लिखने तथा उस के प्रस्तुत रूपांतर के प्रकाशन के संबंध में जिन से मुझे सहायता मिली है उन के प्रति आभार प्रदर्शन करना शेष है। 'थीसिस' के लिखने के संबंध में सब से पहले मैं श्री डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा, स्वर्गीय श्री सर जॉर्ज ए० ग्रियर्सन तथा श्री डॉक्टर टी० ग्राहम बेली को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिन के प्रारंभिक प्रोत्साहन से ही मैं इस महान् कार्य में प्रवृत्त हुआ था। खेद है कि श्री ग्रियर्सन इस कार्य को समाप्त देखने के लिए जीवित न रहे। इस के अनंतर मैं अपने निरीक्षक-परीक्षकों सर्वश्री डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डॉक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, तथा रावराजा डॉक्टर श्यामबिहारी मिश्र के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता प्रकाशित करना चाहता हूँ, जिन्हों ने 'थीसिस' की विभिन्न रचना स्थितियों पर मेरा पथ प्रदर्शन किया, और अपने अमूल्य परामर्शों से उसे सफल बनाया। पुन. मैं स्थानीय हस्त लेख विशेषज्ञ श्री सी० ई० हार्डलेस का आभारी हूँ, जिन की सहायता से मैं ने हस्तलेखों के अनेक नमूनों का विश्लेषण किया है। इस ग्रंथ के लिखने में प्रयुक्त समस्त सामग्री के उन अधिकारियों के प्रति भी मैं आभार प्रदर्शन करना चाहता हूँ जिन्हों ने अपनी वस्तुएँ निरीक्षण तथा उपयोग के लिए मुझे उदारतापूर्वक प्रदान कीं; विशेष रूप से मैं राजापुर, बाँदा के श्री मुन्नीलाल उपाध्याय तथा गोस्वामी जी के स्थान के अन्य अधिकारियों का कृतज्ञ हूँ, जिन्हों ने तुलसीदास की उस प्रस्तर मूर्ति का प्रतिचित्र लेने दिया जो प्रस्तुत ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर लगा हुआ है।

प्रकाशन के संबंध में मैं प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चाँसलर श्री प० अमरनाथ झा जी का आभार प्रदर्शन करना चाहता हूँ, जिन्हों ने कृपा करके 'थीसिस' के प्रकाशन का मुझे अधिकार प्रदान किया तथा इस संबंध में हिंदी परिषद् को यूनीवर्सिटी की ओर से धन की भी सहायता प्रदान की, इस सहायता के बिना परिषद् के लिए इस ग्रंथ के मुद्रण को शीघ्र हाथ में लेना संभव न होता। अपने एम० ए० कक्षा के विद्यार्थियों, विशेष कर

के श्री रामसिंह तोमर, के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकाश करना चाहता हूँ, जिन्हों ने 'थीसिस' के कतिपय अंशों के अनुवाद करने, प्रूफ संशोधन और अनुक्रमणिका तैयार करने में मेरी बड़ी सहायता की है। अंत में मैं स्थानीय हिन्दी साहित्य प्रेस के मैनेजर तथा कर्मचारियों को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिन्हों ने भरसक पुस्तक को शुद्ध छापने में मेरे साथपूर्ण सहयोग किया है। मुझे दुःख है कि युद्ध की अनिश्चित परिस्थितियों के कारण छपाई में जो थोड़ी जल्दी करनी पड़ी है उस के कारण छापे की भूलें कुछ न कुछ रह ही गई हैं, आशा है कि विज्ञ पाठक उन्हें शुद्धि पत्र देख कर शुद्ध कर लेंगे।

हिन्दी विभाग
विश्वविद्यालय, प्रयाग
२ मई, सन् १९४२

माताप्रसाद गुप्त

द्वितीय संस्करण की

प्रस्तावना

पुस्तक के आकार-प्रकार में इस संस्करण में कम-से-कम परिवर्तन किया गया है। पिछले प्रायः तीन वर्षों से मैंने 'रामचरितमानस' के पाठ-निर्धारण की समस्या का अध्ययन किया है; उसके परिणाम स्वरूप 'कृतियों का पाठ' शीर्षक अध्याय में तथा और भी कुछ स्थलों पर संशोधन करना पड़ा है, और नई सूचनाएँ जोड़नी पड़ी हैं, अन्यथा अधिकांश में अनुवाद की त्रुटियाँ और छपाई की भूलें ही ठीक करना आवश्यक प्रतीत हुआ है।

पिछले संस्करण की प्रस्तावना में मैंने लिखा था कि मेरा अनुमान है कि 'रामचरितमानस' की कथा का एक 'आध्यात्मिक' अर्थ भी है, जिसको अपने अध्ययन की अपूर्णता के कारण उस समय मैं नहीं प्रस्तुत कर सका था। आवश्यक अवकाश के अभाव में वह अध्ययन अब भी जहाँ का तहाँ है। यदि आगे कभी वह संतोषजनक रीति से पूर्ण हो सकेगा, तो अलग स्वतन्त्र रचना के रूप में उसे प्रस्तुत करने का यत्न करूँगा।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण तीन वर्षों में ही समाप्त हो गया था, पिछले एक वर्ष से अप्राप्य रहा है। इसका कारण कागज़ तथा छपाई की असुविधा है। इस असुविधा को दूर करने में प्रांतीय पेपर कंट्रोलर तथा केंद्रीय अधिकारियों से जो सहायता प्राप्त हुई है उसके लिए हमें उनका विशेष रूप से आभारी होना चाहिए। उनके अतिरिक्त हमें परिषद् के भी अधिकारियों का आभारी होना चाहिए जिन्होंने कागज़ तथा छपाई की इस महँगी के समय भी पुस्तक का मूल्य पूर्ववत् रक्खा है। हिंदी साहित्य प्रेस ने इस बार भी पुस्तक की छपाई का भार लिया, और पूर्ण सहयोग के साथ उसका निर्वाह किया, इसलिए वह भी धन्यवाद का पात्र है। कुछ फार्मों का प्रूफ़ देखने में विश्वविद्यालय के पन्नालाल रिसर्च-स्कालर प० उमाशंकर शुक्ल, एम० ए० ने मेरा हाथ बटाया है, इसलिए उन्हें भी धन्यवाद है।

हिंदी विभाग
प्रयाग-विश्वविद्यालय
२८ जुलाई, १९४२

माताप्रसाद गुप्त

विषय-तालिका

३. जीवन-वृत्त

में प्रियर्सन । १४. तुलसी साहित्य द्वारा दी हुई जन्मतिथि । १५. जन्म-स्थान संबंधी विवाद । १६. राजापुर तथा तारी की परिस्थिति । १७. राजापुर-पक्ष के तर्क । १८. उन पर विचार । १९. सोरों पक्ष के तर्क । २०. उन पर विचार २१. विशेष साक्ष्य । २२. जाति-पाँति संबंधी विविध मत । २३. उनपर विचार २४. कुछ अन्य मत और उन पर विचार । २५. परिणाम । २६. तुलसीदास और नंददास । २७. जन्म और जीवन-संघर्ष के प्रारंभ संबंधी आत्मोल्लेख । २८. उक्त में से एक के संबंध में सोरों वालों का कथन, और उस पर विचार । २९. जीवन के प्रारंभ में उदर पूर्ति के लिए उद्योग । ३०. संतों (राम भक्तों) का सत्संग । ३१. हनुमदाश्रय संबंधी आत्मोल्लेख । ३२. उन का प्रस्तावित तात्पर्य । ३३. गुरु के संबंध में आत्मोल्लेख । ३४. गुरु संबंधी अन्य साक्ष्य-सभी की अनिश्चयात्मकता । ३५. विवाहित जीवन । ३६. वैराग्य । ३७. मूल नाम । ३८. "रामबोला" । ३९. काशी गमन । ४०. काशी-निवास । ४१. मित्र और स्नेही । ४२. सम्मान । ४३. विरोध संबंधी आत्मोल्लेख । ४४ उन का समय । ४५. जातिपाँति संबंधी आक्षेप । ४६. शिवोपासकों द्वारा विरोध । ४७. प्राणापहरण की चेष्टा । ४८. कवि की निर्भीकता । ४९. रुद्रबीसी । ५०. मीन के शनि । ५१. महामारी । ५२. उस का अंत । ५३. बाहु पीड़ा । ५४. बरतोर । ५५. समकालीन बनारसीदास का "बात का रोग" । ५६. मृत्यु । ५७. कवि द्वारा किसी अन्य 'गोसाईं' के संबंध का उल्लेख । ५८. स्वतः 'गोसाईं' होने के संबंध में आत्मोल्लेख । ५९. सं० १७९७ में लोलार्क स्थित "तुलसीदास मठ" । ६०. सं० १८३२ में गोसाईं तुलाराम, सं० १८४८ में गोसाईं पीताम्बर-दास और स्थान "श्री गोसाईं तुलसीदास जी" । ६१. "तुलसीदास मठ" और "स्थान श्री गोसाईं तुलसी दास जी" में परस्पर अविरोध । ६२. सं० १८८२ में स्थान के "गोसाईं" उपाधि-विहीन महंत लक्ष्मणदास । ६३. गोसाईं तुलाराम से अब तक की महंत-परंपरा । ६४. 'गोसाईं' उपाधि-हानि के संबंध में अनुमान । ६५. सं० १६६९ का लिखा पंचायतनामा । ६६. सं० १६४१ की लिखी 'वाल्मीकि रामायण' की एक प्रति । ६७. सं० १६६१ के 'रामचरित मानस' बालकांड की एक प्रति में तीन स्थलों के संशोधन । ६८. सं० १६६६ की लिखी 'राम-गीतावली की एक प्रति में संशोधन । ६९. राजापुर की 'मानस' अयोध्याकांड की प्राचीन प्रति । ७०. इन लिखावटों में 'साधारण स्वरूप' । ७१. 'गति' । ७२.

खत' और 'मोड़' । ७३ 'आकार' । ७४ 'फासला' । ७५ पंक्ति की समाप्ति पर पहुँचते हुए पांति' । ७६ 'झुकाव' । ७७ 'तुलनात्मक मानचित्र' द्वारा लिखावटों का अध्ययन । ७८ परिणाम । [पृ० १०५—१७०]

४. कृतियों का पाठ

१. विषय प्रवेश और प्रस्तावना । २ 'रामलला नहछू' की प्रतियाँ । ३ उस की स० १६६५ की एक प्रति । ४ उस के लिपिकार की लिपि सबंधी प्रवृत्तियाँ । ५ उस का आकार प्रकार और उदाहरण । ६ 'वैराग्य संदीपनी' की प्रतियाँ । ७ 'रामाज्ञा प्रश्न' की प्रतियाँ । ८ पजाब की खोज में प्राप्त स० १६५५ की उस की एक कवि हस्तलिखित प्रति । ९. ग्रियर्सन द्वारा उल्लिखित स० १६५५ की उस की एक कवि-हस्तलिखित प्रति । १० उक्त उल्लेख का प्रतिवाद । ११. समन्वय । १२ स० १६५५ की किसी प्रति की एक मुद्रित प्रतिलिपि । १३ उस की मूलप्रति का लिपिकार । १४ स० १६८९ की उस की एक प्रति । १५ 'जानकी मगल' की प्रतियाँ । १६ स० १६३२ की उस को एक प्रति । १७ उस में दी हुई तिथि की समस्या । १८ स० १६१० की उस की एक प्रति । १९. 'रामचरित मानस' बालकाड की स० १६६१ की एक प्रति । २० क्या वह कवि सशोधित है ? २१ सशोधन द्वारा पाठवृद्धि । २२ सशोधन द्वारा पाठसुधार । २३ परिणाम । २४ बालकाड की स० १६४३ की एक प्रति । २५ क्या वह कवि सशोधित है ? परिणाम । २६. अयोध्या काड की राजापुर की प्रति तथा उस की कवि हस्तलिखित होने की सभावना २७ उस के पाठ की भाषा । २८ उस का साधारण पाठ । २९ अरण्यकाड की स० १६४१ की एक प्रति । ३० क्या वह कवि सशोधित है ? परिणाम । ३१ सुन्दरकाड की स० १६७२ की एक प्रति । ३२ सुन्दरकाड की स० १६६४ की एक प्रति । ३३ लकाकाड की स० १६६७ की एक प्रति । ३४ उत्तर काड की स० १६६३ की एक प्रति । ३५ पिछली तीन प्रतियों की तिथियों में सदेह । ३६ समस्त 'मानस' की कुछ प्रतियाँ । ३७. 'सतसई' की प्रतियाँ । ३८ 'पार्वती मगल' की प्रतियाँ । ३९ 'गीतावली' की स० १७६७ की एक प्रति । ४० उस की एक अति प्राचीन प्रति । ४१ उस के लिपि काल की समस्या । ४२. 'रामगीतावली' और 'पदावली रामायण' की परस्पर सापेक्ष्यता । ४३ 'पदावली रामायण' पाठ का उदाहरण । ४४ 'पदावली रामायण' तथा 'गीतावली' । ४५ 'गीतावली' की स० १६८६ की एक प्रति ।

४६ 'रामगीतावली' की स० १६६६ की एक प्रति। ४७ उस की ठीक-ठीक प्रतिलिपि तिथि का निर्धारण। ४८ उस का आकार प्रकार और पाठ। ४६ कथित 'विनयावली' की स० १६६६ की प्रति। ५०. 'विनय पत्रिका' की स० १७६० की एक प्रति। ५१. 'कृष्ण-गीतावली' की प्रतियाँ और स० १७८७ की उस की एक प्रति। ५२ 'बरवै' की प्रतियाँ। ५३. 'बरवै' की स० १७८७ की एक प्रति। ५४. 'दोहावली' की प्रतियाँ और स० १७८७ की उस की एक प्रति। ५५. 'कवितावली' और 'बाहुक' की प्रतियाँ और स० १७८७ की उस की एक प्रति। ५६. स० १८२० की उस की एक प्रति। [पृ० १६१ २०८]

५ कृतियों का काल-क्रम

१. प्रस्तावना। २. कृतियों का कवि द्वारा काल निर्देश। ३. प्रमाणित घटनाओं के उल्लेखों द्वारा प्राप्त सहायता। ४ कवि के जीवनकाल की प्रतियों द्वारा प्राप्त सहायता। ५-६. विषय निर्वाह तथा शैली के साक्ष्य द्वारा प्राप्त सहायता। ७ प्रस्तावित काल क्रम। ८. अनुसंधान प्रणाली के संबंध में विशेष कथन। ६. 'रामलला नहछू' की स० १६६५ की प्रति। १० ११. ऐतिहासिक प्रमाद। १२ प्रबंध दोष। १३. प्रबंध त्रुटि। १४ अमर्यादित शृंगार। १५ कालक्रम म उस का स्थान। १६ स० १६६५ की प्रति के पाठ के आधार पर काल क्रम में उस का स्थान। १७ अन्य मत। १८ वैराग्य-सदीपनी: केवल एक उपाय। १६ विषय निर्वाह तथा शैली का साक्ष्य। २० 'नहछू' और 'वैराग्य सदीपिनी' में 'कामिनी' विषयक दृष्टिकोण का अतर। २१ काल-क्रम में उस का स्थान। २२ एक बाधा का निराकरण। २३ अन्य मत। २४ 'रामाज्ञा प्रश्न' मे स्पष्ट काल निर्देश। २५ स० १६५५ की उस की प्रति का अस्तित्व। २६ विषय निर्वाह का साक्ष्य। २७ अन्य मत। २८. 'जानकी मंगल' की स० १६३२ की एक प्रति। २६ 'रामाज्ञा प्रश्न' तथा 'मानस' से उस की कथा की तुलना। ३० अतर का समाधान। ३१-३२ काल क्रम में उस का स्थान निर्धारण। ३३ अन्य मत। ३४ 'राम चरित मानस' मे तिथि निर्देश और शका। ३५ शका के कतिपय समाधान। ३६ एक अधिक सगत समाधान। ३७ समाप्ति तिथि। ३८ 'सतसई' में: स्पष्ट तिथि निर्देश। ३६ तत्सबधी शका। ४० 'पार्वती मगल' में स्पष्ट तिथि निर्देश। ४१. 'गीतावली के कवि के जीवन-काल के दो सस्करण: 'पदावली रामायण' तथा 'गीतावली'। ४२. 'रामाज्ञा-प्रश्न'

से कथासाम्य तथा 'मानस' से कथाभेद। ४३. 'गीतावली' में 'रामाज्ञा-प्रश्न' से कथाभेद और 'मानस' से कथासाम्य। ४४. 'मानस' से भी 'गीतावली' में विशेष। ४५. 'पदावली रामायण' में भी कथा की वे विशेषताएँ। ४६ 'पदावली रामायण' का संकलन-काल-निर्धारण। ४७ 'गीतावली' के संकलन काल की समस्या। ४८. अन्य मत। ४९. 'विनय पत्रिका' का कथित तिथि-निर्देश। ५०. सं० १६३६ की उस के 'रामगीतावली' पाठ की प्रति। ५१. 'रामगीतावली' और 'रामाज्ञा-प्रश्न' में कथासाम्य। ५२. 'रामगीतावली' में वृद्धावस्था संबंधी स्पष्ट संकेत। ५३. 'रामगीतावली' का संकलन-काल-निर्धारण। ५४. 'विनय पत्रिका' के संकलन-काल-निर्धारण की समस्या। ५५. अन्य मत। ५६. 'कृष्ण-गीतावली' की समस्या। ५७. 'कृष्ण गीतावली' और 'गीतावली' का विषय-निर्वाह तथा शैली के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन। ५८. कृष्ण गीतावली' का संकलन-काल-निर्धारण। ५९. अन्य मत। ६०. बरवै' की समस्या। ६१. उस में वृद्धावस्था संबंधी आत्मोल्लेख। ६२. काल-क्रम में उस का स्थान-निर्धारण। ६३. अन्य मत। ६४. 'दोहावली' में प्रमाणित घटनाओं का उल्लेख और उन का समय-निर्धारण। ६५. काल-क्रम में उस का स्थान-निर्धारण। ६६. अन्यमत। ६७. 'कवितावली' में कतिपय प्रमाणित घटनाओं के उल्लेख। ६८. उन का समय-निर्धारण। ६९ काल-क्रम में उस का स्थान-निर्धारण। ७०. 'बाहुक' की समस्या। ७१. अन्य मत। ७२ सिंहावलोकन। ७३. 'राम चरित मानस' का रचना-क्रम। ७४. विभिन्न अंशों का विश्लेषण। ७५. ग्रंथ की पांडुलिपियाँ। ७६. प्रथम पांडुलिपि का आकार-प्रकार। ७७. कवि-निर्दिष्ट ग्रंथ-संख्या के साथ उस के आकार का सामंजस्य। ७८. एक शंका और उस का समाधान। ७९-८०. द्वितीय-पांडुलिपि का आकार-प्रकार। ८१. कवि-निर्दिष्ट ग्रंथ संख्या के साथ उस का सामंजस्य। ८२-८३ तृतीय पांडुलिपि का आकार-प्रकार। ८४. कवि-निर्दिष्ट ग्रंथ-संख्या के साथ उस का सामंजस्य।

[पृ० २०९-२७०]

६. कला

१. प्रस्तावना। २. चरित्र-चित्रण : विषय-प्रवेश। ३-४. आधार ग्रंथों के चरित्रों से तुलसी-ग्रंथावली के चरित्रों में एक व्यापक अंतर। ५. उन से व्यक्तिगत अंतर। ६. आधार ग्रंथों में राम। ७. 'मानस' में विशेष। ८. शंका और समाधान। ९. 'गीतावली' तथा 'कवितावली' में विशेष। १०. आधार

७. आध्यात्मिक विचार

१-२. प्रस्तावना । ३. 'रामचरित मानस' : (१) राम का निर्गुण ब्रह्मत्व । (२) राम का सगुण ब्रह्मत्व । (३) अवतार-धारण में 'माया' का आश्रय । (४) निर्गुण की अपेक्षा सगुण रूप में गूढ़त्व तथा राम में कर्मों के आरोप का अनौचित्य । (५) राम का विष्णुत्व । (६) विष्णु का ब्रह्मत्व । (७) अपनी मायाद्वारा सृष्टि की रचना तथा संहार । (८) राम का विभवत्व । (९) अवतार-हेतु । (१०) अवतार में चतुर्व्यूहत्व । (११) लक्ष्मण का शेषत्व । (१२) लक्ष्मण में विश्व का करण-कारणत्व । (१३) राम का शेषत्व । (१४) लक्ष्मण का ब्रह्मत्व । (१५) भरत में विश्व-पोषकत्व । (१६) शत्रुघ्न में शत्रु-सूदनत्व । (१७) वानरादि में देवत्व । (१८) वानरादि में सगुण ब्रह्म-उपासकत्व । (१९) सीता का मूल प्रकृतित्व । (२०) सीता का योगमायात्व तथा परम शक्तित्व । (२१) लोक में राम-सीता की पूर्ण व्याप्ति । (२२) सीता का लक्ष्मीत्व । (२३) लक्ष्मी का परम शक्तित्व (२४) माया की त्रिगुणात्मकता । (२५) माया का मूल प्रकृतित्व । (२६) माया का 'कार्य-क्षेत्र' । (२७) माया का स्वतः जड़त्व तथा रामाश्रय से क्रियाशीलत्व । (२८) माया का रामाधीनत्व । (२९) माया की सृष्टि । (३०) विराट् । (३१) संसार का मिथ्यात्व । (३२) जीवत्व । (३३) शरीर का अनात्मत्व । (३४) जीव में यथार्थ ईश्वरत्व । (३५) जीव पर माया का प्रभुत्व । (३६) जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व । (३७) माया के दो रूप : विद्या तथा अविद्या । (३८) अविद्या के दो रूप : आवरण तथा विक्षेप । (३९) जीव तथा ब्रह्म के अभेद-ज्ञान से भव-नाश । (४०) ब्रह्म-ज्ञान से ब्रह्मत्व । (४१) बोध-ज्ञान । (४२) मुक्ति-साधन के लिए विषय-विराग तथा परमार्थ चिंतन की आवश्यकता । (४३) कर्म-मार्ग से मुक्ति की असंभावना । (४४) भक्ति-मार्ग से मुक्ति की अनिवार्यता । (४५) भक्तिसाध्य; ज्ञान-विज्ञानादि उसके साधन । (४६) भव-शमन में ज्ञान तथा भक्ति दोनों की समर्थता किन्तु ज्ञान-साधन की दुर्लहता और निर्बलता तथा भक्ति की सुगमता और सबलता । (४७) भक्ति बिना मुक्ति असंभवप्राय । (४८) मुक्ति के लिए राम-कृपा की आवश्यकता । (४९) राम-कृपा की सुलभता । (५०) राम-भक्ति और अविद्या । (५१) कथाश्रवण में अमृत अनुराग राम-भक्ति की एक भूमिका । (५२) राम-कथा का केन्द्र संत-समाज । (५३) संत-असंत-लक्षण । (५४) संत कृपा की आवश्यकता । (५५) गुरु-कृपा की आवश्यकता । (५६) नामस्मरण

राममक्ति की एक। अन्य आवश्यक भूमिका। (५७) स्वरूपासक्ति—। (५८) यश-कीर्तनासक्ति—। (५६) पूजासक्ति—। (६०) रामतीर्थों की यात्रा—। (६१) ब्राह्मण सेवा—। (६२) अनात्म विषयों से मन का निर्लिप्त रखना—। (६३) लोक निरपेक्षा युक्त अनन्याश्रय बुद्धि—। (६४) वासनाविहीन तथा व्यापक प्रेम—। (६५) सर्वस्वभाव—। (६६) लोक-संग्रह वृत्ति—। (६७) स्वदोषानुभूति तथा भागवत भक्ति—। (६८) तितिक्षा वृत्ति—। (६६) तन्मयता—। (७०) शुद्ध प्रेमासक्ति—। (७१) कर्ममूलक, ज्ञानमूलक तथा भक्तिमूलक भक्तिमार्ग। (७२) शिवभक्ति रामभक्ति की एक स्वतंत्र भूमिक। (७३) राम के पारमार्थिक स्वरूप के साक्षात्कार से भव-नाश। (७४) साक्षात्कार का साधन ध्यान। (७५) ध्यान के लिए निर्गुण स्वरूप की अनुपयुक्तता तथा सगुण की उपयुक्तता। (७६) योग द्वारा मोक्ष और चित्त शुद्धि, किन्तु रामभक्त के लिए वह अनावश्यक। (७७) ब्रह्मा रामभक्त। (७८) ब्रह्मादि अन्य जीवों से अभिन्न। (७६) मुक्ति के तीन प्रमुख भेद—सायुज्य, सामीप्य, तथा सालोक्य—और भेद भक्ति। ४. 'विनय पत्रिका' : (१) राम का निर्गुण ब्रह्मत्व। (२) सगुण ब्रह्मत्व। (३) विष्णुत्व। (४) विष्णु का ब्रह्मत्व। (५) राम का मूल प्रकृतित्व। (६) राम का विभवत्व। (७) अवतार के कारण। (८) लक्ष्मण का शेषत्व। (६) राम का शेषत्व। (१०) भरत का विश्व-पोषकत्व। (११) शत्रुघ्न का शत्रु-सूदनत्व। (१२) वानरादि का देवत्व। (१३) सीता का आदि शक्तित्व। (१४) माया का रामाश्रयत्व। (१५) सृष्टि-विस्तार। (१६) राम का करण-कारणत्व। (१७) जगत् का मिथ्यात्व। (१८) आत्म परिचय और भवनाश के लिए विषय-विराग की आवश्यकता। (१६) जीव में यथार्थ ईश्वरत्व। (२०) मन के कारण भव-बंधन। (२१) स्वरूप विस्मरण के कारण ही भव बंधन। (२२) स्वरूप-ज्ञान। (२३) रामभक्ति से भवनाश। (२४) अन्य साधनों से उस की प्राप्ति में कठिनता। (२५) भक्ति साधन की अपेक्षाकृत सुगमता। (२६) राम-भक्ति विना मुक्ति असंभव। (२७) मुक्ति के लिए रामकृपा आवश्यक। (२८) राम कृपा की सुलभता। (२६) रामभक्ति के बिना 'विवेक' असंभव। (३०) चरित्र-श्रवण रामभक्ति की एक भूमिका। (३१) सत्संग रामभक्ति की एक अन्य भूमिका। (३२) संत-लक्षण। (३३) संत कृपा से राम-प्राप्ति। (३४) गुरुकृपा—रामभक्ति की एक अन्य भूमिका। (३५) नाम जप—। (३६) स्वरूपासक्ति—। (३७) यशकीर्तनासक्ति—। (३८) रामतीर्थ सेवन—

(३६) ब्राह्मण-सेवा —। (४०) लोक से निरपेक्षता तथा उपास्य के प्रति अनन्य आश्रय-बुद्धि—। (४१) सर्वस्वभाव—। (४२) भागवतभक्ति—। (४३) स्वदोषानु भूति। (४४) अन्य भूमिकाएँ (४५) शिवभक्ति एक स्वतंत्र भूमिका। (४६) हनुमानभक्ति। (४७) नित्यलीला वाले राम का साक्षात्कार। (४८) शिव तथा ब्रह्मा रामभक्त। (४६) क्रिया मार्ग द्वारा राम की पूजा। ५. 'अध्यात्म रामायण' : (१) राम का निर्गुणत्व। (२) सगुणत्व। (३) मायाश्रय से अवतार। (४) माया के आश्रय से मानव। (५) राम में कर्मों के आरोप का अनौचित्य (६) राम का विभवत्व। (७) विष्णु का परत्व। (८) राम का मूलप्रकृतित्व। (६) राम का विभवत्व। (१०) अवतार लेने के अनेक कारण। (११) राम का चतुर्व्यूहत्व। (१२) लक्ष्मण का शेषत्व। (१३) लक्ष्मण का करणत्व। (१४) लक्ष्मण में रामत्व। (१५) लक्ष्मण में विष्णुत्व। (१६) लक्ष्मण का विराट् पुरुषत्व। (१७) लक्ष्मण का विष्णुत्व। (१८) राम का शेषत्व। (१६) लक्ष्मण का शेषांशत्व। (२०) लक्ष्मण का नारायणांशत्व। (२१) भरत का नारायण का शंखत्व। (२२) शत्रुघ्न का नारायण का चक्रत्व। (२३) वानरादि का देवत्व। (२४) सीता का मूल प्रकृतित्व। (२५) सीता का योगमायात्व। (२६) सीता का परम शक्तित्व। (२७) लोक में राम-सीता व्याप्ति। (२८) सीता का लक्ष्मीत्व। (२६) मूल प्रकृति, योगमाया, शक्ति तथा लक्ष्मी की अभिन्नता। (३०) माया, अविद्या, संसृति, तथा बंधन की भी उन से अभिन्नता। (३१) माया का त्रिगुणात्मिकत्व। (३२) माया का मूल प्रकृतित्व। (३३) माया का आदि शक्तित्व। (३४) माया द्वारा सृष्टि के लिए राम का सान्निध्य। (३५) माया का रामाश्रयत्व। (३६) माया राम की एक नर्तकी मात्र। (३७) 'अव्याकृत' और 'वैराज'। (३८) अव्याकृत और मूल प्रकृति आदि की अभिन्नता। (३६) 'महत्तत्व'। (४०) 'अहंकार'। (४१) अहंकार के तीन भेद। (४२) 'सूक्ष्म तन्मात्राएँ'। (४३) पंच स्थल भूत। (४४) दश इंद्रियाँ। (४५) इंद्रियों के देवता तथा मन। (४६) सूत्रात्मक लिंग शरीर। (४७) 'विराट्' विष्णु का स्थूल शरीर। (५०) 'सूत्र' विष्णु का सूक्ष्म शरीर। (५१) राम अनेक रूप से लोक पालक। (५२) वही। (५३) राम का विश्व का उपादान कारणत्व। (५४) जीवत्व। (५५) बुद्धि अविद्या-जनित। (५६) बुद्धि में ज्ञान शक्ति का अभाव। (५७) बुद्धि से तीन अवस्थाएँ। (५८) जगत् का मिथ्यात्व। (५६) आत्मा में विश्व की कल्पना मायाजनित।

चित्र-सूची

संक्षेप और संकेत

अध्यात्म०	=	'अध्यात्म रामायण'	मानस	=	'रामचरित मानस'
इं० ऐं०	=	इंडियन ऐंटीक्वेरी'	मि० बं० वि०	=	'मिश्रबंधु विनोद'
कविता०	=	'कवितावली'	मू० गो० च०	=	'मूल गोसाईं चरित'
कृ० गी०	=	'कृष्ण गीतावली'	रा० ल० न०	=	'रामलला नहछू'
जा० मं०	=	'जानकी मंगल'	रामाज्ञा०	=	'रामाज्ञा प्रश्न'
तु० ग्रं०	=	'तुलसी ग्रंथावली'	वा० रा०	=	वाल्मीकि रामायण'
दो०	=	दोहा	विनय०	=	'विनय पत्रिका'
दोहा०	=	'दोहावली'	वै० सं०	=	'वैराग्य संदीपिनी'
ना० प्र० प०	=	'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'	शि० सिं० स०	=	'शिवसिंह सरोज'
नो०	=	नोटिस	सत०	=	'सतसई'
पा०	=	पाद टिप्पणी	सन्	=	सन् ईस्वी
प्र०	=	प्रकाशक	समी०	=	समीकरण
पा० मं०	=	'पार्वती मंगल'	सं०	=	संवत् विक्रमीय
बरवै०	=	'बरवै रामायण	हिं०	=	हिन्दी
बाहुक	=	'हनुमान बाहुक'	हिं० खो० रि०	=	हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज रिपोर्ट
भ० टी०	=	'भक्तमाल टीका'			

राजापुर की प्रस्तर-मूर्ति

१

भूमिका

१ महाकवि तुलसीदास का अध्ययन हिंदी साहित्य के अध्ययन का एक सर्व प्रमुख अंग रहा है। नवीन परिपाटी पर इस अध्ययन का प्रारंभ कब से होता है, उसका विकास किस प्रकार होता है, उस विकास में प्रमुख रूप से किन महानुभावों के हाथ लगते हैं, वे इस अध्ययन को किस प्रकार आगे बढ़ाते हैं, अब भी कौन कौन सी दिशाएँ ऐसी हैं जिन में कार्य करने की आवश्यकता है, और उन दिशाओं में अध्ययन के लिए हमें किस प्रकार आगे बढ़ना चाहिए यही इस अध्याय के विषय हैं।

२. नवीन परिपाटी के इस अध्ययन का एक प्रकार से श्रीगणेश करने वाले स्वर्गीय एच्० एच्० विल्सन महोदय थे। 'एक प्रकार से' मैंने इस लिए कहा कि यद्यपि आप ने स्वतः हमारे महाकवि की रचनाओं का अध्ययन संभवतः न किया होगा, पर आप के बाद के कई लेखकों ने जो तुलसीदास का अध्ययन हमारे सामने उपस्थित किया, उस में दिए हुए जीवन वृत्त के प्रमुख साधन आप ही थे। "ए स्केच अव् दि रिलिजस सेक्ट्स अव् दि हिंदूज"[1] नामक आप का वह निबंध जिस में हमारे कवि का उल्लेख हुआ था पहले पहल सं० १८८८ में 'एशियाटिक रिसर्चेज' में प्रकाशित हुआ था। कवि के जीवन वृत्त से संबंध रखनेवाली आप की सूचना नाभादास जी के छप्पय और उस पर प्रियादास जी की टीका के अतिरिक्त कुछ जन श्रुतियों के आधार पर निर्मित थी। इस सूचना में कवि का जाति, जन्म-स्थान, काशी में कार्यक्षेत्र, गुरु परंपरा, जन्म काल, देहावसान तिथि और रचनाओं पर कुछ प्रकाश डाला गया है। तुलसीदास आप का मुख्य विषय न होने के कारण यद्यपि हम यह आशा न करना चाहिए कि जन-श्रुतियों के संग्रह करने में आप ने कोई विशेष श्रम किया होगा, फिर भी वे हमारे लिए महत्व की हैं, क्योंकि एक तो वे पीछे संकलित की हुई जन श्रुतियों से कुछ भिन्न हैं, और दूसरे इतनी प्राचीन हैं

[1] जिल्द १६, पृ० ४८

कि किसी विश्वस्त व्यक्ति द्वारा उन से पहले सकलित की हुई दूसरी जन-श्रुतियाँ इस समय अप्राप्य हैं।

३. 'हिंदी और हिंदुस्तानी' के कदाचित् प्रथम इतिहास लेखक स्वर्गीय गार्सा द तासी ने स० १८९६ में अपने जिस महत्वपूर्ण इतिहास 'इस्त्वार द ला लितरेत्यौर इदुई ए इंदुस्तानी' का पहला खड प्रकाशित किया, उस मे[1] आप ने हमारे कवि का परिचय देते हुए उपर्युक्त विल्सन साहब का ही आश्रय लिया। इस इतिहास के परिवर्धित और सशोधित सस्करण में, जो स० १९२७-२८ मे प्रकाशित हुआ, आप ने कवि के ग्रथों और उन की प्रतियों के सबध में कुछ नवीन सामग्री अवश्य उपस्थित की, पर जीवन-वृत्त ज्यों का त्यों रक्खा।

४. इन प्राथमिक अध्ययन कर्ताओं में एक और भी अधिक स्मरणीय नाम है स्वर्गीय एफ० एस० ग्राउस महोदय का, जिन्होंने कवि की सब से अधिक महत्वपूर्ण रचना 'रामचरित मानस' का कई वर्षों के निरतर परिश्रम के अनतर अंग्रेज़ी अनुवाद कर के हमारे कवि का यश पाश्चात्य देशों में फैलाने का प्रयत्न किया। इस ओर आप का पहला प्रयास स० १९३३ मे दिखाई पड़ा, जब 'दि प्रोलॉग टु दि रामायण अव् तुलसीदास : ए स्पेसिमेन अव् ट्रासलेशन' नामक आप का लेख एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल के जरनल मे[2] प्रकाशित हुआ। पूरे ग्रथ का अनुवाद तो खडों में स० १९३४ से १९३८ तक निकलता रहा। इस अनुवाद की भूमिका में आप ने जो कवि का जीवन वृत्त दिया है वह विल्सन साहब की ही सूचना के आधार पर है, पर उक्त सूचना का उपयोग आप ने सावधानी से किया है, और उसकी कुछ भूलों पर भी आपने दृष्टिपात किया है।

५. स० १९३४ मे लिखने वाले 'सरोज' के लेखक स्वर्गीय श्री शिवसिंह सेंगर का नाम भी उल्लेखनीय है। 'सरोज' में पहले[3] हमारे कवि के सबध मे लिखते हुए आप ने उस का एक सक्षिप्त जीवन वृत्त दिया, और फिर अन्यत्र[4] किन्हीं पसका निवासी वेनीमाधव दास रचित एक बृहत् 'गोसाईं चरित्र' की सूचना दी, जिसे आप ने लिखा कि आप ने देखा था। फिर भी आप ने यह नहीं लिखा कि कवि का जो जीवन वृत्त आप ने दिया है वह इस 'गोसाईं चरित्र' के आधार

[1] पृ० ५१६

[2] पृ० १

[3] पृ० ४२७

[4] पृ० ४३२

पर लिखा गया था अथवा स्वतंत्र रीति से, और न आप ने उक्त 'गोसाईं चरित्र' के प्राप्ति स्थान का निर्देश किया। परिणाम यह हुआ कि कवि के प्रेमियों में उक्त 'चरित्र' की उत्सुकता जगा कर आप ने उस के समाधान का कोई मार्ग नहीं दिखाया। इसी लिए आप के परवर्त्ती लेखकों ने यद्यपि आप की 'चरित्र' विषयक सूचना का उल्लेख तो किया पर आप के लिखे हुए कवि के जीवन वृत्त को कोई महत्व नहीं दिया। इस संबंध में विशेष उल्लेख-योग्य सर जॉर्ज ग्रियर्सन हैं, जिन्हों ने अपना 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदोस्तान' लिखते समय आप के 'सरोज' का पूरा उपयोग किया पर उसी में हमारे कवि का जीवन वृत्त देते हुए कदाचित् अपने स्वतंत्र अनुसंधानों से आप के उल्लेखों का विरोध देखने पर आप के निष्कर्षों का उल्लेख भी नहीं किया।

६. किंतु यशस्वी स्वर्गीय सर जॉर्ज ए० ग्रियर्सन की सेवाओं की इस क्षेत्र में तुलना नहीं हो सकती। जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आप ने हमारे महाकवि के जीवन और रचनाओं के संबंध में पहले ही पहल अनुसंधान किया, यह दुःख का विषय है कि उसका परिचय आप के पीछे आने वाले विद्वानों ने नहीं दिया। इस दिशा में आप ने पहला उल्लेख योग्य प्रयास सं० १९४२ में किया, जब वेन की अंतर्राष्ट्रीय ओरिएंटल कांग्रेस के सामने[1] आप ने "हिंदुस्तान का मध्यकालीन साहित्य, विशेषरूप से तुलसीदास" विषयक अपना सारगर्भित निबंध पढ़ा। इस लेख में आप ने हमारे कवि के जीवन, उस की कृतियों और विचारों पर पर्याप्त नया प्रकाश डाला। पीछे सं० १९४६ में प्रकाशित होने वाले आपके 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदोस्तान' नामक ग्रंथ में कवि के विषय में जो सूचना दी गई[2] वह बहुत कुछ इसी निबंध का रिप्रिंट है। सं० १९५० में 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' में आप के "नोट्स ऑन तुलसीदास" प्रकाशित हुए[3], जो इस क्षेत्र में आप की उज्वल कीर्ति के स्तंभ हुए। इन "नोट्स" का पहला अंश कवि की तिथियों की गणना से संबंध रखता है। गणना परिश्रम पूर्वक ज्योतिष के मान्य सिद्धांतों के अनुसार की गई है। दूसरा अंश कवि की कृतियों से संबंध रखता है। इस में पहले कवि की कृतियों की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है, जिस में छः छोटे और छः बड़े ग्रंथों का कवि की रचना

[1] 'अरीशे' खंड, पृ० १७९
[2] पृ० ४७
[3] पृ० ८९, १२२, १९७, २२५, और २५३

प्रयास एक प्रकार से अद्वितीय है। तुलसीदास के कुछ अन्य ग्रंथों का संपादन भी खत्री जी ने प्राचीन प्रतियों की सहायता से किया था। खेद है कि यह संस्करण अब अप्राप्य है।

८ तुलसीदास के अध्ययन के इतिहास में एक और उल्लेख-योग्य तिथि सं० १९५६ है, जिसमें इंडियन प्रेस के मालिक स्वर्गीय श्री चिंतामणि घोष ने हिंदी के पाँच प्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा संपादित 'रामचरितमानस' प्रकाशित किया। संपादक थे स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू (पीछे डॉक्टर) श्यामसुन्दर दास, बाबू कार्तिक प्रसाद और बाबू अमीर सिंह। प्रारंभ में इस संस्करण में एक बड़ी सी भूमिका है, जिस में कवि के जीवन-वृत्त तथा उसकी कृतियों पर विचार किया गया है। पर यह भूमिका अधिकांश में ग्रियर्सन साहब की खोजों के आधार पर ही लिखी गई है। संपादन अवश्य परिश्रम से किया गया जान पड़ता है, यद्यपि अपने ढंग का एक प्रारंभिक प्रयास होने के कारण इसमें त्रुटियाँ अनेक हैं इसमें संदेह नहीं। लिपि, उच्चारण और व्याकरण से संबंध रखने वाली कुछ त्रुटियों पर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक होगा। यह त्रुटियाँ किसी विस्तृत जाँच के बाद नहीं, साधारण तौर पर देखने से ही मिली हैं, और केवल उदाहरण के लिए नीचे रक्खी जाती हैं :—

'व' का कहीं-कहीं 'ब' होगया है : जैसे 'अवध' का 'अबध'।

और कहीं कहीं 'ब' का 'व' हो गया है : जैसे 'बरूथ', 'बसन', 'बस्तु', 'बायस', 'बरियहि', 'बासिन्ह', 'बिचारू', 'बिचित्र', 'बृषकेतु', 'बृष्टि', 'बेगि', 'बेषा', 'बैद', 'ब्यसन', और 'ब्यापक' में। यह अवश्य संभव है कि 'ब' को 'व' का रूप जानबूझ कर दिया गया हो।

'ए' रूप साधारण है, पर 'ये' भी मिलता है।

'अउर' रूप साधारण है, पर कहीं-कहीं 'और' भी मिलता है।

'कै' रूप साधारण है, पर 'कइ' भी मिलता है।

'न्ह' और 'न्हि' दोनों से बने हुए रूप बहुवचनों में मिलते हैं।

'कहहुँ' और 'कहउँ', और इसी प्रकार 'कहहु' और 'कहउ' भी मिलते हैं।

'कहेहु', और 'कहेउ', 'किएहु, और 'कियेहु', 'कीन्हेहु' और 'कीन्हेउ' भी समान रूप से पुस्तक भर में मिलते हैं।

यदि इस प्रकार की त्रुटियाँ न होतीं तो यह संपादन कदाचित् उस से भी अधिक महत्वपूर्ण होता जो पीछे किया गया—मेरा आशय यहाँ है उस संस्करण से जो 'तुलसी ग्रंथावली' में प्रकाशित हुआ, और जिस के विषय में हम आगे विचार करेंगे।

९. स्वर्गीय लाला सीताराम की सेवाएँ भी उल्लेखनीय हैं। गोस्वामी जी के आप बड़े भक्त थे। सं० १९६५ में राजापुर की 'मानस' अयोध्याकांड की प्रति का पाठ बड़े परिश्रम से संपादित कर आप ने प्रकाशित किया। सं० १९७१ के रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में आपका एक विचारपूर्ण निबंध "तुलसीदास के रामायण की मौलिकता" विषयक प्रकाशित हुआ।[1] इन के अतिरिक्त इस क्षेत्र में लेखों तथा भूमिकाओं आदि[2] के रूप में कुछ और भी सेवाएँ आप ने कीं, जो प्रशंसनीय हैं।

१०. मिश्रबंधु की सेवा इस क्षेत्र में भी, जैसे अन्य क्षेत्रों में, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सं० १९६७ में आप लोगों का 'हिन्दी नवरत्न' नामक प्रसिद्ध समालोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। उस समय तक हमारे कवि के जीवन-वृत्त और उसकी कृतियों के संबंध में बहुत कुछ लिखा जा चुका था, फिर भी निकट से उसकी रचनाओं का अध्ययन करना और काव्य-संबंधी उस के सिद्धांतों का निश्चय करना रह ही गया था। यह कार्य मिश्रबंधु ने अपने हाथ में लिया, और इस उपेक्षित पक्ष पर स्वतंत्रता पूर्वक अपने विचार उपस्थित कर आप लोगों ने एक प्रकार से तुलसीदास की समालोचना की नींव डाली। 'हिंदी नवरत्न' में आप लोगों ने हमारे कवि को न केवल हिंदी साहित्य वरन् संसार के साहित्य के कवियों में सर्वोच्च कहा। "कवि की कविता" का परिचय देते हुए आप लोगों ने उस के गुणों और दोषों पर अलग अलग विचार किया है। जिन गुणों का आप लोगों ने उल्लेख किया है, उनकी संख्या २१ है, और वे इस प्रकार हैं —

(१) कथा-वर्णन में गोस्वामी जी कोई बात यकबारगी नहीं कह देते,

[1] पृ० ४१६

[2] 'माधुरी', वर्ष ६, खंड २, पृ० २९०—"गोस्वामी तुलसीदास और रामचरित", वही, वर्ष १२, खंड २, पृ० ३६४—"मानस की रचना का स्थान और समय", तथा 'तुलसीदास फ्रॉम हिंदी लिटरेचर', भाग २, पृ० ८

बल्कि आने वाली बड़ी-बड़ी घटनाओं की सूचना पहले ही से देते रहते हैं। (२) पात्रों के उचित अथवा अनुचित आचरणों पर अपनी सम्मति प्रकट करते चलते हैं। (३) रोचकता-रहित तैयारियों में समय नष्ट न कर पाठक को मुख्य कथा पर तुरंत पहुँचा देते हैं। (४) 'अमुक उवाच' कहे बिना भी बात कह देते हैं, पर यह विदित हो जाता है कि बात किस ने कही। (५) बड़ी-बड़ी घटनाओं में आकाश-वाणी करा देते हैं। (६) निंद्य मनुष्यों पर सदैव बड़ा क्रोध प्रकट करते हैं। (७) कथा में घटा-बढ़ी करने के संबंध में कवि ने स्वयं लिख दिया है—"नानापुराण निगमागम-सम्मत" आदि। (८) समय तथा स्थान का परिमाण कहीं-कहीं बहुत बढ़ा कर लिखा है। (९) युद्ध-वर्णन में इस बात का ध्यान रक्खा है कि शिथिलता कहीं न आने पावे। (१०) अपने नायक तथा उपनायक के शीलगुण का एकरस निर्वाह किया है। (११) विप्रगण की महिमा का सदा गान किया है, और यह कहा है कि गुणी अथवा गुणहीन सब प्रकार के ब्राह्मण पूज्य हैं। (१२) इन्द्र तक देवताओं को मनुष्यों से कुछ ही बड़ा और ऋषि मुनियों से कम माना है। (१३) राम के अतिरिक्त सभी देवताओं का पूजन केवल इसी लिए किया है कि उन के सहारे राम की भक्ति प्राप्त हो, अथवा वह और दृढ़ हो। (१४) सगुण ब्रह्म की उपासना की है। (१५) रामचंद्र को परब्रह्म ज्योतिःस्वरूप माना है, पर कहीं-कहीं उन को विष्णु का अवतार भी कह दिया है। (१६) राम के लिए अकसर सिफारशी बातें कही हैं। (१७) भक्ति को ज्ञान आदि से ऊँचा कहा है। (१८) माया दो प्रकार की कही है, एक राक्षसों की और दूसरी परमेश्वर की। (१९) तपस्या को भी बड़ा पद दिया है। (२०) स्त्रियों की हर जगह निंदा की है, और भाग्य पर विश्वास प्रकट किया है। (२१) दीनता और निरभिमानता के साथ अपनी रचना के परमोत्तम होने का विश्वास भी प्रकट किया है।

जिन दोषों का आप लोगों ने उल्लेख किया है, उनकी संख्या १६ है। वे साधारण हैं, उन्हें दोष नहीं त्रुटियाँ ही कहना ठीक होगा, और उनके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इस के बाद "गोस्वामी जी के मत" का शीर्षक है। मतों की संख्या १५ है, और वे इस प्रकार हैं :—

(१) कवि का मत है कि कविता टेढ़ी और निंद्य है, पर यदि उस में रामकथा गाई जाय तो सत्संग से वह भी पावन हो जाती है। (२) कवि की दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात उस के देखने और मनन करने से

छूटती नहीं थी। (३) कवि ने लोगों का वार्तालाप बड़ी उत्तमता से वर्णित किया है। (४) नायकों का शीलगुण दिखाने के लिए कवि ने उपनायकों की त्रुटियाँ ख़ूब ही दिखला दी हैं। (५) कवि ने बड़े-बड़े एव बड़े ही सुन्दर रूपक कहे हैं। (६) उस ने रामचन्द्र के अनेक नखशिख कहे हैं, और वे एक से एक बढ़िया हैं। (७) वह रामचन्द्र के संबंध में भूल कर भी कोई अनुचित संदेह करने वाले को क्षमा नहीं कर सकता। (८) यद्यपि उसे हँसी पसंद न थी, तो भी उस ने कहीं-कहीं प्रच्छन्न प्रहसन को जगह दे ही दी है। (६) उस के सैकड़ों पद कहावत के रूप में प्रचलित हो गए हैं। (१०) कई प्रकार की भाषाओं में उस ने सफलता-पूर्वक कविता की है। (११) स्थान और विषय के अनुसार समुचित शब्दों का प्रयोग तो कोई उस से सीख ले। (१२) उस ने अनुप्रास तथा यमक को बहुत आदर नहीं दिया है। (१३) उस ने बहुत स्वतंत्रता के साथ सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। (१४) हर्ष या उमंग के समय प्रायः उस ने छंद लिखे हैं, यद्यपि वे दोहे-चौपाइयों से प्रायः शिथिल हैं। (१५) "महात्मा तुलसीदास सरीखे महाकवि के गुणों का समुचित वर्णन करना हमारी शिथिल लेखनी और स्वल्प शक्ति से परे है। इन की रचनाओं के प्रति पृष्ठ, प्रति पंक्ति, बल्कि प्रति शब्द में अद्वितीय चमत्कार देख पड़ता है।"

इस विवेचन के अनंतर 'मानस' के २४ स्थलों की ख़ूबियाँ "स्फुट गुणों" के रूप में आप लोगों ने दिखाई हैं। तदनंतर कवि के गुणों और दोषों को समष्टि रूप में तुलना की दृष्टि से देख कर गुणों के आधिक्य का निर्देश किया है, और साहित्य में उस के सर्वोच्च स्थान पाने का उल्लेख किया है। 'हिन्दी-नवरत्न' में समाविष्ट हमारे कवि के विवेचनात्मक अध्ययन का यह एक संक्षिप्त ख़ाका है।

तुलसीदास के समालोचनात्मक अध्ययन का सूत्रपात करने वाला यह विवेचन कितना युक्तियुक्त और गहरा है, यह प्रकट ही हो गया होगा। केवल इन्हीं विशेषताओं के आधार पर तुलसीदास को विश्व-साहित्य का सब से बड़ा व्यक्तित्व मानना तो दूर हिन्दी साहित्य का भी सब से बड़ा कवि मानने में आपत्ति हो सकती है। किन्तु इस विवेचन के संबंध में जो बात सब से अधिक खटकती है वह है विवेचन कला के ही अति-सामान्य तत्वों की उपेक्षा। उदाहरण के लिए, ऊपर गिनाए हुए २१ गुणों में से (५), (८), (११),

(१४), (१५), (१६), (१७), (१८), (१९) और (२०) को गुणों के अन्तर्गत रखने और ऊपर गिनाए हुए १५ गोस्वामी जी के मतों में से प्रथम को छोड़ कर शेष को उनका मत मानने का समर्थन किस प्रकार किया जावे, यह समझ में नहीं आता। फिर भी मिश्रबंधुओं की यह समालोचना-प्रणाली इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि ग्रंथ के प्रायः आधे दर्जन संस्करण हो चुके हैं। तुलसीदास के अध्ययन वाले कुल साहित्य में यह सौभाग्य अभी तक किसी अन्य विवेचन को नहीं प्राप्त हुआ है।

११. सं० १९६८ में एक इटालियन विद्वान् एल्० पी० टेसीटॅरी का 'ज्योर्नेल डेला सोसाइटा एशियाटिका इटालियाना' नामक इटालियन पत्रिका में "इल रामचरितमानस ए इल रामायण" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ[१] जो पुनः अनूदित होकर 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' में सं० १९६९ तथा १९७० में निकला।[२] इस लेख में विज्ञ लेखक ने 'रामचरित मानस' की कथा-वस्तु की तुलना विस्तार से वाल्मीकि कृत 'रामायण' की कथा-वस्तु से की है, और जो अंतर इस तुलना में उसे दिखाई पड़ा है उसके संबंध में कल्पना द्वारा कुछ समाधान भी उस ने उपस्थित किए हैं। जहाँ तक तुलना का प्रश्न है, वहाँ तक तो लेखक का परिश्रम व्यर्थ नहीं गया, क्योंकि इस लेख से एक बात कम से कम अवश्य स्पष्ट हो गई कि वाल्मीकि का 'रामायण' कथा के ढाँचे के लिए हमारे कवि ने अपने सामने नहीं रक्खा था; पर जहाँ तक लेखक के उपस्थित किए हुए समाधानों का प्रश्न है वे नितांत व्यर्थ गए, और उन्हीं के साथ उन पर किया हुआ परिश्रम भी व्यर्थ गया। लेखक ने यद्यपि इस बात का उल्लेख किया है कि हमारे कवि के ऊपर अन्य ग्रंथों के साथ 'अध्यात्म रामायण' का भी प्रभाव पड़ा है, और उस से भी उसने अपने काम की बातें ली हैं, पर जान ऐसा पड़ता है कि कभी उस ने तुलनात्मक दृष्टि से मानस और 'अध्यात्म रामायण' का अध्ययन नहीं किया था। यदि वस्तुत उस ने ऐसा किया होता तो उसे ज्ञात होता कि वाल्मीकि के 'रामायण' की अपेक्षा 'अध्यात्म रामायण' हमारे कवि की रचना के कहीं अधिक निकट है। फिर भी जिस परिश्रम के साथ उस ने यह कार्य है वह सराहनीय है।

१२. 'हिंदी-नवरत्न' के प्रकाशित होने के लगभग दो वर्ष बाद ज्येष्ठ

[१] जिल्द २९ [२] क्रमशः पृ० २७३ तथा पृ० १

सं० १९६६ की 'मर्यादा' पत्रिका में स्वर्गीय बाबू इन्द्रदेवनारायण का एक नोट किन्हीं खुबरदास लिखित 'तुलसीचरित' संबंध में प्रकाशित हुआ। इस 'चरित' की छंद संख्या उस में १३४९६२ बताई गई, और उससे कुछ अंश उद्धृत भी किए गए। इन अंशों में कवि का जितना जीवन-वृत्त आता है, उस में अन्य बातों के साथ यह भी आया है कि कवि के पूर्वज धनाढ्य मारवाड़ियों के गुरु थे, और उन से इन लोगों को बड़ा धन मिला करता था; और यह कि हमारे कवि की तीन शादियाँ हुई थीं, जिनमें से अंतिम में उस के पिता को दहेज में ६०००) भी मिले थे। ऐसी बातों पर विश्वास करना उस समय बड़ा कठिन हो जाता है जब हम स्वतः कवि-द्वारा किए हुए उसके प्रारंभिक जीवन संबंधी कथन पढ़ते हैं। तुलसी साहित्य के प्रेमियों के दुर्भाग्यवश यह ग्रंथ अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हुआ। यदि यह प्रकाशित हो जाता तो उत्तम था, किंतु जितना अंश प्रकाश में आया है, उस से यही अनुमान लगता है कि इस की प्रामाणिकता बहुत संदिग्ध होगी।

१३. सं० १९७३ में स्वर्गीय श्री शिवनंदनसहाय का 'श्री गोस्वामी तुलसीदास जी' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में क्रमशः कवि के जीवन और उस की कला पर विचार करने वाले दो खंड हैं। प्रथम खंड में लेखक ने अपने समय तक प्राप्त समस्त जीवन-वृत्त संबंधी सामग्री पर परिश्रम और विस्तार-पूर्वक विचार किया है, किन्तु इस खंड को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर कुछ ऐसा लगता है कि जनश्रुतियों को उचित से अधिक महत्व दिया गया है। यद्यपि यह सही है कि उस समय तक जनश्रुतियों के अतिरिक्त कवि के जीवन-वृत्त से संबंध रखने वाली सामग्री बहुत कम थी, फिर भी यह आवश्यक नहीं था कि जनश्रुतियों को इतना महत्व दिया जाता जितना इस ग्रंथ में दिया गया है। द्वितीय खंड में लेखक ने कवि की कला पर जो विचार किया है वह अधिकतर ग्रंथ-ग्रंथ का अलग-अलग हुआ है। लेखक ने सब से पहले 'मानस' को लिया है। कुछ पृष्ठों में उसके रोचक स्थलों का निर्देश कर अन्य विद्वानों द्वारा उस में दिखाई गई त्रुटियों का निराकरण करने का प्रयत्न किया है। यहाँ भी लेखक की कुछ ज्यादती जान पड़ती है। इसके अनंतर क्रमशः 'रामायण में नवरस' 'रामायण में रूपक', 'रामायण में राजनीति', 'रामायण के पात्र-वर्ग' (विशेष रूप से चरित्रों से शिक्षा क्या मिलती है), 'रामायण का आदर और प्रचार', 'क्षेपक और काट-छाँट', 'रामायण के संस्करण तथा टीकाएँ'

शीर्षक अध्याय आते हैं, जिन के विषय स्वत: स्पष्ट हैं। बाद के कुछ अध्यायों में कवि की अन्य कृतियों के संबंध में कहा जाता है। उसके भी अनंतर 'कवि की संस्कृतज्ञता' (प्रमुख रूप से उस ने किन किन ग्रंथों से क्या क्या लिया) और 'कवि के दार्शनिक विचारों' का परिचय दिया जाता है, और 'वाल्मीकि तथा 'अध्यात्म रामायण' से 'मानस' की कथा-वस्तु की तुलना करके ग्रंथ समाप्त किया जाता है। समालोचना बहुत कुछ बहिरंग है, अंतरंग नहीं। फिर भी ग्रंथ दो दृष्टियों से उपादेय है, एक तो इस के पहले कवि के संबंध में जो कुछ लिखा गया था प्राय: उस सब पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है, और दूसरे 'मानस' में उसके पूर्ववर्ती संस्कृत ग्रंथों की जो प्रतिच्छाया मिलती है उस की ओर स्पष्ट रूप से पहले पहल इसी ग्रंथ में तुलसीदास के पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। कहीं कहीं लेखक ने तुलसीदास की तुलना शेक्सपीयर से करके अपने कवि को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने का यत्न किया है, वह अवश्य बहुत युक्तियुक्त नहीं जँचता।

१४ पादरी जे० एन० कारपेन्टर, डी० डी० की एक रचना 'दि थियॉलॉजी ऑव् तुलसीदास' भी यहाँ पर उल्लेखनीय है। यह सं० १९७५ में प्रकाशित हुई। इस में कवि के धार्मिक सिद्धांतों का विवेचन करने का उद्योग किया गया है। विवेचन की प्रणाली यह है कि 'मानस' से आध्यात्मिक स्थलों को चुन चुन कर उन्हें भिन्न भिन्न शीर्षकों में बाँट दिया गया है, और उन से फिर कवि के सिद्धांतों के संबंध में निष्कर्ष निकाला गया है। प्रयत्न सराहनीय है, क्योंकि बड़े परिश्रम से लेखक ने सामग्री इकट्ठी की है, पर खटकने वाली बातें भी दो एक हैं, जिन के संबंध में यहाँ पर कहना आवश्यक होगा। पहली खटकने वाली बात यह है कि पुस्तक मिशनरी—ईसाई मिशनरी—दृष्टिकोण से लिखी गई है। ऐसा होना अनिवार्य भी था, क्योंकि यह डी० डी० की धर्मविषयक उपाधि के लिए 'थीसिस' के रूप में लिखी गई थी, पर इससे जो एक दूसरी बात पैदा हो जाती है वह विचारणीय है। इस से लेखक का दृष्टिकोण ही विकृत हो जाता है। दूसरी बात जो खटकने वाली है वह यह है कि विषय इस का 'तुलसीदास के आध्यात्मिक विचार' होते हुए भी लेखक ने केवल 'मानस' का अवलंब ग्रहण कर यह निबंध लिखा है, कवि की अन्य कृतियों की उसने सर्वथा उपेक्षा की है। और तीसरी बात खटकने वाली यह है कि लेखक में आलोचनात्मक दृष्टिकोण की कुछ कमी ज्ञात होती है—सारा

काम जैसे किसी निरे संग्रह-कर्त्ता का किया हुआ हो, ऐसा जान पड़ता है। अन्यथा पुस्तक उपादेय है।

१५. सं० १६८० इस अध्ययन के इतिहास की एक विशेष उल्लेख-योग्य तिथि है। इस वर्ष नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने 'तुलसी-ग्रंथावली' के प्रकाशन का आयोजन किया। पहले खंड में उसने 'मानस', दूसरे में उस ने कवि के मानसेतर ग्रंथ, और तीसरे में कवि के जीवन तथा काव्य के संबंध में विचारपूर्ण निबंध प्रकाशित किए। इस प्रकाशन से हमारे कवि का अध्ययन जिस वेग से आगे बढ़ा वह सर्वथा स्मरणीय है। 'ग्रंथावली' का संपादन-भार साहित्य के तीन माननीय विद्वानों पर रक्खा गया था : स्वर्गीय पंडित रामचंद्र शुक्ल, स्वर्गीय लाला भगवानदीन, और बाबू ब्रजरत्नदास। जो कार्य फलतः इस संपादक-मंडल ने किया उस पर हमें ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। 'ग्रंथावली' के इस प्रयास के तीन पक्ष हैं : रचनाओं का पाठपक्ष, कवि का जीवन-वृत्तपक्ष, और उस की कला और उसके विचारों का विवेचन-पक्ष। इन तीनों पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

रचनाओं में सब से प्रथम हमारे सामने 'रामचरित मानस' आता है। उस के इस संस्करण में एक विशेषता दिखाई पड़ती है जो साधारणतः अन्य संस्करणों में नहीं मिलती। इस संस्करण के अरण्य तथा किष्किन्धा काण्डों में कई स्थलों पर कुछ ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं जो प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं। इनके प्रक्षिप्त जान पड़ने का कारण केवल यह नहीं है कि ये साधारणतः छपी या हस्तलिखित प्रतियों में नहीं मिलतीं, बल्कि यह है कि इन में कवि की वह शैली और विचार-प्रणाली नहीं मिलती जो ग्रंथ भर में सर्वत्र मिलती है। दूसरी बात जो इन के प्रक्षिप्त होने की इस संभावना की पुष्टि करती है वह है कि ये अपने-अपने प्रकरणों के अनिवार्य अंग नहीं हैं, अर्थात् इन के न रहने पर भी विचार-धारा को कोई क्षति नहीं पहुँचती। और तीसरी बात जो इन के विरोध में पड़ती है वह यह है कि कभी-कभी इन में व्यक्त की हुई वस्तु हमारे उस संस्कार को धक्का देती हुई जान पड़ती है जो कवि की शेष कृति को पढ़ने के अनंतर बनता है। उदाहरण के लिए विराध-वध प्रकरण की नीचे लिखी अर्द्धालियों को लिया जा सकता है :—

तुरतहि सीतहि सो लै गयऊ। राम हृदय कछु बिस्मै भयऊ।
समुझा हृदय कैकेयी करनी। कहा अनुज सन बहु बिधि बरनी।

मुझे तो यह विश्वास नहीं पड़ता कि तुलसीदास के राम ने कभी भी इस तरह की बात सोची होगी—विशेष करके चित्रकूट की घटनाओं के बाद—और पुनः उसे अपने भाई (लक्ष्मण) से ' बहु विधि बरनन करके " कहा होगा। इस प्रकार घुसी हुई पंक्तियों की संख्या इस संस्करण में बहुत है। उदाहरणार्थ अरण्यकांड दो० १३, १४, १५, १६, १६, सो० २१, दो० २३, २४, २५, २६, ३०, ४६, ४८, ४६, ५०, ५१, ५२, तथा ५३ की कई अर्द्धालियाँ, दोहे और छंद। यह तो हुआ वस्तु की दृष्टि से। भाषा की दृष्टि से भी पाठ त्रुटिपूर्ण है। तीसरे खंड की भूमिका में यह दावा किया गया है कि अयोध्याकांड का पाठ नमूने के लिए ज्यों का त्यों राजापुर का ही रक्खा गया है। इस दावे की जाँच के लिए तीन दोहों और उन की अर्द्धालियों का पाठभेद नीचे रक्खा जाता है। ये विशेष दोहे केवल इस दृष्टिकोण से चुने गए हैं कि इसके चित्र प्रकाशित साहित्य में सुलभ हैं :[1]

	राजापुर की प्रति का पाठ	संस्करण का पाठ
दो० ५६, अर्द्धाली १	.. आयेसु	.. आयसु
,, ४	. हिय, हरासू	.. हिय, हरासू
,, ५	.. जौं	.. जो
दोहा ५६	.. एह, करउ, सनेहु	.. यह, करौं, सनेह
दो० ५७, अर्द्धाली १	.. रासहु	.. रासहु
,, ७	.. जाहिं	.. जाइ
दो० ५८, अर्द्धाली २	.. रूपरासि	.. रूपराशि
,, ४	.. करतबु	.. करतब

इस प्रकार के अंतर कितने महत्वपूर्ण हैं इस का अनुमान साधारणतः लोग नहीं कर पाते। जिस पाठ के लिए संपादकों ने अपने सामने यह प्रतिबंध रक्खा था कि यह ज्यों का त्यों राजापुर का ही रहेगा उस अयोध्याकांड के पाठ की यह दशा है, तो और कांडों के पाठ की जिन के संबंध में सम्पादकों के सामने कोई प्रतिबंध नहीं था क्या दशा होगी यह कहना कठिन है। पाठभेदों का उल्लेख न होना साधारणतः सम्पादकों को इस सम्बंध में और

[1] 'नवें इंटरनेशनल ओरिएंटल कांग्रेस की रिपोर्ट' और 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदोस्तान', जिन के हवाले ऊपर दिए जा चुके हैं। (देखिए पृ० ३)

स्वतन्त्रता देता है। फलत. इस संस्करण के पाठ के सम्बंध में और क्या कहा जाय कुछ ठीक समझ नहीं पड़ता। मानसेतर ग्रथों के सम्पादन की समस्या और भी विचित्र है। 'मानस' के सम्पादन के सम्बध में तो भला इतना भी कहा गया कि उस के पाठ के लिए किन प्रतियों का आश्रय लिया गया है, और किन सिद्धांतों को ध्यान में रक्खा गया है, इन बेचारे अन्य ग्रथों के सम्बध में तो यह भी कहने की आवश्यकता नहीं समझी गई। नहीं कह सकता कि यह अनुमान कहाँ तक सही है, पर जान यह अवश्य पड़ता है कि किसी छपे संस्करण को लेकर और उस में स्वेच्छापूर्वक कुछ सशोधन कर, बिना किन्हीं हस्तलिखित और प्राचीन प्रतियों की सहायता के इन ग्रथों को छाप कर प्रकाशित कर दिया गया। इन के पाठ की जो समस्या है उस पर इसी ग्रंथ में आगे चलकर विचार किया जायगा। अभी हम इतना ही विचार करने की आवश्यकता है कि इस सपादन पर निर्भर रह कर अपना कुछ अमूल्य समय देने के बाद यदि किसी गभीर अन्वेषी को पश्चात्ताप करना पड़े तो कुछ आश्चर्य नहीं। फिर भी जैसा हम पहले कह चुके हैं, हमें यह बात भूलनी न चाहिए कि तुलसीदास के अध्ययन में इस संस्करण ने बड़ा भारी सहयोग प्रदान किया है।

'ग्रथावली' में प्रकाशित जीवन वृत्त के सबध में इतना ही कहना कदाचित् पर्याप्त होगा कि वह साधारण हेर फेर के साथ स० १९५६ में प्रकाशित 'मानस' की भूमिका में दिए जीवन-वृत्त का रिप्रिंट मात्र है।

'ग्रथावली' का तीसरा पक्ष अवश्य मूल्यवान है— वह हमारे तुलसी-साहित्य की स्थायी सपत्ति है—मेरा तात्पर्य यहाँ उस आलोचनात्मक सामग्री से है जो 'ग्रथावली' के तीसरे खड में सगृहीत है। इस के लेखक हैं स्वर्गीय पडित रामचद्र शुक्ल, पडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, स्वर्गीय सर जॉर्ज ए० ग्रियर्सन, पादरी एडविन ग्रीव्स, पडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पडित रामचद्र दुबे, पडित बलदेव उपाध्याय, बाबू राजबहादुर लमगोड़ा, श्री मुसराम चौबे और श्री राजेंद्रसिंह ब्यौहार, तथा पडित कृष्णबिहारी मिश्र। सर जॉर्ज ग्रियर्सन का जो लेख इस में दिया गया है, वह 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव् रेलिजन ऐंड एथिक्स' वाले उस लेख का अनुवाद मात्र है जिस के सबध में हम पहले विचार कर चुके हैं। इसी प्रकार पादरी ग्रीव्स का जो लेख यहाँ दिया गया है, वह 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में स० १९५६ में प्रकाशित उनके एक

लेख का रिप्रिंट मात्र है। लेख साधारण है, और उस में कोई नवीनता नहीं है। शेष पर हम यहाँ विचार करेंगे।

स्वर्गीय शुक्ल जी की समालोचना अब अलग संशोधित और कुछ परिवर्धित रूप में प्रकाशित हुई है, इस लिए उस के इस पिछले रूप को लेकर ही विचार करना ठीक होगा। इस समालोचना के दो खंड हैं, पहला कवि के आध्यात्मिक जगत् से संबंध रखता है, और दूसरा उस के काव्य-जगत् से। यह दोनों खंड यद्यपि लेखक द्वारा अलग किए हुए नहीं हैं, पर विचार की सुविधा के लिए यहाँ अलग कर लिए गए हैं। यह दोनों खंड क्रमशः कई शीर्षकों में विभक्त हैं। हम इन शीर्षकों के नीचे उन के विषयों के संबंध में स्वर्गीय समालोचक द्वारा प्रतिपादित कुछ सिद्धांत पाते हैं, जिन का संक्षिप्त उल्लेख यहाँ आवश्यक होगा। पहले खंड का पहला शीर्षक है "तुलसी की भक्ति-पद्धति", जिस के अंतर्गत विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि "शुद्ध भारतीय भक्ति-मार्ग का रहस्यवाद (पाश्चात्य सूफ़ी धर्म आदि ?) से कोई संबंध नहीं है, और तुलसीदास इसी (शुद्ध ?) भारतीय भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे, अतः उन की रचना को रहस्यवाद कहना हिंदुस्तान को अरब या विलायत कहना है।" दूसरा शीर्षक है "प्रकृति और स्वभाव", जिस के नीचे कवि के प्रेम के उच्च आदर्श, उस के दैन्य और विनय, उस की लोक-संग्रह की भावना, अंतःकरण की सरलता, सदाचार आदि संबंधी विशेषताओं पर विचार किया गया है। तीसरा शीर्षक है "लोकधर्म", जिस में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि धार्मिक विशृंखलता के एक युग में लोकसंग्रह की भावना से प्रेरित होकर हमारे कवि ने धर्म के उस स्वरूप का प्रचार किया जो पूर्ण है। "लोकनीति और मर्यादावाद" नामक अगले शीर्षक के नीचे कवि के वर्णाश्रम धर्म-संबंधी विचारों का समर्थन किया गया है। "शील, साधना और भक्ति" नामक शीर्षक के नीचे कवि की उपासना के आलंबन राम में शील और सदाचार की पराकाष्ठा और लोक-मर्यादा के संरक्षण की प्रवृत्ति दिखाई गई है। इस आध्यात्मिक खंड का अंतिम शीर्षक है "ज्ञान और भक्ति का समन्वय", जिसमें दिखाया यह गया है कि कवि में ज्ञान और भक्ति का समन्वय मिलता है, पर उस की वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ही ढूँढ़ना अधिक फलदायक होगा, ज्ञानमार्ग के सिद्धांतों को ढूँढ़ना नहीं। इस शीर्षक के अनंतर समालोचना का दूसरा खंड प्रारंभ होता है, जिस का पहला शीर्षक है "तुलसी की काव्य-

पद्धति" । इस शीर्षक में कहा गया है कि कवि की रुचि न तो काव्य के अतिरंजित अथवा प्रगीत स्वरूप की ओर थी, और न कुतूहल और मनोरंजन-उत्पादन की ओर; उस की रुचि थी यथार्थ-चित्रण की ओर; दूसरी बात यह है कि हमारे सामने वह कवि के अतिरिक्त उपदेष्टा के रूप में भी आता है; और तीसरी बात यह है कि उस ने वीरगाथाकाल, और प्रेमगाथाकाल की काव्य-प्रणालियों से भी अपनी काव्य-पद्धति को धनवान् बनाया है। दूसरा शीर्षक है "तुलसी की भावुकता", जिस के नीचे यह दिखाने का उद्योग किया गया है कि कवि ने रामकथा के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान कर उन का विशद और विस्तृत वर्णन किया है। तीसरा शीर्षक है "शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण", जिस के नीचे कथा के विभिन्न प्रमुख पात्रों के चरित्रों का अध्ययन किया गया है। अगला शीर्षक है "बाह्य दृश्य-चित्रण", जिस के नीचे यह दिखाया गया है कि यद्यपि कवि ने संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण की प्राचीन पद्धति का आश्रय कम लिया है, पर उस के चित्रों में असंगति, कुरुचि का अभाव, चमत्कार-प्रियता, अस्वाभाविकता आदि वे अवगुण न मिलेंगे जो हिन्दी के अन्य अनेक छोटे-बड़े कवियों में पाए जाते हैं। "अलंकार-विधान" नामक शीर्षक के नीचे यह दिखाने का उद्योग किया गया है कि अलंकारों द्वारा कवि ने भावों का उत्कर्ष दिखाने और रूप, क्रिया, तथा गुणों का अनुभव तीव्र कराने में किस प्रकार सहायता ली है। इस के अनंतर के शीर्षक में कवि के उक्ति-वैचित्र्य, भाषा पर अधिकार, तथा कुछ खटकने वाली बातों पर कुछ विचार कर के हिंदी-साहित्य में उस के सर्वश्रेष्ठ कवि होने का निर्देश किया गया है, और विवेचन समाप्त किया गया है। स्वर्गीय समालोचक के संपूर्ण निष्कर्षों से अथवा उस की विचार-प्रणाली से सहमत होना न होना दूसरी बात है, पर उसके इस अध्ययन को पढ़ कर कदाचित् हर एक व्यक्ति अनुभव करेगा कि साधारण-सी वस्तु को भी लेकर उसके संबंध में एक असाधारण दृष्टिकोण से विचार करने की जैसी क्षमता स्वर्गीय शुक्ल जी में थी वह अन्यत्र कम मिलेगी।

वयोवृद्ध उपाध्याय जी का निबंध "गोस्वामी तुलसीदास का महत्व" शीर्षक है। इस में कोई उल्लेख-योग्य नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। यह अवश्य है कि स्वतः एक सुकवि होने के कारण वयोवृद्ध लेखक ने एक

विस्तृत क्षेत्र से जो चयन किया है, उस में भावुकता की छाप उस के हर एक अंश पर लगी हुई है।

चतुर्वेदी जी का निबंध, "गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार" शीर्षक है। इस में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि गोस्वामी जी सर्वथा शांकर अद्वैतवाद के अनुगामी थे। निबंध विचारपूर्ण अवश्य है पर सत्य को कदाचित् अंशतः ही उपस्थित करता है।

दुबे जी का "गोस्वामी जी और राजनीति" शीर्षक निबंध अपने विषय का विस्तृत विवेचन करता है, और उनका "गोस्वामी जी और नारी जाति" शीर्षक निबंध उसी प्रकार अपने विषय पर विस्तार पूर्वक विचार करता है, पर उस में वीरपूजा की भावना बोलती हुई मालूम पड़ती है। तुलसीदास महाकवि और महान् विचारक थे, इस लिए यह आवश्यक नहीं है कोई कमी उन में रही ही न हो। माना कि स्त्री जाति के प्रति ऐसे ही भाव जैसे हमारे कवि के थे दूसरे देशों के भी अनेक मध्यकालीन कवियों और विचारकों के थे, पर यह हमारे कवि की उस त्रुटि को किसी मात्रा में भी न्यायोचित नहीं बना सकता।

लमगोड़ा जी का निबंध "हिंदी भाषा और तुलसीकृत रामायण" शीर्षक है। इस लेख के लिखने का उद्देश्य लेखक के ही शब्दों में यह है कि "साहित्य-संसार को यह ज्ञात हो जावे कि वह खूबियाँ जिन के लिए मुँह से सहसा वाह-वाह निकल पड़ती है, साधारणतः हिन्दी भाषा और विशेषतः तुलसीकृत रामायण में अत्यंत मनोहर रूप में प्रस्तुत हैं। इसके अतिरिक्त उस में कुछ ऐसी ख़ूबियाँ भी हैं जो अभी अन्य भाषाओं को हमारी भाषा से सीखनी हैं।" इस लेख में लेखक ने यद्यपि अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का कुछ ज्ञान अवश्य प्रदर्शित किया है, और दूसरी ओर हिन्दी शब्दों को कामधेनु की भाँति दुर्लभ से दुर्लभ अर्थों और ध्वनियों का दाता होते भी दिखाने का उद्योग किया है, पर इस से लेखक का दावा कुछ सिद्ध होता नहीं दिखाई देता— पूरा प्रयास इंद्रजाल के खेल सा लगता है।

चौबे जी और ब्योहार जी के दो लेख "तुलसी और रहीम" तथा "तुलसी और केशवदास" शीर्षक हैं। विषय दोनों के स्पष्ट हैं। लेखकों का ध्यान प्रायः बाहरी अंतर की ओर ही गया है, आधारभूत मनोवृत्तियों के विश्लेषण की ओर नहीं।

मिश्र जी का निबंध "बरवै रामायण" शीर्षक है। विषय कोई छोटा सा भी ले कर एक योग्य समालोचक यदि विवेचन करना चाहे तो कितनी सुन्दरता से उस पर विचार कर सकता है, यह निबंध उस का उदाहरण है। रचना के संबंध में विचार सहृदयता के साथ किया गया है।

संक्षेप में 'तुलसी ग्रंथावली' का यही योग है।

१६. सं० १६८२ तुलसीदास के अध्ययन में एक तीसरी उल्लेख-योग्य तिथि है, क्योंकि इसी वर्ष नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से रामकिशोर शुक्ल द्वारा संपादित 'मानस' के एक संस्करण के साथ बेनीमाधव दासरचित उस 'मूल गोसाईं-चरित' का प्रकाशन हुआ जिस ने कवि के जीवन-वृत्त के संबंध में कुछ समय के लिए एक हलचल-सी उत्पन्न कर दी थी। संस्करण के प्रारंभ में ही इस बात का निर्देश किया गया था कि प्रस्तुत जीवनी उस बृहद् जीवनी का अंतिम अध्याय है जिस का उल्लेख शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में किया है। यह सब लिखते हुए भी संपादक ने इस बात की सूचना उस में नहीं दी थी कि प्रति उसे कहाँ से प्राप्त हुई और उस प्रति का आकार प्रकार आदि कैसा है।

१७. सं० १६८३ में महाराष्ट्र के एक लेखक द्वारा इस क्षेत्र में एक अपूर्व मेवा प्रकाश में आई: यह थी श्री यादवशंकर जी जामदार की 'मानस हंस' नामक रचना। इस पुस्तिका में "कवि-परिचय" "काव्य-समालोचना", "लोक-शिक्षा", "पात्र-परिचय", "उपसंहार", और "पंचवाद" नामक छः अध्याय हैं। "कवि परिचय" साधारण है। प्राय इसी प्रकार के "लोक शिक्षा" और "पंचवाद" नामक धार्मिक और दार्शनिक अध्याय भी हैं। उल्लेख-योग्य अध्याय शेष तीन ही हैं। "काव्य समालोचना" तथा "पात्र-परिचय" वाले दो अध्यायों में लेखक ने एक मौलिक पथ का अनुसरण किया है। लेखक की विवेचन प्रणाली इन अध्यायों में यह रही है कि 'मानस' से उस ने केवल उन्हीं स्थलों को चुना है जो कवि के मौलिक स्थल हैं, अथवा जहाँ पर अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव लेते हुए भी हमारे कवि ने कोई नवीन चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। ऊपर के कुल लेखक-समुदाय में यह बात यदि कुछ मात्रा में मिलती है तो स्वर्गीय शिवनंदन सहाय में, पर उन में भी यह उतना निखार नहीं कर सकी है जितना जामदार जी में। जामदार जी के प्रयत्न में यदि कोई कमी है तो इस बात की कि उन्हों ने यह विवेचना किसी निबंध-

क्रम में नहीं उपस्थित की है; यदि कुछ क्रम मिलता है तो उन के "पात्र परिचय" वाले अध्याय में ही। "काव्य-परिचय" वाले अध्याय में वे कथा-क्रम से चले हैं; उससे कवि की मौलिक उद्भावनाओं के ढर्रे का यथार्थ बोध नहीं होता। "उपसंहार" वाले अध्याय में इस प्रकार के कुछ तत्व पाने की आशा करना स्वाभाविक है, पर वहाँ भी इस संबध में निराश होना पड़ता है।

१८. रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुन्दर दास की हमारे विषय से संबध रखने वाली सेवाएँ उसी समय से प्रारंभ होती हैं, जब सं०१९५९ में इंडियन प्रेस से प्रकाशित होने वाले 'मानस' के संपादन में आप ने सहयोग दिया। किंतु आप का इस क्षेत्र में सब से अधिक उल्लेखनीय सहयोग 'मूल गोसाईं-चरित' के प्रकाशित होने पर मिला। सं० १९८४ की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' की एक संख्या में आप ने "गोस्वामी तुलसीदास" शीर्षक एक निबंध प्रकाशित किया, जिस में 'मानस' के एक संस्करण में प्रकाशित 'मूल गोसाईं-चरित' का पाठ ज्यों का त्यों प्रकाशित करते हुए उस में आने वाली तिथियों और घटनाओं के संबंध में आपने विचार किया। घटनाओं के संबंध में आप का विचार चलते ढंग का था, पर तिथियों के संबंध का विचार ज्योतिष की गणना पर अवलंबित था। गणना से आप इस परिणाम पर पहुँचे कि 'चरित' में आने वाली चौदह तिथियों में से चार की गणना इस लिए नहीं हो सकती कि उन का विवरण अपूर्ण है; शेष दस में से छः ऐसी हैं जो गणना से सर्वथा शुद्ध उतरती हैं, तीन ऐसी हैं जिनके केवल एक दिन का अंतर आता है, और केवल एक ऐसी है जो सर्वथा अशुद्ध उतरती है। दूसरी बात आप ने यह देखी कि कवि ने अपने संबंध में जो-जो बातें अपने ग्रंथों में कहीं हैं, उन सब का सामंजस्य 'चरित' में दिए हुए वर्णनों से पूरा-पूरा हो जाता है। फलतः आप ने लिखा कि यह 'चरित' बहुत शुद्ध प्रामाणिक है, और इस के आधार पर गोस्वामी जी की एक अच्छी-सी जीवनी तैयार की जा सकती है। अपनी ऐसी सम्मति लिखते हुए आप ने हिंदी के अन्य विद्वानों की सम्मतियाँ भी आमंत्रित कीं। सम्मतियाँ पर्याप्त संख्या में आईं, और वे 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' की अगली संख्याओं में प्रकाशित हुईं। इन सम्मतियों में से केवल दो ऐसी थीं जिन्हों ने 'चरित' की प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट किया था, शेष सभी आप से सहमत थीं।

इन पिछली प्रकार की सम्मतियों में से एक थी रायबहादुर पंडित शुकदेवविहारी मिश्र की, जिन्हों ने 'चरित' में से दस अलौकिक और एक काल-विरुद्ध घटना का निर्देश कर 'असम्भव-एकादशी' नाम से उन्हें अभिहित किया था, और दूसरी थी श्री मायाशंकर याज्ञिक की, जिन्हों ने उस में कुछ इतिहास-विरुद्ध बातें दिखाई थीं। फलतः अधिकतर विद्वानों को अपनी सम्मति का समर्थन करते हुए देख कर वयोवृद्ध लेखक ने कवि के जीवन वृत्त के पुनर्निर्माण में हाथ लगाया। इस उद्योग में आप को स्वर्गीय डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल से पर्याप्त सहकारिता प्राप्त हुई, और सं० १९८८ में आप ने अपनी 'गोस्वामी तुलसीदास'[1] नामक नवीन रचना प्रकाशित कर दी। इस पुस्तक में आप के ही शब्दों में "तब तक की उपलब्ध समस्त सामग्री को उपयोग में लाने तथा गोस्वामी जी के एक सुशृंखल जीवन-वृत्तांत को प्रस्तुत करने का उद्योग किया गया है, साथ ही उन के जीवन पर एक व्यापक दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है।"[2] पर यह उद्योग इस विश्वास के साथ किया गया है कि "जिस व्यक्ति (वेनीमाधव दास) को अपने चरित-नायक से ६४ या ७० वर्ष का दीर्घकालीन संपर्क रहा हो, उस के लिखे जीवन-चरित की प्रामाणिकता के विषय में संदेह के लिए अवकाश बहुत कम हो सकता है; यदि यह 'मूल चरित' प्रामाणिक न हो तो आश्चर्य की बात होगी।"[3] फलतः कवि के जीवन-वृत्त के इस उद्योग में 'मूल गोसाईं-चरित' को प्राधान्य मिलना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ है कि जब तक 'चरित' की किसी भी बात के विरोध में—चाहे वह कितनी ही साधारण क्यों न हो—दृढ़ प्रमाण नहीं मिला है तब तक उसे इस पुस्तक में दिए हुए जीवन-वृत्त में सम्मिलित कर लिया गया है। और जीवन वृत्त ही इस पुस्तक का सर्व प्रमुख अंश है; पूरी पुस्तक की पृष्ठ-संख्या २१० है, जिस में से १५० पृष्ठ इस जीवन-वृत्त को दिए गए हैं, और शेष ६० में ही कवि की कला, उस के व्यवहार-धर्म, तत्व-साधन, तथा व्यक्तित्व पर विचार किया गया है। यह विवेचन स्थान-संकोच के कारण स्वभावतः बहुत संक्षिप्त है, और इस में कोई उल्लेख-योग्य नवीनता भी नहीं है।

१६. जिन दिनों 'मूल गोसाईं-चरित' "गाँव में आए नए ऊँट" की

[1] हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित
[2] पृ० २२
[3] पृ० वही

तरह आधुनिक हिंदी-साहित्य की छोटी सी दुनिया में आ कर कोने-काने से अभिनंदन पत्र ले रहा था, उन्हीं दिनों सं० १६८६ में एक शास्त्री जी का "गोस्वामी जी का जन्म-स्थान—राजापुर या सोरों ?" शीर्षक लेख 'माधुरी' में प्रकाशित होने के लिए उस के संपादक मंडल के सामने आया। उस समय पत्र के संपादकों को इस बात का क्या गुमान होता कि कभी इस लेख का विषय तुलसी-संसार का एक गर्म विषय भी हो सकेगा, फलतः उन्हों ने इसे एक कोने में 'कवि-चर्चा' नामक स्तंभ के नीचे स्थान दिया।[1] इन शास्त्री जी का नाम है पंडित गोविंदवल्लभ भट्ट। आप सोरों, (जिला एटा) के निवासी हैं। लेख में आप ने पहले पहल इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आमंत्रित किया कि कवि का जन्म सोरों, जिला एटा में हुआ था, सोरों के योगमार्ग नामक मुहल्ले में अब भी उसका मकान है, वह जाति का सनाढ्य शुक्ल था, उस के गुरु का नाम नरसिंह चौधरी था, वह भी सनाढ्य थे, और वहीं के निवासी थे, उन का स्थान सोरों में सुरक्षित है, हमारे कवि और नंददास भाई भाई थे, कवि का विवाह सोरों से मिले हुए बदरिया नाम ग्राम में हुआ था, जहाँ उनके श्वसुर गृह का खंडहर अब तक बताया जाता है, नंददास के पुत्र का नाम कृष्णदास था, तुलसीदास के राजापुर चले जाने पर यह कृष्णदास उन को मना कर घर वापस लाने के लिए उन के पास गए थे, यद्यपि वह लौटे नहीं। इन सारी बातों के प्रमाण में लेखक ने अधिकतर स्थानीय मौखिक जन श्रुतियों का होना बताया है, और कुछ अन्य प्रकार से भी उन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

२०. सं० १६८७ में एक अंग्रेज विद्वान् जे० एम० मैकफ़ी की लिखी हुई 'दि रामायण अव् तुलसीदास' नामक पुस्तक प्रकाश में आई। यह पुस्तक भी कारपेंटर महोदय की 'दि थियॉलॉजी अव् तुलसीदास' नामक पुस्तक की भाँति कवि के धार्मिक सिद्धांतों का विवेचन करती है, पर इस में उन त्रुटियों में से एक भी नहीं है जो कारपेंटर साहब की पुस्तक में पाई जाती है। प्रारंभ में कवि की एक छोटी सी जीवनी भूमिका के रूप में दी जाती है, तदनंतर संक्षेप में रामकथा कही जाती है, और पीछे देवताओं तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव के संबंध में कवि के विचारों का अध्ययन किया जाता है, और, उस के बाद

[1] वर्ष ८, खंड १, पृ० ६०४

ब्रह्म का स्वरूप 'मानस' में क्या है इस बात पर विचार किया जाता है। पुस्तक के अंतिम अध्याय का विषय है "भारतीय विचार धारा और जीवन में रामायण का भाग"। हर्ष की बात यह है कि लेखक इस विचार से जरा भी प्रभावित नहीं है कि भारतीय भक्तिमार्ग के विकास पर ईसाइ धर्म का कोई प्रभाव पड़ा है। कृति सुंदर है।

२१ सं० १९९२ में श्री सद्गुरुशरण अवस्थी लिखित 'तुलसी के चारदल' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। यह दो खंडों में विभक्त है। पहले में कवि के जीवन वृत्त, तथा उस की काव्य कला पर विचार किया गया है, फिर उस के चार छोटे-छोटे ग्रंथ 'रामलला नहछू', 'बरवै रामायण', 'पार्वतीमंगल', तथा 'जानकीमंगल' की क्रमश समीक्षा की गई है, और दूसरे में इन ग्रंथों का मूल पाठ दिया गया है और उसकी टीका की गई है। जीवन-वृत्त चलते ढंग से कह दिया गया है। "काव्य कला" नामक शीर्षक के नीचे तदनंतर लगभग ४५ पृष्ठों में साहित्य शास्त्र के सिद्धांतों का विवेचन किया गया है, और उसके अनंतर केवल १५ पृष्ठों में कवि के "काव्य के संबंध में संक्षिप्त चर्चा" की गई है। इस संक्षिप्त चर्चा में समालोचना का दृष्टिकोण अवश्य है, इसमें वयोवृद्ध शुक्ल जी के लोकधर्म वाले सिद्धांतों के विरोध में आवाज उठाई गई है। लेखक का दृष्टिकोण विचारणीय है। शेष पुस्तक में उद्दिष्ट ग्रंथों की जो समालोचना की गई है उस में नवीनता बहुत कम मिलती है। यह अवश्य है कि वह विस्तार से की गई है। मूल पाठ और टीका में कोई उल्लेख-योग्य विशेषता नहीं है। मूलपाठ मुद्रित प्रतियों से ही लेकर रख दिया गया है, और टीका अधिकतर विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर लिखी गई ज्ञात होती है।

२२ सं० १९९३ में पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने 'मानस' का एक संस्करण निकाला, और उस के साथ एक विस्तृत भूमिका भी निकाली। इस भूमिका में आप ने उस समय तक प्राप्त कवि के जीवन-वृत्त तथा रचनाओं के संबंध की लगभग सभी प्रमुख सामग्री का आधार ग्रहण कर कवि का परिचय उपस्थित किया। सं० १९९४ में पुन इसी सामग्री को कुछ और विस्तार और आवश्यक फेर फार के साथ अलग पुस्तकाकार 'तुलसीदास और उन की कविता' नाम से आपने प्रकाशित किया। इस पुस्तक के दो खंड निकल चुके हैं, तीसरा खंड अभी निकलने को है। इस दूसरे प्रयास में, पहले खंड की प्रस्ता

वना में आप ने जिस उदाराशयता का प्रदर्शन किया है वह उल्लेखनीय है। आप के शब्द यह हैं : "जान पड़ता है, अभी हिंदी में ठोस काम करने वालों का समय नहीं आया है। साहित्य में एक अधड-सा चल रहा है, और साहित्य पथ के पथिक अधकार में उद्दिष्ट रास्ते की खोज करते हुए आकुल-व्याकुल की तरह चारों ओर दौड़ रहे हैं। उन के लिए मैं अपने कुछ छोटे-छोटे दिए रास्ते के किनारों पर टिमटिमाते हुए छोडे जाता हूँ। सभव है, कभी उन की दृष्टि इन पर पडे, और वे इन को हाथ में लेकर साहित्य का राजमार्ग खोज निकालने मे समर्थ हों।" कितना प्रशसनीय दृष्टिकोण है! खेद यदि होता है तो इतना ही कि जिन से आप को दीए मिले, या जिन के दीयों से आप ने अपने दीए जलाए, उन के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश के लिए इस पुस्तक में आप को स्थान नहीं मिला। पुस्तक के दूसरे खड की प्रस्तावना में आप एक दर्जा और भी ऊपर उठते हैं। आप लिखते हैं "हमारे सहृदय पाठक ध्यान से देखेंगे तो तुलसीदास के बहिर्जगत और अतर्जगत की विस्तृत सीमा में अनेक प्रकार के सुन्दर सुन्दर दृश्य देखने को मिलेंगे, जहाँ पहुँचने पर साहित्यिक आनद पाने के अतिरिक्त कल्याणेच्छु जिज्ञासुओं को जीवन के नवीन मार्ग भी दिखाई पड़ेंगे। इस पुस्तक द्वारा मैंने उन दृश्यों तक, उन कल्याण-केंद्रों तक पहुँचने के रास्तों की ओर सकेत मात्र किया है। जो सहृदय जन उन रास्तों पर चलेंगे मुझे पूरा विश्वास है वे *तुलसीदास* के सच्चे स्वरूप का दर्शन करके सच्चा आत्मसुख प्राप्त करेंगे।" जीव कोटियाँ साधारणतः तीन मानी जाती हैं : बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त। साहित्य के अधकार पूर्ण पथ में भटकते लोग पहली ही श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। कल्याणेच्छु जिज्ञासु तो स्पष्ट ही दूसरी श्रेणी में होंगे। अब तीसरी जीव-कोटि रह जाती है, और 'तुलसीदास और उन की कविता' का तीसरा खड रह जाता है। विश्वास है कि इस तीसरी श्रेणी को भी त्रिपाठी जी निराश न करेंगे। अस्तु, अभी तक जो दो खड प्रकाशित हुए हैं उन में से पहले में कवि का जीवन-वृत्त है, और दूसरे में उस की कविता और कला का अध्ययन है। पहले खड में यद्यपि नवीनता कम मिलेगी, पर एक विशेषता अवश्य है : सन् १६३७ तक प्रकाशित कवि के जीवन वृत्त से सबध रखने वाली सभी उल्लेख योग्य सामग्री पाठक को एकत्र मिल जावेगी। पुस्तक के दूसरे खड में ही लेखक ने कहीं कहीं ऐसे दृष्टिकोणों से भी विचार किया है जो उसके अपने हैं। और एक बात जो दोनों खडों में समान रूप से

मिलती है वह है लेखक का लेखन-चातुर्य। लेखक स्वयं एक सिद्धहस्त कवि भी है; फलतः साधारण से साधारण बात को भी वह पाठक के सामने सर्वत्र ऐसे ढंग से रखता है कि वह रोचक और सरस हो जाती है।

२३. सं० १९९३ में ही श्री विजयानन्द त्रिपाठी ने 'मानस' का एक उल्लेखयोग्य संस्करण प्रकाशित किया। इस के कुछ वर्ष पूर्व 'कल्याण' में आप ने "तुलसीकृत ग्रंथों के शुद्ध पाठ की खोज" शीर्षक एक विचार-पूर्ण लेख लिखा था, जिस में आप ने कवि के ग्रंथों की कुछ प्राचीन प्रतियों पर प्रकाश डाला था। प्रस्तुत संस्करण आप ने परिश्रम से तैयार किया। संपादन की विशेषता मुख्यतः यह है कि इस में कई प्रतियों के पाठांतर दिए गए हैं। पर हमें देखना यह भी है—जैसा हम ने ऊपर कुछ अन्य संस्करणों के विषय में भी देखा है—कि संपादन में उन दावों का कहाँ तक पालन किया गया है जिन का उल्लेख संपादक ने भूमिका में किया है। संपादक का एक दावा है कि बालकांड का पाठ सं० १६६१ की अयोध्या की प्रति के अनुसार रक्खा गया है, और दूसरा दावा है कि अयोध्याकांड का पाठ राजापुर की प्रति के अनुसार रक्खा गया है। नीचे हम देखेंगे कि यह दावे किस हद तक सही उतरते हैं। बालकांड से केवल एक दोहा लिया जाता है; यह विशेष दोहा इस लिए कि अयोध्या की प्रति के एक प्रकाशित फ़ोटोग्राफ़ में वह आ जाता है[1] और इस लिए सुलभ है। अयोध्याकांड से वही तीन दोहे लिए जाते हैं जो 'ग्रंथावली' वाले संस्करण की जाँच के लिए ऊपर लिए गए हैं; यह भी, जैसा कहा जा चुका है, इसी दृष्टि से चुने गए हैं कि राजापुर-पाठ के इन के फ़ोटोग्राफ़ प्रकाशित हैं[2], और इस लिए सुलभ हैं :—

		अयोध्या की प्रति का पाठ	संस्करण का पाठ
दो० २०२, अर्द्धाली	३ ..	रामु, आयेसु	.. राम, आयसु
,,	५ ..	कुलाहल	.. कुलाहलु
,,	६ ..	गाईं	.. गाईं
,,	७ ..	जाहीं, सरव	.. जाई, सरो

[1] 'हिंदुस्तानी', सन् १९३७, पृ० ३३८

[2] 'वेन 'इंटरनैशनल ओरिएंटल कांग्रेस रिपोर्ट' और ग्रियर्सन कृत 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदोस्तान', जिनके हवाले ऊपर दिए जा चुके हैं

	अयोध्या की प्रति का पाठ	संस्करण का पाठ
दो० ३०२, अर्द्धाली ७ ..	पाइक, फहराहीं ..	पाउक, फहराईं
,, ६	कउतक ..	कौतुक
दोहा, चरण १	कुँअर	कुअँर
,, ४	डगहि .	डगहिं
	राजापुर की प्रति का पाठ	**संस्करण का पाठ**
दो० ५६, अर्द्धाली १ ..	आयेसु .	आयसु
,, ४	हियँ .	हिय
,, ५ .	जौं ..	जौ
दोहा, चरण २	झूँठ .	झूठ
दो० ५७, अर्द्धाली ५ ..	मयेउ ..	भयउ

फलतः यह स्पष्ट है कि इस संपादन में भी उतनी शुद्धता नहीं है जितनी का दावा किया जाता है। यह अवश्य है, जैसा ज्ञात हुआ होगा, कि यह संस्करण 'ग्रंथावली' वाले संस्करण की अपेक्षा अधिक शुद्ध है।

२४. सं० १९९४ में डॉक्टर सूर्यकांत शास्त्री ने 'इंडेक्स वर्बोरम अव् दि तुलसी रामायण' प्रस्तुत कर हमारे अध्ययन को एक क़दम और आगे बढ़ाया। तुलसी अध्ययन में इस प्रकार का यह पहला प्रयास हुआ है। लेखक ने यह नहीं लिखा है कि इस परिश्रम पूर्ण और किंचित् नीरस कार्य में कितना समय लगा, पर निस्सन्देह इस में कई वर्ष लगे होंगे। लेखक का यह 'इंडेक्स' 'रामचरित मानस' के उस संस्करण पर अवलंबित है जिसे प्रयाग के इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया था, और जिस पर रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुन्दर दास की टीका है। फलतः ऊपर जो त्रुटियाँ हम उक्त संस्करण के संपादन में देख आए हैं, उन से इसे भी क्षति पहुँची है—और लेखक ने स्वयं उनके संबंध में खेद प्रकट किया है। केवल एक बात जो मुझे इस के संबंध में खटकी है, वह यह है कि रूप भ्रम से, अथवा जान-बूझ कर, विभिन्न आशय के दो या अधिक शब्द एक ही शब्द के नीचे सूचीबद्ध किए गए हैं: उदाहरणार्थ 'करि' शब्द के नीचे 'हाथी' का पर्याय और 'कर' क्रिया का पूर्वकालिक रूप; 'कि' शब्द के नीचे 'क्या' अर्थ का प्रश्नवाचक और 'या' अर्थ का बोधक अव्यय; 'कहँ' शब्द के नीचे 'कहाँ' अर्थ का स्थानवाचक अव्यय और 'को' अर्थ की विभक्ति; 'गुण' शब्द के

नीचे 'निगुण' का 'गुण' और 'विशेषता' के अर्थ में प्रयुक्त शब्द; 'स्तुति' शब्द के नीचे 'कान' अर्थ का वाचक और 'वेद' अर्थ का वाचक, 'हरि' शब्द के नीचे 'बंदर', विष्णु', 'सिंह', और 'सूर्य' के वाचक, 'रस' शब्द के नीचे 'नवरस' का 'रस' और स्वाद-विषयक 'रस', और, 'बलि' शब्द के नीचे 'राजा बलि', 'बलिदान' और 'न्योछावर' के अर्थ में आने वाले शब्द। यदि इन विभिन्न अर्थवाची शब्दों को उन के आशय के अनुसार अलग अलग सूचीबद्ध किया गया होता तो 'इंडेक्स' की उपयोगिता कुछ और बढ़ जाती। फिर भी इस सूची से तुलसीदास के अध्ययन मे बड़ी सहायता मिलेगी, इस में संदेह नहीं। सच बात तो यह है कि आजकल की परिपाटी के अध्ययन के लिए 'इंडेक्स' अनिवार्य है, और इस दिशा में यह पहला प्रयास होने के कारण इस की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

२५. सं० १९९५ में प्रकाशित डॉक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र लिखित 'तुलसीदर्शन' नामक पुस्तक भी उल्लेखनीय है। यह पुस्तक आठ अध्यायों में विभक्त है: "गोस्वामी जी और मानस", "भारतीय भक्ति मार्ग", "जीव-कोटियाँ", "तुलसी के राम", "विरति-विवेक", "हरि-भक्ति पथ", "भक्ति के साधन", तथा "तुलसी-मत की विशेषता"। अध्यायों के विषय उन के शीर्षकों मे ही स्पष्ट हैं। अंग्रेज़ी में इस प्रकार की दो पुस्तकों का उल्लेख ऊपर हो चुका है: (१) कारपेंटर की 'दि थियॉलॉजी अव् तुलसीदास', और (२) मैकफी की 'दि रामायण अव् तुलसीदास' का। पर हिंदी में इस प्रकार की कोई पुस्तक नहीं थी। इस अभाव की पूर्ति मिश्र जी ने इस रचना के द्वारा की है। पुस्तक विचार-पूर्ण है। पर एकाध बातें खटकती हैं: पुस्तक का विषय 'तुलसी दर्शन' होते हुए भी अपने अध्ययन के लिए लेखक ने केवल 'मानस' का अवलम्ब किया है, कवि की अन्य कृतियों की उपेक्षा की है, इस प्रकार की एक बात है; दूसरी बात जो खटकती है, पर जिसे लेखक इस ग्रंथ की खूबी समझता है, यह है कि "इस ('मानस') में गीता से लेकर गाँधीवाद तक के सभी भारतीय साम्प्रदायिक तत्वों का समावेश हो गया है।" कहना नहीं होगा कि उस के इस प्रदर्शन-प्रयास में कहीं-कहीं कुछ खींच-तान भी जान पड़ती है। अन्यथा पुस्तक उपादेय है।

२६. सं० १९९५ में गीता प्रेस, गोरखपुर से 'कल्याण' का एक विशेषांक निकला, जिस का नाम है 'मानसांक'। यह विशेषांक वृहत्काय है। इस का सर्वप्रमुख अंग है 'मानस' और उस की टीका, और गौण अंग है

'मानस' संबंधी लेख। संपादक हैं श्री चिम्मनलाल गोस्वामी और श्री नंददुलारे वाजपेयी। लेख कुछ बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं, इस लिए 'मानस' के संपादन पर ही विचार करना यथेष्ट होगा। इस संपादन की भी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए ऊपर की भाँति कहा गया है कि बालकांड का पाठ सं० १६६१ की अयोध्या की प्रति के अनुसार और अयोध्याकांड का राजापुर की प्रति के अनुसार रक्खे गये हैं। नीचे हम उन्हीं दोहों के आधार पर इस कथन की सत्यता पर विचार करेंगे जिन दोहों के आधार पर ऊपर हम ने 'तुलसी-ग्रंथावली' और पंडित विजयानंद त्रिपाठी के संस्करणों पर विचार किया है :—

	अयोध्या की प्रति का पाठ	संस्करण का पाठ
दो० २०२, अर्द्धाली ३ ..	आयेसु ..	आयसु
,, ५ ..	भयेउ, कुलाहल ..	भयउ, कोलाहल
,, ८ ..	कउतुक ..	कौतुक
दोहा, चरण १ ..	कुँअर ..	कुअँर
,, ४ ..	डगहि ..	डगहिं
	राजापुर की प्रति का पाठ	**संस्करण का पाठ**
दो० ५६, अर्द्धाली १ ..	आयेसु ..	आयसु
,, ४ ..	अंतहु ..	अंतहुँ
,, ५ ..	जौं ..	जो
दोहा, चरण १ ..	एह ..	यह
,, २ ..	भूँट ..	झूठ
दो० ५७, अर्द्धाली ३ ..	सबहिं, जेहि ..	सबहि, जेहिं
,, ५ ..	भयेउ, करालु ..	भयउ, कराल

फलतः सावधानी की कमी इस संस्करण में भी स्पष्ट है, पर यह कहना होगा कि इस संस्करण में उपर्युक्त संस्करणों की अपेक्षा अशुद्धियाँ कम हैं। एक बात इस संबंध में और विचारणीय है—वह यह है कि यह संस्करण मासिक पत्रिका के एक अंक के स्थान पर निकला है, अतः समय पर निकलना अनिवार्य होने के कारण कुछ आश्चर्य नहीं कि जल्दी करनी पड़ी हो, और जल्दी करने के कारण ही काम भी उतना अच्छा न हो सका हो जितना वह अन्यथा होता। पत्र के संचालक महोदय ने यह सूचना दी

थी कि वे शीघ्र ही मूल पाठ का एक सुसपादित सस्करण प्रकाशित करने का आयोजन कर रहे हैं, जिस मे आवश्यक पाठातर भी दिए जाएँगे।[1] सस्करण निकल गया है, किंतु पाठातर उसमें किन्हीं प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के नहीं हैं, बल्कि कुछ मुद्रित सस्करणों के हैं, और मूल पाठ में भी इन अन्य सस्करणों के प्रभाव में आकर कदाचित् कहीं कहीं कुछ परिवर्तन किया गया है, इस लिए वैज्ञानिक परिपाटी पर अध्ययन करने वालों को इस से निराशा हो सकती है।

२७. स० १९९९ म कवि के जीवन-वृत्त के सबध मे बहुत-सी अनोखी बातें प्रकाश में आईं। वह कहाँ तक प्रामाणिक हैं, और वह जिस सामग्री का अवलंबन ग्रहण करती हैं वह कहाँ तक प्रामाणिक है, यह दूसरी बात है, पर यदि वह प्रामाणिक सिद्ध हुई तो इस में सदेह नहीं कि कवि का जो कुछ जीवन वृत्त अभी तक हमें ज्ञात था उस में बड़ी वृद्धि होगी, और हमें अपने बहुत से पुराने विचारों और तर्कों के सबध में पुनर्विचार की आवश्यकता पड़ेगी। पडित गोविंदवल्लभ भट्ट शास्त्री की सूचनाओं का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, पर जैसा हम ने देखा था, वे सूचनाएँ प्रमुख रूप से मौखिक जनश्रुतियों पर अवलबित थीं। इधर उसी विषय से सबंध रखने वाली जो बातें हमारे सामने आईं वे कुछ हस्तलिखित प्रतियों में सुरक्षित साक्ष्य के आधार पर कही गई हैं। इस सामग्री को पहले-पहल इस बार प्रकाश में लाने वाले हैं कासगज (जिला एटा) निवासी श्री रामदत्त भारद्वाज। आपने उक्त वर्ष के फ़रवरी तथा जून के 'विशाल भारत' में दो लेख लिखे, जिन के शीर्षक हैं क्रमश "गोस्वामी तुलसीदास की धर्मपत्नी रत्नावली" और "महाकवि नददास"। और उन के बाद उसे प्रकाश में लाने वाले हैं वहीं के पंडित भद्रदत्त शर्मा, और लखनऊ यूनिवर्सिटी के डॉक्टर दीनदयालु जी गुप्त। इन दो लेखकों के लेख 'सनाढ्य जीवन' नामक जाति विशेष के एक पत्र में उस के "तुलसी स्मृति अक" में निकले हैं। इस "तुलसी स्मृति अक" में लेख तो बहुत से हैं, पर इन दो लेखकों के लेखों में वह सभी सामग्री आ जाती है जो अन्य लेखों में भी बिखरी पड़ी है। जिस सामग्री का आधार इन लेखों में ग्रहण किया गया है, उस पर यथास्थान इसी ग्रंथ में आगे चल कर विचार किया गया है,

इस लिए यहाँ उस पर विचार करना अनावश्यक होगा।

इस सामग्री के प्रकाशित होने के अनंतर महाकवि के जन्म-स्थान का प्रश्न विशेष रूप से हिन्दी जगत् के सामने आया। फलतः पिछले चार-पाँच वर्षों में जन्म-स्थान की समस्या पर अनेक लेख लिखे गए हैं, परन्तु सामग्री अथवा विवेचन विषयक कोई उल्लेखयोग्य नवीनता उन में नहीं है, इस लिए प्रस्तुत प्रसंग में उन का उल्लेख करना आवश्यक न होगा।

२८. इधर के प्रायः पाँच वर्षों में काशी के पं० शंभुनारायण चौबे के कुछ लेख 'रामचरित मानस' के विभिन्न संस्करणों और उनके पाठ के संबंध में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए हैं।[1] इनमें से सब से अधिक महत्वपूर्ण "मानस पाठ-भेद" शीर्षक उनका अंतिम लेख है, जिस में उन्होंने प्रकाशित और हस्तलिखित संस्करणों में से दस महत्वपूर्ण 'संस्करण' लेकर उनके प्रमुख पाठ-भेद एकत्र देने का यत्न किया है। उन्होंने लिखा है कि "रामचरित मानस के पाठ-शोध के लिए इन दस प्रतियों का पाठ आवश्यक और पर्याप्त है।"[2] उनका यह कथन कहाँ तक ठीक है, यह बात 'मानस' के संपादन की समस्या पर पूर्ण रूप से विचार किए बिना नहीं कही जा सकती, किन्तु 'मानस' के पाठ-शोधन में यह प्रतियाँ सहायक सिद्ध होंगी इस में संदेह नहीं।

तुलसीदास का जो अध्ययन अभी तक हुआ है संक्षेप में उस का दिग्दर्शन हम कर चुके। इस कार्य को हम किस प्रकार अधिक से अधिक पूर्ण और विश्वास-योग्य बना सकते हैं, इस संबंध में हमें विचार करना है।

२९. सब से पहली बात जो हमें इस प्रसंग में आवश्यक समझ पड़ती है यह है कि हम कवि के जीवन और कृतियों के अध्ययन की आधारभूत सामग्री की एक ऐतिहासिक के दृष्टिकोण से परीक्षा करें। अभी तक साधारणतः हुआ यह है कि जो भी सामग्री हमें दिखलाई पड़ी, हम ने प्रामाणिक मान कर उस को कवि के जीवन-वृत्त के निर्माण में और उस की कृतियों के परिशीलन में कोई न कोई स्थान दे दिया। परिणाम यह हुआ है कि जिस भव्य भवन

१ 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ४३, अंक ३, पृ० २७७-३१०; वही, वर्ष ४६, अंक १, पृ० १९-४४; वही, वर्ष ४६, अंक ३, पृ० २३३-२४०; तथा वही, वर्ष ४७, अंक १, पृ० १-१४३

२ 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ४७, अंक १, पृ० ८

का इस से हमने निर्माण किया वह अब हिलता हुआ नज़र आ रहा है, और वह समय दूर नहीं है जब—यदि हम ने शीघ्र ही उस को गिराकर नए सिरे से बनाने का यत्न न किया—वह धराशायी हो जावेगा, और साथ ही उन को भी क्षत-विक्षत कर देगा जो उस का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं। इस पुनर्निर्माण के उद्देश्य को सामने रखते हुए हमें उस सामग्री को ग्रहण करने के संबंध में अत्यंत सतर्क होना चाहिए जो हमारे अध्ययन की आधार-शिला बनने के लिए आगे आती है। फलतः इस ग्रंथ का अगला, अर्थात् द्वितीय अध्याय उस सामग्री की परीक्षा से संबंध रखता है।

३०. महाकवि के ऐहिक जीवन-वृत्त का पुनर्निर्माण—केवल उस सामग्री की सहायता से जो किसी पर्याप्त अंश तक प्रामाणिक मानी जा सकती है—वह दूसरी बात है जो इस प्रसंग में आवश्यक समझ पड़ती है। किसी भी कवि या लेखक की कृतियों का यथार्थ अध्ययन करने के लिए, उस की अंतरात्मा तक पहुँचने के लिए, अन्य बातों के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हम उक्त कवि या लेखक के बाह्य जीवन से यथेष्ट परिचय प्राप्त कर लें। इस प्रकार के जीवन-वृत्त की उपयोगिता का मूल्य घटा कर आँकना सरल ही है, पर इस तथ्य को कदाचित् अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी कवि के संदेश को ठीक-ठीक समझने के लिए इस प्रकार के जीवन-वृत्तात्मक अध्ययन बड़े सहायक सिद्ध हुआ करते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ का तीसरा अध्याय फलतः इसी विषय से संबंध रखता है।

३१. महाकवि के ग्रंथों के संपादन की सामग्री का अध्ययन ऐसा तीसरा विषय है जो प्रस्तुत प्रसंग में विशेष महत्वपूर्ण जान पड़ता है। यह खेद का विषय है कि अध्ययन का यह पक्ष अभी तक प्रायः उपेक्षित ही रहा है। यह अवश्य है कि इस प्रकार का अध्ययन ज़रा श्रमसाध्य है, फिर भी हम अधिक दिनों तक इस की अवहेलना नहीं कर सकते, क्योंकि बिना इस अध्ययन के हम वस्तुतः दृढ़ता-पूर्वक आगे नहीं बढ़ सकते। यह समझते हुए कितनी निराशा होती है कि कुछ अंश तक 'मानस' को छोड़ कर महाकवि की एक भी कृति का संपादन उस की प्राप्त प्रतियों के आधार पर नहीं किया गया है। इस ग्रंथ का चतुर्थ अध्याय फलतः इसी संपादन-सामग्री का एक सामान्य अध्ययन उपस्थित करता है, यद्यपि वह भी केवल नितांत महत्वपूर्ण सामग्री तक ही सीमित रक्खा गया है, क्योंकि यही प्रस्तुत प्रयास में सम्भव भी था।

३२. महाकवि की कृतियों के काल-क्रम का अनुसंधान वह चौथा विषय है जो प्रस्तुत प्रसङ्ग में महत्वपूर्ण जान पड़ता है। शेक्सपीयर के नाटकों के लिए रचना-तिथियों के निर्धारण का प्रयास उस के अध्ययन की विगत डेढ़ शताब्दी का एक प्रमुख विषय रहा है,[1] किंतु हम लोगों ने अभी तक अपने महाकवियों के अध्ययन के संबंध में इस प्रकार के अनुसंधान की महत्ता का अनुभव नहीं किया है। इस प्रकार का अनुसंधान निरा 'गड़े मुर्दे उखाड़ना' या 'मस्तिष्क का व्यायाम' नहीं है, बल्कि इस पर निर्भर है संसार के कुछ महाकवियों की कृतियों को उनके यथार्थ रूप में समझने की सभावना, किसी बीती हुई दार्शनिक प्रणाली के अंगांगों की भाँति नहीं, बल्कि वस्तुतः उन महापुरुषों के जीवित और प्रगतिशील व्यक्तित्व की वास्तविक अभिव्यक्ति के रूप में। प्रस्तुत लेखक इस दिशा मे प्रथम था जब उस ने, कई वर्ष हुए, "गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं का कालक्रम" शीर्षक लेख 'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित किया।[2] तब से महाकवि की कृतियों का अध्ययन उपस्थित करने वाले प्रायः सभी लेखकों ने उसके परिणामों पर विचार किया है, और अधिकांश में उस के परिणामों को स्वीकार किया है। जहाँ पर उन्हों ने मतभेद प्रकट किया है उन स्थलों पर हम यथा-स्थान आगे चल कर विचार करेंगे। इस ग्रंथ का पाँचवाँ अध्याय फलतः इसी काल-क्रम के अनुसंधान से संबंध रखता है। केवल, प्रसङ्ग को छोड़ने के पूर्व प्रस्तुत लेखक इस बात पर यथेष्ट बल देना चाहता है कि इस दिशा में उसके प्रयास का परिणाम-समष्टि कोई अनिवार्य सत्य नहीं है, बल्कि न्यायशास्त्र की भाषा में इस प्रकार का एक 'समाधान' मात्र है जिससे ज्ञात सूचनाओं को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है, जो अपने में सुसंगत है, और जो महाकवि के बाह्य जीवन के ज्ञात तथ्यों से किसी प्रकार का विरोध नहीं रखता है।

३३. महाकवि की कला का अध्ययन वह पाँचवाँ विषय है जो इस संबंध में प्रमुख रूप से महत्वपूर्ण ज्ञात होता है। किंतु इस से पूर्व कि हम महाकवि की कृतियों को कला की दृष्टि से देखने बैठें, यह नितांत आवश्यक

[1] इस संबंध के प्रथम निबंध एडमंड मैलोन के थे, जो सन् १७७८ में लिखे गए थे

[2] जनवरी तथा अप्रैल, सन् १९३२

है कि हम इस भारी भ्रम से अपने को मुक्त कर लें कि जो कुछ भी हमारे महाकवि ने लिखा है वह सर्वथा उसकी मौलिक कृति है। उसका चिरस्मरणीय ग्रंथ 'रामचरित मानस' ही ऐसे अनेक संस्कृत ग्रंथों से सामग्री प्राप्त करता है जो निश्चित रूप से उस से पूर्व की रचनाएँ हैं। यह विशेषता कथा के ढाँचे तक ही सीमित नहीं है, बल्कि बहुत-कुछ उस ढाँचे की पूर्ति में भी देखी जा सकती है; और कभी-कभी तो देखा जाता है कि स्थल-विशेष पर प्रयुक्त काव्योक्ति भी पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में अभिन्न रूप में मिलती है। फिर भी, हमारे महाकवि में मौलिकता की कमी नहीं है, और यह अच्छा ही होगा कि अब हम केवल उस के मौलिक योग पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, और अपने महाकवि की महानता का अनुभव केवल उसी के आधार पर करें, और उस की स्तुति या निंदा उस सामग्री के आधार पर न करें जो उस ने उत्तराधिकार में प्राप्त की है। इस ग्रंथ का छठा अध्याय, फलतः, महाकवि की कला का अध्ययन इस बात की यथेष्ट अनुभूति के साथ प्रस्तुत करता है कि वह अंशतः अपने पूर्ववर्ती लेखकों का भी ऋणी है।

३४. महाकवि के आध्यात्मिक विचारों और विश्वासों का सम्यक् अध्ययन वह छठा विषय है जो प्रस्तुत परिस्थितियों में विशेष महत्वपूर्ण जान पड़ता है। अभी तक जो कार्य इस दिशा में हम ने किया है, वह केवल 'मानस' के आधार पर किया है, और कवि के शेष ग्रंथों की इस सबंध में सर्वथा उपेक्षा की है। फिर, जो कुछ हम ने किया भी है उस में एक बात का ध्यान नहीं रक्खा है : "क्या ऐसा तो नहीं है कि महाकवि ने कोई बात स्वतः या अपने पात्रों के द्वारा केवल इस कारण कह या कहला दी है कि वह एक 'श्रुति सम्मत' या 'नाना पुराण-निगमागम-सम्मत' कथा कहने बैठा था?" कम से कम एक बात से हम लोग, हमें आशा है, असहमत नहीं हो सकते : 'मानस' में उसे यह अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य नहीं था जो उसे अपने कुछ अन्य ग्रंथों में था। इस लिए यह असंभव नहीं कि इस संबंध में उसकी उन अन्य कृतियों की उपेक्षा से हमें केवल अर्ध-सत्यों का लाभ हुआ हो। हमारे ग्रंथ का सातवाँ अध्याय, फलतः, कवि के आध्यात्मिक विचारों और विश्वासों का अध्ययन एक व्यापक सामग्री के आधार पर उपस्थित करने का प्रयत्न करता है।

भूमिका के रूप में इतना कथन कदाचित् अलम् होगा।

२

अध्ययन का आधार

१. 'रामचरित मानस' के प्रणयन-काल स० १६३१ से ही, जिसे अब साढे तीन सौ वर्ष से भी अधिक हो रहे हैं, उत्तरी भारत में तुलसीदास का अध्ययन श्रद्धा और मनोनियोग पूर्वक हो रहा है, फलतः उनके सबध मे एक विस्तृत साहित्य का पाया जाना स्वाभाविक है। और भी, उन की इस लोक प्रियता ने यदि कुछ ज्ञाताज्ञात अन्य तुलसीदासों को भी जन्म दिया हो तो हमे आश्चर्य न होना चाहिए। अतएव, यह आवश्यक है कि जो कुछ भी सामग्री हमें इस समय उन के सबध में, अथवा उन के नाम के साथ सबद्ध, मिलती है उस पर हम भली भाँति विचार कर लें, तब आगे बढें।

२. यह सामग्री मुख्यत. दो रूपों में हमारे सामने आती है : एक तो, कवि के जीवन वृत्त तथा जीवन वृत्त सबधी सामग्री के रूप में, और दूसरे कवि की रचनाओं के रूप में। कवि के जीवन-वृत्त के रूप मे साधारणतः ऐसी सारी रचनाएँ आती हैं जिन का उद्देश्य उस के व्यावहारिक जीवन से परिचय कराना होता है। इस प्रकार के जीवन वृत्तों का अत पाना कठिन है, क्यों कि वे न केवल कवि के सबध मे लिखे गए समालोचनात्मक ग्रथों में मिलते हैं, बल्कि उस की रचनाओं के अनेक सस्करणों के साथ भूमिका के रूप में भी मिलते हैं। स्पष्ट ही, इन सारे जीवन-वृत्तों की जाँच असभव ही नहीं अनावश्यक भी है। यहाँ हम इतना ही कर सकते हैं कि कवि के ऐसे जीवन-वृत्तों की जाँच करें जिन के आधार पर अन्य जीवन-वृत्तों की रचना हुई है, और इन आधार-भूत जीवन-वृत्तों की सख्या अधिक नहीं है। जीवन वृत्त-सबधी सामग्री भी कुछ कम नहीं है, पर यह ध्यान देने योग्य है कि उस का अधिकाश किंवदती मात्र है, ऐसी सामग्री जो इन किंवदतियों को छोड़ देने पर बचती है, अधिक नहीं है; और, इसी पर विचार करना यहाँ हमारे लिए सभव भी है। कवि की "रचनाएँ" अनेक कही जाती हैं। वे कुल हमारे ही कवि की रचनाएँ हैं, अथवा किसी अन्य ज्ञाताज्ञात तुलसीदास की रचनाएँ

भी उसमें आ गई हैं, इस पर भी हमें यथा-स्थान इसी प्रकार विचार करना होगा। अध्ययन की इस आधारभूत सामग्री पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

गोसाईं-चरित्र

३. जीवन-वृत्त के रूप में सब से पहले जिस सामग्री की ओर हमारा ध्यान जाता है, वह है 'गोसाईं-चरित्र'। 'गोसाईं-चरित्र' के संबंध में सब से पहली सूचना हमें 'शिवसिंह-सरोज' में मिलती है। उसके लेखक, शिवसिंह सेंगर ने इस जीवन-वृत्त का उल्लेख दो स्थलों पर किया है: पहले तो हमारे कवि के संबंध में लिखते हुए; और तदनंतर बेनीमाधव दास, उक्त जीवन-वृत्त के रचयिता के संबंध में लिखते हुए। पहले स्थल पर[1] कहा गया है: "इन के जीवन-चरित्र की एक पुस्तक बेनीमाधव दास कवि पसका ग्रामवासी ने, जो इन के साथ-साथ रहे, बहुत विस्तारपूर्वक लिखी है। उसके देखने से इन महाराज के सब चरित्र प्रकट होते हैं। इस पुस्तक में ऐसी विस्तृत कथा को हम कहाँ तक संक्षेप में वर्णन करें।" और दूसरे स्थल पर[2] कहा गया है: "बेनीमाधव दास उ० सं० १६५५। यह महात्मा गोस्वामी तुलसीदास जी के शिष्य, उन्हीं के साथ रहते रहे हैं, और गोसाईं जी के जीवन-चरित्र की एक पुस्तक 'गोसाईं-चरित्र' नाम की बनाई है। सं० १६६९ में देहांत हुआ।" बेनीमाधव दास की उक्त एकमात्र रचना से जो पंक्तियाँ 'सरोज' में उद्धृत की गई हैं[3], वे इस प्रकार हैं:

यहि भाँति कछु दिन बीति गए। अपने अपने रस रंग रए।
मुखिया इक भूपप माँझ रहे। हरिदासन को अपमान गहे।

इस चरित्र के संबंध में दी हुई पीछे के विद्वानों की विज्ञप्तियों का आधार एकमात्र 'सरोज' ही है, इसलिए उनका उल्लेख अनावश्यक है। अस्तु, 'गोसाईं-चरित्र' और उस के लेखक के संबंध में अभी तक हमें इतना ही ज्ञात हो सका है। खेद है कि प्रयत्न करने पर भी उस की खोज में ग्रियर्सन महोदय तथा अन्य अनेक विद्वानों को सफलता न मिली।

४. प्रस्तुत लेखक को खोज में एक अन्य 'गोसाईं-चरित्र' मिला है,

[1] शि० सि० स०, पृ० ४२७   [2] वही, पृ० ४३२
[3] वही, पृ० १३१

जिस का परिचय देना परमावश्यक होगा। यह 'गोसाईं-चरित्र' उसे 'मानस' के एक संस्करण की भूमिका के रूप में प्राप्त हुआ है। नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से 'रामचरित मानस' का एक बृहत्काय संस्करण किन्हीं महात्मा रामचरण दास की टीका सहित प्रकाशित है।[1] इसकी भूमिका में कवि का एक पद्यबद्ध जीवन वृत्त दिया हुआ है, जो तीस हजार शब्दों का (लगभग 'मानस' के अयोध्याकांड के आकार का) होगा। इस 'जीवन-चरित्र' का नाम भी 'गोसाईं-चरित्र' होना चाहिए, जो उस के निम्नलिखित सोरठे से ज्ञात होता है :

> यह बल मनहिं दृढ़ाय राम चरन सिर नाइ कै।
> कहौं कछु इक गाइ श्री गोसाईं अद्भुत चरित॥

(जीवन-चरित्र, पृ० ६)

५. यह ध्यान देने योग्य है कि इस पद्यबद्ध जीवन-वृत्त में हमें वह उद्धरण साधारण पाठ भेद के साथ मिल जाता है जिसे शिवसिंह सेंगर ने बेनीमाधव दास रचित 'गोसाईं चरित्र' के उदाहरण में अपने 'सरोज' में स्थान दिया है। प्रस्तुत चरित्र में जिस प्रसंग में वह उद्धरण पाया जाता है उस की कुछ अन्य पंक्तियाँ भी देखना यह समझने के लिए आवश्यक होगा कि वह शेष रचना का एक अंग मात्र है, अथवा उस में उस का समावेश कहीं अन्यत्र से लेकर किया हुआ है। कुछ परवर्ती पंक्तियों के साथ उपर्युक्त उद्धरण प्रस्तुत चरित्र में इस प्रकार मिलता है :

> यहि भाँति कछू दिन बीति गए। अपने अपने रस रंग रए।
> सुखिया यक सूथ समाज रहै। भक्तन निन्दा दृढ़ भाव गहै।
> भइ छीण आयुर्दा देह तज्यौ। पतिनी शुभ जननी पतिहिं भज्यौ।
> सब त्यहि सत को शृंगार कर्यो। सब तजि पति चरणन ध्यान धर्यो।
> निज लोक बिलोक बिशोक कियो। दुहु कुल पवित्र राति सुद्ध हियो।
> इमि द्वारे मंदिर के निकसी। लखि जात गोसाईं पाइँ लसी।
> करुणामय के मुख यों निकसो। अहिवात रहो निज गेह बसो।
> सुनि श्रवन अधीश सकोच कियो। प्रभु मोहिं कस आशिरवाद दियो।

(जीवन-चरित्र, पृ० २०)

[1] तृतीय संस्करण (सन् १९२४)

ऊपर की पंक्तियों को ध्यान-पूर्वक देखने के अनन्तर ज्ञात होगा कि पहली दो पंक्तियों की शैली तथा वस्तु शेष उदरण की शैली तथा वस्तु से—और इसी प्रकार शेष रचना की शैली तथा वस्तु से भी—वस्तुतः किसी प्रकार भिन्न नहीं है, और पहली दो पंक्तियाँ—अत्यंत साधारण पाठ-भेद के साथ—वही हैं जो हमें 'शिवसिंह-सरोज' में 'गोसाईं-चरित्र' के उदाहरण में मिलती हैं। फलतः जब हमारा ध्यान इस बात की ओर जाता है कि गोस्वामी जी के इस 'जीवन-चरित्र' का भी विस्तार ऐसा ही है कि दो-एक पृष्ठों में—जितने में छोटे-बड़े प्रत्येक कवि का परिचय 'सरोज' में दिया गया है—उस की विस्तृत कथा का संक्षिप्त वर्णन असंभव है, और इस 'जीवन-चरित्र' का भी नाम 'गोसाईं-चरित्र' है, हमें यह ज्ञान पड़ता है कि यह 'गोसाईं-चरित्र' जो शिवसिंह सेंगर ने देखा था हमें भी बहुत-कुछ उसी रूप में उपलब्ध है।

६. इस परिणाम को पूर्णतः स्वीकार करने में यदि कठिनाई रह जाती है तो वह है 'चरित्र' के रचयिता तथा उसके समय के संबंध की : शिवसिंह सेंगर ने 'गोसाईं-चरित्र' के रचयिता का नाम बेनीमाधव दास, और उस का समय सं० १६५५ बताया है, पर प्रस्तुत 'चरित्र' भवानीदास की रचना के रूप में हमारे सामने आता है :

> सब गुण रहित अवगुण सहित तव चरण दृढ़ विश्वास हो।
> धरि आश संज्ञा नाम की याचै भवानीदास हो॥
>
> (जीवन-चरित्र, पृ० २)

और इन भवानीदास का समय सं० १८१० के लगभग का ज्ञात होता है।

७. लेखक ने अपनी रचना का समय नहीं दिया है, पर उस के प्रेरक के संबंध में उल्लेख किया है, और इस प्रेरक के समय से रचना के समय का एक साधारण अनुमान किया जा सकता है। वह कहता है :

> श्री स्वामी नँदलाल महारत राम परायन।
> नगर सरीले बास महा कुल के सुखदायन।
> श्रीमत् योधाराम जिनहिं कुल कमल दिवाकर।
> यथा नाम प्रभु आप मनो तन धरे कृपा कर।
> प्रथम कहूक बन्दन कियौ श्री गुरुदेव जो परम हित।
> अमित दानि नररूप हरि तिन गुण गण की कहा मति॥
> श्रीमत् चरणदास दुतिया प्रिय जन स्वामी के।

तिनके गुण अभिराम राम रति सब विधि नीके।
श्री हीरामणि दास जो तिनके गुण गण मंडित।
शास्त्र तत्त्व रति राम ज्ञान आचारज पंडित।
तेहि कुल कैरव सुधानिधि रामप्रसाद प्रकाश किय।
हित चरण विषै रस अवध बसि श्री स्वामी की वृत्ति लिय॥
मोहिं आपन करि जानि मानि कुल कानि पच्छ धर।
नतरु विषै लपटान कौन हो पात्र कृपा कर।
विविध प्रसंग सुनाइ गोसाईं के सुखदायक।
भो निदेश ये चरित करहु भाषा गुण गायक।
अज्ञा शिर धरि जोरि कर बिनवौं कवि कोविद चरन।
लखि चूक छमा कीन्हौं सदा जानि दास अपनौ शरण॥

(जीवन-चरित्र, पृ० ७)

उपर्युक्त उल्लेख से केवल इतना बोध होता है कि इन पंक्तियों का लेखक स्वतः किन्हीं महात्मा योधाराम का शिष्य था, जो सरीला (संडीला) निवासी स्वामी नंदलाल की शिष्य-परंपरा में हुए थे; और, स्वामी नंदलाल की ही एक दूसरी शिष्य-परंपरा में कोई स्वामी रामप्रसाद हुए थे, जो अयोध्या में निवास करते थे; और इन्हीं रामप्रसाद जी के आदेश से लेखक ने प्रस्तुत 'जीवन-चरित्र' की रचना की थी। प्रश्न यह है कि इन रामप्रसाद जी का समय क्या है।

८. रामप्रसाद जी अयोध्या में एक ऐसी गद्दी के महंत हो चुके हैं जो अब 'बड़ा-स्थान' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं रामप्रसाद जी के उत्तराधिकारी रघुनाथप्रसाद जी ने 'श्री महाराज-चरित्र' नामक एक पुस्तिका में उन का जीवन-चरित्र लिखा है। उसमें आपने लिखा है कि रामप्रसाद जी स्वामी नंदलाल की शिष्य-परंपरा में थे, और सं० १७६० में उत्पन्न[१] और सं० १८६१ में साकेतवासी हुए थे।[२] यदि यह तिथियाँ हम ठीक मान लें—और ठीक न मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता—और साथ ही यह भी मान लें कि रामप्रसाद जी अवस्था में भवानीदास से इतना काफी बड़े थे कि उनमें भवानीदास की गुरु-भावना रही हो, जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण के पढ़ने पर ज्ञात होता है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि प्रस्तुत 'जीवन-चरित्र'

[१] पृ० ११ [२] पृ० १३४

की रचना का समय कम से कम सं० १८१० के सन्निकट होगा।

९. रामप्रसाद जी के समय के संबंध में अनुमान का एक और साधन भी है : यह है 'मानस' की उसी टीका के साथ दिए, हुए 'रामायण माहात्म्य' का वह अंश जिस में उस का लेखक रचना का समय और अपना परिचय देता है। आवश्यक अंश इस प्रकार है :

संवत वसु नभ नन्द कृ मार्ग शुक्ल गुरुवार।
एकादशि कहँ कीन्ह है अपनी मति अनुसार॥
राम कोट श्री अवधपुर स्वामी रामप्रसाद।
तिनकी महिमा को कहै विश्व विदित मरजाद॥
तिनसे गादी पाँचईं सो स्वामी मैं दास।
लखणपुरी मम जन्म थिति रामनगर के पास॥
मोजमनगर प्रसिद्ध द्विज उत्तम पूरन दास।
तस्यात्मज गोपाल कृत यह माहात्म्य इतिहास॥

(रामायण माहात्म्य, पृ० ८०

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि रामप्रसाद जी 'माहात्म्य' के लेखक गोपालदास से ऊपर की छठी पीढ़ी में थे, और 'माहात्म्य' का रचना-काल सं० १९०८ है। अगर हम प्रत्येक पीढ़ी का समय औसतन् लगभग २० वर्ष का मानें —जो ऐसी गद्दियों के संबंध में प्रायः देखा जा सकता है जिन में महंत चुनाव से होता है—तो रामप्रसाद जी का समय सं० १८०८ के लगभग ठहरता है।

१०. अब प्रश्न यह है कि और सभी आवश्यक बातों में समानता होते हुए भी जीवन-वृत्त के रचयिता और उस की तिथि के संबंध में यह अंतर क्यों है। दो बातें संभव हैं; संभव है शिवसिंह सेंगर ने उस 'जीवन-चरित्र' को भली भाँति न देखा हो, और किसी दूसरे के कथन पर इसी भवानीदास रचित 'जीवन-चरित्र' को बेनीमाधव दास रचित और सं० १६५५ के लगभग की रचना मान लिया हो; और यह भी संभव है कि 'गोसाईं'-चरित्र' को जिस रूप में सेंगर जी ने देखा रहा हो उस रूप में वह बेनीमाधवदास की ही रचना रही हो, और उसे भवानीदास की रचना बनाने के लिये कुछ आवश्यक फेरफार बाद में कर दिया गया हो। इन दो बातों में से जो भी ठीक हो, यह स्पष्ट है कि 'सरोज' में उल्लिखित 'गोसाईं'-चरित्र' का एक रूप अब हमें उपलब्ध है।

११. प्रश्न अब यह है कि इस जीवन-चरित्र को कहाँ तक प्रामाणिक माना जा.

सकता है। जब हम इस चरित्र को पढ़ते हैं तो देखते हैं कि यद्यपि इस में कवि के समकालीन अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और उन से संबंध रखनेवाली घटनाओं का उल्लेख होता है, परन्तु उन व्यक्तियों के संबंध में और उन से संबंध रखने वाली घटनाओं के संबंध में हमें वह आवश्यक विस्तार नहीं मिलता है जिसकी सहायता से उस की ऐतिहासिकता की जाँच की जा सके। और, तिथियाँ तो हमें चरित्र भर में नहीं दिखलाई पड़तीं। ऐसी अवस्था में यह 'गोसाईं-चरित्र'—और कदाचित् वह 'गोसाईं-चरित्र' भी—कवि के जीवन-वृत्त के पुनर्निर्माण में हमारा कहाँ तक सहायक हो सकता है यह अत्यंत संदिग्ध है।'[१]

मूल गोसाईं-चरित

१२. दूसरी सामग्री जो जीवन-वृत्त के रूप में प्रमुख रूप से हमारे सामने आती है 'मूल गोसाईं-चरित' है। तुलसीदास के जीवन-वृत्त के संबंध में हमें अन्य जितनी सामग्री प्राप्त है, उस सब से अधिक 'मूल गोसाईं-चरित' की विस्तृत परीक्षा की आवश्यकता है। इस के दो कारण हैं: एक तो यह है कि यह कवि के जीवन से संबंध रखने वाली प्रत्येक समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करता है—प्रकाश भ्रांतिपूर्ण है या सत्य यह हम पीछे कह सकेंगे; और दूसरे यह कि स्वर्गीय रायबहादुर डॉक्टर श्यामसुंदर दास तथा डॉक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ऐसे प्रतिष्ठित लेखकों ने इसे आधार मान कर कवि के एक जीवन-वृत्त की रचना की है।[२]

१३. जब हम इस 'चरित' को पढ़ते हैं, तो हमारा ध्यान इस की दो विशेषताओं की ओर प्रमुख रूप से आकृष्ट होता है: एक तो यह कि चरित-लेखक कवि के जीवन में ऐसी अलौकिक और अस्वाभाविक घटनाओं को भी स्थान देता है जिन पर विश्वास करना केवल इने-गिने श्रद्धालुओं का ही काम है; दूसरे यह कि वह कवि के जीवन में घटित प्रत्येक घटना का तिथियों के साथ वर्णन करता है। फलतः, उस में वर्णित अलौकिक और अस्वाभाविक घटनाओं के कारण ही उस की प्रामाणिकता पर संदेह करना युक्तियुक्त न

[१] डॉक्टर लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने ('सरस्वती', भाग ४१, संख्या १, पृ० ११) जिस 'श्री गोस्वामी तुलसीदास चरितामृत' का परिचय दिया है, वह इसी 'गोसाईं-चरित्र' का रूपांतर है

[२] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० २१-२३

होगा, क्यों कि यह असंभव नहीं—जैसा कि कुछ लोगों का ध्यान है—कि साधारण लोगों में कवि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए ही ऐसी घटनाओं की सृष्टि की गई हो या स्वाभाविक घटनाओं को ऐसा अस्वाभाविक रूप दिया गया हो। वस्तुतः हम उस की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के संबंध में दृढतापूर्वक तभी कुछ कह सकते हैं जब हम यह देख लें कि उस की उपर्युक्त दूसरी विशेषता में कहाँ तक सत्य है।

१४. अस्तु, चरित-लेखक के द्वारा दी हुई तिथियों और अन्य विस्तारों को हम उन की परीक्षा के साधनों के आधार पर निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) ऐसी तिथियाँ और ऐसे विस्तार जिन की शुद्धता ज्योतिष के नियमों के अनुसार जाँची जा सकती है,

(२) ऐसी तिथियाँ और ऐसे विस्तार जिन की परीक्षा इतिहास के सिद्ध प्रमाणों के आधार पर की जा सकती है, और

(३) ऐसी तिथियाँ और ऐसे विस्तार जिन के संबंध में कवि की रचनाओं का आश्रय ले कर कुछ निश्चय किया जा सकता है।

नीचे हम चरित-लेखक की दी हुई तिथियों और अन्य विस्तारों पर इसी क्रम से विचार करेंगे।

१५. पहले प्रकार की तिथियों और अन्य विस्तारों में से केवल निम्न-लिखित इस प्रकार के हैं जिन की गणना की जा सकती है, और गणना के अनंतर जिन की शुद्धता के संबंध में एक निश्चय पर पहुँचा जा सकता है, शेष का विवरण गणना के लिए अपर्याप्त है :

(अ) कवि की जन्म तिथि : सं० १५५४, श्रावण शुक्ल ७, जब बृहस्पति और चंद्रमा कर्क के थे, मंगल तुला के थे, और शनि वृश्चिक के थे :

तिनके घर द्वादस मास परे। जब कर्क के जीव हिमांसु चरे।
कुज सप्तम अष्टम भानुतने। अभिहित सुठि सुंदर साँझ समै॥
पन्द्रह सै चौवन बिषै कालिंदी के तीर।
सावन सुक्ला सत्तिमी तुलसी धरेउ सरीर॥

(मू० गो० च० २)

(आ) कवि की यज्ञोपवीत तिथि : सं० १५६१, माघ शुक्ल ५, शुक्रवार :
पन्द्रह सै इकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमि औ भृगुवार उदी।

सरजू तट विप्रन जग्य किए । द्विज बालक कहँ उपवीत दिए ॥
(मू० गो० च० ९)

(इ) कवि की विवाह तिथि : स० १५८३, जेष्ठ शुक्ला १३, गुरुवार :

पन्द्रह सै पार तिरासि विषै । सुभ जेठ सुदी गुरु तेरसि पै ।
अधिराति लगै जु फिरी भँवरी । दुलहा दुलही की परी पँवरी ॥
(मू० गो० च० १६)

(ई) कवि की स्त्री की देहात तिथि : स० १५८६, आषाढ़ कृष्णा १०, बुधवार :

सत पन्द्रह जुक्त नवासि सरे । सु असाढ़ बदी दसमीहुँ परे ।
बुध बासर धन्य सो धन्य घरी । उपदेसि सती तनु त्यागि करी ॥
(मू० गो० च० १९)

(उ) कवि की रामदर्शन-तिथि : स० १६०७, माघ कृष्णा १५, बुधवार :

सुखद अमावस मौनिया बुध सोरह सै सात ।
जा बैठे तिसु घाट पै बिरही होतहि प्रात ॥
(मू० गा० च० २३)

(ऊ) 'रामचरित मानस' की समाप्ति-तिथि : सं० १६३३, मार्गशीर्ष शुक्ला ५, मगलवार :

तैंतीस को संबत औ मगसर । सुभ द्यौस सु राम बिबाहहि पर ।
जुत सप्त सोपान समाप्त भयो । सद्ग्रंथ बन्यो सुप्रबंध नयो ॥
महि सुत बासर मध्य दिन सुभ मिति तस्सत फूल ।
सुर समूह जय जय किए हरषित बरषे फूल ॥
(मू० गो० च० ४१)

(ए) कवि की देहात तिथि : स० १६८०, श्रावण कृष्णा ३, शनिवार :

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर ।
सावन स्यामा तीज सनि तुलसी तज्यो शरीर ॥
(मू० गो० च० ११९)

गणना करने पर यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त सात तिथियों में से पहली और छठी को छोड़ कर शेष पाँच शुद्ध हैं; और यह पाँच तिथियाँ विगत संवत्-वर्ष प्रणाली पर ठीक उतरती हैं, पर पहली और छठी न विगत-संवत

वर्ष-प्रणाली पर ठीक उतरती है और न वर्त्तमान-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर।[1]

१६. दूसरे प्रकार की तिथियों और विस्तारों में से कुछ ही ऐसे हैं जिनके संबंध में हमें यथेष्ट ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त है। शेष तिथियों और उन से संबंध रखने वाले व्यक्तियों आदि के संबंध में जो ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त है वह प्रस्तुत कार्य के लिये अपर्याप्त है, इस लिए नीचे केवल उपर्युक्त पूर्व-श्रेणी की ही तिथियों और अन्य विस्तारों के संबंध में विचार किया जायगा।

(क) चरित लेखक का कथन है कि सं० १६१६ के लगते ही सूरदास जी गोस्वामी जी से मिलने के लिए आए, और उन्हें गोकुलनाथ जी ने कृष्णरंग में डुबो कर भेजा था :

सोरह से सोरह लगै कामदगिरि ढिग बास।
सुचि एकांत प्रदेस महँ आए सूर सुदास॥
पठए गोकुलनाथ जी कृष्ण रंग में बोरि।
दग फेरत चित चातुरी लीन्ह गोसाईं छोरि॥
(मू० गो० च० २९, ३०)

सूरदास के संबंध में साधारणतः यह माना जाता है कि वे सं० १६२० तक जीवित थे, फलतः गोस्वामी जी के पास उनके आने की बात असंभव नहीं कही जा सकती, यह दूसरी बात है कि वस्तुतः वे आए थे या नहीं। किंतु जो बात असंभव जान पड़ती है वह है गोकुलनाथ जी का उन्हें कृष्ण-रंग में डुबो कर भेजना। गोकुलनाथ जी की अवस्था सं० १६१६ में मुश्किल से आठ साल की रही होगी, क्योंकि उन के पिता गोसाईं विट्ठलनाथ जी का जन्म सं० १५७३ में हुआ था, और गोकुलनाथ जी उन के चौथे पुत्र थे।[2] चरित-लेखक यह भी लिखता है कि जब सूरदास वापस जाने लगे तब गोस्वामी जी ने उन्हें गोकुलनाथ जी के नाम एक पत्र दिया :

दिन सात रहे सतसंग पगै। पद कंज गहे जब जान लगै।
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किए। पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिए॥
(मू० गो० च० ३१)

यह कथन भी उपर्युक्त कारण से असंगत प्रतीत होता है। और, जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि सं० १६१६ में गोसाईं विट्ठलनाथ जी

[1] देखिए परिशिष्ट आ

[2] ग्राउस : 'मथुरा', पृ० २६२

गद्दी पर विराजमान थे—उन का देहावसान सं० १६४२ में हुआ—[1] तब तो चरितलेखक की उपर्युक्त बात कोरी कल्पना मात्र प्रतीत होती है।

(ख) सं० १६१६ में सूरदास के चले जाने पर, चरित लेखक का कथन है कि गोस्वामी जी को मेवाड़ से भेजा हुआ मीराबाई का एक पत्र मिला, जिसे पढ़ कर उन्होंने उत्तर भी भेजा,

लै पाति गए जब सूर कबी। उर में पधराय के स्याम छबी।
तब आयो मेवाड़ ते विप्र नाम सुखपाल।
मीराबाई पत्रिका लायो प्रेम प्रबाल॥
पढ़ि पाती उत्तर लिखे गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो कहि दिय विप्र पठाय॥
(मू० गो० च० ३१, ३२)

राजस्थान के इतिहासकार कहते हैं कि मीराबाई की मृत्यु सं० १६०३ तक हो चुकी थी,[2] फलतः चरित-लेखक की यह बात भी असंभव लगती है।

(ग) चरित-लेखक कहता है कि 'मानस' के समाप्त होने पर—अर्थात् सं० १६३३ मार्गशीर्ष शुक्ला ५ के अनंतर ही—किसी दयालदास ने उस की प्रतिलिपि की, और उसे अपने गुरु नंदलाल स्वामी को सुनाने के अनंतर लगातार तीन वर्षों तक रसखान को सुनाया :

स्वामि नंद सुलाल को सिष्य सुनौ। तिसु नाम दयाल सुदास गुनी।
लिपि कै सोइ पोथि स्वठाम गयो। गुर के ढिग जाइ सुनावत भो॥
जमुना तट पै त्रय बत्सर लौं। रसखानहिं जाइ सुनावत भो॥
(मू० गो० च० ४७)

प्रश्न यह है कि क्या रसखान ने इस समय—अर्थात् लगभग सं० १६३४ से १६३७ तक—'मानस' की कथा सुनी होगी। रसखान की ठीक जन्म तिथि अज्ञात है, उनकी एक रचना 'प्रेम-वाटिका' के आधार पर—जिस की रचना तिथि सं० १६७१ है[3]—यह अनुमान किया जाता है कि उन का जन्म सं० १६१५ के लगभग हुआ होगा।[4] यदि हम इस तिथि को ठीक

[1] ग्राउस : 'मथुरा', पृ० २६२
[2] गौरीशंकर हीराचंद ओझा 'उदयपुर का इतिहास', पृ० ३६०
[3] 'प्रेम-वाटिका' (हिंदी-प्रेस, प्रयाग), दो० ५१
[4] मि० ब० वि०, भाग १, नो० १५१

मानें—और ठीक न मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता—तो सं० १६३४ में रसखान की अवस्था लगभग उन्नीस वर्ष की ठहरती है। इस अवस्था में रसखान को, जो एक पठान थे और किसी बादशाही घराने में उत्पन्न थे,[१] राम-कथा से इतनी लगन रही हो कि उन्होंने तीन वर्षों तक लगातार 'मानस' की कथा किसी से सुनी हो, असंगत प्रतीत होता है, और यदि हम 'दो सौ बावन वार्ता' में उल्लिखित उन की युवावस्था की उस कथा पर विश्वास करें जिस में हम उन्हें एक साहूकार के लड़के पर आसक्त पाते हैं[२] तो यह घटना असंभव ही जान पड़ेगी।

(प) सं० १६३४-३५ के लगभग चरित-लेखक के अनुसार कोई मुक्तामणि दास गोस्वामी जी का दर्शन करते हैं :

मुक्तामनि दास जु आयो हतो। हरि सयन को गीत सुनायो हतो।

(मू० गो० च० ४७)

केवल एक मुक्तामणि दास का हमें ज्ञान है, और उन का समय मिश्र-बंधु सं० १६६० के लगभग बताते हैं।[3] यदि यह मुक्तामणि दास और वह मुक्तामणि दास एक ही हैं तो यह असंभव नहीं कि वह गोस्वामी जी से सं० १६३४-३५ के लगभग मिले हों।

(ट) सं० १६४३-४४ के लगभग चरित-लेखक के अनुसार कोई बलभद्र गोस्वामी जी का दर्शन करते हैं :

घनस्याम रहै घासिराम रहै। बलभद्र रहै बिस्राम लहै।

(मू० गो० च० ५८)

यदि इन बलभद्र से चरित-लेखक का आशय उन्हीं बलभद्र से हो जो केशवदास के भाई थे, तो यह असंभव नहीं कि उन्हों ने गोस्वामी जी के दर्शन उपर्युक्त तिथि के लगभग किए हों, क्यों कि वह गोस्वामी जी के सम-सामयिक थे।[४]

(च) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६४३-४४ के लगभग केशवदास ने काशी आकर गोस्वामी जी से मिलने का प्रयत्न किया, पर जैसी आवभगत

[१] 'प्रेम-वाटिका' (हिंदी-प्रेस, प्रयाग), दो० ४८

[२] २५२ वार्ता, पृ० २६१

[3] मि० बं० वि०, भाग १, नो० १८२

[४] मि० बं० वि०, भाग १, नो० ३४५

की उन्हें आशा थी, वैसी आवभगत न पाने के कारण वह वापस चले गए, और रात भर में 'राम चंद्रिका' की रचना कर के दूसरे ही दिन पुनः गोस्वामी जी के पास जा पहुँचे :

कवि केसवदास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया।
कवि जानि के दरसन हेतु गए। रहि बाहिर सूचन भेजि दिए।
सुनि कै सु गोसाइँ कहे इतनो। कवि प्राकृत केसव आवन दो।
फिरि गे भट केशव सो सुनि कै। निज तुच्छता आपुइ तें गुनि कै।
रचि राम सुचंद्रिका रातिहि में। जुरे केसव जू असि घातहि में॥
(मू० गो० च० ५८)

इस बात के अतिरिक्त कि 'रामचंद्रिका' ऐसे बड़े और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ की रचना एक ही रात में कर डालना मानव-शक्ति के बाहर की बात है, यह भी ध्यान देने योग्य है 'रामचंद्रिका' की रचना-तिथि उस में कवि ने स्वय दी है, और वह है स० १६५८।[1]

(छ) अन्यत्र चरित-लेखक कहता है कि सं० १६५१ के लगभग उस के चरित-नायक को केशवदास का प्रेत मिला :

उद्धर्‍यो केसवदास प्रेत हतो घेरेउ मुनिहि।
उधरे बिनहि प्रयास चढ़ि बिमान स्वरगहि गयो।
(मू० गो० च० ७८)

जिस से एक परिणाम यह भी निकलता है कि केशवदास का देहात स० १६५१ के पूर्व ही हो चुका था। पर स० १६५१ के कई वर्ष पीछे तक वह जीवित रहे, इस में सदेह नहीं किया जा सकता, क्यों कि 'रामचद्रिका' और 'कविप्रिया' की रचना उन्हों ने स० १६५८ में, 'वीरसिंह देव चरित' की स० १६६४ में, 'विज्ञानगीता' की सं० १६६७ में, और 'जहाँगीर-जस-चंद्रिका' की सं० १६६६ में की। यह सभी तिथियाँ कवि ने स्वतः अपने उपर्युक्त ग्रंथों मे दी हैं, अतएव निर्विवाद हैं।

(ज) चरित-लेखक कहता है कि स० १६४६-५० के लगभग उस के चरित-नायक वृंदावन जाकर अपने शिक्षा-गुरु-बधु नददास कनौजिया से मिले :

[1] 'रामचंद्रिका' ('केशव कौमुदी'), भाग १, पृ० ५

नँददास कनौजिया प्रेम मढ़े। जिन सेष सनातन तीर पढ़े।
सिच्छा गुरु बंधु भए तेहि ते। अतिप्रेम सों आय मिले येहि ते।
(मू० गो० च० ७५)

नंददास उन के शिक्षा गुरु-बंधु थे या नहीं, और वे कनौजिया थे या और कोई, यह प्रश्न थोड़ी देर के लिए यदि हम छोड़ दें, तो भी 'दो सौ बावन वार्ता' में उल्लिखित नंददास की वार्ता से इस कथन का प्रत्यक्ष विरोध दिखाई पड़ता है। 'वार्ता' में लिखा गया है कि नंददास मिलने पर तुलसीदास को गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पास लिवा ले गए, जहाँ गोस्वामी जी ने एक चमत्कार भी देखा।[1] गोसाईं विट्ठलनाथ जी का देहांत सं० १६४२ में हुआ था।[2] फलतः 'वार्ता' के अनुसार यह भेंट सं० १६४२ के पूर्व ही हुई होगी। यदि 'वार्ता' की सूचना पर अविश्वास न किया जाए तो 'मूल गोसाईं-चरित' का यह उल्लेख भी ठीक नहीं कहा जा सकता है।

(झ) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६५१ के लगभग दिल्लीपति ने हमारे कवि को दिल्ली बुला भेजा, और वहाँ उस से कोई करामात दिखलाने का निवेदन किया, जिसे हमारे कवि ने इनकार किया, इस से वह बन्दी कर लिया गया; इस समय बन्दरों ने वहाँ बड़ा उत्पात किया, जिस के परिणाम-स्वरूप दिल्लीपति को हमारे कवि से क्षमा-याचना करनी पड़ी और उसे मुक्त करना पड़ा। उस उत्पात का वर्णन लेखक ने जिन शब्दों में किया है, वे भी ध्यान देने योग्य हैं :

दिल्लीपति बिनती करी दिखरावहु करमात।
मुकरि गए बंदी किए कीन्हे कपि उतपात॥
बेगम को पट फारेऊ नगन भईं सब बाम।
हाहाकार मच्यौ महल पटको नृपहिं धड़ाम॥
मुनिहि मुकुत ततछन किए छमाऽपराध कराय।
बिदा कीन्ह सनमान जुत पीनस पै पधराय॥
(मू० गो० च० ८०-८२)

इस प्रकार की किसी घटना का कोई उल्लेख अकबर के समय के इतिहासकार नहीं करते, फलतः यह घटना भी इतिहास-विरुद्ध जान पड़ती है।

[1] २५२ वार्ता, पृ० ३४, ३५ [2] ग्राउस : 'मथुरा', पृ० २६२

(ञ) सं० १६५१ के ही लगभग, चरित-लेखक का कथन है, हमारे कवि से अयोध्या में भक्त हरिदास ने एक पद का संशोधन कराया :

हरिदास सुभक्त सुगीत रचो। तेहि माँ कछु सब्द असुद्ध भयो।
सुधराये मुनी पै न बोध भयो। तिसु कीर्तन में अवरोध भयो।

(मू० गो० च० ८३)

भक्त हरिदास वृंदावन और निधुबन में रहा करते थे, और वहाँ उन्हों ने एक सम्प्रदाय स्थापित किया था, जिस का नाम था टट्टी संप्रदाय।[1] उन का सम्मान इतना बढ़ा हुआ था कि कहा जाता है कि एक बार अकबर ने स्वयं वेष बदल कर उन का दर्शन किया था;[2] और नाभादास जी का कथन है कि अनेक राजे उन के दर्शनार्थ उन के द्वार पर खड़े रहते थे :

नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरसन आसा जासु की।

(भक्तमाल, छप्पय ९१)

वह हमारे कवि से अवस्था में भी वृद्ध थे, क्यों कि यद्यपि उन का जन्म-काल निर्विवाद नहीं है, पर उन का रचना-काल सं० १६०७ के लगभग माना जाता है।[3] इस लिए लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नहीं जान पड़ता।

(ट) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६५१ के लगभग अयोध्या में कवि ने देव मुरारी और मलूकदास से भेंट की :

देव मुरारी भेंटि मिलि सहित मलूकादास।
पहुँचे काशी में रिपय किए अखंड निवास॥

(मू० गो० च० १३)

मलूकदास ने सं० १६३१ में जन्म ग्रहण किया था,[4] इस लिए सं० १६५१ के लगभग उन का अयोध्या में देव मुरारी नामक किन्हीं संत के साथ पाया जाना असंभव नहीं कहा जा सकता। पर बीस वर्ष की अवस्था उन की जैसी आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति के वैराग्य के लिए ठीक नहीं जान पड़ती।

[1] मि० बं० वि०, भाग १, नो० ६४

[2] डाक्टर स्यामसुंदर दास : हिं० खो० रि० सन् १९००, पृ० ३७

[3] हिं० खो० रि० सन् १९०२ (पृ० ८०) के अनुसार उन की प्रसिद्ध कृति "हरिदास जू को ग्रंथ" सं० १६०७ की रचना है

[4] हीरालाल : हिं० खो० रि० सन् १९१७–१९१९, नो० १०९

वे जाति के खत्री थे और धनाढ्य भी थे। कहा जाता है कि उन्हों ने अपने गुरु के लिए, जो प्रयाग में रहते थे, अशर्फ़ियों का एक तोड़ा गंगा जी में डाल दिया था, ताकि वह उन के गुरु को प्रयाग में मिल जावे।[1] यदि बीस वर्ष की अवस्था में घर बार छोड़ कर वह निकल पड़े होते, तो इस प्रकार के चमत्कार के लिए उन्हें कदाचित् अवसर न मिलता।

(ठ) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६६६ में टोडर के देहावसान के अनंतर कवि ने उन की संपत्ति उन के दो लड़कों में बाँट दी :

सोरह से उनहत्तरो माधव सित तिथि धीर।
पूरन आयू पाइकै टोडर तजे सरीर॥
पाँच मास बीते परे वेरसि सुदी कुआर।
युग सुत टोडर बीच मुनि बाँटि दिए घर बार॥

(मू० गो० च० ८७, ८९)

टोडर के उत्तराधिकारियों के बीच उन की संपत्ति का जो बँटवारा हुआ था, उस का विवरण हमें उन के बँटवारे के उस पचायतनामे में मिलता है जो इस समय काशिराज के यहाँ सुरक्षित है। उस में यह लिखा गया है कि बँटवारा "अनंदराम बिन टोडर बिन देवराय व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मज़कूर" के बीच में हुआ।[2] इस इबारत से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बँटवारे के समय टोडर का केवल एक पुत्र जीवित था, और दूसरा पुत्र कुछ पूर्व ही मृत हो चुका था; दूसरा व्यक्ति जिस के साथ वह टोडर की संपत्ति का उत्तराधिकारी हुआ टोडर का पौत्र था। फलतः चरित-लेखक का यह कथन भी ठीक नहीं है।

(ड) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६६६ में गंग की मृत्यु हुई :

छमा किये नहिं स्राप दिय रँगे साँति रस रंग।
मारग में हाथी कियो झपटि गंग तनु भंग॥

(मू० गो० च० ९२)

गंग के समय के बारे में कुछ दिनों पूर्व काफ़ी विवाद था, पर अब ऐसा नहीं है। इधर की खोजों में किन्हीं श्रीपति द्वारा किए हुए महाभारत के

[1] पं० रामचंद्र शुक्ल : 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० ९०

[2] देखिए इसी निबंध में आगे चलकर दिया हुआ पंचायतनामे का चित्र

कर्ण पर्व का हिंदी अनुवाद प्राप्त हुआ है, जिस का रचना-काल सं० १७१६ है, और जिस में अनुवादक कहता है कि वह गंग का छोटा भाई है।[1] दो भाइयों के समयों में ५० वर्षों का—या उस से भी अधिक का क्यों कि गंग की मृत्यु सं० १६६६ में कही जाती है और श्रीपति सं० १७१६ में एक ग्रंथ लिख रहे थे—अंतर होगा ऐसा असंभव जान पड़ता है। इस लिए चरित लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नहीं जान पड़ता।

(ढ) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६७० में रहीम कवि ने बरवै लिखे, और उन्हें हमारे कवि के पास भेजा :

कवि रहीम बरवै रचे पठए मुनिवर पास।
लखि तेहि सुंदर छंद में रचना कियो प्रकास॥
(मू० गो० च० ९३)

इतिहास लेखकों का कथन है कि सं० १६६६ में रहीम दक्षिण भारत भेज दिए गए थे, और वहाँ से वे सं० १६७३ में वापस बुलाए गए।[2] यह बात असंगत सी जँचती है कि सुदूर दक्षिण से रहीम ने कतिपय बरवै की रचना कर के उन्हें हमारे कवि के पास भेजा हो। इस लिए चरित-लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नहीं जँचता।

(ण) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६७० के अंत में जहाँगीर काशी आया, और उस ने हमारे कवि का दर्शन किया :

जहाँगीर आयो तहाँ सत्तर संवत बीत।
धन धरती दीबो चहै गहै न गुनि बिपरीत॥
(मू० गो० च० ९७)

जहाँगीर के शासन-काल का विस्तृत इतिहास हमें तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा लिखा हुआ मिलता है, पर उस में यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि सं० १६७० में या उस के आस-पास जहाँगीर बनारस की ओर आया भी था। इस लिए लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नहीं जँचता।

इस प्रकार यह दिखलाई पड़ेगा कि पंद्रह ऐसी तिथियों और अन्य विस्तारों में से जिन का मिलान इतिहास से किया जा सकता है, अधिक से अधिक

[1] हि० खो० रि०, सन् १९२०-२१, नो० १८५
[2] डॉक्टर बेनीप्रसाद : 'जहाँगीर' पृ० २६८-७०

तीन ऐसे हैं जो असंभव नहीं कहे जा सकते— वे भी इतिहास सम्मत हैं यह नहीं कहा जा सकता—और शेष तो स्पष्ट ही इतिहास विरुद्ध जान पड़ते हैं।

(त) इस सिलसिले में हम चरित लेखक के एक और कथन पर भी विचार कर सकते हैं। वह लिखता है कि हमारे कवि ने सं० १६४६-५० में "विप्र संत" नाभादास से भेंट की :

विप्र संत नाभा सहित हरि दरसन के हेत।
गए गोसाईं मुदित मन मोहन-मदन निकेत॥
(मू० गो० च० ७३)

विचारणीय यह है कि नाभादास क्या "विप्र संत" थे—उन की भेंट अवश्य असंभव नहीं कही जा सकती। उन के 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास उन के संबंध में लिखते हैं कि वे हनुमान-वंशी थे :

हनुमान वंश ही में जनम प्रसंस जाको
भयो दृग हीन सो नवीन बात धारिये।
(भ० टी० १२)

हनुमान-वंशी ब्राह्मण कहीं देखने-सुनने में नहीं आते, और विभिन्न प्रांतों की जातियों के संबंध का जो साहित्य हमें मिलता है उस में हनुमान-वंशी ब्राह्मणों का कहीं उल्लेख भी नहीं हुआ है। रूपकला जी अवश्य कहते हैं कि समर्थ गुरु रामदास हनुमान-वंशी ब्राह्मण थे।[1] पर मराठी साहित्य के किसी इतिहास में यह बात नहीं मिलती है। रूपकला जी ने यह उल्लेख संभवतः किसी किंवदंती के आधार पर किया होगा, और इस किंवदंती की उत्पत्ति का कारण यह जान पड़ता है कि रामदास जी का शिष्य-संप्रदाय, कदाचित् उन की दास्य भाव की भक्ति के कारण, उन्हें मारुति का अवतार मानने लगा था, और अवतार-संबंधी इस विश्वास का उल्लेख मराठी साहित्य के इतिहासकारों ने किया है।[2] फलतः, यह कहना कि नाभादास जी "विप्र संत" थे, ठीक नहीं है। जनश्रुति यह है कि नाभादास जी डोम थे।[3] देखना यह है कि "हनुमान-वंशी" और "डोम" में परस्पर कोई संगति है या नहीं।

[1] 'भक्तमाल', पृ० ४७

[2] जी० सी० भाटे : हिस्ट्री अव् मॉडर्न मराठी लिटरेचर, (सन् १८००— १९३९), पृ० ३२

[3] मि० बं० वि०, भाग १, नो० १७९

कर्ण-पर्व का हिंदी अनुवाद प्राप्त हुआ है, जिस का रचना-काल सं० १७१६ है, और जिस में अनुवादक कहता है कि वह गंग का छोटा भाई है।[1] दो भाइयों के समयों में ५० वर्षों का—या उस से भी अधिक का क्यों कि गंग की मृत्यु सं० १६६६ में कही जाती है और श्रीपति सं० १७१६ में एक ग्रंथ लिख रहे थे—अंतर होगा ऐसा असंभव जान पड़ता है। इस लिए चरित-लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नहीं जान पड़ता।

(ढ) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६७० में रहीम कवि ने बरवै लिखे, और उन्हें हमारे कवि के पास भेजा:

कवि रहीम बरवै रचे पठए मुनिवर पास।
लखि तेहि सुंदर छंद में रचना कियो प्रकास॥
(मू० गो० च० ९३)

इतिहास-लेखकों का कथन है कि सं० १६६६ में रहीम दक्षिण भारत भेज दिए गए थे, और वहाँ से वे सं० १६७३ में वापस बुलाए गए।[2] यह बात असंगत सी जँचती है कि सुदूर दक्षिण से रहीम ने कतिपय बरवै की रचना कर के उन्हें हमारे कवि के पास भेजा हो। इस लिए चरित-लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नहीं जँचता।

(ण) चरित-लेखक कहता है कि सं० १६७० के अंत में जहाँगीर काशी आया, और उस ने हमारे कवि का दर्शन किया :

जहाँगीर आयो तहाँ सत्तर संवत बीत।
धन धरती दीबो चहै गहे न गुनि बिपरीत॥
(मू० गो० च० ९७)

जहाँगीर के शासन-काल का विस्तृत इतिहास हमें तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा लिखा हुआ मिलता है, पर उस में यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि सं० १६७० में या उस के आस-पास जहाँगीर बनारस की ओर आया भी था। इस लिए लेखक का यह उल्लेख भी ठीक नहीं जँचता।

इस प्रकार यह दिखलाई पड़ेगा कि पंद्रह ऐसी तिथियों और अन्य विस्तारों में से जिन का मिलान इतिहास से किया जा सकता है, अधिक से अधिक

[1] हि० खो० रि०, सन् १९२०-२१, नो० १८५

[2] डॉक्टर बेनीप्रसाद : 'जहाँगीर' पृ० २६८-७०

तीन ऐसे हैं जो असंभव नहीं कहे जा सकते— वे भी इतिहास सम्मत हैं यह नहीं कहा जा सकता—और शेष तो स्पष्ट ही इतिहास-विरुद्ध जान पड़ते हैं।

(त) इस सिलसिले में हम चरित-लेखक के एक और कथन पर भी विचार कर सकते हैं। वह लिखता है कि हमारे कवि ने सं० १६४६-५० में "विप्र संत" नाभादास से भेंट की :

विप्र संत नाभा सहित हरि दरसन के हेत।
गए गोसाईं मुदित मन मोहन-मदन निकेत॥

(मू० गो० च० ७३)

विचारणीय यह है कि नाभादास क्या "विप्र संत" थे—उन की भेंट अवश्य असंभव नहीं कही जा सकती। उन के 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास उन के संबंध में लिखते हैं कि वे हनुमान-वंशी थे :

हनुमान वंश ही में जनम प्रशंस जाको
भयो दृग हीन सो नवीन बात धारिये।

(भ० टी० १२)

हनुमान-वंशी ब्राह्मण कहीं देखने-सुनने में नहीं आते, और विभिन्न प्रांतों की जातियों के संबंध का जो साहित्य हमें मिलता है उस में हनुमान-वंशी ब्राह्मणों का कहीं उल्लेख भी नहीं हुआ है। रूपकला जी अवश्य कहते हैं कि समर्थ गुरु रामदास हनुमान-वंशी ब्राह्मण थे।[1] पर मराठी साहित्य के किसी इतिहास में यह बात नहीं मिलती है। रूपकला जी ने यह उल्लेख संभवतः किसी किंवदंती के आधार पर किया होगा, और इस किंवदंती की उत्पत्ति का कारण यह जान पड़ता है कि रामदास जी का शिष्य-संप्रदाय, कदाचित् उन की दास्य भाव की भक्ति के कारण, उन्हें मारुति का अवतार मानने लगा था, और अवतार-संबंधी इस विश्वास का उल्लेख मराठी साहित्य के इतिहासकारों ने किया है।[2] फलतः, यह कहना कि नाभादास जी "विप्र संत" थे, ठीक नहीं है। जनश्रुति यह है कि नाभादास जी डोम थे।[3] देखना यह है कि "हनुमान-वंशी" और "डोम" में परस्पर कोई संगति है या नहीं।

[1] 'भक्तमाल', पृ० ४७

[2] जी० सी० भाटे : हिस्ट्री अव् मॉडर्न मराठी लिटरेचर, (सन् १८००—१९३९), पृ० ३२

[3] मि० बं० वि०, भाग १, नो० १७१

भक्त लाखा के संबंध में लिखते हुए नाभादास कहते हैं :

सुरधुनी ओघ संसर्ग तें नाम बदल कुच्छित नरौ।
परमहंस वंसनि में भयौ बिभागी बानरौ॥

(भक्तमाल, छप्पय १०७)

और उपर्युक्त छप्पय पर टीका करते हुए प्रियादास कहते हैं :

लाखा नाम भक्त ताको बानरो बखान कियो
कहै जग डोम ताते मेरो सिरमौर है।

(भ० टी० ४२२)

और वहाँ रूपकला जी स्वतः यह कहते हैं[1] कि "वानर-वंशी" का अर्थ "हनुमान-वंशी" है, तब उन्हें "हनुमान-वंशी" का आशय "डोम" लेने में क्यों कठिनाई होती है, यह बात तनिक समझ में नहीं आती।

इस प्रसंग में हम कुछ और बातों की ओर भी ध्यान दे सकते हैं। डोम, ऐसा जान पड़ता है कि, पहले भारत की उन आदिम जातियों में से थे जो या तो भारत भर में फैली हुई थीं, या मूलतः जो उस के उत्तरी प्रांतों में निवास करती थीं, और जिन्हें आर्यों ने ही सुदूर दक्षिण की ओर भगा दिया—यह बात हमें उन के गोत्रों के नामों से ज्ञात होती है। यहीं तक नहीं, जब हम मद्रास प्रांत के डोमों के गोत्रों की नामावली देखते हैं तो हमें उस में "हनुमान" गोत्र भी मिल जाता है। सं० १६४८ की जन-गणना में मद्रास प्रांत के डोमों की "ओडिया" उपजाति में नीचे लिखे गोत्रों का पाया जाना कहा गया है:[2] भाग (हिं० बाघ), बालू (हिं० भालू), नाग (हिं० नाग), हनुमान (हिं० हनुमान), कोंचिपो (हिं० कच्छप), बेंगरी (हि० मेढक), कुक्रा (हि० कुक्कुर), सूर्य (हि० सूर्य), मत्स्य (हिं० मत्स्य), और जैकोन्ड (हि० छिपकली)। इन डोमों के संबंध में लिखते हुए जन गणनाध्यक्ष श्री एच० ए० स्टुअर्ट कहते हैं कि यह जाति बंगाल, बिहार तथा उत्तर-पश्चिमी प्रांत (अब संयुक्त प्रांत) में पाई जाने वाली डोम जाति की एक शाखा जान पड़ती है; उन प्रांतों के डोमों की तरह यह लोग भी घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं, क्यों कि यह गो मांस सुअर का मांस, घोड़े का मांस, चूहे और स्वाभाविक मृत्यु से भी मरे हुए

[1] 'भक्तमाल', पृ० ६७५

[2] ई० थर्स्टन : 'कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स अव् सदर्न इंडिया', जिल्द २, पृ० १७६

जीवों का मांस खाया करते हैं, और उन्हीं की भाँति यह भी चांडाल और पेरिया समझे जाते हैं; यह डोम कपड़ा बुनते हैं, और वह कम्मल भी जिसे पहाड़ के लोग पहिनते हैं; किंतु, मैदान के पेरियों की भाँति, यह मजदूरी भी करते हैं और भंगी का पेशा भी करते हैं।[१]

डोमों की ही तरह की एक और जाति मद्रास अहाते में पाई जाती है, जिस का नाम "मेदारा" है। इस जाति के गोत्रों के नाम मे भी "हनुमान" मिलता है। इस के कुछ विशेष उल्लेखयोग्य गोत्रों के नाम इस प्रकार बताए गए हैं: हनुमंत (हिं० हनुमान), पूली (हिं० बाघ), मंगरीलू (हिं० पानी), अविस (वृक्ष-विशेष), रीला (वृक्ष-विशेष), शेपाई (हिं० नाग), बोम्मादि (हिं० मत्स्य), विनायक (हिं० विनायक), काशी (हिं० काशी), मोदुगा (वृक्ष-विशेष?) और कोविल (कोयल)[२], और कहा गया है कि यह जाति तेलुगू, कनारी, उड़िया और तामिल प्रदेशों में बाँस की चीज़ें, टोकरियाँ, पालने, चटाइयाँ, संदूक, छाते, और टट्टियाँ बनाती है।[३]

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाभादास जी कदाचित् उस हनुमान-गोत्र के डोम थे जो सत्रहवीं शताब्दी में कुछ न कुछ संभवतः उत्तरी भारत में भी पाए जाते थे; अथवा यह भी असंभव नहीं कि वे दक्षिण के हनुमान-गोत्रीय डोमों या मेदारों की सतान रहे हों, और बाल्यावस्था में ही किसी प्रकार राजस्थान के उस भाग में भटकते-भटकते आ गए हों जहाँ कृष्णदास पयाहारी और अग्रदास ने उन्हें पाया हो।[४] इस दशा में यह मानना अत्यंत कठिन हो जाता है कि नाभादास "विप्र संत" थे।

१७. अब हम तीसरे प्रकार की तिथियों और अन्य विस्तारों पर विचार कर सकते हैं। यहाँ हम यह देखते हैं कि ग्रंथों की जो तिथियाँ चरित-लेखक देता है, और उन की जो तिथियाँ हमें स्वतंत्र अध्ययन से ज्ञात होती हैं, दोनों में विचारणीय अंतर है। ग्रंथों की रचना-तिथियों के संबंध में स्वतंत्रतापूर्वक विचार इसी पुस्तक में आगे किया गया है[५]। नीचे केवल चरित-लेखक द्वारा दिए हुए काल-क्रम से रचनाओं का उल्लेख किया जाता है, और उसी के

[१] वही, पृ० १७३

[२] ई० थर्स्टन: 'कास्ट्स ऐन्ड ट्राइब्स अव् सदर्न इंडिया', जिल्द ५, पृ० ५४

[३] वही, पृ० ५२

[४] प्रियादास: मं० टी० १२

[५] देखिए आगे अध्याय ५

अनुसार उन की तिथियाँ कोष्ठकों में दी जाती हैं :

गीतावली	(स० १६१६–२८)[1]
कृष्ण गीतावली	(„ „)[2]
कवित्त रामायण	(स० १६२८–४२)[3]
रामचरित मानस	(स० १६३१)[4]
राम विनयावली	(स० १६३६)[5]
दोहावली	(स० १६४०)[6]
सतसई	(स० १६४२)[7]
बरवा	(स० १६७०)[8]
रामलला नहछू	(स० १६३६)[9]
पार्वती मगल	(„)[10]
जानकी मगल	(„)[11]
बाहुक	(स० १६७०)[12]
वैराग्य-सदीपनी	(„)[13]
रामाज्ञा-प्रश्न	(„)[14]

ऊपर की तिथियों की तुलना यदि हम स्वतत्र अध्ययन के आधार पर निर्धारित रचनाओं के कालक्रम की तालिका से करें, तो हम को ज्ञात होगा कि 'रामचरित मानस' और 'सतसई' के अतिरिक्त चरित-लेखक की तिथियों और स्वतत्र अध्ययन से प्राप्त तिथियों मे आकाश-पाताल का अतर है। और 'रामचरित मानस' और 'सतसई' की तिथियाँ उक्त ग्रथों में ही स्पष्ट ढग पर दी हुई हैं, फलतः उन के सबध में भूल होने की कोई सभावना ही न थी। पर हमारे कवि ने जिन तिथियों के देने में किसी भी टेढ़े-मेढ़े मार्ग का अनुसरण

[1] मू० गो० च० ३३
[2] वही
[3] वही, ३५, ३७
[4] वही, ३८, ३९
[5] वही, ५१
[6] वही ५४
[7] वही, ५६
[8] मू० गो० च० ९१
[9] वही, ९४
[10] वही
[11] वही
[12] वही, ९५
[13] वही
[14] वही

किया है, जैसे 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'पार्वती-मंगल' की तिथियाँ देने में, उन के संबंध में चरित लेखक धोखा खा गया है। इस बात पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक को वस्तु तिथि का ज्ञान न था।

१८. संक्षेप में, हम देखते हैं कि ऐसी तिथियाँ जिन की गणना की जा सकती है चरित में सात हैं, और इन सात में से पाँच तिथियाँ गणना से शुद्ध उतरती हैं, ऐसी तिथियाँ जिन का मिलान इतिहास से हो सकता है पंद्रह हैं, और इन में से केवल तीन ऐसी हैं जो ठीक हो सकती हैं, शेष असंभव जान पड़ती हैं, और, ऐसी तिथियों में से जो कवि की रचनाओं के लिए दी हुई हैं, और जिन की संख्या चौदह है, केवल दो ठीक हैं, और वह भी इस लिए कि साधारण से साधारण समझ का लेखक भी उन के संबंध में भूल नहीं कर सकता था, और शेष उन तिथियों से जरा भी मेल नहीं खातीं जो हम स्वतंत्र अध्ययन से पाते हैं। ऐसी दशा में हमारे लिए यह असंभव हो जाता है कि हम उपर्युक्त चरित पर विश्वास करें। जो तिथियाँ गणना से शुद्ध उतरती हैं, उन के संबंध में यह अनुमान किया जा सकता है कि उन का समावेश गणना के अनंतर किया गया है, और गणना से शुद्ध पर अन्यथा मनमानी तिथियाँ देना कठिन नहीं है कदाचित् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

१९. एक बात और है जिस की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक होगा. उपर्युक्त 'गोसाईं चरित्र' और इस 'मूल गोसाईं-चरित के बीच में एक गहरी समानता है। दोनों ही ग्रंथ प्रारंभ के कुछ छंदों को छोड़ कर मूल रूप में एक ही हैं, यह दोनों की पारस्परिक तुलना के अनंतर स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः उस दोहे के अनंतर जिस में दोनों के लेखक रामदर्शन प्रसंग का वर्णन करते हैं,[1] कवि के जीवन की ऐसी कोई भी घटना नहीं मिलती जिसे दोनों में स्थान न मिलता हो। उल्लेखयोग्य अंतर यदि कोई है तो यही कि 'मूल गोसाईं चरित' प्रत्येक घटना के लिए तिथि देता है, और समस्त प्रसंगों का वर्णन एक तिथि क्रम से करता है, और 'गोसाईं-चरित्र' किसी भी घटना के लिए कोई तिथि नहीं देता है, और प्रसंगों के तारतम्य में 'मूल गोसाईं चरित' से कम भेद रखता है। साम्य केवल यहीं तक सीमित नहीं है, वरन् हम

भी करते हैं। नीचे लिखा दोहा[1] तो एक साधारण पाठ-भेद के साथ दोनों ही में मिलता है :

श्री हनुमंत प्रसंग यह विमल चरित विस्तार।
लहेउ गोसाईं दरस रस बिदित सकल संसार॥

उपर्युक्त पाठ 'मूल गोसाईं-चरित' का है, 'गोसाईं-चरित्र' म केवल 'यह विमल' के स्थान पर 'शुभ प्रथम' पाठ मिलता है, शेष सामान्य है। जिन्हें हस्तलिखित प्रतियों के पाठों का थोड़ा भी अनुभव है, वह जानते हैं कि इस प्रकार के पाठांतर एक ही ग्रंथ की विभिन्न प्रतियों में बहुधा मिला करते हैं। फलतः यह अंतर नगण्य है।

२० इन समस्त बातों पर ध्यान देने पर यह जान पड़ता है कि तीन बातों में से एक ही बात हो सकती है : या तो भवानीदास ने अपने 'गोसाईं चरित्र' के लिए 'मूल गोसाईं-चरित' से सामग्री प्राप्त की, या 'मूल गोसाईं-चरित' के लेखक ने उस के लिए 'गोसाईं चरित्र' से सामग्री प्राप्त की, या दोनों ने ही किसी तीसरे सामान्य उद्गम-स्थान से अपने अपने लिए सामग्री प्राप्त की। इस में संभावना दूसरे और तीसरे की ही विशेष ज्ञात होती है, पहले की बहुत कम, क्यों कि एक तो हम देखते हैं कि 'मूल गोसाईं-चरित' में कहीं-कहीं ऐसी शब्दावली भी व्यवहृत हुई है जो आधुनिक जान पड़ती है :

कहि भावि भलाइ प्रसान्त किये।

(मू० गो० च० १०)

बधु वृद्ध बरच सुधा मन जू।

(मू० गो० च० १२)

विद्वान महान बनाउब जू।

(मू० गो० च० १२)

कम बस चखे प्रेमाघ ज्यों।

(मू० गो० च० १७)

धुनि सुने सत्यम् शिवम् सुन्दरम्।

(मू० गो० च० ४८)

दूसरे, यदि 'गोसाईं-चरित्र' के लेखक ने अपनी रचना के लिए सामग्री 'मूल-

[1] मू० गो० च० २२

गोसाईं-चरित' से प्राप्त की होती तो वह अनावश्यक रूप से तिथियों को निकाल क्यों देता, और उन का सम्यक् निर्वाह प्रसंगों के तारतम्य में क्यों न करता? इस निष्कर्ष के प्रकाश में 'मूल गोसाईं-चरित' सं० १६८७—या उस के आस पास की भी—रचना नहीं जान पड़ती। अतः अपने कवि का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने में हम कहाँ तक उस को आधार मान सकते हैं, कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

तुलसी-चरित

२१. एक और इसी प्रकार का जीवन-वृत्त है जिस का उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग में किया जा सकता है: वह है 'तुलसी-चरित'। रघुवरदास-रचित 'तुलसी-चरित' 'मर्यादा' में अंशतः प्रकाशित होने के अनंतर तुलसीदास के जीवन-वृत्त का अध्ययन करने वालों द्वारा प्रायः पढ़ा गया। पर उस के संबंध में विद्वानों की एक ही धारणा है, और वह यह है कि 'तुलसी-चरित' पर हमारे महाकवि के जीवन-वृत्त के लिए विश्वास नहीं किया जा सकता।[1] प्रस्तुत लेखक ने भी उस के प्रकाशित अंश को देखा है, और उसे विद्वानों के इस निष्कर्ष से सर्वथा मतैक्य है।[2] कोई नवीन बात उसे इस संबंध में नहीं कहनी है, इस लिए उसकी परीक्षा की वह यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं समझता है।

तुलसी साहिब लिखित आत्म-चरित

२२. यहाँ हम अपने कवि के एक ऐसे जीवन-वृत्त पर विचार करेंगे जिस की अब तक सर्वथा उपेक्षा की गई है: यह है तुलसी साहिब हाथरस वाले (सं० १८२०-१९००) लिखित और 'घट रामायण' में संकलित उन के पूर्व-जन्म की आत्म-कथा,[3] जिस में वे अपने को गोस्वामी तुलसीदास हुआ बताते हैं। इस कल्पित आत्म-चरित पर अभी तक गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया है, इस लिए पहले उस के विषयानुक्रम की जानकारी उपादेय होगी। तुलसी साहिब कहते हैं कि उस जन्म में उन्हों ने इस प्रकार चरित्र किया था:

[1] उदाहरणार्थ, 'हिंदी नवरत्न', पृ० ७२, ७३, तथा 'तुलसी-ग्रंथावली' तृतीय खंड, पृ० १०-१७

[2] देखिए ऊपर पृ० १०

[3] पृ० ४१५-४१८

(अ) वह राजापुर में उत्पन्न हुए थे। यह राजापुर यमुना के किनारे बुंदेलखंड प्रांत में चित्रकूट से दस कोस की दूरी पर बसा हुआ है।

(आ) सं० १५८९, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार को उन्हों ने जन्म ग्रहण किया था।

(इ) एक कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में उन का जन्म हुआ था।

(ई) यद्यपि वह अपनी स्त्री से अत्यधिक प्रेम करते थे, फिर भी साधु-संग किया करते थे।

(उ) सं० १६१४, श्रावण शुक्ला ६ को उन्हें ज्ञानोदय हुआ।

(ऊ) हृदय में निवास करने वाले गुरु (ईश्वर) ने स्वतः उन का पथ-प्रदर्शन किया, किसी देहधारी गुरु ने नहीं।

(ए) राजापुर में एक अहीर था, जिसका नाम हिरदै था। राजापुर में वह किसी के यहाँ नौकरी में था। वह उन के पास नित्य आया करता था। फलतः उन का उस पर प्रगाढ़ स्नेह हो गया था। एक बार वह काशी गया, और वहाँ से वह लौट न पाया। वह अपने प्रगाढ़ स्नेह के कारण उससे मिलने काशी गए। काशी वह सं० १६१५, चैत्र १२, मंगलवार को पहुँचे, और फिर वहीं रहने लगे।

(ऐ) सं० १६१६, कार्तिक कृष्णा ५ को पलकराम नामक एक नानक-पंथी साधु उन से मिलने वहाँ आए।

(ओ) उन्हों ने सं० १६१८, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार को 'घट रामायण' की रचना प्रारंभ की। 'घट रामायण' के प्रकाशित होने पर उन को एक बड़े विरोध का सामना करना पड़ा, इस लिए उन्हों ने उसे छिपा दिया।

(औ) सं० १६३१ में उन्होंने 'रामचरित मानस' की रचना की, जो सभी को समान रूप से प्रिय हुआ।

(अं) अंत में, सं० १६८०, श्रावण शुक्ला ७ को वरुणा के तट पर उन्हों ने शरीर छोड़ा।

२३. ऊपर के विषयानुक्रम से ज्ञात होगा कि आत्म-चरित में सात तिथियों का उल्लेख होता है, किंतु कठिनाई यह है कि उन में से तीन के अतिरिक्त अन्यों के दिन या और कोई ऐसे विस्तार नहीं दिए गए हैं कि गणना से उन की शुद्धता की परीक्षा की जा सके। वे तीन तिथियाँ, जिन की शुद्धता इस प्रकार जाँची जा सकती है, निम्नलिखित हैं :

(क) जन्म-तिथि : सं० १५८६, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार।
(ख) काशी-आगमन-तिथि : सं० १६१५, चैत्र १२, मंगलवार। और,
(ग) 'घट रामायण' के रचनारंभ की तिथि : सं० १६१८, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार।

गणना के अनंतर यह ज्ञात होता है कि (क) विगत-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर शुद्ध है, (ख) न विगत-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर शुद्ध है, न वर्त्तमान-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर, न शुक्र पक्ष में और न कृष्ण पक्ष में, और (ग) भी न तो विगत-वर्ष-प्रणाली पर शुद्ध है और न वर्त्तमान-संवत्-वर्ष-प्रणाली पर।[1] लेखक किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों और उन से संबंध रखने वाली तिथियों का उल्लेख नहीं करता। और, हमारे कवि के ग्रंथों में से केवल एक का उल्लेख करता है—और उस की रचना-तिथि भी वह देता है—वह है 'रामचरित-मानस'। उस की रचना-तिथि वह ठीक ही देता है, पर इस में वह कोई भूल कर भी नहीं सकता था, क्यों कि हमारे कवि ने ग्रंथ में स्वतः उस की रचना-तिथि का स्पष्ट उल्लेख किया है।

२४. ऐसी दशा में उपर्युक्त आत्म-चरित कहाँ तक हमारे कवि के जीवन-वृत्त के लिए प्रामाणिक साधन हो सकता है, यह तनिक भी निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि उस में हमारे कवि के जीवन-वृत्त से संबंध रखने वाली कुछ अमूल्य किंवदंतियों और जनश्रुतियों का इतना पुराना संकलन है कि उस से पुराना संकलन हमें अन्यत्र नहीं मिलता। पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि लेखक ने इस में कुछ बेजोड़ मनमानी का भी समावेश कर दिया है : अपने 'घट रामायण' का संबंध हमारे कवि के साथ स्थापित करना उस की इसी प्रकार की मनमानी है।

भक्तमाल

२५. हमारे कवि के समकालीन लेखकों और कवियों में से निर्विवाद रूप से प्रमाण रूप में मान्य एक नाभादास ही ऐसे हैं जो हमारे कवि का उल्लेख करते हैं।[2] पर जो कुछ आप हमारे कवि की प्रशंसा में लिखते हैं, उस से

[1] देखिए परिशिष्ट इ

[2] 'भक्तमाल', छप्पय १२९

हमारे कवि के जीवन वृत्त पर कोई महत्वपूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। आप उक्त उल्लेख में पाठक का ध्यान केवल तीन बातों की ओर आकर्षित करते हैं:

(क) तुलसीदास उन वाल्मीकि के अवतार हैं जिन्हों ने 'रामायण' की रचना की है, और उन्हीं की भाँति इन्हों ने भी भगवान की लीला का गान किया है।

(ख) यह अहर्निशि राम चरण रस में मत्त रहते हैं। और,

(ग) ससृति रूपी समुद्र के सतरण के लिए इन्हों ने रूप की सुगम नौका प्रस्तुत की है।

यह स्पष्ट ही है कि पहली से हमारी कोई ज्ञान वृद्धि नहीं होती। उस से अधिक से अधिक हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि जिस समय नाभादास जी ने यह लिखा, उस समय 'मानस' इतना लोक-प्रिय हो चुका था कि वह सफलता-पूर्वक वाल्मीकि के 'रामायण' का स्थानापन्न होने लगा था। दूसरी बात जो कही गई है वह तो कवि की एक सर्व विदित विशेषता है। तीसरी बात केवल उस को निर्गुणवादी सतों से अलग करती है। इस प्रकार नाभादास जी हमारे कवि के जीवन वृत्त सबधी विवाद ग्रस्त प्रश्नों पर कोई प्रकाश नहीं डालते हैं, यह स्पष्ट ही है।

प्रियादास कृत टीका

२६. प्रियादास ने 'भक्तमाल' के उपर्युक्त उल्लेख पर टीका के रूप में जिन ग्यारह छदों की रचना की है, उन की रूपरेखा निम्नलिखित है— सख्याएँ टीका की हैं:

(५०८) हमारा कवि अपनी स्त्री से अत्यधिक प्रेम करता है, उस की भर्त्सना से उत्तेजित हो कर विरागी होता है और वह काशी चला जाता है।

(५०९) काशी में वह एक प्रेत को प्रसन्न कर के हनुमान की प्राप्ति करता है।

(५१०) उन के द्वारा उसे राम दर्शन होता है।

(५११) एक हत्यारा राम का नाम लेता हुआ आता है, हमारा कवि उस के साथ भोजन करता है, और काशी के पडित उस से इस के लिए जवाब तलब करते हैं।

(५१२) वह शिव के नदी को भोजन करा कर उन का समाधान करता है।

(५.१३) चोर उस के स्थान पर चोरी करने आते हैं, और उन्हें वहाँ पहरेदारों के रूप में राम-लक्ष्मण के दर्शन होते हैं।

(५.१४) हमारा कवि एक मृतक व्यक्ति को जीवित करता है।

(५.१५) यह सुन कर बादशाह हमारे कवि को बुला भेजता है, और उस से करामात दिखाने को कहता है।

(५.१६) इन्कार करने पर हमारा कवि बंदी किया जाता है। पर जब वह हनुमान की प्रार्थना करता है, तब बंदर प्रकट होकर किले में उत्पात करते हैं।

(५.१७) वह मुक्त कर दिया जाता है। बादशाह से वह किला छोड़ देने के लिए कहता है। वापसी में वह वृंदावन होता हुआ आता है, और वहाँ नाभादास से उस की भेंट होती है।

(५.१८) वहाँ पर वह मदन गोपाल की मूर्ति को राम-मूर्ति में परिवर्तित करता है।

प्रियादास की टीकाओं को पढने पर साधारणतः यह जान पड़ता है कि वह पाठक के हृदय में केवल एक बात भली भाँति बैठा देना चाहते हैं, और वह यह है कि जैसे ही कोई प्राणी सांसारिक जीवन से विरक्त हो कर परमार्थ-साधन में दत्त-चित्त होता है, उस का जीवन अनिवार्य रूप से अलौकिक हो जाता है, और असंभावनाओं को संभव कर दिखाना ही उस के जीवन का एकमात्र कार्य रह जाता है। फलतः अधिक से अधिक हम इतना कर सकते हैं कि हमारे कवि के गार्हस्थ्य-जीवन का जो चित्र प्रियादास उपस्थित करते हैं उस की अवहेलना न करें। शेष विवरण तो यह स्पष्ट ही है कि हमारे काम का नहीं है।

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता

२७. 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में उल्लिखित नंददास की वार्ता में भी हमारे कवि के संबंध में कुछ बातें की गई हैं। उनका सारांश यह है:[1] तुलसीदास नंददास के बड़े भाई थे, तुलसीदास राम-भक्त थे और नंददास कृष्ण-भक्त; तुलसीदास ने भाषा में 'रामायण' की है, पर अयोध्या छोड़ कर काशी

[1] २५२ वार्ता, पृ० २८-३५

में रहते थे; तुलसीदास एक बार व्रज गए और वहाँ गोवर्धन पर नंददास से मिले; नंददास उन्हें श्रीनाथ जी के मंदिर में लिवा ले गए और वहाँ पर उन्हों ने यह चमत्कार देखा कि नंददास जी की प्रार्थना पर श्रीनाथ जी की मूर्ति राममूर्ति में परिवर्तित हो गई; तुलसीदास और नंददास वहाँ से गोकुल आए, और यहाँ उन्हों ने गोसाईं विट्ठलनाथ जी के दर्शन किए; नंददास ने गोसाईं जी को प्रणाम किया, किंतु तुलसीदास ने नहीं किया, और साथ ही उन्हों ने नंददास से यह कहा कि वे गोसाईं जी को तभी प्रणाम करेंगे जब वही चमत्कार वह यहाँ भी देखेंगे जो उन्हें श्रीनाथ जी के दर्शन के समय दिखाई पड़ा था; नंददास ने गोसाईं जी से फलतः यह निवेदन किया कि वह तुलसीदास को रामरूप के दर्शन करावें; नंददास की यह प्रार्थना स्वीकार कर के गोस्वामी जी ने अपने पुत्र रघुनाथ तथा उन की स्त्री में तुलसीदास को राम-जानकी के दर्शन कराए; इस स्वरूप को तुलसीदास ने नमस्कार किया और इस अवसर पर एक गीत की रचना की, जिस की पहली पंक्ति यह है :

बरनौं अवधि गोकुल गाम।[1]

२८. कुछ लोगों का कथन है कि 'दो सौ बावन वार्ता' गोकुलनाथ जी की रचना है, और गोकुलनाथ जी तुलसीदास के सम-सामयिक थे, इस लिए जो कुछ भी 'दो सौ बावन वार्ता' में तुलसीदास के संबंध में कहा गया है वह सब प्रामाणिक माना जाना चाहिए।[2] किंतु यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि 'दो सौ बावन वार्ता' का लेखक 'चौरासी वार्ता' के लेखक से भिन्न है, और गोकुलनाथ जी (जन्म सं० १६०८ वि० के लगभग[3]) की कृति तो यह हो नहीं सकती, क्यों कि इस में सं० १७२६ वि० तक की घटनाओं के उल्लेख आते हैं।[4] फलतः हमें यहाँ इतना ही देखना है कि यह अपने समय के अन्य वार्ता-ग्रंथों से—विशेष कर के 'भक्तमाल' पर प्रियादास की 'टीका' (रचना-काल सं० १७६६) से—कहाँ तक भिन्न है।

---

[1] यह ध्यान देने योग्य है कि उल्लिखित गीत कवि की प्रकाशित रचनाओं में नहीं मिलता

[2] गोविंद वल्लभ शास्त्री: 'माधुरी', वर्ष ८, भाग १, पृ० ६०७; रामनरेश त्रिपाठी : 'रामचरित मानस की भूमिका' पृ० ७४-७७

[3] देखिए ऊपर पृ० ४३

[4] डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा : 'हिंदुस्तानी' सन् १९३२, पृ० १८३

२६. प्रियादास की टीका से इस ग्रंथ का तुलनात्मक अध्ययन करने पर धारणा यह होती है कि दोनों रचनाएं अत्यंत सन्निकट रूप में परस्पर संबद्ध हैं। इस स्थान पर दोनों का सविस्तर तुलनात्मक अध्ययन संभव नहीं है, इस लिए दोनों से थोड़ी सी वार्ताओं को ले कर ही विचार करना समीचीन होगा। प्रियादास की टीका[1] और 'दो सौ बावन वार्ता'[2] में रानी रत्नावती का जो आख्यान दिया गया है, वह इस प्रकार है—केवल सुविधा के लिए उसे हम ने समानार्थी टुकड़ों में बाँट दिया है :

मानसिंह ताकौ छोटौ भाई माधौसिंह ताकी
जानौ तिया जाको बात लै इहाँ बखानिये।
ढिग जो खवासिन सो स्वासनि भरत नाम
रटति जटित प्रेम रानी उर आनिये।
नवल किशोर कभूँ नंद के किशोर कभूँ
वृंदावन चंद्र कहि आँखें भरि पानिये।
सुनत विकल भई सुनिवे की चाह भई
रीति यह नई कछु प्रीति पहचानिये॥

"सो रत्नावती आमेर रहेती हती। मानसिंघ राजा के भाई माधोसिंघ की राणी हती। सो या रत्नावती के पास खवासनी रहेती। सो खवासनी श्री गुसाईं जी की सेवक हती। अनन्य वैष्णव हती। जब या खवासिनी कुं जँभाई आवती छींक आवती जो कछु विस्मय जैसो होतो तब वे खवासनी श्रीकृष्ण संबधी भगवान के नाम लेती। कबहुँ नंदकिशोर कबहुँ नंदकुमार कबहुँ वृंदाबनचंद, कबहुँ गोकुलचंद, कबहुँ यशोदानंद ऐसे नाम लेते खवासिनी के नेत्र में जल भरी आवतो। ऐसे चण-चण में होया करे। तब खवासिनी कुं रत्नावती राणी ने देखी।"

बार बार कहै कहा कहै उर गहै मेरो
बहै द्दग नीर हो शरीर सुधि गई है।
पूछौ मत बात सुख करो दिन रात यह
सहै निज गात राणी सांचु कृपा भई है।

[1] भ० टी० ५४२-५५८
[2] २५२ वार्ता, पृ० ३७५-३८१

अति उतकंठा देखि कह्यौ सो विशेष सब
रसिक नरेसनि की बानी कहि दई है।
टहल छुटाई और सिराने लै बैठाई बाहि
गुरु बुद्धि आई यह जानौ रीति नई है ॥

"तब रत्नावती राणी बोली जो तुम घड़ी-घड़ी कहा नाम लेउ हो। और वयु तुमारे नेत्र भर आवें हैं। और शरीर की शुद्धी भूल जावो हो। तब वा खवासनी ने कही ये मार्ग तो ताप क्लेश को है तुम सुखी लोक यामें काहे कु पड़ो हो। तब वा राणी ने बहुत आग्रह कियो। तब वा खवासनी ने कही जो परम भगवदीय जो स्नेही हैं विनकी कृपा होवे तब विरह उत्पन्न होवे है। तब ये शरीर ये दुःख सहि सके। विरह दुःख तब सह्यो जाय। तब राणी ने कह्यौ जो तुम मोकुं समझावो तो तुम कहो तैसो करूँगी। तब वा खवासनी ने पुष्टिमार्ग की रीति बताई। तब वा राणी ने वा खवासनी सु टेहेल छुड़ाय के भगवन्नाम सुनायवे करो ऐसे ठराव कर दियो।"

निसि दिन सुन्यौ करै देखिबे को अरबरै
देखे कैसें जात जलजात दृग भरे हैं।
कछुक उपाय कीजै मोहन दिखाय दीजै
तब ही तौ जीजै ये तौ आनि उर अरे हैं।
दरसन दूर राज छोड़ें लोटैं धूर पै
न पावैं छबि पूर एक प्रेम बस करे हैं।
करौ हरिसेवा भरि भाव धरि मेवा
पक्वान रसखान दै बखान मन धरे हैं।

"तब वो खवासनी आखो दिवस वा राणी कुं पुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूप और गुरु को स्वरूप औ वैष्णव को स्वरूप समुझायो करे। फेर कोई दिन श्री गुसाईं जी उहाँ पधारे। तब रत्नावती राणी सेवक भई। तब रत्नावती को बेटा प्रेमसिंघ हता वाकुं सेवक करायो।"

इंद्र नीलमणि रूप प्रगट सरूप कियौ
लियौ वहै भाव यौं सुभाव मिलि चली है।
नाना विधि राग भोग लाड़ को प्रयोग जामैं
जामिनी सुपन जोग भई रंग रली है।

करत सिंगार छबि सागर न वार पार
रहत निहारि वाही माधुरी सों पली है।
कोटिक उपाय करें जोग जज्ञ पार परे
ए पै नहीं पावै यह दूर प्रेम गली है॥

"तब इद्रनील मणि को श्याम स्वरूप सिद्ध कराय के पुष्टि कराय के सेवा करन लगी। तब धीरे-धीरे भाव बढ़वे लग्यो। अनेक प्रकार की सामग्री और पकवान भोग धरे। और श्री ठाकुर जी कु लाड़ लड़ावे और शृंगार करते भगवत्स्वरूप में निमग्न होय जाय। अंग अंग में माधुर्यता भराय गई।"

देख्योई चहति तऊ कहति उपाय कहा
अहो चाह बात कही कौन को सुनाइये।
कहो जू बनावौ ढिग महल के ठौर एक
चौकी लै बैठावो चहूं ओर समुझाइये।
आवैं हरि प्यारे तिन्हैं लावैं वे लिवाय इहाँ
रहैं ते धुवाय पाँव रुचि उपजाइये।
नाना बिधि पाक सामा आगे आनि धरैं आप
डारि चिक देखो स्याम दृगनि लगाइये॥

"तब वा खवासनी सुं पूछो जो प्रकट स्वरूप कैसे मिले तब वा खवासनी ने कही जो ये मेहेल के पास एक दूसरो मेहेल बनाओ और वा में वैष्णव आयके उतरें तब वैष्णवन को आप प्रसाद लेवावें तब श्री ठाकुर जी प्रगट होय के दर्शन देवें। तब भगवत्कृपा संपूर्ण होवे।"

आवैं हरि प्यारे साधु सेवा करि टारैं दिन
किहूँ पाव धारैं जिन्हैं ब्रज-भूमि प्यारिये।
जुगुल किसोर गावैं नैननि बहावैं नीर
ह्वै गई अधीर रूप दृगनि निहारिये।
पूछी वा खवासी सौं जु रानी कौन संग जाके
इतनो अटक संग संग सुख मारिये।
चली उठि हाय गह्यौ रह्यौ नहीं जात अहो
सहो दुख आज बड़ी तनक बिचारियै॥

"तब दूसरो मेहेल करायो और गाम बहार चौकी बैठाई और जो वैष्णव ब्रज-जात्रा जाय विनकुं लाय के मेहेल में उतारे और महाप्रसाद सब

श्रमसखड़ी को वैष्णवन के लीयें पठाय देवे। और वैष्णव लेवें तव रानी चिक डारि के पड़दा म वैठ के वैष्णवन के दर्शन करती। एक दिन वैष्णव की मडली मे श्री ठाकुर जी के दर्शन वाकुं भये। तब खवासनी सुं कहे के राणी पडदा छोड के वहार निकस के मडली में जाय वैठी।"

देख्यौं मैं बिचारि हरिरूप रस सार ताको
कीजियै अहार लाज कानि नीकें टारियें।
रोकत उतरि आई जहाँ साधु सुखदाई
आनि लपटाई पाँय बिनती लै धारियें।
संतनि जिमायबे को निज कर अभिलाप
लाख लाख भाँतिनि सौं कैसे कै उचारियें।
आज्ञा जोइ दीजै सोई कीजै सुख वाही मैं सु
प्रीति अवगाही कही करो लागी प्यारियें॥

"और हाथ जोड के वैष्णवन कूँ भगवत्स्मरण करे और वीनती करी जो मेरे मन म वहुत दिन सू अभिलाप लागि रही है जो तुम प्रसन्न होय के आज्ञा द्यो तो मैं हाथन सुं वैष्णवन कुं प्रसाद धरूँ। तब वैष्णवन ने हाँ कही।"

प्रेम मै न नेम हेम थार लै उमगि चली
चली दग धार सो परोसि कै जिवाये हैं।
भींजि गए साधु नेह सागर अगाध देखि
नैननि निमेख तजी भये मन भाये हैं।
चंदन लगाय आनि बीरीऊ खवाय स्याम
चरचा चलाय चखरूप सरसाये हैं।
धूम परी गाँव रूमि आये सब देखिवे कौं
देखि नृप पास लिखि मानस पठाये हैं॥

"तब सोना को थार ले के सब वैष्णवन कुं परोस के और महाप्रसाद लिवायो। और चदन लगायो। और बीड़ी खवाई। तव भगवद्वार्ता करन लगी। सो बहुत आनद भयो। तब गाम मे खबर परी राणी पडदा छोड के बहार आई है। तब आखो गाम देखवे आयो और गाम मे खुब धामधुम मची। तव राजा कहुँ दूसरे गाम गयो हतो। तब राजा के दिवान ने पत्र लिख के मनुष्य पठायो।"

भावना सचाई वही सोभा लै दिखाई फूल
　　माल पहिराई रचि टीको लागे प्यारे हैं।
भौन ते निकसि धाए मानो खंभ फारि आये
　　बिमुख समूह ततकाल मारि डारे हैं॥

"तब वो खवासनी बैठी हती और राणी श्री ठाकुर जी कु शृंगार करती हती। तब वा खवासनी ने सिंघ कु देख के जय जय करके ठाढी भई। श्री नृसिंह जी पधारे हैं मेरे भाग्य हैं ऐसे कहेन लगी और जाय के सिंघ पर हाथ फेरन लगी और तिलक कर्‌यो और फूलन की माला पहेराई और हाथ जोड के ठाढ़ी रही। तब वाकी भावना की सचाई देख के श्री ठाकुर जी वा सिंघ में प्रवेश कर के वा खवासनी कु चाटन लगे। जैसे नृसिंह जी ने प्रह्लाद जी कु चाट्यो हतो। सो श्री महाप्रभु जी ने पुरुषोत्तम सहस्रनाम में लिख्यो है॥ स नाम॥ भक्ताग लेहनो धौत क्रोध पु जः प्रशात धीः। फेर सिंघ पीछे फिर के मेहेलन सु बहार कूद पड्यो और बहिर्मुख लोग ठाडे हते राजा की फौज सैंकडन कु मार डारे।"

भूप कौं खबरि भई रानी जू की सुधि लई
　　सुनी नीकी भाँति आपु नम्र ह्वै के आये हैं।
भूमि पर साष्टांग करी कै कै यौं मति हरी
　　भरी दया आय वाके बचन सुनाये हैं।
करत प्रनाम राजा बोली अजू लाल जू को
　　नैकुँ फिरि देखौ एक ओर ये लगाये हैं।
बोल्यो नृप राज धन सबही तिहारो धारो
　　पति पै न लोभ कही करो सुख भाये हैं॥

"गाम में हाहाकार पड गयो और बहोत त्रास पड गयो। बडो हाहाकार भया। तब राजा मानसिंघ बहोत डर्‌यो और तुर्त दौड के भाई की बहु पावन पर्‌यो। और साष्टांग दंडवत करके पड़ रह्यो। कछु उठवे को भान रा नहीं तब रत्नावती बोली उठो उठो श्री ठाकुर जी के दर्शन करो। अब ठाकुर जी सिंघ रूप मिटाय के दूसरे रूप सु दर्शन देवें हैं। अब तो उठो। राजा ने उठके दर्शन किये। फेर राणी सु कही जो तुम हमारी रक्षा करे हम तुमारी शरण आये हैं ये सब राज्य और धन तुमारो है। तुमने संसार लोभ छोड के माथो मुंडायो है जैसे तुमारी इच्छा होवे तैसे तुम बरतो।

मानसिंघ राजा घर गयो और खजानची कुं हुकुम कियो। महिने के महिने दश हजार रुपैया वा राणी कु पहोंचाय द्यो और अधिकी रुपैया जितने मागे इतने भी कु पूँछ के देणे। एक दिन की ढील करनी नहीं। तब वो खजानची महिने के महिने दश हजार रुपैया पहोंचावतो। सो सब रुपैया सामग्री में खर्च डारती। सो वे रत्नावती राणी श्री गुसाईं जी की टेक की कृपापात्र हती।"

राजा मानसिंघ माधोसिंह उभै भाई चढ़े
नाव परि कहूँ तहाँ बुड़िबो को भई है।
बोल्यो बड़ो भ्राता अब कीजिये जतन कौन
भौन तिया भक्त कहि छोटे सुधि दई है।
नेकु ध्यान कियो तब आनि के किनारो लियो
हियो हुलसायो जेठ चाह नई लई है।
कर्‌यो आय दरसन बिनै करि गयो भूप
अति ही अनूप कथा हिये व्यापि गई है॥

"और मानसिंघ राजा वा रत्नावती ने श्री ठाकुर जी के दर्शन कर्‌ये बिना जल नहीं लेनी। वे राणी और खवासनी श्री गुसाईं जी की ऐसी कृपापात्र हती॥ वार्ता सम्पूर्ण॥"

इस प्रकार का साम्य कान्हा भगी[1] गोविन्द स्वामी[2] तथा राजा मधुकर साह[3] की वार्ताओं में भी देखा जा सकता है। फलत दोनों में सूचना-साम्य स्पष्ट है। अंतर इतना अवश्य है : 'वार्ता' में चारों महानुभाव गोसाईं विट्ठलनाथ से दीक्षा प्राप्त करते हैं, किंतु प्रियादास की टीका में रत्नावती और मधुकरसाह के गोसाईं विट्ठलनाथ के संपर्क में आने का कोई उल्लेख नहीं होता। इस अंतर का कारण क्या हो सकता है ?

२०. वस्तुस्थिति यह है कि 'वार्ता' में पुष्टिमार्ग के लिए ज्ञाताज्ञात रूप से कुछ झुकाव जान पड़ता है, जब कि 'टीका' में किसी विशेष संप्रदाय के लिए कोई झुकाव नहीं जान पड़ता है। उदाहरण के लिए आसकरन राना की वार्ता ली जा सकती है। 'वार्ता' के अनुसार नरवर गढ़ के राना आसकरन

[1] भ० टी० ५२०, तथा २५२ वार्ता, पृ० ४११-४१२
[2] भ० टी० ४१०-२४, तथा २५२ वार्ता, पृ० १-१४
[3] भ० टी० ४८८, तथा २५२ वार्ता, पृ० ४१२

गोसाईं विट्ठल नाथ जी के शिष्य थे[1], किंतु नाभादास जी का कथन है कि वह कील्ह देव के शिष्य थे।[2] इस संबंध में नाभादास जी का कथन इस लिए विशेष प्रामाणिक माना जाना चाहिए कि एक तो वे आसकरन के समकालीन थे दूसरे उन के गुरु अग्रदास कील्हदेव के गुरु भाई थे—दोनों महात्मा कृष्णदास पयाहारी के शिष्य थे—और नाभादास जी दोनों महात्माओं के सम्पर्क में आ चुके थे, क्यों कि प्रियादास का कथन है कि माता द्वारा परित्यक्त होने के अनंतर नाभादास जी का उद्धार दोनों ही महात्माओं ने मिलकर किया था।[3] फलतः यह संदिग्ध है कि 'दोसौ बावन वार्ता' का साक्ष्य अनेक स्थलों पर उतना भी मान्य हो सकता है जितना कि प्रियादास की टीका का।

३१ जहाँ तक हमारे कवि के जीवन वृत्त से निकट संबंध है, दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऐसी दो घटनाएँ जिन का संबंध प्रियादास हमारे कवि के जीवन से बताते हैं, 'वार्ता' में अन्य दो संतों के जीवन से संबंध रखती हैं। प्रियादास ने हमारे कवि के संबंध में अपनी स्त्री पर अत्यधिक अनुराग की और स्त्री के तीव्र वाक्यों के द्वारा ज्ञानोदय की जो कथा कही है[4], वही कथा 'वार्ता' में किन्हीं यदुनाथ दास के संबंध में मिलती है।[5] इसी प्रकार प्रियादास ने हमारे कवि के वृत्त में शिव के नंदी को हत्यारे के हाथ से जिलाने का चमत्कार का जो उल्लेख किया है[6], वह 'वार्ता' में लाहौर के एक पंडित की 'वार्ता' में मिलता है।[7] इन आख्यानों के संबंध में यह कहना कठिन है कि एक ने दूसरे से लिया, या दोनों ने विभिन्न सूत्रों से इन्हें प्राप्त किया, या दोनों ने किसी सामान्य सूत्र से इन्हें प्राप्त करके अपनी कृतियों में इस प्रकार विभिन्न संतों से संबंध रखने वाले वृत्तों में स्थान दिया।

तुलसीदास स्तव

३२. मोरोपंत (सं० १७८६—१८५१) महाराष्ट्र के एक कवि हो चुके हैं। यह हमारे कवि से इतने प्रभावित हुए थे कि इन्हों ने 'तुलसीदास-स्तव' नामक प्रशंसोक्ति उसके संबंध में लिखी थी। कोई पचीस साल हुए, जब महाराष्ट्र के

[1] २५२ वार्ता, पृ० १६६
[2] 'भक्तमाल', छप्पय १७४
[3] भ० टी० १२
[4] वही ५०८
[5] २५२ वार्ता, पृ० ८१
[6] भ० टी० ५११, ५१२
[7] २५२ वार्ता, पृ० ३१९

एक हिंदी लेखक ने इस 'स्तव' की ओर हिंदी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया।[1] 'भक्तमाल' के लेखक की ही भाँति मोरोपंत भी हमारे कवि को वाल्मीकि का अवतार मानते हैं, किंतु कहते हैं कि उस ने सात रामायणों की रचना की, और कृष्ण-मूर्ति को राममूर्ति में परिवर्तित कर दिया। स्पष्ट ही इन में से कोई बात हमारे विशेष काम की नहीं है। केवल एक बात हो सकती थी: गोस्वामी जी की सात रामायणें रचने की बात। किंतु यह सात रामायणें कौन सी हैं जिनकी रचना कवि ने की—क्यों कि इस संख्या की कई गुना रामायणें ऐसी हैं जो हमारे कवि की ही कही जाती हैं—जब तक हमें यह न ज्ञात हो इस उल्लेख से भी पर्याप्त सहायता हमें नहीं प्राप्त होती। इतना अवश्य संभव जान पड़ता है कि मोरोपंत के समय तक—अथवा कुछ और पूर्व तक ही क्यों कि मोरोपंत हिंदी प्रांत के निवासी नहीं थे और उन्होंने यह सूचना किसी अहिंदी सूत्र से प्राप्त की होगी—केवल सात रामायणें ही हमारे कवि की रचनाओं में स्थान पाती थीं।

भविष्यपुराण

३३. 'भविष्यपुराण' में भी हमारे कवि के जीवन-वृत्त के संबंध में उल्लेख हुआ है। उस का ऐतिहासिक महत्व तो कदाचित् कुछ नहीं है, यद्यपि कभी-कभी कुछ ऐतिहासिक तथ्य उस में मिल जाते हैं। हमारे कवि के संबंध में लिखते हुए उस में कहा गया है कि मुकुंद ब्रह्मचारी ने, जो शंकराचार्य के गोत्रज थे, बाबर द्वारा भ्रष्ट किए जाने पर अपने बीस शिष्यों के साथ अग्नि में प्रवेश किया, और यही शिष्य बाद को संतों के रूप में अवतरित हुए[2] (इस प्रकार 'भविष्य पुराण' १६वीं तथा १७वीं शताब्दी के संतों का संबंध वेदांत मतानुयायी पूर्ववर्ती कतिपय महात्माओं से स्थापित करता है), और मुकुंद ब्रह्मचारी का एक शिष्य-जिस का नाम श्रीधर था-अनप शर्मा के पुत्र के रूप में अवतरित हुआ, और इसी का नाम तुलसीदास हुआ; यह पुराणों में परम निष्णात हुआ, और अपनी गृहिणी के उपदेशों से प्रेरित होकर राघवानंद के पास आया और उन से रामानंदी संप्रदाय में दीक्षित हुआ।[3] प्रश्न यह है कि यह कथन

[1] रामचंद्र गोविंद काटे : 'सरस्वती' जिल्द १९, पृ० ३७

[2] 'भविष्य महा पुराण' प्रतिसर्ग पर्व खंड ४, अध्याय २२, श्लोक ९-११

[3] वही, श्लोक २७-२८

कहाँ तक प्रामाणिक माना जा सकता है। रामानंद की परंपरा का सम्यक् विस्तार हमें नाभादास जी के 'भक्तमाल' में मिल जाता है, और यह विस्तार प्रामाणिक इस लिए है कि स्वतः नाभादास जी इसी परंपरा में थे। नाभादास जी गोस्वामी जी के समकालीन थे। फलतः यदि कोई राघवानंद उन के समय में या कुछ पूर्व भी रामानंदी संप्रदाय में ऐसे हुए होते जो शिष्य करते या किए होते तो उन का उल्लेख संभवतः नाभादास जी अवश्य करते। किंतु ऐसे किन्हीं राघवानंद का उल्लेख नाभादास जी ने नहीं किया है। केवल एक ही राघवानंद का उल्लेख वह रामानंद जी की संबंध-परंपरा में करते हैं, और वे रामानंद जी के गुरु हैं,[१] रामानंद जी की शिष्य-परंपरा में नहीं हैं। फलतः इस पुराण के साक्ष्य की प्रामाणिकता अत्यंत संदिग्ध है।

काशी की सामग्री

३४. काशी में हमारे कवि के जीवनवृत्त से संबंध रखने वाली कुछ सामग्री है जिस पर विचार करना आवश्यक होगा। काशी में असी और गंगा के संगम पर (जहाँ पर असी का नाला गंगा में मिलता है) एक पुराना पक्का घाट है, जिस को तुलसी-घाट कहते हैं। इस घाट से मिली हुई एक इमारत भी है जो कई बार की मरम्मत और पुनर्निर्माण के अनंतर भी सर्वशः नवीन नहीं है। इस इमारत के नीचे के खंड में एक नीची लंबी कोठरी है जिस में हनुमान जी की एक मूर्ति स्थापित है। यह कोठरी गोस्वामी जी के ही समय की कही जाती है, और बहुत कुछ वैसी ही जान भी पड़ती है। इस इमारत के ऊपरी खंड में कुछ पुरानी मूर्तियाँ रक्खी हुई हैं, और इन में से कुछ गोस्वामी जी के समय की कही जाती हैं। लकड़ी का एक टुकड़ा है जो उस नाव का टुकड़ा बताया जाता है जिस पर गोस्वामी जी गंगा पार किया करते थे। कपड़े की वेठन में एक जोड़ी खड़ाऊँ भी रक्खी हुई है जो गोस्वामी जी की बताई जाती है। और, एक चित्र भी है जो गोस्वामी जी का बताया जाता है। यह चित्र नया है— जो इस के रंग आदि से स्पष्ट ज्ञात होता है। किंतु, यह एक पुराने चित्र के आधार पर बना हुआ है, जो अत्यंत असावधानी के साथ मामूली स्याही से एक पुराने और साधारण काग़ज़ पर खींचा हुआ है, यद्यपि इस बात पर विश्वास करने के लिए कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि उक्त चित्र गोस्वामी

[१] 'भक्तमाल' छप्पय ३०

जी का ही है। खड़ाऊँ भी बहुत कुछ नई जान पड़ती है, और घिसी हुई भी नहीं है। शेष के लिए अवश्य अविश्वास करने का कोई स्पष्ट कारण नहीं ज्ञात होता है। उपर्युक्त के अतिरिक्त इसी स्थान पर हाल के कुछ कागजात भी हैं, जिन से गोस्वामी जी के जीवन वृत्त पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उन का उल्लेख आगे यथा स्थान होगा। उन की प्रामाणिकता के संबंध में कोई संदेह जनक बात नहीं ज्ञात होती, इस लिए हम उन्हें प्रामाणिक मान सकते हैं। गोपालमंदिर के अहाते में इसी प्रकार की एक अत्यन्त नीची कोठरी है, जिस के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसी में बैठकर गोस्वामी जी ने 'विनयपत्रिका' के अधिकतर पदों की रचना की थी। जन श्रुति के अतिरिक्त इस प्रसिद्धि का कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता। इनके अतिरिक्त प्रह्लादघाट पर गंगाराम ज्योतिषी का एक स्थान है। कहा जाता है कि पहले पहल काशी आने पर गोस्वामी जी इन्हीं के साथ ठहरे थे। गंगाराम जी के उत्तराधिकारी वहाँ अभी हैं, और उनके पास एक पुराना चित्र है जिसे वह गोस्वामी जी का चित्र बताते हैं और कहते हैं कि उसे जहाँगीर ने बनवाया था। इस चित्र का कुछ सविस्तर परिचय आवश्यक होगा, क्योंकि प्रायः इसी चित्र का प्रामाणिक मान कर की गई इस की बहुत सी नक़लें प्रकाशित साहित्य में मिलती हैं।

चित्र के ऊपरी हाशिये पर "तुलसीदास" तथा "सं० १६५५" नागरी मे लिखे गए हैं किंतु दोनों की लिखावट में साम्य कम है। इस में जिन [illegible]। का चित्र है वे नदी के किनारे बने हुए एक भव्य प्रासाद के नदी [illegible]र निकले हुए बारजे पर मख़मल के गद्दे पर एक मोटे मसनद के सहारे [illegible] माला फेर रहे हैं, नदी के दूसरे तट पर एक क़िला बना हुआ है, [illegible]। की अवस्था लगभग ६० वर्ष की ज्ञात होती है, शरीर सुन्दर और [illegible] है, बायीं भुजा सूखी हुई है, और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की तिलक मुद्रा [illegible]ान शरीर भर में लगी हैं। चित्र पुराना अवश्य है पर कदाचित् सं० [illegible] का नहीं। इमारत की शैली के आधार पर कलाविद् राय कृष्णदास [illegible] कथन है कि यह गोस्वामी जी के जीवन-काल की कृति नहीं है। उस [illegible] की इमारतों में प्रासाद निर्माण की यह शैली नहीं पाई जाती, उन का [illegible] है कि इस शैली का प्रचलन मुहम्मदशाह के बाद हुआ।[1] गंगाराम

[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी . 'राम चरित मानस' भूमिका, पृ० ८७

कहाँ तक प्रामाणिक माना जा सकता है। रामानंद की परंपरा का सम्यक् विस्तार हमें नाभादास जी के 'भक्तमाल' में मिल जाता है, और यह विस्तार प्रामाणिक इस लिए है कि स्वतः नाभादास जी इसी परंपरा में थे। नाभादास जी गोस्वामी जी के समकालीन थे। फलतः यदि कोई राघवानंद उन के समय में या कुछ पूर्व भी रामानंदी सम्प्रदाय में ऐसे हुए होते जो शिष्य करते था किए होते तो उन का उल्लेख सम्भवतः नाभादास जी अवश्य करते। किंतु ऐसे किन्हीं राघवानंद का उल्लेख नाभादास जी ने नहीं किया है। केवल एक ही राघवानंद का उल्लेख वह रामानंद जी की संबंध-परंपरा में करते हैं, और वे रामानंद जी के गुरु हैं,[1] रामानंद जी की शिष्य-परंपरा में नहीं है। फलतः इस पुराण के साक्ष्य की प्रामाणिकता अत्यंत संदिग्ध है।

काशी की सामग्री

३४. काशी में हमारे कवि के जीवन वृत्त से संबंध रखने वाली कुछ सामग्री है जिस पर विचार करना आवश्यक होगा। काशी में असी और गंगा के संगम पर (जहाँ पर असी का नाला गंगा में मिलता है) एक पुराना पक्का घाट है, जिस को तुलसी-घाट कहते हैं। इस घाट से मिली हुई एक इमारत भी है जो कई बार की मरम्मत और पुनर्निर्माण के अनंतर भी सर्वशः नवीन नहीं है। इस इमारत के नीचे के खंड में एक नीची लंबी कोठरी है जिस में हनुमान जी की एक मूर्ति स्थापित है। यह कोठरी गोस्वामी जी के ही समय की कही जाती है, और बहुत कुछ वैसी ही जान भी पड़ती है। इस इमारत के ऊपरी खंड में कुछ पुरानी मूर्तियाँ रक्खी हुई हैं, और इन में से कुछ गोस्वामी जी के समय की कही जाती हैं। लकड़ी का एक टुकड़ा है जो उस नाव का टुकड़ा बताया जाता है जिस पर गोस्वामी जी गंगा पार किया करते थे। कपड़े की बेठन में एक जोड़ी खड़ाऊँ की रक्खी हुई है जो गोस्वामी जी की बताई जाती है। और, एक चित्र भी है जो गोस्वामी जी का बताया जाता है। यह चित्र नया है—जो इस के रंग आदि से स्पष्ट ज्ञात होता है। किंतु, यह एक पुराने चित्र के आधार पर बना हुआ है, जो अत्यंत असावधानी के साथ मामूली स्याही से एक पुराने और साधारण कागज़ पर खींचा हुआ है, यद्यपि इस बात पर विश्वास करने के लिए कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि उक्त चित्र गोस्वामी

[1] 'भक्तमाल' छप्पय ३०

जी का ही है। रङ्गाऊँ भी बहुत कुछ नई जान पड़ती है, और घिसी हुई भी नहीं है। शेष के लिए अवश्य अविश्वास करने का कोई स्पष्ट कारण नहीं ज्ञात होता है। उपर्युक्त के अतिरिक्त इसी स्थान पर हाल के कुछ काग़जात भी हैं, जिन से गोस्वामी जी के जीवन वृत्त पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उन का उल्लेख आगे यथा स्थान होगा। उन की प्रामाणिकता के संबंध में कोई संदेह जनक बात नहीं ज्ञात होती, इस लिए हम उन्हें प्रामाणिक मान सकते हैं। गोपालमंदिर के अहाते में इसी प्रकार की एक अत्यन्त नीची कोठरी है, जिस के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसी में बैठकर गोस्वामी जी ने 'विनयपत्रिका' के अधिकतर पदों की रचना की थी। जन श्रुति के अतिरिक्त इस प्रसिद्धि का कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता। इनके अतिरिक्त प्रह्लादघाट पर गंगाराम ज्योतिषी का एक स्थान है। कहा जाता है कि पहले पहल काशी आने पर गोस्वामी जी इन्हीं के साथ ठहरे थे। गंगारामजी के उत्तराधिकारी वहाँ अभी हैं, और उनके पास एक पुराना चित्र है जिसे यह गोस्वामी जी का चित्र बताते हैं और कहते हैं कि उसे जहाँगीर ने बनवाया था। इस चित्र का कुछ सविस्तार परिचय आवश्यक होगा, क्योंकि प्राय इसी चित्र का प्रामाणिक मान कर की गई इस की बहुत सी नक़लें प्रकाशित साहित्य में मिलती हैं।

चित्र के ऊपरी हाशिये पर "तुलसीदास" तथा "सं० १६५५" नागरी अक्षरों में लिखे गए हैं किंतु दोनों की लिखावट में साम्य कम है। इस में जिन महात्मा का चित्र है वे नदी के किनारे बने हुए एक भव्य प्रासाद के नदी की ओर निकले हुए बारजे पर मख़मल के गद्दे पर एक मोटे मसनद के सहारे बैठ कर माला फेर रहे हैं, नदी के दूसरे तट पर एक क़िला बना हुआ है. महात्मा की अवस्था लगभग ६० वर्ष की ज्ञात होती है, शरीर सुन्दर और इकहरा है, बायीं भुजा सूखी हुई है, और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की तिलक-मुद्रा यथास्थान शरीर भर में लगी है। चित्र पुराना अवश्य है पर कदाचित् सं० १६५५ का नहीं। इमारत की शैली के आधार पर कलाविद् राय कृष्णदास जी का कथन है कि यह गोस्वामी जी के जीवन-काल की कृति नहीं है : उस समय की इमारतों में प्रासाद निर्माण की यह शैली नहीं पाई जाती, उन का कथन है कि इस शैली का प्रचलन मुहम्मदशाह के बाद हुआ।[1] गंगाराम

[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी - 'राम चरित मानस' भूमिका, पृ० ८७

जी के उत्तराधिकारियों से चित्र का फ़ोटोग्राफ न मिल सका, अन्यथा वह यहाँ दिया जा सकता था।

काशी में कुछ और भी स्थान हैं जिन का संबंध हमारे कवि से बताया जाता है। परन्तु हमारे अध्ययन में उन से कोई उल्लेख योग्य सहायता नहीं मिलती, इस लिए उन पर विचार करने की आवश्यकता यहाँ नहीं है।

इन स्थानों के अतिरिक्त तीन वस्तुएँ काशी में और ऐसी हैं जो महत्व पूर्ण हैं। इन में से एक है स० १६६६ का लिखा हुआ पंचायतनामा, जो पहले अस्सीघाट निवासी टोडर के उत्तराधिकारियों के पास था और अब काशिराज के संग्रह में है। दूसरी है 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तर-कांड की एक प्रति जो स० १६४१ की है और वहीं के सरस्वती-भवन पुस्तकालय में सुरक्षित है, और तीसरी है स० १६६६ की लिखी हुई 'विनय-पत्रिका' की एक प्रति, जो रामनगर के चौधरी छुन्नीसिंह के पास है। गोस्वामी जी के हस्तलेख के संबंध में विचार करते हुए आगे इसी ग्रंथ में यथा स्थान हम ने तीनों का परिचय दिया है, और यथेष्ट विस्तार के साथ उन पर विचार भी किया है, इस कारण यहाँ पर उन के संबंध का कोई विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है।

अयोध्या की सामग्री

३५. अयोध्या में केवल दो सामग्रियाँ ऐसी हैं जिन का उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग में किया जा सकता है :

(क) तुलसी चौरा तथा तत्संबंधी जन श्रुतियाँ, और

(ख) श्रावण कुंज में सुरक्षित स० १६६१ की लिखी 'मानस' के बालकांड की हस्तलिखित प्रति।

पहली के संबंध में कहा जाता है कि गोस्वामी जी ने, स० १६३१ में, अयोध्या में यहीं ठहर कर 'मानस' की रचना की। स्वर्गीय लाला सीताराम ने तत्संबंधी एक प्राचीन प्रमाण का उल्लेख किया है। वह लिखते हैं[1] : "अयोध्या के इतिहास की खोज में हम को एक गीत मिला। इस गीत का रचने वाला एक मुसलमान फ़कीर मोहन साईं था जो स० १८१२ में विद्यमान था" (यह गीत उन्हें कहाँ प्राप्त हुआ इस का उल्लेख उन्हों ने नहीं किया

[1] 'माधुरी' वर्ष १२, खंड २, पृ० ३६४

है, और न इस बात का कि फ़क़ीर मोहन साईं का समय उन्हों ने कैसे निर्धारित किया):

अवध की भूमि पवित्र सब है पवित्रतम उसमें है तुलसीचौरा।
तवाफ़ करते हैं रोज़ उसका बिरंचि नारद महेस गौरा ॥
जमाया आसन उसी के नीचे प्रसिद्ध मुनि योगिराज जी ने।
व' जानते मर्म भीतरी थे बता दिया था उन्हें किसी ने।
यहाँ पै काशी से जब गोसाईं पधारे श्रीराम रस में भीने।
सुना के आदेश अपने गुर का उन्हें ही सौंपा सब उस यती ने।
जला के तन योग अग्नि में सिधारा तब गुर पाद पद्म भौंरा ॥
लगी जब इकतीसी रामनौमी गुसाईं जी ने क़लम उठाई।
उछाह से राम ब्याह तैंतीस समाप्ति तिथि मानसी सुहाई।
हुई जो पूजा की धूम सुरगन ने रामगाथा ये थी बढ़ाई।
सुदिव्य मनि तीन शुचि अलौकिक सुघरता जिनकी कही न जाई।
खचित था उसमें समेत परिकर के राम जी का शबीह औरा ॥
थी एक पर विष्णु जी की झाँकी व' दूसरे पर थी राम सिय की।
व तीसरे पर अनुज हनूयुत बिराजती मूर्ति सीय पिय की।
उन्हीं की पूजा वहाँ पै होती चलाई मानों गुसाईं जी की।
बना दिया मिरज़ा मानसिंह ने फ़रश ज़मुर्रद व छत्रि बीकी।
बहुत दिनों तक चहल पहल थी पलट गया फिर समय का दौरा ॥
चढ़ा था शैतान सूबा के सिर कि ताजपोशी की की तयारी।
उपाट कर फ़र्श तख़्त साजा दुरा के दिल औ रला के धारी।
वह तख़्त पर बैठने न पाया पहुँच के नौरंग ने जान मारी।
मुग़ल के घर रान फ़र्श छत्री गुनाह बेलज्ज़त उसने चक्खा।
मुग़ल के घर रख फ़र्श छत्री पहुँच गये दिल्लियाँ पिथौरा ॥
रहा सहा वृत्त वेदिकायुत जो था ही जिन्दा गवाह सबका।
बचा न वह भी बचै तो कैसे कि हिल गए जब कि सातों तबका।
वह वैसा संवत था बेवफ़ा का कि नाम बारह प्रवाम रब का।
व जन्म त्रेता का कैसे माने कि क्षयकरी तिथि हसन को उँचका।
अब ईंट पत्थर की वेदिका है उसी पर सिर हम पटकते धौरा ॥

इस साक्ष्य की प्रामाणिकता के सबंध में बहुत निश्चित रूप से कुछ

नहीं कहा जा सकता, क्यों कि स्वर्गीय लाला जी ने उक्त गीत के प्राप्तिस्थान तथा रचयिता के समय का उल्लेख सप्रमाण नहीं किया है। मोहन साईं के लिए जो तिथि स्वर्गीय लाला जी ने दी है वह यदि ठीक मान ली जावे, और यदि यह भी मान लिया जावे कि रचना उक्त मोहन साईं की ही है, तो अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि लगभग २०० वर्ष पूर्व इस प्रकार की एक जन-श्रुति प्रचलित थी जिस प्रकार की जन श्रुति का उल्लेख उक्त गीत में हुआ है। उपर्युक्त सामग्री में से दूसरी का परिचय यथास्थान आगे चलकर विस्तृत रूपमें हुआ है, इस लिए यहाँ पर तत्संबंधी किसी प्रकार का विस्तार अनावश्यक होगा।

राजापुर की सामग्री

२१ राजापुर, जिला बाँदा, में जो सामग्री हमारे कवि के जीवन वृत्त से संबंध रखने वाली प्राप्त है उस पर भी हमें विचार करना आवश्यक होगा। वह मकान जो तुलसीदास का कहा जाता था, बाढ आने के कारण यमुना के गर्भ में चला गया है—वह यमुना के निरे तट पर था—और नदी से कुछ हट कर एक दूसरा पक्का मकान अब बनाया गया है। पहले वाले मकान का अब एक चित्र मात्र प्राप्त है, जो १८८७ ई० में लिया गया था। यह स्वर्गीय लाला सीताराम द्वारा संपादित 'मानस' के अयोध्याकांड की भूमिका में दिया हुआ है। 'मानस' की जिस प्रति की प्रतिलिपि से उपर्युक्त संस्करण स्वर्गीय लाला जी ने तैयार किया था, वह प्रति अभी तक राजापुर में रक्खी हुई है। वह अब प० मुन्नीलाल उपाध्याय के पास है और बड़ी कठिनता से दर्शनमात्र के लिए मिलती है। कहा जाता है कि प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई है। प्रति का परिचय देकर उक्त कथन की प्रामाणिकता की सविस्तर जाँच हम ने यथा-स्थान आगे चलकर इसी ग्रंथ में की है, इसलिए यहाँ पर उस के संबंध में किसी प्रकार का विस्तार अनावश्यक होगा।

इस नए स्थान पर एक कमरे में एक प्रस्तर मूर्ति स्थापित है, जिस को गोस्वामी जी की प्रतिमूर्ति बतलाया जाता है। इस मूर्ति की ओर विद्वानों का ध्यान पूर्णरूप से आकर्षित नहीं हुआ है, इसलिए कदाचित् कुछ विस्तार के साथ इस का परिचय और इस की प्रामाणिकता के संबंध में विचार करना अनुपयुक्त न होगा। इस मूर्ति का प्रतिचित्र अभी तक किसी अन्य व्यक्ति को नहीं प्राप्त है। यह उक्त स्थान के अधिकारियों की विशेष कृपा थी कि मुझे उन्हों ने

उस का प्रतिचित्र लेने दिया, और इस ग्रंथ में उस चित्र को मैं कृतज्ञतापूर्वक प्रकाशित कर रहा हूँ। मूर्ति एक सुदृढ काले पत्थर की बनी हुई है, और अनुमान से दो फ़ीट ऊँची होगी। चित्रित व्यक्ति आसन की मुद्रा में है, और तुलसी की माला फेर रहा है। उस की बाहों में तथा उस के वक्ष पर उसी प्रकार के तिलक के चिन्ह हैं जैसे मस्तक में, और यह चिन्ह श्रीवैष्णव संप्रदाय के जान पड़ते हैं। गले में तुलसी की माला पड़ी हुई है। शरीर इकहरा है। यह सब अंश चित्र में अँगरखे से ढका हुआ है। सिर पर जटाजूट है, पर वह चित्र में टोपी से ढका हुआ है। मस्तक पर का तिलक तथा आँखें चाँदी से मढ़े हुए हैं जैसा कि चित्र में भी दिखाई पड़ेगा। नाक के ऊपर तथा दोनों भौंहों के बीच में मस्तक के तिलक के नीचे मिला हुआ श्वेत चदन का एक त्रिकोण आधार बनाया हुआ है जो चित्र में भी देखा जा सकता है। संक्षेप में यही उस मूर्ति का आकार-प्रकार है।

मूर्ति तुलसीदास की ही है अथवा किसी अन्य संत की, इस प्रश्न का उत्तर पूर्ण निश्चय के साथ देना कठिन है। फिर भी कुछ ऐसी बातें हैं जिन के कारण इस के तुलसीदास जी ही होने की यथेष्ट संभावना अवश्य है। यह मूर्ति यमुना की रेतों में से पुनर्प्राप्त की हुई कही जाती है। इस प्रकार यह कब प्राप्त हुई यह कहना कदाचित् कठिन होगा। किंतु सन् १६०६ तक किसी भी समय यह अवश्य प्राप्त हो चुकी थी, क्यों कि इस बात का उल्लेख बाँदा ज़िले के उस गज़ेटियर में होता है जो सन् १६०६ में प्रकाशित हुआ था।[१] मूर्ति की प्राचीनता तो एक बात से बहुत स्पष्ट है। उस पर तिलक के जो चिह्न बाहों पर तथा वक्षस्थल पर बने हैं वे बहुत घिसे हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उँगलियों से इन चिह्नों पर चंदन का लेप किया जाता था जिस के कारण यह चिह्न शरीर के अन्य अंशों की अपेक्षा कहीं अधिक घिस गए हैं। मूर्ति की कला भी उस को उत्तर-मध्य युग का बतलाती है, जैसा कि चित्र से देखा जा सकता है। फलतः मूर्ति काफ़ी प्राचीन है इस में संदेह नहीं। प्रश्न अब यह है कि प्रति-मूर्ति हमारे कवि की ही है या किसी अन्य मध्यकालीन संत की। तुलसीदास के ही संबंध की संभावना विशेष है। तुलसीदास राजापुर में बहुत दिनों तक रहे थे, और यहीं तक नहीं, कहा जाता है कि राजापुर का क़स्बा

[१] पृ० २८४

भी उन्हों ने ही बसाया था।[१] फलत. राजापुर छोड़ने पर या यह ससार छोडने पर, उन की स्मृति और उन के स्थान की स्मृति की रक्षा के लिए यदि वहाँ के लोगों ने उन की इस प्रतिमूर्ति का निर्माण कराया रहा हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। यमुना की बाढ में कभी यह मूर्ति असभव नहीं कि उस के गर्भ में चली गई हो और पीछे रेत म से निकली हो। विरोध में कोई बात नहीं दिखाई पड़ती। इसलिए यह अनुमान करना कदाचित् उचित होगा कि प्रतिमूर्ति गोस्वामी जी की ही है।

हाल म ही प० रामबहोरी शुक्ल एम्० ए० ने राजापुर के मुआफीदारों को मिली हुई दो सनदों का उल्लेख किया है।[२] इन में से एक पन्ना-नरेश हिंदूपति की दी हुई है, जिस के द्वारा किन्हीं सीताराम के हक़ म उस पुरानी सनद का लाभ उठाने की स्वीकृति है जिस के द्वारा उन के पूर्वजों को राजापुर क़स्बे म कुछ खोंची आदि मिलती आ रही थी। इस में तुलसीदास का नाम नहीं आया है। इस के पहले वाली सनद म तुलसीदास का नाम अवश्य आता है। किंतु कागज को कीड़ों ने इतनी बुरी तरह से काट डाला है कि 'सीताराम' नाम के पीछे आने वाले 'के' तथा बाद में आने वाले 'स' के बीच का अश नहीं रह गया है। इस सामग्री की प्रामाणिकता के सबंध में ठीक ठीक कथन उक्त सनद के देखने के अनन्तर ही किया जा सकता था। किंतु खेद है कि प्रस्तुत लेखक को न तो उस का मूल ही देखने को मिला और न उस का कोई प्रति चित्र ही। फलत आगे हम उस से प्राप्त साक्ष्य पर यह कल्पना कर के विचार करेंगे कि प० रामबहोरी जी उस के अस्तित्व तथा उस के द्वारा उपस्थित किए हुए मजमून के सबध में जो कुछ कह रहे हैं वह यथावत् है।

सोरों की सामग्री

३७. सोरों, जिला एटा, और उस के आस पास मे इधर कुछ दिनों म जो विस्तृत और मूल्यवान् सामग्री गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन वृत्त से सबध रखने वाली प्राप्त हुई कही जाती है उस का भी परिचय देकर उस पर विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक होगा। सामग्री निम्नलिखित है :

[१] 'गजेटियर अव् बाँदा डिस्ट्रिक्ट' (सन् १९०९) पृ० २८४

[२] 'वीणा' वैशाख, स० १९९४, पृ० ५४९

(१) 'मानस' के बालकांड की एक प्रति की पुष्पिका, जो सं० १६४३ की लिखी हुई कही जाती है,

(२) 'मानस' के अरण्यकांड की एक प्रति की पुष्पिका, जो आषाढ़ शुद्ध ४, सं० १६४३ की लिखी हुई कही जाती है,

(३) कृष्णदास रचित 'शूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा' की एक प्रति, जिस का रचना-काल सं० १६७० बताया गया है,

(४) मुरलीधर चतुर्वेदी-कृत 'रत्नावली' की एक प्रति, जिस का रचना काल सं० १८२६ बताया गया है,

(५) 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' की दो प्रतियाँ,

(६) 'दोहा रत्नावली' की एक प्रति,

(७) सोरों में तुलसीदास के स्थान का अवशेष,

(८) तुलसीदास के भाई नंददास के उत्तराधिकारी,

(९) सोरों में स्थित नरसिंह जी का मंदिर, और,

(१०) सोरों में नरसिंह जी चौधरी के उत्तराधिकारी।

इन सभी सामग्रियों को मैं ने जिस रूप में पाया है उस का एक संक्षिप्त विवरण नीचे यथाक्रम देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(१) 'मानस' के बालकांड की प्रति हाथ के बने हल्के सफ़ेद रंग के कागज़ पर लिखी गई है, जिस का आकार ११½" × ६" है। प्रति के चारों किनारों को उल्लेखयोग्य क्षति पहुँची है, और बायाँ किनारा तो आग से जला जान पड़ता है। कई पन्ने, जिनमें प्रथम पन्ना भी सम्मिलित है, खंडित हैं। अंतिम पन्ना अवश्य बचा हुआ है, पर वह भी अक्षत नहीं बच पाया है। इसी पन्ने पर वह पुष्पिका दी हुई है, जिससे प्रति का लिपिकाल आदि ज्ञात होता है। कुल प्रति, और पुष्पिका भी, चमकदार काली स्याही से लिखी हुई है। देखने में प्रति इतनी काफ़ी पुरानी जान पड़ती है कि वह विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी की कही जा सके। पुष्पिका निम्नलिखित है:

"इति श्री रामचरित्र मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल...
ग्य संपादिनी नाम १ सोपान समाप्त. । संवत् १६४३ शाके . . १५०८
. वासी नन्ददास पुत्र कृष्णदास हेत लिपी रघुनाथदास ने कासीपुरी में"[1]

[1] बिंदुवाले स्थानों पर कागज़ निकला हुआ है

, इस पुष्पिका में यह ध्यान देने योग्य है कि उन कुल शब्दों पर जो 'वाली' से प्रारंभ हो कर 'में' पर समाप्त होते हैं—अर्थात् पुष्पिका की तीसरी पंक्ति के सभी शब्दों पर—पीछे से हल्की काली स्याही फेरी गई है। कहा जाता है कि यह प्रति कई वर्ष हुए सोरों निवासी स्वर्गीय मुरारीलाल शुक्ल से प्राप्त हुई थी, जो अपने को गोस्वामी जी का वंशधर कहते थे।

(२) 'मानस' के अरण्यकांड की प्रति हाथ के बने गहरे भूरे रंग के कागज पर लिखी हुई है, जिस का आकार १२' × ६½" है। किनारे घिसे हुए हैं, पर अन्यथा प्रति को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँची है। इस प्रति के भी कई पत्रे, जिन में पहला भी सम्मिलित है, खंडित हैं। अंतिम पत्रा बचा हुआ है और वह अक्षत भी है। इसी में वह पुष्पिका है जिस में प्रति का लिपिकाल आदि दिया हुआ है। पुष्पिका के एक अंश को छोड़ कर कुल गाढ़ी काली स्याही से लिखी हुई है। देखने में इतनी काफी पुरानी जान पड़ती है कि विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी की कही जा सके। पुष्पिका इस प्रकार है :

"इति श्रीरामायने सकल कलि कलुप विध्वंसने विमल वैराग्ये संपादिनी षट सुजन संवादे राम चरित्र वर्ननो नाम तृतियो सोपान आरन्यकांड समाप्त ॥३॥ श्री तुलसी दासगुरु की आंग्या सों उन के भ्रातासुत कृष्णदास सोरों छेत्र निवासी हेत लिषित लछिमनदास काशी जी मध्ये संवत् १६४३ अषाढ सुद ४ सुक्रे इति ॥"

इस पुष्पिका में यह ध्यान देने योग्य है कि "इति" से "३॥" तक का अंश पहले लाल स्याही से लिखा हुआ था, पीछे से उस पर चमकदार काली स्याही फेरी गई है। इस पुनरंजन में केवल "इति" शब्द और "ग्ये" के एकार की मात्रा अपने पहले के रंग में बने हुए हैं, शेष सभी काले कर दिए गए हैं। इस अंश के अनंतर "श्री" से "इति ॥" तक का अंश चमकदार काली स्याही से लिखा हुआ है। इस पर फिर स्याही नहीं फेरी गई है, केवल संवत् का "१६४" पुनर्लेखन का परिणाम जान पड़ता है। इस प्रति का भी प्राप्ति-स्थान और प्राप्ति-काल वही बताया जाता है जो उपर्युक्त बालकांड की प्रति का बताया जाता है।

(३) 'सूकरखेत्र माहात्म्य भाषा' की प्रति हाथ के बने भूरे कागज़ पर लिखी गई है, जिस का आकार ११½" × ७¼" है। किनारे कुछ घिसे हुए हैं। प्रति संपूर्ण प्राप्त है, कोई भी पत्रा उसका खंडित नहीं है। प्रति भर में

एक सामान्य गाढ़ेपन और चमक की काली स्याही का प्रयोग हुआ है। देखने में प्रति इतनी पुरानी जान पड़ती है कि विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी की कहा जा सके। पुष्पिका उसकी इस प्रकार है :

"संवत् १८७० मिति कातिक वदी ११ एकादशी बुधबासरे लिखितम् शिवसहाय कायस्थ सोरों मध्ये ॥"

इस प्रति के संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है : इस का प्रत्येक शब्द एक दूसरे से अलग-अलग लिखा गया है; सटा कर और मिला कर नहीं लिखा गया है, जैसा हमें प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है। इस प्रति का भी प्राप्ति स्थान तथा प्राप्ति-काल वही बताया जाता है जो उपर्युक्त 'मानस' की प्रतियों का बताया जाता है।

पुष्पिका के नीचे किन्हीं मुरलीधर चतुर्वेदी रचित पाँच छप्पय भी दिए हुए हैं। यह भी उसी लिखावट में हैं जिस में शेष प्रति है, और इन की स्याही भी वही है जो शेष प्रति की है, जिस से यह स्पष्ट है कि इन का भी लेखक और लिपिकाल, वही होगा जो शेष प्रति का है। इस अंश में भी हमें प्रत्येक शब्द एक दूसरे से अलग-अलग लिखे गए मिलते हैं, सटा कर और मिला कर लिखे गए नहीं मिलते।

इन छप्पयों के अनंतर उपर्युक्त प्रति में हमें कृष्णदास रचित एक 'कृष्णदास वंशावली' भी मिलती है जो दस दोहों में समाप्त होती है। इस 'वंशावली' की लिखावट शेष प्रति की लिखावट से मिलती है, पर इस के अक्षरों का आकार उपर्युक्त अंशों के अक्षरों के आकार से छोटा और इस की स्याही उपर्युक्त अंशों की स्याही से कुछ गाढ़ी है। फलतः यह स्पष्ट है कि यह 'वंशावली' शेष अंशों के बाद किसी समय लिखी गई, यद्यपि इस का भी लेखक वही था जो शेष प्रति का था। 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा' अब पुस्तकाकार प्रकाशित है, पर उस में मुरलीधर के उपर्युक्त छप्पय और 'कृष्णदास वंशावली' नहीं दिए गए हैं।

(४) 'रत्नावली' की प्रति हाथ के बने भूरापन लिए हुए सफेद रंग के काग़ज़ पर लिखी हुई है, जिसका आकार ६३/४" × ७१/४" है। किनारे किंचित् घिसे हुए हैं। प्रति संपूर्ण प्राप्त है। स्याही प्रति भर में हल्की काली है। देखने में प्रति इतनी पुरानी अवश्य जान पड़ती है कि वह विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी की कही जा सके। उसकी पुष्पिका इस प्रकार है :

"इति श्री रत्नावली सपूरणम् । लिपितम् श्री मुरलीधर चतुरवेदि शिष्येन रामवल्लभ मिश्रेन सोरों मध्ये सवत् १८६४ ॥ मार्गशिर मासे शुक्ल पक्षे ६ शनिवासरे । कृष्णायनमः ॥"

कहा जाता है कि यह प्रति कासगज, जिला एटा, निवासी मुनीम जुगुलकिशोर जी से प्राप्त हुई थी, और उन्हें भी यह कहीं अन्यत्र से प्राप्त हुई थी।

'रत्नावली' के पाठ के ठीक नीचे उसके लेखक के ही रचे हुए तीन छप्पय मिलते हैं। यह छप्पय उन पाँच में से प्रथम तीन हैं जो हमें ऊपर 'सूकर क्षेत्र-माहात्म्य भाषा' की प्रति में मिले थे। यह तीन छप्पय भी उसी लिखावट में हैं और उसी स्याही में लिखे गए हैं जिन मे 'रत्नावली', फलतः यह भी 'रत्नावली' के साथ ही उसी के लेखक द्वारा लिखे गए जान पड़ते हैं। 'रत्नावली' अब दो सस्करणों में प्रकाशित है और उन मे से एक[1] में उपर्युक्त तीन छप्पय भी प्रकाशित हैं। किंतु इस में एक चौथा छप्पय भी दिया हुआ है जो 'रत्नावली' वाली प्रति में नहीं है।

(५) 'रत्नावली' लघु दोहा सग्रह' की दो प्रतियाँ हैं। इन मे से एक हाथ के बने भूरापन लिए हुए सफ़ेद कागज़ पर लिखी हुई है, जिसका आकार ६" × ५½" है। किनारे इस प्रति के घिसे हुए नहीं हैं, वे ज्यों के त्यों हैं। प्रति संपूर्ण है। स्याही प्रति भर में काली है। देखने में प्रति पुरानी अवश्य ज्ञात होती है, यद्यपि बहुत सावधानी के साथ रक्खी गई जान पड़ती है। इस की पुष्पिका इस प्रकार है :

"इति श्री रत्नावली लघु दोहा सग्रह सपूर्णम् । लिखितमिद पुस्तकम् पंडित रामचद्र बदरिया ग्रामे शुभे सवत् १८७४ चैत्र कृष्ण १३ भृगुवासरे ।"

यह प्रति कहा जाता है कि प० अङ्गदराम जी शास्त्री बदरिया निवासी के उत्तराधिकारियों से प्राप्त हुई थी। उन का देहांत सं० १६४५ के लगभग हुआ कहा जाता है। प्रति के मुखपृष्ठ पर स० १६२५ में किया हुआ उन्हीं का हस्ताक्षर भी बताया जाता है।

'रत्नावली लघु दोहा-सग्रह' की दूसरी प्रति हाथ के बने सफ़ेद कागज़ पर लिखी हुई है, जिसका आकार ६" + ६½" है। इस के किनारे कुछ घिसे हुए हैं। प्रति सपूर्ण है। स्याही प्रति भर में हल्की काली है। देखने में प्रति

[1] प्र० भद्रदत्त वैद्यभूषण, कासगज, जिला एटा (स० १६६५)

इतनी पुरानी अवश्य ज्ञात पड़ती है कि वह विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी की कही जा सके। उस की पुष्पिका इस प्रकार है :

"इति श्रीरत्नावली लघु दोहा संग्रह संपूर्णम्। लिखितम् ईसुरनाथ पंडित सोरों जी मिती माह सुदी तेरसि १३ सोमवार सवतु १८५५ में।"

यह प्रति कहा जाता है कि सोरों निवासी किन्हीं प० प्यारेलाल से प्राप्त हुई थी। 'रत्नावली लघु दोहा-संग्रह' भी 'रत्नावली' के उपर्युक्त उस संस्करण के साथ प्रकाशित है जिस में मुरलीधर-कृत उपर्युक्त तीन छप्पय प्रकाशित हैं।

(६) 'दोहा-रत्नावली' 'रत्नावली' के उस संस्करण के साथ प्रकाशित है जो प० प्रभुदयालु शर्मा से प्राप्य है। इस के दोहे भी रत्नावली की ही कृति कहे जाते हैं। पर इस संस्करण का आधार कोई हस्तलिखित प्राचीन प्रति है या नहीं यह कहना कठिन है। संस्करण के संपादक का कहना है कि प्रेस के लिए दोहा की एक प्रतिलिपि उन्हें प० भद्रदत्त जी से मिली थी, और उसी के अनुसार वे छापे गए हैं।[1] मैं स्वयं पं० भद्रदत्त ही से मिला था। इस सबध में प्रश्न करने पर मुझे उन से ज्ञात हुआ कि उन्हें भी प्रेस के लिए यह प्रतिलिपि पं० गोविंदवल्लभ भट्ट से प्राप्त हुई थी; उन्हों ने वह प्रति स्वतः तैयार नहीं की या कराई थी। मैं पं० गोविंदवल्लभ भट्ट से भी मिला था। इस संबध मे उन से प्रश्न करने पर मुझ से भट्ट जी ने कहा कि प्रेस के लिए वह प्रतिलिपि एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति से कराई गई थी, जो उन के पास थी, पर उसे वह देहरादून या हरद्वार में छोड़ आए थे। इस 'दोहा-रत्नावली' की विशेषता यह है कि इस में हमे वे सभी दोहे तो मिलते ही हैं जो 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' में मिलते हैं, साथ ही ६० और भी ऐसे दोहे मिलते हैं जो 'लघु दोहा संग्रह' में नहीं हैं, और इन ६० दोहों मे हमें गोस्वामी जी और उन की स्त्री के जीवन से संबंध रखने वाली बहुत सी ऐसी सामग्री मिलती है जो अन्यत्र नहीं मिलती।

(७) मुहल्ला जोगमारग (योगमार्ग) में बुद्ध गद्दी नामक एक मुसलमान ग्वाले (?) का एक कच्चा मकान है। कहा जाता है कि इसी मकान के स्थान पर पहले गोस्वामी जी का मकान था। मकान बस्ती के उत्तरी सिरे पर है, उस के उत्तर में और कोई मकान नहीं है, पूर्व में एक कच्ची सड़क और रास्ता

है, पश्चिम में अब्दुल्ला गद्दी का मकान है, दक्षिण में अब्दुल्ला मशक वाले का मकान है। यह मकान किसी पुराने मकान के अवशेष पर बनाया हुआ जान पड़ता है। चहारदीवारी का फाटक स्पष्ट ही किसी पुराने फाटक के भग्नावशेष पर बनाया हुआ है। इस मकान के उत्तर पश्चिम की ओर लगभग दो फर्लांग के अंतर पर एक मरघट है, और इस मकान के पूर्व की ओर कच्ची सड़क के बाद मुसलमानों की एक बस्ती है जिस में कसाई भी हैं। हिंदुओं के मकान इस बस्ती में कदाचित् एकाध ही हैं।

(८) यहाँ पर सनाढ्य शुक्लों का एक घराना है, जिस के संबंध में यह कहा जाता है कि वह नंददास की वंशपरंपरा में है। इस समय इस कुल में एक पंडित बाबूराम हैं, और उन का एक भतीजा है जो उनके भाई उन स्वर्गीय मुरारीलाल शुक्ल का पुत्र है जिन से 'मानस' की उपर्युक्त प्रतियों की प्राप्ति बताई जाती है।

(९) सोरों में चौधरियों के मुहल्ले में पक्के मकान का एक खंडहर है। यह नरसिंह जी के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। इस में प्राचीन अंश पूर्व और पश्चिम का है, दक्षिण का अंश अपेक्षाकृत नवीन है, और उत्तर की ओर कोई बनावट नहीं रह गई है। इस में अब केवल हनुमान जी की एक मूर्ति है, और कुछ नहीं है।

(१०) इसी मुहल्ले में चौधरियों के कुछ घर हैं जो हमारे कवि के गुरु नरसिंह चौधरी के वंशधर बताए जाते हैं। पंडित रंगनाथ आजकल इन के मुखिया हैं।

३८. इस कुल सामग्री का यथेष्ट परिचय प्राप्त कर लेने के अनंतर अब हमें उस की प्रामाणिकता के संबंध में उस की बहिरंग परीक्षा करनी चाहिए।

(१) जब हम उपर्युक्त बालकांड की प्रति की प्रामाणिकता के संबंध में विचार करने लगते हैं तो हमें नीचे लिखी बातें खटकती हैं :

(अ) पुष्पिका की अंतिम पंक्ति और अंत से दूसरी पंक्ति के बीच में एक छोटी आड़ी रेखा इस प्रकार खिंची हुई है कि उस से जान पड़ता है कि पुष्पिका उस के ऊपर ही समाप्त हो गई थी, और उस के नीचे वाली पंक्ति बाद की है। अब इस अंतिम पंक्ति के नीचे तीन छोटी आड़ी रेखाएँ एक दूसरे के समानांतर संभवतः यह सूचित करने के लिए खींची गई हैं कि एक

पंक्ति ऊपर वाली अकेली आड़ी रेखा समाप्ति-सूचक न मानी जावे। पर इस से वह बात कदाचित् और भी प्रकट हो जाती है कि पुष्पिका की समाप्ति पहले वाली आड़ी रेखा पर ही हो चुकी थी।

(ब) अंतिम पंक्ति की लिखावट शेष प्रति और पुष्पिका की लिखावट से पूरा पूरा मेल नहीं खाती। दोनों में शैली, गति, अक्षरों के आकार, तथा शिरोरेखा की लंबाई में अंतर ज्ञात होता है, कुछ पंक्ति की समाप्ति की ओर पहुँचते हुए अक्षरों की गति, उनके बीच के फ़ासले और उन की बनावट में साम्य दिखाई पड़ता है। इन लिखावटों का मिलान गोलाई और खत की दृष्टियों से इस लिए नहीं किया जा सकता कि अंतिम पंक्ति में अक्षरों के ऊपर स्याही फेर कर उन्हें बिगाड़ दिया गया है।

(स) अंत से दूसरी पंक्ति में प्रतिलिपि की जो तिथि दी हुई है उस की लिखावट में बड़ी अस्वाभाविकता जान पड़ती है। "५" और "४" के बीच में इतनी जगह छूट जाती है कि यदि स्वाभाविक रीति से लिखा जाता तो उतने स्थान में एक और अंक सरलता पूर्वक लिखा जाता। फिर "शाके" और "१५०८" के बीच में तो इतना अंतर छोड़ दिया गया है कि उस में दो अंक अवश्य आ सकते थे यदि वह शब्द कृमि द्वारा पत्रक्षति के पूर्व लिखे गए होते।

(२) जब हम अरण्यकांड वाली प्रति की पुष्पिका पर विचार करने लगते हैं, तब हमें उस को प्रामाणिक मानने में निम्नलिखित अड़चनें ज्ञात होती हैं :

(अ) "श्री तुलसी" से लेकर अंतिम "इति" तक की लिखावट शेष प्रति और पुष्पिका की लिखावट से शैली, गति और अक्षरों के आकार के विषय में भिन्न ज्ञात होती है, यद्यपि वह गोलाई और खत, अक्षरों के बीच के फ़ासले और पंक्ति की सीधाई के संबंध में एक-सी जान पड़ती है। "क", "ह" "१" और "६" की और इकार की मात्रा की बनावट में दोनों अंशों में कुछ अंतर ज्ञात होता है।

(ब) संवत् के तीन अंक "१६४" इस प्रकार पुनर्निर्मित हैं कि वे पंक्ति के अन्य अक्षरों और अंकों की अपेक्षा बहुत बड़े हो गए हैं। उन की इस अस्वाभाविक विकृति को देख कर यह असंभव नहीं जान पड़ता है कि किन्हीं दूसरे अंकों को बिगाड़ कर उन का निर्माण किया गया हो।

(३) जब हम 'सूकरखेत माहात्म्य भाषा' की प्रति की जाँच करते हैं तो हमें जो बात खटकने वाली मिलती है वह है उस के प्रत्येक शब्द का दूसरे शब्द से अलग लिखा जाना, प्रत्येक शब्द में आने वाले अक्षर एक शिरोरेखा के नीचे लिखे गये हैं, और उन्हें प्रत्येक दूसरे शब्द के अक्षर समूह से अलग रक्खा गया है। प्रति का लिपिकाल सं० १८७० दिया गया है। इस समय के लगभग की एक भी ऐसी अन्य प्रति मेरे देखने में नहीं आई है जिस में उपर्युक्त लेखन शैली बरती गई हो।

उपर्युक्त बातें मुरलीधर के उन पाँच छप्पय और कृष्णदास की 'कृष्णदास वंशावली' के संबंध में भी, जो प्रति के अंत में दिए गए हैं, कही जा सकती हैं।

(४) जब हम मुरलीधर चतुर्वेदी कृत 'रत्नावली' की जाँच करते हैं तो हमें एक बात उस में भी खटकती है। वह है उस की विचार शैली और शब्द विन्यास का अपेक्षाकृत आधुनिक होना। नीचे लिखी पंक्तियों में यह बात ध्यान देने योग्य है

> सीस प्रेम तुम करी पार। नाथ प्रेम के तुम अधार।
> मम सुप्रेम निज हिये धार। उतरे प्रिय सुरसरित पार।
> जग अधार पद प्रेम धार। जात मनुज भव उदधि पार।
> प्रेम हीन जीवन असार। नाथ प्रेम महिमा अपार॥
>
> (रत्नावली १२९ १३२)

(५) 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' के संबंध में अवश्य हम कोई संदेह जनक बात नहीं ज्ञात होती। पर सोरों में मिली हुई प्रत्येक अन्य सामग्री के संदेहातीत न होने के कारण इस 'लघु दोहा संग्रह' के संबंध में भी यदि किसी को पर्याप्त विश्वास न हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

(६) 'दोहा रत्नावली' की प्रति, यदि कोई प्राचीन प्रति है तो, हमें देखने को नहीं मिली, इस लिए उस के संबंध में हम कुछ भी कहने में असमर्थ हैं।

(७) कवि के घर के संबंध में सोरों में एक जनश्रुति है

> तुलसी घर मरघट्ट में गलकन्थिन के पास।
> अपनी करनी आप सग तू क्यों होय उदास॥

ऊपर हम ने जिस मकान की स्थिति देखी है, उस के संबंध में यह जन श्रुति लागू हो सकती है, इस में सन्देह नहीं।

इस मकान के साथ एक और परंपरा लगी चली आती है। सोरों के लोगों का यह विश्वास है कि इस मकान की मिट्टी कनवर (कर्णमूल प्रदाह) नामक रोग में गुणकारी होती है, और इसी लिए वे अब भी इसे ले जाते हैं और उपर्युक्त रोग में इस का प्रयोग करते हैं। पर इस परंपरा से यह बात सिद्ध नहीं होती कि वह मकान, जिस की मिट्टी लोग इस प्रकार ले जाते हैं, तुलसीदास का था।

इस मकान के संबंध में एक और बात है जिसे सोरों को तुलसीदास की जन्मभूमि मानने वाले लोग प्रकाश में नहीं लाते। मुझे स्थानीय जाँच से यह ज्ञात हुआ कि यह मकान, और इस से मिले-जुले कुछ और मकान भी, पहले राजोरियों के थे (शुक्लों के नहीं) और वे राजोरिया घराने धीरे-धीरे नष्ट हो गए। यह बात लेखक को कुछ कठिनाई के बाद ज्ञात हुई, क्योंकि सोरों का अधिकांश जनसमाज यह चाहता है कि सोरों तुलसीदास जी की जन्म-भूमि मानी जाय, और यह बात कदाचित् उस के मार्ग में बाधक होती। फलतः जब तक इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिल जाता कि वह घर शुक्लों का था प्रस्तुत लेखक उसे राजोरियों का ही मानेगा। इस नई बात से दो परिणाम निकलते हैं :

(क) या तो उपर्युक्त मकान तुलसीदास का था ही नहीं, और

(ख) या तो तुलसीदास राजोरिया थे, सनाढ्य शुक्ल नहीं।

प्रश्न यह स्वाभाविक है कि यह 'राजोरिया' कौन होते हैं? यह ब्राह्मणों का एक वर्गविशेष है जो लगभग एक अर्द्धशताब्दी पूर्व एटा ज़िले के ब्राह्मणों में संख्या के नाते काफ़ी प्रमुख था।[1] 'राजोरिया' नाम का इतिहास किसी स्थान के साथ संबंध रखता हुआ जान पड़ता है। कुछ दिनों तक लेखक 'राजोरिया' को 'राजापुरिया' का एक विकृत रूप समझता था, क्योंकि भाषाविकास के नियमों के अनुसार उ के संयोग के कारण प का लोप स्वाभाविक था, पर अब उस का अनुमान है कि 'राजोरिया' शब्द की उत्पत्ति 'राजौरा' से हुई है, जो आगरा ज़िले में आगरा शहर से ३२ मील की दूरी पर, अक्षांश २६° ५८ तथा देशान्तर ७८°३२ पर यमुना के दक्षिणी किनारे पर बसे हुए एक

ग्राम का नाम है।[1]

(८) इस बात का यथेष्ट प्रमाण कोई नहीं है कि बाबूराम शुक्ल और उन के घरवाले नंददास के वंशज हैं। स्वर्गीय मुरारीलाल शुक्ल का कथन मात्र इस संबंध में प्रमाण नहीं हो सकता। सोरों यात्रा में मैं ने बाबूराम जी से मिलना चाहा, पर वे बाहर चले गए थे। इसलिए मिलना न हो सका। पर, जो कुछ मैंने उन के संबंध में वहाँ सुना उस से मुझे संदेह है कि वे भी अपने को नंददास का वंशज कहते हैं या नहीं।

(९) नरसिंह जी के मंदिर के संबंध में जाँच करते हुए मैं उस स्थान के पटवारी मुंशी गिरिजाशंकर से मिला, और उन से मैं ने उक्त मंदिर की खतौनी जमाबंदी प्राप्त की। उस खतौनी में लिखा है 'मंदिर नरसिंह जी महाराज"। प्रश्न यह है कि क्या यह शब्दावली इस बात की सूचना देती है कि उक्त मंदिर किन्हीं नरसिंह चौधरी का था? कम से कम प्रस्तुत लेखक तो इस शब्दावली से यही आशय लेगा कि मंदिर नृसिंह भगवान का था, न कि किन्हीं नरसिंह चौधरी का: "जी" और "महाराज" शब्द तो इसी ओर संकेत करते हैं।

(१०) अपनी सोरों-यात्रा में मैं पंडित रंगनाथ चौधरी से मिला था। उन से प्रश्न करने पर ज्ञात हुआ कि उन्हें केवल अपने आठ पूर्वपुरुषों के नाम ज्ञात हैं, और इन में से नरसिंह चौधरी नहीं हैं। उपर्युक्त मंदिर अवश्य उन के घराने के अधिकार में चला आ रहा है। किंतु केवल इतनी बात से यह सिद्ध नहीं होता कि उन के कोई पूर्वपुरुष नरसिंह चौधरी नाम के थे जो तुलसीदास जी के समकालीन थे, या इतना भी कि मंदिर का नाम "नरसिंह जी महाराज का मंदिर" उन के किन्हीं पूर्वपुरुष के नाम से संबंधित होने के कारण पड़ा। एक बात अवश्य है जिस से यह ज्ञात होता है कि पंडित रंगनाथ और पंडित बाबूराम के घरानों में कुछ पूर्वकाल से संबंध चला आ रहा है। भागीरथी की गुफा में, जो मौजा बोडलपुर में है, दोनों घरानों का हिस्सा है। पंडित बाबूराम उस में चढ़े हुए द्रव्य का तीन चौथाई और पंडित रंगनाथ एक चौथाई लिया करते हैं। यह बात प्रस्तुत लेखक को उक्त गाँव के पटवारी

[1] थार्नटन: 'ए गजेटियर अव् दि टेरिटरीज कंपनी ऐंड दि नेटिव स्टेट्स अव् दि कॉन्टिनेंट अव् इंडिया' (सं० १९१५), पृ० ८११
अंडर दि गवर्नमेंट अव् दि ईस्ट इंडिया

मुंशी महावीर शकर ने भी ज्ञात हुई थी।

३६. सक्षेप में यही सोरों और उस के आस-पास में मिली हुई गोस्वामी तुलसीदास के जीवन वृत्त से सबध रखने वाली सामग्री और उस की बहिरग परीक्षा है। अब मैं उस की अतरग परीक्षा का प्रयत्न करूँगा। यह परीक्षा स्वभावत. ऐसे ही उल्लेखों तक सीमित होगी जिनकी जाँच प्रमाणित साक्ष्यों के आधार पर की जा सकती है।

सोरों में प्राप्त कुल सामग्री में गोस्वामी जी के जीवन से सबध रखने वाली तिथियाँ केवल तीन मिलती हैं : एक है विवाह तिथि, दूसरी है द्विराग मन तिथि, और तीसरी है गृहत्याग-तिथि। यह तिथियाँ हमें 'दोहा रत्नावली' के दो दोहों में मिलती हैं। ऊपर इसी प्रसग में 'दोहा रत्नावली' का परिचय देते हुए मैं ने लिखा है "इस 'दोहा रत्नावली' की विशेषता यह है कि इस में हमें वे सभी दोहे तो मिलते ही हैं जो 'रत्नावली लघु दोहा सग्रह' में मिलते हैं, साथ ही नब्बे और भी ऐसे दोहे मिलते हैं जो 'लघु दोहा सग्रह' में नहीं, हैं, और इन नब्बे दोहों मे हमें गोस्वामी जी और उन की स्त्री के जीवन से सबध रखने वाली बहुत सी ऐसी सामग्री मिलती है जा अन्यत्र नहीं मिलती।"[1] यह दोहे जिन में उपर्युक्त तिथियाँ मिलती हैं इन्हीं अतिरिक्त नब्बे मे से हैं। दोहे इस प्रकार हैं :

बैसे बारहीं कर गह्यो सोरहिं गवन कराय।
सत्ताइस सागत करी नाथ रतन असहाय॥
सागर कर रस ससि रतन संबत भो दुखदाय।
पिय वियोग जननी मरन करन न भूल्यौ जाय॥

(दोहा रत्नावली ४१, ४२)

पहले दोहे का आशय स्पष्ट है। दूसरे में 'सागर' से ७, 'कर' से २, 'रस' से ६ और 'ससि' से १ के अकों का आशय लेने पर १६२७ की तिथि निकलती है। 'सागर' का एक अन्य साकेतिक अर्थ ले कर 'दोहा रत्नावली' के सपादक तथा भद्रदत्त जी वैद्यभूषण ने[2] दोहे से १६२४ की तिथि निकाली है, किंतु साधारणत. प्रदीत और बहुप्रचलित अर्थ को छोड कर एक अप्रचलित

[1] 'दोहा रत्नावली', विषय प्रवेश

[2] 'सनाढ्य-जीवन', तुलसी स्मृति अंक, पृ० १०

अर्थ स्वीकार किया जावे इस के लिए यथेष्ट कारण नहीं दिखाई पड़ता।

सं० १८२७ में रत्नावली सताईसवें में प्रवेश करती है, इस लिए उस का जन्म-संवत् १६०१ निकलता है। बारहवें में उस का पाणिग्रहण हुआ, इस लिए विवाह की तिथि सं० १६१२ होती है। इन पंद्रह वर्षों के समय का कोई विस्तृत परिचय हमें 'दोहा रत्नावली' में तो नहीं मिलता, पर मुरलीधर चतुर्वेदी कृत 'रत्नावली' में अवश्य मिलता है। उस को सुविधा के लिए नीचे अविकल उद्धृत किया जाता है :

कीन जथाविधि विधि बिबाह। दीनबंधु भरि उर उछाह।
तुलसी कर में सह बिगान। रत्नावलि को दयो दान।
रतनावलि गई तुलसि गेह। तासु बढ्यो पति पदनु नेह।
रतनावलि सों भार पाइ। तुलसी घर सुख गयो छाइ।
पितामही बहु दुख उठाइ। पोसे तुलसी कर लगाइ।
दंपति सेवा सो सिहाइ। सुरग गई कछु दिन बिताइ।
नंददास अरु चंदहास। रहहिं रामपुर मातु पास।
दंपति बसि बाराह धाम। लहत मोद आठोहु याम।
कबहुँ करत बिद्या बिनोद। लहत सबद चातुरि प्रमोद।
सध्या बंदन आदि कर्म। करत सकल नित गृही धर्म।
रखत राममूरति सुगेह। उभय सधि पूजति स नेह।
बात बात श्री राम राम। तुलसी मुख लागइ ललाम।
भक्तनु घर बाँचहिं पुरान। तुलसी लहहिं धन और मान।
रत्नावलि तिहि चख चकोरि। मधुर बचन बोलत निहोरि।
कबहुँ न अप्रिय कहति बात। कबहुँ न सो पति सो रिसाति।
मींजति निज पति पाँय पीठि। नितहि न्हवावति प्रेम दीठि।
पति बियोग नहि छिन सहात। जाति कबहुँ सुख उतरि जात।
करति सोइ जो पतिहि चाह। पति सेवा मन अति उछाह।
कबहुँ जातहु पति खिझाइ। पाइँनि परि लेत हि मनाइ।
जो मन सोई बचन कर्म। पतिहि लुकावति कछु न मर्म।
तारापति नामक सपूत। भयो तासु बुधि बल अकूत।
गयो दैवगति सुरगधाम। बिलपति रतनावली याम।
भयो पुत्र को अधिक सोक। धरी धीर पतिमुख बिलोक।

तुलसीहू यहु करत प्यार। रतनावलि भइ हृदय हार।
ताहि न चाहत आँखि ओट। ओट होति हिय लगति चोट।
सिथिल परी प्रभु भजन रीति। बाढ़ी तिय में अधिक प्रीति।
ब्याह भये दस पाँच वर्ष। इक दुख तजि बीते सहर्ष।
(रत्नावली ७८ १०५)

उपर्युक्त के बाद आने वाली पंक्तियों में गृहत्याग की कथा कही गई है, इस से यह स्पष्ट है कि इन पंक्तियों में आया हुआ 'पंचदश वर्ष' का विवरण उन्हीं पंद्रह वर्षों का है जो 'दोहा रत्नावली' के अनुसार भी विवाह और गृहत्याग के बीच में पड़ते हैं। सोरों में प्राप्त शेष सामग्री से इन पंद्रह वर्षों के समय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, इस लिए उपर्युक्त विस्तार ही अभी विचार के लिए यथेष्ट होगा। स० १६१२ से लेकर स० १६२७ तक का यह विस्तार कहाँ तक प्रामाणिक है यही विचार करना है।

गोस्वामी जी के जीवन-वृत्त के लिए बहिर्साक्ष्य बहुत है, पर उस में से कितना विश्वसनीय है और कितना नहीं यह कहना अधिकतर कठिन है। यदि हम पूर्ण रूप से किसी साक्ष्य पर विश्वास कर सकते हैं तो वह है अंतर्साक्ष्य, उन की कृतियों से ही उन के जीवन पर यत्किंचित् जो प्रकाश पड़ता वह सर्वथा प्रामाणिक है। इस प्रकार के अंतर्साक्ष्य तथा विश्वस्त बहिर्साक्ष्य के आधार पर विचार करते हुए नीचे मैंने कवि की रचनाओं की तिथियाँ निर्धारित करने का जो प्रयत्न किया है[1] उस में मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि उपर्युक्त पंद्रह वर्षों के भीतर कवि ने चार ग्रंथों की रचना की होगी: 'रामलला-नहछू', 'जानकी मंगल', 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'वैराग्य संदीपिनी' की। इन चार ग्रंथों में से केवल 'वैराग्य-संदीपिनी' की प्रामाणिकता के संबंध में कुछ संदेह है[2], इस लिए प्रस्तुत प्रसंग में उस का आधार ग्रहण करना बहुत उपयुक्त न होगा, किन्तु शेष तीन रचनाओं को अवश्य ही प्रस्तुत प्रसंग में विवेचन के आधार के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। सोरों की किसी भी सामग्री में, यह ध्यान देने योग्य है, इन तीन में से किसी भी रचना का उल्लेख नहीं होता है। 'मानस' ऐसी प्रशस्त और प्रौढ़ रचना के लिए भाषा पर अधिकार प्राप्त करने और शैली में अभ्यस्त होने में कुल चार ही

[1] देखिए नीचे अध्याय ५

[2] देखिए नीचे इसी अध्याय में

वर्ष—या कदाचित् उस से भी कम ही—लगे होंगे, क्योंकि गृहत्याग की तिथि स० १६२७ कही गई है, और यह भी सोरोंपक्ष वालों के कथनानुसार एक विभाषा भाषी को, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता।

फिर 'रामाज्ञा प्रश्न' (रचना काल—स० १६२१) में भी कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो इस सामग्री की प्रामाणिकता में अविश्वास उत्पन्न करते हैं :

(क) 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना प्रह्लादघाट, काशी निवासी गंगाराम ज्योतिषी के लिए काशी में की हुई कही जाती है, और इस कथन में सत्य का यथेष्ट अंश जान पड़ता है। इन गंगाराम ज्योतिषी के उत्तराधिकारियों के पास ग्रंथ की एक ऐसी प्रति भी थी जिस पर स० १६५५ में किया हुआ कवि का हस्ताक्षर था।[1] इस के अतिरिक्त इस के पाठ में एक दोहा भी आता है, जिस में किन्हीं गंगाराम को संबोधन है —

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगा राम॥
(रामाज्ञा १ ७ ७)

और भाषा भी इस की अवधी है, अत यह अवधीप्रान्त या काशी में ही रचा गया होगा साधारणत ऐसा अनुमान किया जा सकता है। काशी निवास या काशी-यात्रा तक का कोई उल्लेख सोरों में प्राप्त स० १६२७ तक की जीवन सामग्री में नहीं होता। हाँ, यदि हम इस बात पर विश्वास न करें कि यह गंगाराम काशी के ही गंगाराम थे, अथवा इस पर कि कवि ने काशी आ कर ही 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना की, और यह कल्पना करें कि यह गंगाराम काशी के गंगाराम से भिन्न कोई व्यक्ति थे, अथवा यह कि काशी के गंगाराम ही सोरों पहुँच सकते थे और उन को वहाँ संबोधन किया जा सकता था, तो बात दूसरी है। पर, इन दूसरे गंगाराम के होने का, या काशी के गंगाराम के सोरों पहुँचने का भी कोई उल्लेख उपर्युक्त सोरों की सामग्री में नहीं होता।

(ख) चित्रकूट के संबंध में जो उल्लेख पुस्तक में आते हैं, वह भी कम ध्यान देने योग्य नहीं हैं। उन में से कुछ निम्नलिखित हैं :

[1] देखिए नीचे अध्याय ४

पय पावनि बन भूमि भलि सैल सुहावनि पीठि।
रागिहि सीठि बिसेषि, थल बिषय बिरागिहि मीठि ॥

(रामाज्ञा २ ६ १)

सगुन सकल संकट समन चित्रकूट चलि जाहु।
सीता राम प्रसाद सुभ लघु साधन बड़ लाहु ॥

(रामाज्ञा २ ६ ६)

पय नहाइ फल खाइ जपु राम नाम षट मास।
सगुन सुमंगल सिद्धि सबु करतल तुलसीदास ॥

(रामाज्ञा ७-४ ७)

बार-बार चित्रकूट सेवन के इस आग्रह से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कवि इन दोहों की रचना के पूर्व कई बार चित्रकूट गया होगा, और कम से कम एक बार छः मास तक वहाँ विरक्त भाव से रह कर, फलाहार व्रत के साथ नियम-पूर्वक राम नाम का उस ने जप भी किया होगा। हमारा कवि ऐसे लोगों में से नहीं था जो स्वतः बिना किसी व्रत का पालन किए दूसरों को उस के पालन का उपदेश देते फिरते हैं। पर गृहत्याग से पूर्व किसी भी एसी यात्रा का उल्लेख सोरों वाली सामग्री में नहीं होता। इस के विपरीत स० १६१२ से स० १६२७ तक निरंतर किस प्रकार हमारा कवि विषयोन्मुख होता है, इस विषय में ऊपर के उद्धरण में आई हुई निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं:

दंपति बसि बाराह धाम। लहत मोद आठेहु याम।
भक्तनु घर बाचहिं पुरान। तुलसी लहहिं धन और मान।
तुलसी हू बहु करत प्यार। रतनावलि भइ हृदय हार।
ताहि न चाहत ओखि ओट। ओट होति हिय लगति चोट।
सिथिल परी प्रभु भजन रीति। बाढ़ी तिय में अधिक प्रीति।

यह सब भी अपनी चरम सीमा पर तब पहुँचता है जब कवि 'नारि प्रेम मद-विभोर' हो कर और समय का ज्ञान खो कर[1], अर्धरात्रि के समय[2] वर्षा की भयानक गंगा को पार कर ससुराल पहुँचता है[3], और स्त्री का उस से इस प्रकार प्रश्नोत्तर होता है:

[1] 'रत्नावली' ११२
[2] वही ११३
[3] वही ११४

बूझी किमि श्राए अबेरि। गर जत घन गाढ़ी घँघेरि।
कैसे उतरे गंगधार। मेरे जिय अचरज अपार।
इमि सुनि बोले तुलसिदास। तुमहिं मिलन उर अति हुलास।
तुम बिन परत न मोहिं चैन। भई साँति तुव लखत नैन।
तुव सुप्रेम में गंग धार। सुमुखि सहज ही भयो पार।
(रत्नावली १२१-१

यह है सं० १६१२ से लेकर सं० १६२७ तक का गोस्वामी जी जीवन, जिसका परिचय सोरों की सामग्री में मिलता है। दूसरी ओर 'राम प्रश्न' के अध्ययन से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि उसकी रचना- (सं० १६२१) के पूर्व ही उन्हों ने अपने जीवन की धारा बदल दी अंतर्साक्ष्य के प्रामाणिक तथ्यों से भी सोरों की सामग्री का विरोध इस प्र स्पष्ट है। संक्षेप में सोरों की सामग्री की यही अंतरंग परीक्षा है।

जन-श्रुतियाँ

कवि के जीवन-वृत्त से संबंध रखने वाली सामग्री का विवेचन स करने के पूर्व तत्संबंधी जन-श्रुतियों पर भी विचार किया जा सकता है। ह कवि के जीवन-वृत्त से संबंध रखती हुई जन-श्रुतियाँ अनेक मिलती हैं, अधिकतर उन में से ऐसी हैं जो हमारे कवि के जीवन पर कोई महत्व प्रकाश नहीं डालतीं, और पूर्व के अध्ययन-कर्त्ताओं ने उन पर यथेष्ट वि भी किया है[१], इस लिए उन के संबंध में पुनर्विचार की आवश्यकता है। फिर भी, एक जन-श्रुति ऐसी है जो उन सब की अपेक्षा अधिक म पूर्ण है और उस पर यह आश्चर्य है कि अभी तक किसी विद्वान् ने वि नहीं किया है : वह है बाँदा ज़िले के गज़ेटियर में सुरक्षित राजापुर क़स्बे उत्पत्ति की कथा, जिस में तुलसीदास-संबंधी कुछ उल्लेख भी हैं। आ आगे चलकर सम्यक्‌रीत्या उस को उद्धृत किया गया है, इस लिए उस वास्तविक मूल्य पर ही विचार करना यहाँ यथेष्ट होगा।

उक्त गज़ेटियर के दो संस्करण हैं : प्रस्तुत संस्करण सं० १९६६ पूर्व का सं० १९३१ में प्रकाशित है। प्रस्तुत संस्करण के संपादक श्री डी० ए

[१] देखिए ऊपर अध्याय १

ड्रेक ब्रॉकमैन दोनों संस्करणों के लिखित आधारों के संबंध में लिखते हुए भूमि
में कहते हैं : "एक सामान्य और संक्षिप्त वृत्त—अधिकतर ऐतिहासिक
का—संपूर्ण जनक्षेत्रों का तैयार किया जा चुका था, और ऐसी गणनात
सूचनाएँ प्रत्येक ज़िले की अलग-अलग तैयार की जा चुकी थीं जिन में
की कथाएँ भी थीं। इस ज़िले के संबंध की विज्ञप्तियाँ थोड़ी ही थीं—यद्यपि
ज़िलों की तुलना में यह भी अधिक थीं—और यह थी एम्० पी० एजवर्थ, कले
बाँदा की सन् १८४८ (सं० १६०५) की लिखी पुस्तिका और श्री एफ़० फि
सी० एस० द्वारा दी हुई सूचनाओं के आधार पर लिखी गई थीं।" और,
१६३१ में प्रकाशित संस्करण के संपादक श्री ऐटकिंसन ने उक्त संस्करण
भूमिका में श्री एफ़० फिशर के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश इस लिए किया है
उन्होंने "बाँदा संबंधी अंशों को तैयार करने में विशेष रुचि प्रदर्शित की है
मौखिक आधार के संबंध में सं० १६३१ में प्रकाशित संस्करण में दी
प्रश्नावली देखना ही पर्याप्त होगा, जो स्थानीय जन-श्रुतियों के संग्रह के सं
में सहायकों को दी गई थी। उसका एक ज्ञातव्य[1] इस प्रकार का है : "यह
आशा की जाती है कि स्थानीय सूचना-संग्रहकार इस से कुछ अधिक करेंगे कि
स्थानीय जन-श्रुतियों का संग्रह करें। मुद्रित पुस्तकों से इस से अधिक सहाय
लेने की आवश्यकता उन्हें न पड़ेगी कि उनका उल्लेख मात्र कर दिया जा
और इसी प्रकार इतिहास के सामान्य ग्रंथों को भी उन्हें देखने की आवश्यक
न होगी। जो वाछित है वह यह है कि वे उसी का संग्रह करें जो उन्हें ज
साधारण से प्राप्त हो सके। विशेष महत्व के स्थानों तथा व्यक्तियों, अ
समस्त मठों, दरगाहों, मक़बरों आदि की प्रशस्तियों तथा लेखों की सूचन
और उन से संबंध रखने वाली किंवदंतियाँ बहुत लाभदायक होंगी।
अलिखित इतिहास प्रत्येक ज़िले का एकत्रित करने की आवश्यकता है जो ज
साधारण की मौखिक कथाओं में प्राप्त है।" श्री एजवर्थ की पुस्तिका अप्र
है। प्रयत्न करने पर भी उसका पता मुझे न चल सका। यदि वह मिल जाती
यह कहा जा सकता था कि गज़ेटियर की सूचना का कौन सा अंश उस से लि
गया है और शेष कितना दूसरे प्रकार प्राप्त है- और उसी दशा में हम यह
कह सकते कि उक्त सूचना का कितना अंश सं० १६०५—लगभग १०० व

[1] ज्ञातव्य १२

पूर्व—का है और कितना सं० १६३१ का, और फिर कितना सं० १६६६ का। अभाव में हम अधिक से अधिक इतना ही कर सकते हैं कि उस सूचना में यह देख लें कि कितना अंश उस का सं० १६३१ के संस्करण में भी है और कितना सं० १६६६ में नया बढाया गया है, और इसी आधार पर प्रत्येक अंश को उपयुक्त महत्व दें। आगे जहाँ पर इस सूचना का उल्लेख किया गया है इस बात को ध्यान में रखते हुए इसी लिए दोनों अंशों को एक दूसरे से अलग रखने का प्रयत्न किया गया है।

कवि की कृतियाँ

४१. प्रस्तुत प्रसंग में विचार की सुविधा के लिए कवि की कृतियों को[1] हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :

(अ) वह रचनाएँ जो साधारणतः कविकृत मानी जाती हैं, तथा

(आ) अन्य रचनाएँ।

प्रथम श्रेणी की रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(१) रामलला नहछू (२) वैराग्य संदीपिनी (३) रामाज्ञा प्रश्न
(४) जानकी मंगल (५) रामचरित मानस (६) सतसई
(७) पार्वतीमंगल (८) गीतावली (९) कृष्ण-गीतावली
(१०) विनय पत्रिका (११) बरवा (१२) दोहावली
(१३) कवितावली तथा बाहुक

द्वितीय श्रेणी में निम्नलिखित रचनाएँ आती हैं :

(१) अंकावली (२) बजरंग बाण (३) बजरंग साठिका
(४) भरत मिलाप (५) विजय दोहावली (६) बृहस्पति कांड
(७) छंदावली रामायण (८) छप्पय रामायण (९) धर्मराय की गीता
(१०) ध्रुव प्रश्नावली (११) गीता भाषा (१२) हनुमान स्तोत्र
(१३) हनुमान चालिसा (१४) हनुमान पंचक (१५) ज्ञान-दीपिका
(१६) पदबंद रामायण (१७) राम मुक्तावली (१८) रस भूषण
(१९) साखी तुलसीदास जी की (२०) संकट मोचन (२१) संतभक्त उपदेश
(२२) तुलसीदास जी की बानी (२३) सूर्य पुराण (२४) उपदेश दोहा

[1] इस प्रसंग में केवल उन्हीं कृतियों का उल्लेख किया गया है जिन की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं, शेष का उल्लेख नहीं किया गया है

इन दोनों ही 'श्रेणियों के ग्रंथों की प्रामाणिकता के संबंध में हम निम्नांकित तीन बातों के आधार पर विचार कर सकते हैं :

(क) ग्रंथों की प्राप्त प्रतियों के आधार पर,

(ख) उन की शैली के आधार पर, तथा

(ग) अन्य बातों के आधार पर।

४२. 'रामाज्ञा प्रश्न', 'जानकी मंगल', 'रामचरित मानस', 'गीतावली' तथा 'विनय पत्रिका' की प्रतियाँ कवि के जीवन-काल की ही प्राप्त हैं,[१] इन ग्रंथों की शैली भी मूलतः एक ही है,[२] और कोई बात भी ऐसी नहीं है जो इन की प्रामाणिकता के संबंध में संदेहजनक हो, इस लिए कदाचित् इस विषय में संदेह नहीं किया जा सकता कि यह ग्रंथ हमारे कवि की ही रचनाएँ हैं। 'रामाज्ञा-प्रश्न' के संबंध में जो संदेह किया जाता है वह मुख्यतः दो कारणों से किया जाता है : एक तो इस की शैली शिथिल है, और दूसरे इस की कथा में परशुराम-राम-मिलन जनकपुर से लौटते हुए मार्ग में होता है।[३] पहली शंका के उत्तर में यह बतलाया जा सकता है कि 'रामाज्ञा-प्रश्न' कवि की प्राथमिक कृतियों में से है : इस की रचना 'मानस' से दस साल पूर्व हुई थी;[४] फलतः शैली में शिथिलता का होना स्वाभाविक है, यद्यपि यह शैथिल्य भी बहुत नगण्य कोटि का है। दूसरी शंका के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उल्लिखित कथा-भेद 'जानकी मंगल'[५] तथा 'गीतावली'[६] में भी पाया जाता है, जिन की प्रामाणिकता प्रमाणित है। फलतः इन कारणों के आधार पर 'रामाज्ञा-प्रश्न' की प्रामाणिकता के संबंध में संदेह नहीं किया जा सकता।

'रामलला नहछू' की प्रामाणिकता के विषय में जो संदेह किया जाता है, वह अधिकतर उस के उत्तान श्रृंगार वाले उस अंश के आधार पर किया जाता है, जिसमें कवि के उपास्य के पिता निम्न कुल की स्त्रियों के रूप-यौवन पर मुग्ध दिखाए गए हैं,[७] किन्तु एक प्राचीन प्रति में वह अंश नहीं है[८]—और यह असंभव नहीं कि वह प्रक्षिप्त हो—इस लिए केवल उसी के आधार पर 'राम-

[१] देखिए नीचे अध्याय ४

[२] देखिए नीचे अध्याय ६

[३] मिश्रबंधु : 'हिंदी नवरत्न' पृ० ८२, ६६

[४] देखिए नीचे अध्याय ५

[५] जा० मं० १६६, २००

[६] गीता०, उत्तर० ३८

[७] मिश्रबंधु : 'हिंदी नवरत्न' पृ० ८२, ६६

[८] देखिए नीचे अध्याय ४

लला नहछू' को कवि की कृतियों में स्थान न देना ठीक न होगा, क्योंकि शेष त्रुटियों का समाधान उस दशा में सरलता से हो सकता है जब कि कृति को कवि की प्रारंभिक रचनाओं में स्थान दिया जावे।[1] इस लिए 'रामलला नहछू' को भी हम कवि की प्रमाणित रचनाओं में स्थान दे सकते हैं।

४४. 'कृष्ण-गीतावली', 'बरवा', 'दोहावली' तथा 'कवितावली' ('हनुमान बाहुक' सहित) की भी बहुत प्राचीन प्रतियाँ—कम से कम दो शताब्दी से अधिक प्राचीन—प्राप्त हैं।[2] इन ग्रंथों की शैली भी प्रमुख रूप से वही है जो ऊपर कवि कृत माने हुए ग्रंथों की है।[3] केवल अंतिम तीन के संबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि प्राप्त प्रतियों में परस्पर पाठ-विषयक कुछ अंतर मिलता है[4], इस लिए यह असंभव नहीं कि इन के कुछ अंश कवि की रचनाएँ न हों। कदाचित् यही कारण है कि कभी-कभी विद्वानों ने इन की प्रामाणिकता के संबंध में संदेह प्रकट किया है। 'बरवा' के संबंध में यह संदेह मुख्यतः उस के प्रारंभ के अनेक शृंगारपूर्ण छंदों के कारण किया गया है।[5] किन्तु यह असंभव नहीं कि केवल वही छंद अप्रामाणिक हों जिन में यह त्रुटि है; कम से कम एक प्रति अवश्य इस प्रकार की मिलती है, और अभी तक वह सब से प्राचीन भी है, जिस में वे छंद नहीं मिलते।[6] दूसरी ओर 'बरवा' में बहुत सा अंश ऐसा है जिसे निस्संदेह तुलसीदास का ही होना चाहिए : कम से कम उत्तर कांड के जो बरवे हैं वे अवश्य तुलसीदास के ही हैं, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है, और वे उस प्राचीनतम प्रति में भी पाए जाते हैं।[7] इसी प्रकार बहुधा यह प्रवाद उठा है कि 'दोहावली' तथा 'सतसई' में से एक ही हमारे कवि की कृति होनी चाहिए। 'सतसई' के संबंध में जो संदेहजनक बातें हैं उन का उल्लेख हम आगे करेंगे; 'दोहावली' के संबंध में जो शंका की जाती है उस के संबंध में यह विचार करना है। 'दोहावली' की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उन में परस्पर पाठ संबंधी अंतर स्पष्ट है। यदि सावधानी से ग्रंथ का संपादन किया जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं कि प्रस्तुत 'दोहावली' के कतिपय अंश प्रक्षिप्त प्रमाणित हों। इस

[1] देखिए नीचे अध्याय ५
[2] देखिए नीचे अध्याय ४
[3] देखिए नीचे अध्याय ६
[4] देखिए नीचे अध्याय ४
[5] मिश्रबंधु : 'हिंदी नवरत्न' पृ० ८२, ९९
[6] देखिए नीचे अध्याय ४
[7] वही

प्रकार 'कवितावली' के भी संबंध में संदेह किया जाता है। यह कहा जाता है कि उस में कुछ छंद भंग कवि के भी संगृहीत हो गए हैं,[१] और शिवसिंह सेंगर ने 'सरोज' में 'कवितावली' के ऐसे कुछ छंदों को[२] भंग कवि के उदाहरण में दिया भी है।[३] किंतु, इस संदेह के मूल में भी पाठ-निर्धारण की समस्या है। 'कवितावली' की प्रतियों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होता है कि उनमें पाठ-भेद बहुत है, इस लिए यदि सावधानी से ग्रंथ का संपादन किया जाय तो असंभव नहीं कि कुछ छंद प्रस्तुत 'कवितावली' के संस्करण में ऐसे भी मिलें जो कवि के न हों, और केवल प्रमादवश उस की कृति में सम्मिलित कर लिए गए हों। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि इन ग्रंथों का ठीक ढंग से संपादन किया जाय, और तभी अंतिम निर्णय हो सकता है। फिर भी, इन सब में अधिकांश हमारे कवि का ही है, यह अभी भी दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है। इन की वस्तु, इन की शैली, और इन की विचारधारा कदाचित् कुछ ही स्थलों पर इस प्रकार की मिलेगी जो तुलसीदास की न हो।

४५. उपर्युक्त प्रथम श्रेणी के तेरह ग्रंथों में से अब 'वैराग्यसंदीपिनी', 'सतसई' और 'पार्वती.मंगल' शेष हैं। इन तीन की बहुत प्राचीन प्रतियाँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं।[४] 'वैराग्यसंदीपिनी' की तो शैली,[५] विचार-धारा[६] और छंद-योजना,[७] सभी ऐसे हैं कि तुलसीदास की रचना वह जान ही नहीं पड़ती। और 'सतसई' के उस अंश की शैली तथा विचार-धारा के संबंध में भी जो 'दोहावली' में नहीं मिलता[८] यही बात कही जा सकती है; उदाहरण के लिए निम्नांकित दोहे लिए जा सकते हैं, और यह दोहे हस्तिकूट के नहीं हैं:

[१] शिवनंदनसहाय : 'श्री गोस्वामी तुलसीदास जी', पृ० ३१४

[२] कविता० उत्तर० १३३

[३] शि० सि० स०, पृ० २३२

[४] देखिए नीचे अध्याय ४

[५] देखिए नीचे अध्याय ६

[६] मिश्रबंधु : 'हिंदी नवरत्न', पृ० ८२, ९९

[७] छंदों का क्रम इस प्रकार है : ३ दोहे–१ सोरठा–४दोहे–२ अर्धालियाँ–४ दोहे–२ अर्धालियाँ–७ दोहे–२ अर्धालियाँ–५ दोहे–२ अर्धालियाँ–५ दोहे–१ सोरठा–५दोहे–४ अर्धालियाँ–३ दोहे –६ अर्धालियाँ –१ दोहा–२ अर्धालियाँ–१ दोहा–४अर्धालियाँ–४ दोहे–२ अर्धालियाँ–२ दोहे–२ अर्धालियाँ–२ दो:

[८] देखिए इं० ऐं० सन् १८९३, पृ० १२४–१२७

जहाँ रहत बरतन तहाँ तुलसी निग्य स्वरूप ।
भूत र भावी ताहि कर अतिसय अमल अनूप ॥
स्वास समीर प्रतच्छ श्रम स्वच्छाऽऽदर्स लखात ।
तुलसी रामप्रसाद बिन अविगत जानि न जात ॥
तुलसी सुख रति जात है जुगल न अचल उपाधि ।
यह गति तेहि लखि परत जेहि भई सुमति सुठि साधि ॥
करता कारन काल के जोग करम मत जान ।
पुन काल करता दुरत कारन रहत प्रमान ॥
(सत० सर्ग ५, दो० ९६-९९)

फिर, जिस दोहे में ग्रंथ का रचना काल दिया हुआ है वह प्रक्षिप्त है, क्यों कि जिस प्रणाली पर गणना करने पर कवि की और तिथियाँ शुद्ध उतरती हैं उस प्रणाली पर उस दोहे में दी हुई तिथि ठीक नहीं उतरती।[1] इस लिए 'सतसई' की प्रामाणिकता के संबंध में जो संदेह किया जाता है वह तर्कसंगत जान पड़ता है। यह दूसरी बात है कि कुछ अंश उस में हमारे कवि का भी हो। 'पार्वती मंगल' की समस्या इन ग्रंथों से भिन्न है। यद्यपि कोई बहुत प्राचीन प्रति उस ग्रंथ की हमें इस समय उपलब्ध नहीं है, फिर भी उस के विरुद्ध कोई ऐसी बात नहीं है जिस से उस की प्रामाणिकता पर संदेह किया जा सके, और ग्रंथ के प्रारंभ में जो उस की रचना तिथि दी हुई है वह भी गणना से शुद्ध उतरती है,[2] इस लिए उसे भी गोस्वामी जी की ग्रंथावली में स्थान मिलना ही चाहिए।

फलतः प्रथम श्रेणी के तेरह ग्रंथों में से 'वैराग्य-संदीपिनी' तथा 'सतसई' को छोड़ कर शेष ग्यारह प्रामाणिक जान पड़ते हैं, यह बात भिन्न है कि यदि विचारपूर्वक इन ग्रंथों का संपादन किया जावे तो कदाचित् कतिपय अंश इन प्रामाणिक रचनाओं में भी अप्रामाणिक और अप्रामाणिक रचनाओं में भी प्रामाणिक ठहरें। किन्तु, जब तक यथेष्ट रीति से समस्त ग्रंथों का संपादन नहीं हो जाता इतना भी कहना ठीक न होगा।

४६. द्वितीय श्रेणी के जो ग्रंथ हैं, उन के संबंध में कई कठिनाइयाँ हैं। कुछ तो अभी तक अप्रकाशित हैं, और शेष जो प्रकाशित भी हैं

[1] देखिए नीचे अध्याय ५ [2] वही

उन के प्रामाणिक पाठ नहीं मिलते। हस्तलिखित प्रतियों को उन के स्वामियों से प्राप्त करना कितना कठिन कार्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं; और यदि वह प्राप्त भी हो तो ग्रंथों के संपादन की समस्या है, जो प्रस्तुत विवेचन से भिन्न ही एक कार्य है। इस लिए अभी हम इतना ही कर सकते हैं कि खोज-विवरणों का आश्रय लें। किन्तु उन में भी कभी-कभी उद्धरण बिलकुल देते नहीं। इस लिए यह लगभग असंभव ही है कि हम इन ग्रंथों का पर्याप्त अध्ययन कर सकें। फिर भी यथासाध्य इन पर विचार करना ही होगा।

४७. यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ तक प्रतियों के समय का संबंध है इन में से किसी भी ग्रंथ की प्रति कवि के जीवन-काल की नहीं मिलती, और कदाचित् एक प्रति को छोड़ कर कोई ऐसी भी प्रति प्राप्त नहीं है जो कम से कम दो सौ वर्ष भी पुरानी हो। वह अकेली प्रति जो इस प्रकार प्राचीन कही जा सकती है 'राम मुक्तावली' की है, और सं० १६८६—अर्थात् कवि के देहावसान के केवल नौ वर्ष बाद—की है। वह काशिराज के पुस्तकालय में है। प्रस्तुत लेखक ने उसे देखा है। कृति निर्गुण ब्रह्म के निरूपण से प्रारंभ होती है और फिर सगुण ब्रह्म का निरूपण करती है। इसमें राममंत्र के ं की जो विधि बताई गई है वह बड़ी विचित्र है। नीचे रचना के मध्य से कु अंश उद्धृत किया जाता है, जिस से उस की शैली, विचार-धारा तथा छं योजना का परिचय प्राप्त हो जायगा :

> मंत्रक बिधि पहले नर कही है। आसन भेद मन चारु चित घरी है।
> यहि ते आसन कहेउ जे भेदा। तब नीगुर कै साध बिभेदा।
> तीनि माहि सो गृह उतारी है। नी मूँठ हाथ लै पाव पखारी है।
> सत्रह कुलाफे की सो बारी है। बिष्नु बिष्नु कै सुमिरन करी है।
> बैठत तीनि आचमन पच्छिम दिसा करंत।
> रामहि कहि बेदी पर आसर तीनि... ॥

ऊपर के उद्धरण में पाठ-प्रमाद स्पष्ट है, और संभव है कि इसी कारण उ का अर्थ समझना सरल न हो, फिर भी विचार-धारा तुलसीदास की नहीं यह समझना सरल ही है। शैली और छंद-योजना भी स्पष्ट ही हमारे क की नहीं हैं। इस लिए यह रचना हमारे कवि की नहीं ज्ञात होती।

४८. द्वितीय श्रेणी की रचनाओं में से एक ही रचना ऐसी है जि पर रचना-काल के कारण विचार करना आवश्यक होगा : यह है 'ज्ञान

दीपिका'। उस में रचना-काल सं० १६३१, आषाढ़ शुक्र २, गुरुवार दिया हुआ है। पर, किसी भी प्रकार से गणना करने पर दिन गुरुवार नहीं आता।[१] और रचना-काल के अनुसार शैली, तथा विचार-धारा इस की वही होनी चाहिए थी जो 'मानस' की है, किंतु यहाँ भी साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। नीचे कृति से एक अंश उद्धृत किया जाता है[२] :

संबत सोरा से गए इकतिस अधिक विचार।
सुकल पच्छ आषाढ़ की दोज पुष्य गुरवार॥
ता दिन उपजी दीपिका पाँच जोत परवान।
धर्म ज्ञान यह ब्रह्म पुनि परम सरूप बिकान॥

* * *

मीत बंधु कुल देस जप तप बिद्या बेद बिधि।
रहै न इनको लेस नारि जो मुखहि लगाइए॥
प्रीति हिये दृढ़ जान बिधिना ताके कर गहै।
जितहि टिकावत आनि तितहि बसै मन कामना॥

इस लिए यह स्पष्ट है कि इस कृति को भी हम गोस्वामी जी की कृति के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते।

४६. फलतः तुलसीदास के अध्ययन के लिए उपलब्ध समस्त सामग्री के इस विवेचन को समाप्त करते हुए हम उस के संबंध में संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं : जो सामग्री हमें कवि के जीवन-वृत्तों के रूप में प्राप्त है वह प्रायः ऐसी है कि उसका आधार बिलकुल नहीं ग्रहण किया जा सकता; शेष जीवन-सामग्री यद्यपि कई कोटि की है, और उस का महत्व-भेद बहुत स्पष्ट है, फिर भी पिछले की अपेक्षा वह अधिक उपयोगी और अनेक अंशों में अधिक प्रामाणिक है, कवि की कृतियों की जो सूची प्राप्त है वह अधिकतर ऐसी रचनाओं की है जो हमारे कवि की कृतियाँ नहीं जान पड़तीं, किंतु ग्यारह ग्रंथ उस में निस्सन्देह ऐसे हैं जो हमारे ही कवि की रचनाएँ हैं, और उन्हीं से हमको सब से अधिक प्रामाणिक सामग्री हमारे अध्ययन के लिए प्राप्त हो सकती है।

---

[१] देखिए परिशिष्ट अ

[२] हिं० खो० रि० (सन् १९०६-०८), नो० ३३५ ब

जीवन-वृत्त

१. ऊपर हम ने उस सामग्री की समीक्षा की है जो कवि के जीवन-वृत्त के लिए आधारभूत हो कर हमारे सम्मुख आती है। नीचे हम केवल उसी सामग्री के आधार पर कवि के जीवन-वृत्त का पुनर्निर्माण करने का यत्न करेंगे जो किसी हद तक प्रामाणिक और विश्वसनीय मानी जा सकती है। इस संबंध में हम यहाँ कदाचित् एक अपवाद स्वीकार कर सकते हैं—यह है सोरों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ कवि का जीवन-वृत्त।

सोरों द्वारा प्रस्तुत जीवन-वृत्त

सोरों की सामग्री से हमारे कवि के वैराग्य-पूर्व जीवन की जो कथा मिलती है वह इस प्रकार है :

२. रामपुर नामक ग्राम में, जो सूकरखेत (सोरों) का निकटवर्ती था, सनाढ्य शुक्लों का एक परिवार निवास करता था।[1] इस के प्रधान पूर्वपुरुष नारायण शुक्ल थे।[2] इन नारायण शुक्ल के चार पुत्र हुए, जिन के नाम श्रीधर शेषधर, सनक तथा सनातन थे।[3] सनातन के पुत्र परमानंद हुए,[4] और परमानद के दो पुत्र आत्माराम और जीवाराम हुए।[5] इन्हीं आत्माराम के पुत्र तुलसीदास हुए,[6] जिन्हों ने 'रामचरित मानस' की रचना की।[7] और जीवाराम के दो पुत्र हुए : एक नंददास,[8] जिन्हों ने वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित

हो कर श्रीमद्भागवत (-भाषा ?) तथा रास (-पंचाध्यायी ?) की रचना की,[१] और दूसरे चंद्रहास।[२]

३ तुलसीदास तथा नंददास उस समय सोरों में नृसिंह चौधरी की पाठशाला में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे,[३] जो चक्रतीर्थ के समीप स्थापित थी,[४] जब हमारे कवि के व्याह की बात तै हुई।[५] नृसिंह स्मार्त वैष्णव थे।[६] इस समय तक तुलसीदास के माता पिता का देहावसान हो चुका था।[७] और घर में केवल एक वृद्धा दादी रह गई थी।[८] यह लोग अब (सोरों में) योगमार्ग के समीप रहा करते थे।[९] तुलसीदास का एक नाम रामबोला भी था, जो उन्हें इस कारण प्राप्त था कि वह बहुधा राम नाम का उच्चारण किया करते थे।[१०]

४ तुलसीदास का विवाह रत्नावली से होना निश्चित हुआ, जो दीनबंधु पाठक की कन्या थी।[११] यह दीनबंधु बदरिया नामक ग्राम के निवासी थे।[१२] विवाह सकुशल सम्पन्न हुआ।[१३] विवाह के समय रत्नावली की अवस्था लगभग बारह वर्ष की थी।[१४] गौना चार साल बाद हुआ, जब वह सोलह वर्ष की थी।[१५] तुलसीदास का दांपत्य-जीवन बड़ा सुखमय था।[१६] उन की वृद्धा दादी इस विवाह के कुछ ही वर्ष बाद चल बसी।[१७] वह पुराणादि की कथाएँ बाँच कर जीविकोपार्जन किया करते थे।[१८] इस विवाहित जीवन में तारापति नामक एक पुत्र उन्हें प्राप्त हुआ, किंतु अत्यंत अल्पावस्था में ही वह काल कवलित हो गया।[१९]

५. यह सुखमय विवाहित-जीवन पंद्रह वर्ष तक चलता रहा, और इस दीर्घ काल में एक पुत्र-हानि के अतिरिक्त दूसरी दुःखमय घटना उपस्थित न हुई।[१] अब रत्नावली का सत्ताईसवाँ साल था,[२] और संवत् भी १६२७ था,[३] (जिस से ज्ञात होता है कि उस का जन्म सं० १६०१ में हुआ था) जब उसे अपने पति से सदा के लिए वियुक्त होना पड़ा। रत्नावली पति से आज्ञा प्राप्त कर अपने भाई के घर राखी बाँधने गई हुई थी,[४] और तुलसीदास भी नवाह्निक कथा-वाचन के लिए बाहर चले गये थे।[५] ग्यारह दिन के बाद घर लौटने पर हमारे कवि ने देखा कि उस की प्रियतमा अभी तक भाई के घर से लौटी नहीं। स्त्री की अनुपस्थिति से वह इतना बेचैन हुआ कि घर पर रुक नहीं सका, और स्त्री से मिलने की आतुरता में वह चल पड़ा।[६] अर्धरात्रि का समय था, आकाश में बादल छाए हुए थे, पर हमारा कवि इन से तनिक भी विचलित न हुआ; और उस ने उस बढ़ी हुई नदी को तैर कर पार किया जो सोरों और बदरिया के बीच में बहती है, और वह अपनी ससुराल जा पहुँचा।[७] उस का साला घर पर था; उस ने बहनोई के आने पर घर का फाटक खोल दिया और उसे अंदर बुला लिया।[८]

६. रत्नावली भाई के सो जाने पर पतिदेव के पास गई, और उन से पूछा कि किस लिए वह इतनी रात्रि को वहाँ आये। हमारे कवि ने उस से कहा कि यह उस का प्रेम ही था जो उसे इस प्रकार खींच लाया है।[९] रत्नावली ने पति के इस प्रेमाधिक्य की प्रशंसा करते हुए उस दिव्य प्रेम की ओर भी संकेत किया जो जीव को भव-सागर से पार कर देता है।[१०] इस वार्तालाप से हमारे कवि का आध्यात्मिक संस्कार सजग हो उठा,[११] और जब रत्नावली सो गई वह वहाँ से चल पड़ा, और फिर उस ने उधर मुड़ कर भी नहीं देखा।[१२]

१ 'रत्नावली' १०५
२ 'दोहा रत्नावली' ४१
३ वही, ४२
४ 'रत्नावली' १०६, १०७
५ वही, १०८
६ वही, १०९–११२
७ वही, ११३–११५
८ वही, ११६–११८
९ वही, ११९–१२५
१० वही, १२६–१३२
११ वही, १३२–१३३; तथा 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' १, ४, ५
१२ 'रत्नावली' १४३–१४४

७. पतिवञ्चिता रत्नावली का जीवन अब तपस्या का था। वह जीवन के अंत तक पति के पादत्राणों की पूजा करती रही।[1] इस दीर्घकालीन विरह के जीवन में हमारे कवि ने केवल एक बार उस को याद किया, जब उस ने उस के पास अपने भतीजे के हाथ रामभक्ति का संदेश भेजा।[2] सं० १६५१ में वह इस संसार से विदा हो गई।[3]

८. संक्षेप में हमारे कवि के अंधकारपूर्ण जीवनांश की यही वह सुंदर कथा है जो सोरों में प्राप्त सामग्री हमारे सामने रखने का प्रयत्न करती है। हमें कितनी प्रसन्नता होती यदि इस संपन्न और रोचक कथा को हम बिना किसी खटके के महाकवि के जीवन-वृत्त मे स्थान दे सकते! किंतु जो वस्तु-स्थिति है वह ऊपर भली भाँति स्पष्ट की जा चुकी है।[4] इस लिए अभी हमारे लिए युक्तिसंगत कदाचित् यही होगा कि इस सामग्री के अतिरिक्त जो कुछ हमें प्राप्त है हम उसी तक संतोष करें।

जन्म-तिथि

९. यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इतनी खोज के बाद भी हमारे कवि की जन्म-तिथि के बारे में निश्चय नहीं हो पाया है। कवि की कृतियों में कोई भी ऐसा साक्ष्य नहीं है जिस की सहायता से हम किसी भी हद तक निश्चय के साथ कवि की जन्म-तिथि निर्धारित कर सकते। 'राममुक्तावली' में अवश्य एक पंक्ति आती है जिस के आधार पर स्वर्गीय जगन्मोहन वर्मा का कहना था कि कवि १२० वर्ष तक जीवित रहा, और इस लिए उस की जन्म-तिथि सं० १५६० होनी चाहिए।[5] परंतु इस लेखक ने भलीभाँति 'रामसुक्तावली' का निरीक्षण किया है। उसकी शैली, विचार-धारा तथा छंद-योजना सभी के आधार पर उस का यह विश्वास है कि वह गोस्वामी जी की कृति नहीं है।[6] फिर, जिस पंक्ति के आधार पर स्वर्गीय वर्मा जी ने यह अनुमान निकाला था वह इस प्रकार है :

पयत तलय को सन कह्यो पाँच बीस अरु बीस।

इस में "पाँच बीस अरु बीस" से कदाचित् "पैंतालिस" का आशय लेन

[1] 'रत्नावली' १५१; 'दोहा रत्नावली' ३४
[2] 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' ९९
[3] 'रत्नावली' १५९
[4] देखिए ऊपर पृ० ८०–९५
[5] 'सरस्वती' जिल्द २०, पृ० ७७
[6] देखिए ऊपर पृ० १०२

अधिक समीचीन होगा, क्यों कि अन्यथा यदि एक सौ बीस वर्ष की अवस्था की घटना का उल्लेख कवि इस पंक्ति में कर रहा है तो अवश्य ही यह पंक्ति एक सौ बीस की अवस्था के बाद लिखी गई होगी, और एक सौ बीस या उस से अधिक की अवस्था और सं० १५६० या पूर्व की जन्म-तिथि मानने में वही कठिनाइयाँ पड़ती हैं जो सं० १५५४ को कवि की जन्म-तिथि मानने में पड़ती हैं—जिन का उल्लेख आगे ही किया गया है। जन्म-तिथि संबंधी कोई समकालीन साक्ष्य भी प्राप्त नहीं है। इस लिए हम को इस संबंध में अनिवार्य रूप से केवल परंपरा-गत जन-श्रुतियों का ही आधार ग्रहण करना होगा, और वे भी एक-सी नहीं हैं कठिनाई यह है।

१०. एक जन-श्रुति का उल्लेख '<u>मानस-मयंक</u>' का लेखक करता है, जब वह कहता है कि कवि का जन्म सं० १५५४ में हुआ था।[1] यदि यह तिथि ठीक मान ली जाय, तो 'रामचरित मानस' के प्रारंभ (सं० १६३१) के समय कवि की अवस्था सतहत्तर वर्ष की, सरस्वती-भवन काशी में सुरक्षित 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकांड की प्रतिलिपि (सं० १६४१) के समय सत्तासी वर्ष की, और काशिराज के संग्रह में सुरक्षित 'पंचायतनामा' (सं० १६६९) के शीर्ष की पंक्तियों के लिखने के समय एक सौ पंद्रह वर्ष की ठहरती है। किंतु इन में से एक भी बात संभव नहीं जान पड़ती। इस लिए सं० १५५४ में कवि के जन्म की परंपरा ठीक नहीं जान पड़ती।

११. विल्सन[2]—और उन्हीं के आधार पर तासी[3]—ने लिखा है कि कवि ने 'रामचरित मानस' का प्रणयन इकतीस वर्ष की अवस्था में प्रारंभ किया। इस प्रकार कवि का जन्म-संवत् १६०० ठहरता है। यह तिथि भी ठीक नहीं ज्ञात होती, क्यों कि यह असंभव जान पड़ता है कि इस प्रकार का एक अत्यंत विद्वत्तापूर्ण और गहन ग्रंथ, जैसा 'रामचरित मानस' है, कवि ने केवल इकतीस वर्ष की अवस्था में लिखा हो, और यह भी जब कि—जैसा आगे ज्ञात

[1] "मानस मयंक", पृ० ९१; 'मूल गोसाईं-चरित' में इस तिथि का विस्तार भी दिया गया है, किंतु वह विस्तार गणना से शुद्ध नहीं उतरता (देखिए परिशिष्ट आ), इस लिए वह और भी ठीक नहीं हो सकता

[2] ए स्केच अव् दि रेलिजस सेक्ट्स अव् दि हिंदूज़' पृ० ४२

[3] 'इस्त्वार द ला लितरेत्योर इंदुई ए इंदुस्तानी' जिल्द ३, पृ० २३६

होगा—हमारे कवि के माता पिता का देहात उस की निरी बाल्यावस्था में हो गया था, और उसे उदर-पूर्ति के लिए अपने प्रारंभिक जीवन काल में काफी भटकना पड़ा था।

१२ शिवसिंह सेंगर ने लिखा है कि "यह महाराज स० १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे"।[१] बहुधा यह समझा जाता है कि हमारे कवि के संबंध में जो कुछ शिवसिंह सेंगर ने लिखा है वह उस 'गोसाईं चरित' के आधार पर लिखा है जिस का उल्लेख उन्हों ने स्वतः हमारे कवि की सूचना में किया है। पर उपर्युक्त कथन में 'लगभग' शब्द स्पष्ट ही इस कथन का निराकरण कर देता है। यदि उन्हों ने उस चरित के आधार पर यह तिथि दी होती तो इस उल्लेख में 'लगभग' की आवश्यकता न पड़ती। जिस जीवन चरित का उन्हों ने इस प्रसंग में उल्लेख किया है, उसे उन्हों ने कदाचित् देखा भी था, क्यों कि उस से उन्हों ने एक उद्धरण अन्यत्र दिया है।[२] इस लिए यह स्पष्ट है कि सेंगर महोदय ने यह तिथि या तो किसी जन-श्रुति के आधार पर दी है, या किसी अनुमान के आधार पर। फिर भी यह तिथि किसी प्रकार असंभव नहीं कही जा सकती, क्यों कि इस के संबंध में उस प्रकार की कोई कठिनाइयाँ नहीं हैं जिस प्रकार की कठिनाइयाँ उपर्युक्त अन्य दो तिथियों के संबंध में हैं।

१३ ग्रियर्सन, संभवतः जन श्रुति की अपेक्षा किसी दृढ़तर प्रमाण पर, लिखते हैं : "सब से अधिक विश्वस्त विवरणों से यह बात प्रकट होती है कि कवि का जन्म सं० १५८९ में हुआ था।"[३] किंतु इन विश्वस्त विवरणों का यथेष्ट परिचय वे नहीं देते हैं। कहा गया है कि स्वर्गीय रामगुलाम द्विवेदी भी यही जन्म तिथि मानते थे।[४]

१४ इस विचार के लिए एक महत्वपूर्ण समर्थन तुलसी साहिब, हाथरस वाले के आत्मोल्लेख में मिलता है, जब वह कहते हैं कि अपने पूर्व जन्म में, जब उन्हों ने 'रामचरित मानस' की रचना की थी, उन का जन्म "सं० १५८९, भादों सुदी ११, मंगलवार" को हुआ था।[५] यह तिथि गणना से

शुद्ध उतरती है,[1] संभवतः किसी परंपरागत साक्ष्य के आधार पर दी हुई है, और इस तिथि का मानने में कोई असंभावना भी नहीं दिखाई पड़ती, इस लिए इस तिथि को हम कवि की जन्म तिथि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

जन्म-स्थान तथा राजापुर

१५ जन्म तिथि के संबंध में जिस प्रकार का मतभेद ऊपर हम ने देखा है उस से भी अधिक मतभेद जन्म-स्थान के संबंध में है। कवि की कृतियों में कोई भी ऐसा उल्लेख अथवा अन्य प्रकार का साक्ष्य नहीं मिलता जिस से प्रश्न पर कोई निश्चित प्रकाश पड़ता हो। ऐसी दशा में हम बहिर्साक्ष्य और उस की पुष्टि में जो अंतर्साक्ष्य मिलता हो उस का ही सहारा रह जाता है। कुछ दिनों पहले तक हाजीपुर, तारी तथा राजापुर ही अलग अलग हमारे कवि के जन्म स्थान होने का दावा करते थे, इधर एक और स्थान इस संबंध में आगे आया है वह है सोरों।

१६ चित्रकूट के समीपस्थ हाजीपुर का उल्लेख पहले पहल विलसन ने किसी जन श्रुति के आधार पर किया था।[2] उस के अनंतर तासी ने विलसन के ही आधार पर उसी को उन का जन्म स्थान माना।[3] तारी का उल्लेख भी कदाचित् जन श्रुति के अतिरिक्त किसी और आधार पर नहीं किया गया है।[4] राजापुर और सोरों के पक्ष में अलग अलग जो प्रमाण दिए जाते हैं उन का निरीक्षण आवश्यक होगा।

राजापुर पक्ष के तर्कों का उल्लेख राजापुर निवासी श्री रामबहारी शुक्ल, एम० ए० ने सविस्तर किया है।[5] यथासंभव उन्हीं के शब्दों में वे इस प्रकार हैं

(१) "ठाकुर शिवसिंह सेंगर, पंडित रामगुलाम द्विवेदी और 'मानस' के अनेक प्राचीन टीकाकारों ने *इसी स्थान को गोस्वामी जी की जन्म भूमि* माना है।"

[1] देखिए परिशिष्ट ३

[2] 'ए स्केच अव् रलिजस सेक्ट्स अव् दि हिंदूज़' पृ० ४१

[3] इस्त्वार द ला लितेरत्योर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी, जिल्द ३, पृ० २३६

[4] इं० ऐं०, सन् १८९३ पृ० २६५

[5] 'वीणा', वैशाख सं० १९९५, पृ० ५४६

यहाँ पर तापस का (उपर्युक्त) अकस्मात् आ जाना और फिर वहाँ से विदा न होना किंतु भगवान के दर्शन में ध्यानमग्न हो जाना, और इसी दशा में उस को छोड़ कर कवि का अपने इस प्रौढ़तम अयोध्याकांड में एक गंभीर प्रसंग को अस्पष्ट ही रहने देना, साधारण बात नहीं। यह अंश अब तक उपलब्ध सभी प्राचीन प्रतियों में है। इस से इसे क्षेपक कहने से भी काम नहीं चल सकता। इसके समाधान के लिए टीकाकारों ने कई अनुमान किये हैं, परंतु इस का सब से संतोषप्रद यही तात्पर्य है कि उक्त तापस अलक्ष्य में स्वयं कवि (तुलसीदास) ही थे। 'विनय पत्रिका' के 'तुलसी तोसों राम सों कछु नई न जान-पहिचान।' (पद १६३) के अनुसार तुलसीदास अपने को जन्म-जन्मांतर से श्री राम का भक्त समझने के कारण यह विश्वास करते थे कि उन के जन्म-प्रदेश में हो कर जब उन के इष्टदेव गए होंगे तब वे भी अवश्य ही उन के अभिनंदनार्थ वहाँ रहे होंगे। अथवा श्री राम की कथा तो श्री गोस्वामी जी के लि सजीव थी; वे लिखते-लिखते तन्मय हो गए और अपने जन्म-प्रांत में अप प्रभु के पधारने का अवसर उपस्थित होने पर ग्रामवासियों के बीच भावना में स्वयं भी पहुँच गए, और भगवान के मिलने की-सी अनुभूति का सुख प्रा कर तन्मय हो गए।" —————

(५) "अयोध्या से यमुना जी पहुँचने तक गोस्वामी जी कहीं भी प्रकार भावावेश में नहीं आए जिस प्रकार यमुना जी के पार करने पर आ इसी प्रदेश में राजापुर है और जन्मभूमि के अनुराग से ही गोस्वामी जी ग्रामवासी स्त्री-पुरुष आदि का मार्मिक और अत्यंत प्रभावशाली वर्णन अ अलौकिक अनुभूति से इसी प्रदेश से संबंधित किया है।... 'मेघदूत' में कालिदास ने रामगिरि से अलका जाते समय मार्ग में न पड़ने पर भी मे उज्जयिनी होते जाने का अनुरोध करवा कर जैसे अपना उज्जयिनी-प्रेम शित किया है वैसे ही गोस्वामी जी के कथा-प्रसंग से युक्त इस वर्णन से प्रदेश के प्रति उन का स्वाभाविक अनुराग ही सूचित होता है। जब उ श्री राम अपने जन्म-स्थल, अयोध्या को वैकुंठ से श्रेष्ठ कह कर उ प्रति अपना प्रेम प्रकट करते हैं तब उन का स्वयं अपने जन्म-प्रदेश ने ऐसा करना नितांत उचित और स्वाभाविक है।"

"इस तरह यह सिद्ध होता है कि राजापुर में भक्त गोस्वामी जी ने लिया था।"

१८. इन तर्कों को हम एक एक कर के ले सकते हैं। पहला तर्क कतिपय लेखकों तथा टीकाकारों द्वारा किए गए जन्म स्थान संबंधी उल्लेखों के आधार पर उपस्थित किया गया है। यह लेखक तथा टीकाकार महाकवि के सम सामयिक नहीं थे, फलतः इन का कथन तभी माना जा सकता है जब वह किसी पुष्ट आधार पर किया गया हो, किंतु यह दुःख का विषय है कि इन में से कोई भी अपने आधार का उल्लेख नहीं करते। शिवसिंह सेंगर ने हमारे कवि के संबंध में लिखते हुए यह अवश्य लिखा है कि "इन के जीवन-चरित्र की एक पुस्तक बेनीमाधव दास कवि पसका ग्रामवासी ने जो इन के साथ साथ रहे बहुत विस्तारपूर्वक लिखी है"[1] किंतु, स्वतः हमारे कवि का जीवन वृत्त उपस्थित करते समय उन्हों ने कहाँ तक उस का आश्रय ग्रहण किया है यह उन्हों ने नहीं लिखा है। जन्म तिथि के संबंध में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है,[2] उन का इस प्रकार लिखना कि "यह महाराज सं० १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे" यही सूचित करता है कि उक्त वृत्त का कुछ न कुछ अंश उक्त 'चरित्र' के आधार पर नहीं है। फलतः जन्म-स्थान-संबंधी उन का उल्लेख किस आधार पर हुआ है यह अज्ञात है, और इसी लिए उसे यथेष्ट रूप से निश्चयात्मक नहीं माना जा सकता।

दूसरा तर्क संत तुलसी साहिब के कथन पर अवलंबित है। संत तुलसी साहिब की इस आत्म-कथा की जाँच हम ऊपर यथेष्ट विस्तारपूर्वक कर चुके हैं, उसे दुहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

तीसरे तर्क के आधार मुआफ़ी संबंधी काग़ज़ात हैं। कथित मुआफ़ी उक्त उपाध्याय वंश को परंपरा से प्राप्त है, और साधारणतः उस का संबंध तुलसीदास से माना जाता है, यह ठीक है। मैं स्वतः इस की जाँच कर चुका हूँ। किंतु यह काग़ज़ पत्र कैसे हैं जिन से राजापुर में गोस्वामी जी के वंश का चलना ज्ञात होता कहा गया है, यह कहना कठिन है। यह काग़ज़ात साधारणतः दिखाए नहीं जाते। मैं ने सं० १९९४ में जब राजापुर की यात्रा की थी, तब उन उपाध्याय जी से स्थान-संबंधी काग़ज़-पत्र देखने को माँगे थे। उस समय उन्हों ने उन के वर्तमान अस्तित्व से ही इन्कार कर दिया था। किंतु मुझ से उन की यह अस्वीकृति इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं हो सकती

[1] शि० सिं० स०, पृ० ४२७

[2] देखिए ऊपर पृ० ११०

यहाँ पर तापस का (उपर्युक्त) अकस्मात् आ जाना और फिर वहाँ से बिदा न होना किंतु भगवान के दर्शन में ध्यानमग्न हो जाना, और इसी दशा म उस को छोड कर कवि का अपने इस प्रौढतम अयोध्याकाड में एक गभीर प्रसग को अस्पष्ट ही रहने देना, साधारण बात नहीं । यह अश अब तक उपलब्ध सभी प्राचीन प्रतियों में है। इस से इसे क्षेपक कहने से भी काम नहीं चल सकता। इस के समाधान के लिए टीकाकारों ने कई अनुमान किये हैं, परत इन का सब से सतोषप्रद यही तात्पर्य है कि उक्त तापस अलक्ष्य में स्वय कवि (तुलसीदास) ही थे। 'विनय पत्रिका' के 'तुलसी तोसों राम सो कछु नई न जान पहिचान।' (पद १६३) के अनुसार तुलसीदास अपने का जन्म-जन्मातर से राम का भक्त समझने के कारण यह विश्वास करते थे कि उन के जन्म प्रदे में हो कर जब उन के इष्टदेव गए होंगे तब वे भी अवश्य ही उन के अभि नदनार्थ वहाँ रहे होंगे। अथवा श्री राम की कथा तो श्री गोस्वामी जी ने लि सजीव थी, वे लिखते लिखते तन्मय हो गए और अपने जन्म प्रात में अ प्रभु के पधारने का अवसर उपस्थित होने पर ग्रामवासियों के बीच भावना में स्वय भी पहुँच गए, और भगवान के मिलने की-सी अनुभूति का सुख प्र कर तन्मय हो गए।"

(५) "अयोध्या से यमुना जी पहुँचने तक गोस्वामी जी कहीं भी प्रकार भावावेश में नहीं आए जिस प्रकार यमुना जी के पार करने पर आ इसी प्रदेश में राजापुर है और जन्मभूमि के अनुराग से ही गोस्वामी ज ग्रामवासी स्त्री पुरुष आदि का मार्मिक और अत्यत प्रभावशाली वर्णन क अलौकिक अनुभूति से इसी प्रदेश से सबधित किया है। 'मेघदूत' कालिदास ने रामगिरि से अलका जाते समय मार्ग में न पड़ने पर भी मे उज्जयिनी होते जाने का अनुरोध करवा कर जैसे अपना उज्जयिनी प्रेम र्शित किया है वैसे ही गोस्वामी जी के कथा प्रसग से युक्त इस वर्णन प्रदेश के प्रति उन का स्वाभाविक अनुराग ही सूचित होता है। जब उन श्री राम अपने जन्म-स्थल, अयोध्या का वैकुंठ से श्रेष्ठ कह कर उस प्रति अपना प्रेम प्रकट करते हैं तब उन का स्वय अपने जन्म प्रदेश के प्र ऐसा करना नितात उचित और स्वाभाविक है।"

"इस तरह यह सिद्ध होता है कि राजापुर में भक्त गोस्वामी जी ने ज लिया था।"

१८. इन तर्कों को हम एक-एक कर के ले सकते हैं। पहला तर्क कतिपय [illegible] स्थान संबंधी उल्लेखों के आधार [illegible] तथा टीकाकार महाकवि के समसामयिक नहीं थे, फलतः इन का कथन तभी माना जा सकता है जब वह किसी पुष्ट आधार पर किया गया हो; किंतु यह दुःख का विषय है कि इन में से कोई भी अपने आधार का उल्लेख नहीं करते। शिवसिंह सेंगर ने हमारे कवि के संबंध में लिखते हुए यह अवश्य लिखा है कि "इन के जीवन-चरित्र की एक पुस्तक बेनीमाधव दास कवि पसका ग्रामवासी ने जो इन के साथ साथ रहे बहुत विस्तारपूर्वक लिखी है"[1] किंतु, स्वतः हमारे कवि का जीवन-वृत्त उपस्थित करते समय उन्हों ने कहाँ तक उस का आश्रय ग्रहण किया है यह उन्हों ने नहीं लिखा है। जन्म-तिथि के संबंध में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है,[2] उन का इस प्रकार लिखना कि "यह महाराज सं० १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे" यही सूचित करता है कि उक्त वृत्त का कुछ न कुछ अंश उक्त 'चरित्र' के आधार पर नहीं है। फलतः जन्म-स्थान-संबंधी उन का उल्लेख किस आधार पर हुआ है यह अज्ञात है; और इसी लिए उसे यथेष्ट रूप से निश्चयात्मक नहीं माना जा सकता।

दूसरा तर्क संत तुलसी साहिब के कथन पर अवलंबित है। संत तुलसी साहिब की इस आत्म-कथा की जाँच हम ऊपर यथेष्ट विस्तारपूर्वक कर चुके हैं, उसे दुहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

तीसरे तर्क के आधार मुआफ़ी संबंधी काग़ज़ात हैं। कथित मुआफी उक्त उपाध्याय वंश को परंपरा से प्राप्त है, और साधारणतः उस का संबंध तुलसीदास से माना जाता है, यह ठीक है। मैं स्वतः इस की जाँच कर चुका हूँ। किंतु वह काग़ज़-पत्र कैसे हैं जिन से राजापुर में गोस्वामी जी के वंश का चलना ज्ञात होता कहा गया है, यह कहना कठिन है। वह काग़ज़ात साधारणतः दिखाए नहीं जाते। मैं ने सं० १९९४ मे जब राजापुर की यात्रा की थी, तब उन उपाध्याय जी से स्थान-संबंधी काग़ज़-पत्र देखने को माँगे थे। उस समय उन्हों ने उन के वर्तमान अस्तित्व से ही इन्कार कर दिया था। किंतु मुझ से उन की यह अस्वीकृति इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं हो सकती

[1] शि० सिं० स०, पृ० ४२७   [2] देखिए ऊपर पृ० ११०

कि इस प्रकार के कागज पत्र हैं ही नहीं। रामबहोरी जी को अगर किसी प्रकार यह कागज पत्र देखने को मिले तो अच्छा ही हुआ। किंतु यदि उन्हो ने उन का प्रतिचित्र भी प्रकाशित किया होता तो और अच्छा होता। अस्तु, प्रतिचित्र के अभाव मे हम अधिक से अधिक इतना ही कर सकते हैं कि प्रस्तुत विवेचन के लिए उक्त कागज पत्र विषयक उन के वक्तव्य को प्रामाणिक मानते हुए भी इस प्रश्न पर विचार करें कि जन्म-स्थान सबधी प्रश्न पर वे कहाँ तक प्रकाश डालते हैं।

यह स्पष्ट है कि पहली सनद में स्थान के साथ गोस्वामी जी का नाम भी नहीं आता, इस लिए प्रस्तुत प्रश्न से उस का निकट सबध नहीं है। दूसरी सनद का सबध किसी प्रकार हमारे महाकवि से अवश्य जान पड़ता है। प्रश्न यह है कि कहाँ तक यह उस के जन्म-स्थान से सबध रखती है। फलत. इस प्रसग में हमें देखना यह है कि उक्त सनद के जो अश कट फट गए हैं उन के स्थान पर कौन से अक्षर या शब्द होने चाहिएँ जिन से पूरे वाक्य की सगति बैठ सकती। जिस प्रकार रामबहोरी जी ने इन रिक्त स्थानों की पूर्ति की है, उस प्रकार पढने पर पूरा वाक्य निम्नलिखित होता है :

"आगे प(ण्डित) मदारीलाल.. (गो) साईं तुलसीदास जी के (व) स मैका महसूल वामूजब सनद बादशाही व सूबेदारान "राजा बुंदेलखण्ड" ...है सो सिरकार में हाल है।"

पहली बात, जो इस प्रसग में ध्यान देने योग्य है, यह है कि 'पडित मदारीलाल' और 'गोसाईं तुलसीदास' के बीच जो सबध है वह इस पुनर्निर्मित वाक्य में नहीं आता है, और सनद में यह सबध अवश्य ही दिया हुआ रहा होगा इस विषय में दो मत नहीं हो सकते, क्यों कि उसके अभाव में हमारे प्रात की नामकरण प्रथा के अनुसार 'पडित मदारीलाल गोसाईं तुलसीदास' एक व्यक्ति का नाम नहीं हो सकता है और पडित मदारीलाल के वाक्य में आने की कोई आवश्यकता भी नहीं रह जाती है। और यदि इस प्रकार का सबध वाक्य में आता है तो 'वे बस मै का' का सबध कदाचित् पडित मदारीलाल से होना चाहिए, न कि 'गोसाईं तुलसीदास' से, जो कि केवल पडित मदारीलाल का यथेष्ट परिचय कराने के लिए ही किसी सबध-सूत्र से वाक्य में आते हैं। और, यदि 'पडित मदारीलाल का वश' राजापुर में चलता है तो उस से यह नहीं सिद्ध होता कि 'गोसाईं तुलसीदास जी का वश' भी राजापुर में चलता रहा।

दूसरी बात यह है कि '(बस) मै का महसूल' उपयुक्त और सगत नहीं जान पड़ता। कम से कम इस प्रकार का प्रयोग देखने में नहीं आता। 'स' का 'मै' के साथ जाना और समय के विकृत रूप में व्यवहृत होना कदाचित् इस से अधिक युक्त-सगत कल्पना होगी। उस दशा म 'के' तथा 'समै' के बीच रिक्त स्थान पर कोई ऐसा शब्द होना चाहिए जो 'समै' का परिज्ञायक कोई विशेषण हो।

तीसरी और अतिम बात इस सबध की यह है कि यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जावे कि इस सनद से यह सिद्ध होता है कि राजापुर म गोस्वामी जी का वश चलता रहा, तो इस से यह नहीं सिद्ध हो जाता है कि गोस्वामी जी का जन्म भी राजापुर में ही हुआ था। क्या यह सभव नहीं कि उन का जन्म कहीं अन्यत्र हुआ हो, और जीवन की कोई लहर—जिस प्रकार वह आगे उन्हें काशी ले गई—कभी उन्हें राजापुर भी लाई हो?

चौथा तर्क यह है कि 'मानस' के अयोध्याकाड में 'तापस-प्रसग' ऐसे स्थान पर और इस प्रकार आता है कि उस से अन्य अनुमानों की अपेक्षा यह परिणाम निकालना अधिक युक्ति-सगत होगा कि अपने जन्म प्रात म इष्टदेव का पदार्पण होते ही कवि स्वत.—तापस तो वह था ही—उन की अभ्यर्थना के लिए उपस्थित होता है। प्रस्तुत तर्क के सबध में कहना यह है कि तापस-प्रसग से यह नहीं सिद्ध होता कि उक्त प्रदेश में जन्मभूमि होने के कारण ही कवि ने इष्टदेव की अभ्यर्थना वहाँ की। क्या अपनी तपोभूमि मात्र होने के नाते ही वह इस प्रकार की अभ्यर्थना अपने इष्टदेव की नहीं कर सकता था? कवि का "तापस" और "विरागी वेष" होना तो सभवत इसी तथ्य की ओर सकेत करता है, अन्यथा तुलसीदास इस प्रसग का कोई और रूप भी कदाचित् दे ही सकते थे। और, तपोभूमि से जन्मभूमि होना सिद्ध नहीं होता, बल्कि अधिकतर एक दूसरे का बाध ही करता है।

पाँचवाँ तर्क राजापुर के पक्ष में यह है कि गोस्वामी जी उस समय तक ग्रामवासी स्त्री पुरुषों में रामादि सबधी सहानुभूतिपूर्ण वार्तालाप नहीं कराते जब तक वह यमुना पार कर के कवि के जन्म प्रदेश में पदार्पण नहीं करते। ग्रामवासी नर नारियों में इन राजकुल के प्राणियों के सबध में विशेष समवेदना का जागरण इस स्थल के पूर्व, सभव है, इस कारण भी कम हुआ हो कि शृग-वेरपुर के कुछ आगे तक तो साथ-साथ मत्री सुमत्र थे तथा उन का रथ भी

था। उन का साथ छूटने पर प्रयाग तक निषादराज का साथ था। प्रयाग के यमुना सतरण तक निषादराज के अतिरिक्त भरद्वाज द्वारा नियुक्त कुछ बटु भी थे। यमुना पार करने के समय ही राम ने बटुओं को विदा किया और यमुना पार करने के बाद ही निषादराज को विदा किया। यहाँ तक मार्ग के ग्रामवासी नर नारियों में कवि ने समवेदना का विशेष उद्रेक नहीं किया तो कुछ आश्चर्य नहीं। इस के बाद वन पथ पर एकाकी अग्रसर राजकुल के यह निर्वासित सदस्य अवश्य ही विशेष सहानुभूति के पात्र थे। फलत इस प्रकार प्रस्तुत समवेदनातिरेक से यह निष्कर्ष निकालना कि जन्मभूमि के अनुराग से ही गोस्वामी जी ने ग्रामवासी स्त्री पुरुष आदि का मार्मिक और अत्यत प्रभाव शाली वर्णन अलौकिक अनुभूति के द्वारा इसी प्रदेश से सबधित किया है बहुत युक्तियुक्त नहीं लगता है। इसी प्रसग म 'मेघदूत' के कवि के उज्जयिनी प्रेम का उल्लेख किया गया है, किंतु उस से भी प्रस्तुत तर्क को कोई बल नहीं प्राप्त होता। उज्जयिनी महाकवि कालिदास की जन्मभूमि थी या नहीं, यह अभी तक अनिश्चित है, उज्जयिनी के साथ उस का इस प्रकार का पक्षपात कदाचित् इस लिए भी हो सकता था कि इस साधन से वह उज्जयिनी के शासक को प्रसन्न करना चाहता रहा हो, और कुछ विद्वान् उस का यही कारण समझते भी हैं।[1]

१६ सोरों के पक्ष और राजापुर के विपक्ष में जो तर्क उपस्थित किए जाते हैं, उन का मुख्य आधार सोरों में प्राप्त गोस्वामी जी के जीवन वृत्त से सबध रखने वाली वह सामग्री है जिस की समीक्षा की जा चुकी है।[2] दूसरे आधारों पर जो तर्क अधिकतर उपस्थित किए जाते हैं, उन का उल्लेख रामनरेश त्रिपाठी ने यथेष्ट विस्तार के साथ किया है।[3] विषय विवेचन की सुविधा के अनुसार क्रम में कुछ अंतर करने पर वे इस प्रकार ठहरते हैं •

(१) "तुलसीदास ने 'कवितावली', 'गीतावली', 'दोहावली' और 'विनय पत्रिका' में बहुत से ऐसे शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया है जो सोरों में आम तौर पर प्रचलित हैं, पर राजापुर और तारी म उस अर्थ में प्रचलित नहीं हैं।"

[1] ए० बी० कीथ 'ए हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर' पृ० ८७
[3] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ९२-११०

(२) "ब्रज और उस के आसपास के ज़िलों में भौंरा और चकडोरी खेलने का रिवाज बहुत है। लड़के बाजी लगाकर यह खेल खेलते हैं। पर अयोध्या, बनारस और राजापुर में इस खेल का प्रचार शायद ही है। सोरों में इस का बड़ा प्रचार है। इस ('गीतावली' में आए हुए "खेलत अवध खोरि गोली भौंरा चकडोरि") से यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे स्थान में हुआ था, जहाँ भौंरा और चकडोरी खेलने का बड़ा रिवाज था।"

(३) "तुलसीदास ने ब्रजभाषा और अवधी मिश्रित (?) भाषा में सफलता के साथ रचना की है; यह भी उन के ब्रज और अवध की सरहद पर होने का एक प्रबल प्रमाण है।"

(४) "(तुलसीदास के ग्रंथों में इस प्रकार के) बहुत से शब्द आए हैं जो सोरों और उस के पश्चिमी प्रांतों के हैं। इन शब्दों को तुलसीदास ने जान-बूझ कर पूर्वी (?) हिंदी में रख लिए हैं ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता। बल्कि यह अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि ये शब्द उन के घरू शब्द थे और उन्हों ने इन्हें अपनी विचार धारा में पकड़ लिए थे।" "सोरों ब्रज, राजपूताना, पंजाब, काठियावाड़ और गुजरात निवासियों का मुख्य तीर्थ-स्थान है। वहाँ उन प्रांतों के लोग गंगा जी में अपने मृतकों की अस्थियाँ डालने के लिए लाते हैं। वहाँ हर साल एक बड़ा मेला लगता है, जिस में उपर्युक्त प्रांतों के लोग ही अधिक संख्या में एकत्र होते हैं। इस से सोरों की बोलचाल में उन प्रांतों के बहुत से शब्द स्वभावतः भर गए हैं।"

(५) "तुलसीदास ने अपनी कविता में अरबी फ़ारसी के शब्दों का स्वच्छंदता से प्रयोग किया है। यह भी उन के पश्चिम प्रांत निवासी होने का एक प्रबल प्रमाण माना जा सकता है। सोरों और उस के आसपास के ज़िलों में मुसलमानों की बस्तियाँ बहुत हैं। इसी से अरबी फारसी के जितने शब्द पश्चिमी हिंदी में मिलते हैं उतने पूर्वी हिंदी में नहीं।"

(६) "'वार्ता' में तुलसीदास को नंददास का बड़ा भाई बताया गया है और नंददास को सनौढिया ब्राह्मण। 'सनौढिया' 'सनाढ्य' का अपभ्रंश है। अतएव तुलसीदास को भी सनाढ्य मानना पड़ेगा। 'वार्ता' में नंददास रामपुर ग्राम के निवासी माने गए हैं। रामपुर सोरों के निकट एक गाँव था, और नंददास के पिता का जन्म उसी गाँव में हुआ था। वे किसी कारणवश वहाँ

था। उन का साथ छूटने पर प्रयाग तक निषादराज का साथ था। प्रयाग के यमुना उतरण तक निषादराज के अतिरिक्त भरद्वाज द्वारा नियुक्त कुछ वटु भी थे। यमुना पार करने के समय ही राम ने वटुओं को विदा किया और यमुना पार करने के बाद ही निषादराज को विदा किया। यहाँ तक मार्ग के ग्रामवासी नर-नारियों में कवि ने समवेदना का विशेष उद्रेक नहीं किया तो कुछ आश्चर्य नहीं। इस के बाद वन पथ पर एकाकी अग्रसर राजकुल के यह निर्वासित सदस्य अवश्य ही विशेष सहानुभूति के पात्र थे। फलत इस प्रकार प्रस्तुत समवेदनातिरेक से यह निष्कर्ष निकालना कि जन्मभूमि के अनुराग से ही गोस्वामी जी ने ग्रामवासी स्त्री पुरुष आदि का मार्मिक और अत्यत प्रभाव शाली वर्णन अलौकिक अनुभूति के द्वारा इसी प्रदेश से सबधित किया है बहुत युक्तियुक्त नहीं लगता है। इसी प्रसग मे 'मेघदूत' के कवि के उज्जयिनी प्रेम का उल्लेख किया गया है, किंतु उस से भी प्रस्तुत तर्क को कोई बल नहीं प्राप्त होता। उज्जयिनी महाकवि कालिदास की जन्मभूमि थी या नहीं, यह अभी तक अनिश्चित है, उज्जयिनी के साथ उस का इस प्रकार का पक्षपात कदाचित् इस लिए भी हो सक्ता था कि इस साधन से वह उज्जयिनी के शासक को प्रसन्न करना चाहता रहा हो, और कुछ विद्वान् उस का यही कारण समझते भी हैं।[1]

१६. सोरों के पक्ष और राजापुर के विपक्ष म जो तर्क उपस्थित किए जाते हैं, उन का मुख्य आधार सोरों में प्राप्त गोस्वामी जी के जीवन वृत्त से सबध रखने वाली वह सामग्री है जिस की समीक्षा की जा चुकी है।[2] दूसरे आधारों पर जो तर्क अधिकतर उपस्थित किए जाते हैं, उन का उल्लेख रामनरेश त्रिपाठी ने यथेष्ट विस्तार के साथ किया है।[3] विषय विवेचन की सुविधा के अनुसार क्रम में कुछ अंतर करने पर वे इस प्रकार ठहरते हैं :

(१) "तुलसीदास ने 'कवितावली', 'गीतावली', 'दोहावली' और 'विनय पत्रिका' म बहुत से ऐसे शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया है जो सोरों मे आम तौर पर प्रचलित हैं, पर राजापुर और तारी में उस अर्थ में प्रचलित नहीं हैं।"

[1] ए० बी० कीथ 'ए हिस्ट्री भव् संस्कृत लिटरेचर' पृ० ८७

[3] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ९२-११०

(२) "व्रज और उस के आसपास के जिलों में भौंरा और चकडोरी खेलने का रिवाज बहुत है। लड़के बाजी लगाकर यह खेल खेलते हैं। पर अयोध्या, बनारस और राजापुर में इस खेल का प्रचार शायद ही है। सोरों में इस का बड़ा प्रचार है। इस ('गीतावली' में आए हुए "खेलत अवध खारि गाली भौरा चकडोरि") से यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे स्थान में हुआ था, जहाँ भौंरा और चकडोरी खेलने का बड़ा रिवाज था।"

(३) "तुलसीदास ने व्रजभाषा और अवधी मिश्रित (?) भाषा में सफलता के साथ रचना की है, यह भी उन के व्रज और अवध की सरहद पर होने का एक प्रबल प्रमाण है।"

(४) "(तुलसीदास के ग्रंथों में इस प्रकार के) बहुत से शब्द आए हैं जो सोरों और उस के पश्चिमी प्रांतों के हैं। इन शब्दों को तुलसीदास ने जान बूझ कर पूर्वी (?) हिंदी में रख लिए हैं ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता। बल्कि यह अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि ये शब्द उन के घरू शब्द थे और उन्हों ने इन्हें अपनी विचार धारा में पकड़ लिए थे।" "सोरों व्रज, राजपूताना, पंजाब, काठियावाड़ और गुजरात निवासियों का मुख्य तीर्थ-स्थान है। वहाँ उस प्रांतों के लोग गंगा जी में अपने मृतकों की अस्थियाँ डालने के लिए लाते हैं। यहाँ हर साल एक बड़ा मेला लगता है, जिस में उपर्युक्त प्रांतों के लोग ही अधिक संख्या में एकत्र होते हैं। इस से सोरों की बोलचाल में उन प्रांतों के बहुत से शब्द स्वभावतः भर गए हैं।"

(५) "तुलसीदास ने अपनी कविता में अरबी फ़ारसी के शब्दों का स्वच्छंदता से प्रयोग किया है। यह भी उन के पश्चिम प्रांत निवासी होने का एक प्रबल प्रमाण माना जा सकता है। सोरों और उस के आसपास के जिलों में मुसलमानों की बस्तियाँ बहुत हैं। इसी से अरबी फ़ारसी के जितने शब्द पश्चिमी हिंदी में मिलते हैं उतने पूर्वी हिंदी में नहीं।"

(६) "'वार्ता' में तुलसीदास को नंददास का बड़ा भाई बताया गया है और नंददास को सनौढिया ब्राह्मण। 'सनौढिया' 'सनाढ्य' का अपभ्रंश है। अतएव तुलसीदास को भी सनाढ्य मानना पड़ेगा। 'वार्ता' में नंददास रामपुर ग्राम के निवासी माने गए हैं। रामपुर सोरों के निकट एक गाँव था, और नंददास के पिता का जन्म उसी गाँव में हुआ था। वे किसी कारणवश वहाँ

से आकर सोरों के योगमार्ग महल्ले में आबाद हो गए थे।"

(७) "अब भी राजापुर और उसके आसपास के गाँवों में बहुत से वृद्ध ऐसे मिलते हैं जो राजापुर को तुलसीदास का जन्म-स्थान नहीं मानते। वे कहते हैं कि तुलसीदास कुछ दिनों तक वहाँ रहे थे। किसी विशेष स्थान पर जाकर कुछ दिनों तक रहना और वही जन्म स्थान होना दोनों भिन्न बातें हैं। जन श्रुति यह भी है कि तुलसीदास गंगा पार करके ससुराल गए थे। राजापुर में गंगा नहीं हैं, यमुना हैं और एक यह दलील भी विचारणीय है कि राजापुर से विरक्त हो कर निकले हुए तुलसीदास फिर उसी गाँव में कैसे आकर रहते? सोरों के पक्ष में यह बात अधिक जोरदार मालूम होती है कि सच्चे त्यागी की तरह एक बार सोरों छोड़ने के बाद तुलसीदास फिर वहाँ लौट कर नहीं गए। अतएव यह अवश्य ही उन का जन्म स्थान हो सकता है।"

(८) "तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे। यदि तुलसीदास कान्यकुब्ज या सरवरिया ब्राह्मण होते तो (काशी में) उन को जाति बताने में कोई खटका ही नहीं था, क्यों कि इन नामों से काशी के लोग परिचित थे। वे थे सनाढ्य। पूर्वी प्रांतों में सनाढ्यों की बस्ती आज तक भी कम है। पहले तो बिलकुल न रही होगी। सनाढ्यों में विद्वानों की संख्या अब भी बहुत कम है। इससे काशी के लोग विश्वास ही न करते रहे होंगे कि सनाढ्य भी कोई ब्राह्मण होते हैं।"

(९) 'किसी चरित लेखक ने राजापुर (बाँदा) को, किसी ने तारी को, किसी ने हाजीपुर (चित्रकूट) को और किसी ने हस्तिनापुर को तुलसीदास का जन्म स्थान माना है। पर किसी ने इस शंका का समाधान नहीं किया कि तुलसीदास जब बहुत बालक और अति अचेत थे (यथा—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥

—'मानस')

तब वे सूकरखेत कैसे पहुँचे। यदि यह मान भी लिया जावे कि वे मँगते के लड़के थे। घर से भीख माँगते हुए उधर निकल गए होंगे, तो इस प्रश्न का हल होना और भी कठिन हो जायगा कि काशी और प्रयाग जैसे निकटवर्ती शहरों और तीर्थस्थानों की अपेक्षा सूकरखेत में उनके लिए कौन सा विशेष आकर्षण था। सूकरखेत मँगतों का कोई खास अड्डा तो था नहीं और राजापुर या तारी जैसे गाँव वाले तो शायद सूकरखेत का नाम भी न सुने होंगे।"

इसी प्रसंग मे हम सोरों निवासी पं० भद्रदत्त जी वैद्यभूषण द्वारा उपस्थित किए गए[1] निम्नलिखित तर्क को भी ले सकते हैं।

(१०) "छोटी आयु मे गोस्वामी जी ने 'विनय पत्रिका' में जहाँ 'दियो सुकुल जनम' आदि पद में अपने जन्म के विषय में सकेत किया है वहीं अपनी जन्म-भूमि के सबध में भी कहा है :

'यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।'

इस पद मे गोस्वामी जी का जन्म प्रासगिक उल्लेख है, अतः सुरसरि (गगा) के समीप का थल (स्थान) उन का जन्मस्थान ही हो सकता है, अन्य काशी इत्यादि वैराग्यकालिक निवासस्थान नहीं।"

अब हम क्रमशः इन तर्कों पर विचार करेंगे।

२०. पहले तर्क के सबध में लेखक ने जो उदाहरण दिए हैं वे सभी उस ने केवल 'विनय-पत्रिका' से लिए हैं, और 'विनय पत्रिका' की भाषा ब्रजभाषा है, फलतः यदि उस में कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं जिन का प्रयोग केवल ब्रजभाषा-प्रात में मिलता है, अवधी प्रात में नहीं मिलता, तो कुछ आश्चर्य न होना चाहिए। और ब्रजभाषा प्रात मे भी वह केवल सोरों मे प्रचलित हैं, अन्य स्थानों मे नहीं, और कवि के समय मे भी वह सोरों तक ही सीमित थे यह कहने के लिए लेखक कदाचित् तैयार नहीं है, इस लिए यह तर्क स्वतः क्षीण है।

दूसरा तर्क भी कुछ ऐसा ही है। "अयोध्या, बनारस और राजापुर में इस खेल का (भौंरा और चकडोरी का) प्रचार शायद ही है" में आने वाले 'शायद' में यह ध्वनि स्पष्ट है कि पहले तो इस खेल का रिवाज उपर्युक्त स्थानों में है ही नहीं, और यदि थोड़ा बहुत हो भी तो वह नगण्य है। यह तो कदाचित् ही होगा कि लेखक ने अपने इस कथन में कोरे अनुमान का आश्रय लिया हो, किंतु इस सबध मे इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि उस की इस खोज से कम लोग सहमत होंगे। साथ ही यदि आज इन खेलों का प्रचार उपर्युक्त स्थानों में अत्यत कम हो—अथवा न हो—तो इस से यह सिद्ध नहीं होता कि तुलसीदास के समय में भी इन स्थानों में उपर्युक्त खेलों की परिस्थिति यही थी।

तीसरा तर्क ब्रजभाषा और अवधी मिश्रित (?) भाषा मे सफलतापूर्वक

[1] 'सनाढ्य जीवन' सितबर-अक्टूबर, सन् १९३९, पृ० ११

रचना करने के आधार पर है। किन्हीं भी दो भाषाओं में सफलतापूर्वक रचना करना कहाँ तक इस निष्कर्ष के लिए 'प्रबल प्रमाण' हो सकता है कि उन के कवि का जन्म ही उन दो भाषा क्षेत्रों की सरहद पर हुआ, यह बात कुछ सम में नहीं आती। इस प्रकार के उदाहरणों की कदाचित् कमी न होगी जिन कवियों या लेखकों ने अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त कम से कम एक अ भाषा में भी रचना की हो—विशेष कर के जब वह अन्य भाषा साहित्यि माध्यम सी हो गई हो। फलतः यह तर्क भी बहुत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता

चौथे तर्क के संबंध में लेखक ने पहले 'विनय-पत्रिका' से दो प्रयं लिए हैं, और लिखा है कि वे राजापुर में प्रचलित नहीं हैं। इन प्रयोगों भाषा स्वतः ब्रजभाषा है, जो इन शब्दों के ओकारांत रूपों से भलीभाँति विि है। फलतः इन के संबंध में भी वही बातें कही जा सकती हैं जो ऊपर प्र तर्क के संबंध में कही गई हैं। इस के अनंतर लेखक ने 'कृष्ण-गीतावली' त 'गीतावली' से कुछ शब्द उद्धृत कर कहा है कि वे मारवाड़ी शब्द हैं। 'कृ गीतावली' तथा 'गीतावली' की भाषा ब्रजभाषा है। प्रश्न यह है कि इस स भी क्या यह प्रयोग मारवाड़ तक ही सीमित हैं, ब्रजप्रदेश में इन का व्यव नहीं होता, और तुलसीदास के समय में भी केवल मारवाड़ तक ही सीि थे, ब्रजमंडल में व्यवहृत नहीं होते थे। जहाँ तक मैं समझता हूँ, लेखक कहने के लिए उद्यत नहीं है। फिर 'गीतावली', 'कवितावली' और 'वि पत्रिका' से प्रयोग उद्धृत कर के उस ने कहा है कि वे गुजराती हैं। इन संबंध में भी वही बात कही जा सकती है जो ऊपर मारवाड़ी प्रयोगों के सं में कही गई है। फिर 'दोहावली' से कुछ प्रयोगों का उल्लेख कर कहा गय कि वे मारवाड़ी हैं। प्रश्न यह है कि—आज इन का प्रयोग मारवाड़ प्रदेश भले ही सीमित हो—क्या तुलसीदास के समय में भी यह वहीं तक सीमित अथवा इन के प्रयोग का क्षेत्र कुछ और व्यापक था। क्या यह संभव नहीं उस समय इन का प्रयोग अवधी प्रांत में भी होता रहा हो—अथवा कम से यह ब्रजभाषा-प्रांत से व्यवहृत होते रहे हों[1] और कवि द्वारा उसी से। जाकर 'दोहावली' में भी प्रयुक्त हुए हों ?

[1] देखिए 'सम्मेलन पत्रिका' कार्तिक-मार्ग-शीर्ष-पौष, सं० १९९८, पृ० १–१३ पर छपे हुए मेरे लेख की पा टिप्पणियाँ

वस्तुस्थिति इन प्रयोगों के संबंध में यह है कि एकाध को छोड़ कर ये तुलसीदास के समकालीन और पूर्व के साहित्य में किसी भी अध्ययनशील पाठक को मिल सकते हैं, और दो-एक के संबंध में तो बहुत-कुछ निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पाठ-प्रमाद हुआ है। उदाहृत प्रयोगों में से केवल एक ऐसा है जो निस्संदेह मारवाड़ी कहा जा सकता है : वह है 'म्हाको' (मेरे) जो 'कवितावली' में एक स्थान पर आता है। शब्दों का अर्थ-विशेष अथवा क्षेत्र-विशेष में प्रयुक्त होना एक बात है और व्याकरण के रूपों का इस प्रकार प्रयुक्त होना दूसरी बात है : 'म्हाको' निस्संदेह 'राजस्थानी' है—और कदाचित् तुलसीदास के समय में भी 'राजस्थानी' ही रहा होगा, क्यों कि व्रज तथा अवधी में इस के स्थान पर दूसरे ही व्याकरण रूप प्रयुक्त होते रहे हैं। किंतु इस प्रकार के विभाषा के प्रयोग अन्य कारणों के अतिरिक्त कविगण कभी-कभी केवल विनोदवश भी कर दिया करते हैं। इस प्रकार के एकाध प्रयोग यह सिद्ध नहीं कर सकते कि कवि का जन्म ही ऐसे स्थान पर हुआ था जहाँ पर वे "घरू शब्द" थे। कम से कम 'म्हाको' तुलसीदास का "घरू शब्द" रहा होगा, इस के मानने में थोड़ी कठिनाई अवश्य ज्ञात होती है। और, किसी स्थान-विशेष—या उस के समीपवर्त्ती किसी प्रांत—में जन्म ग्रहण किए बिना कोई कवि या लेखक उक्त स्थान-विशेष के प्रयोग अपनी रचनाओं में रख नहीं सकता, यह परिस्थिति लेखक कदाचित् स्वीकार न करेगा। इस तर्क-प्रणाली का अवलंबन करने पर एक अन्य प्रकार से तुलसीदास को बंगाल या उस के आसपास का होना चाहिए, क्यों कि लेखक ने स्वतः अन्यत्र हमारे कवि की रचनाओं से ऐसे प्रयोग दिखाए हैं जो उस के अनुसार बंगाल के हैं।[1]

प्रस्तुत तर्क में उपस्थित किए गए शब्दों के विषय में साधारणतः लेखक की कमज़ोरी यह ज्ञात होती है कि यदि अन्य भाषाओं में इन का कोई भी रूप उसे दिखाई पड़ता है तो वह समझता है कि अपनी भाषा में यह उस अन्य प्रांतीय भाषाओं से आए हैं। उस का ध्यान अभी तक कदाचित् इस तथ्य की ओर नहीं गया है कि सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का मूल स्रोत एक ही है, इस लिए इन सभी भाषाओं में साधारणतः ऐसे शब्द पर्याप्त संख्या में होने चाहिएँ जो बहुत कुछ उन की सम्मिलित संपत्ति रहे हों

[1] 'तुलसीदास और उन की कविता', पृ० ४२२

और समान रूप से उन सभी का उत्तराधिकार में मिले हों। इन शब्दों के संबंध में यह कहना कि अनिवार्य रूप से यह एक आधुनिक भाषा से दूसरी में लिए गए हैं उस समय तक दूसरी भाषा के साथ अन्याय मात्र होगा जब तक यह प्रमाणित न हो जावे कि उक्त भाषा के साहित्यिक रूप में ही नहीं वरन् उस के मौखिक रूप में भी प्रस्तुत के पूर्व इन का प्रयोग नहीं होता था।

पाँचवें तर्क के आधार के संबंध में लेखक ने ही एक अन्य समाधान उपस्थित किया है "या तो तुलसीदास तत्कालीन राजभाषा जानते थे।"[1] इस लिए तर्क की प्रबलता बहुत कुछ स्वतः क्षीण हो जाती है। मैं समझता हूँ कि इस प्रमाण के उत्तर में कुछ और भी समाधान निश्चयात्मक रूप से दिए जा सकते हैं, क्यों कि अन्यथा नंददास और तुलसीदास में—जो लेखक के अपने ही प्रमाणों के अनुसार पूर्व के निवासी ठहरते हैं[2]—ख़ास मुग़ल राजधानी आगरा[3] और उस से मिले हुए मथुरा-वृंदावन के कवि सूरदास आदि की अपेक्षा फ़ारसी अरबी के शब्दों का प्रयोग कम मिलना चाहिए। या, औरों को छोड़ दीजिए, मान भी लीजिए कि तुलसीदास और नंददास भाई भाई हैं, और एक ही स्थान पर दोनों पैदा हुए और पले हैं, और उन में से तुलसीदास पूर्व की ओर काशी चले आते हैं और नंददास पश्चिम मथुरा वृंदावन चले जाते हैं, और दोनों आजीवन इन दो स्थान पर निवास करते हैं, यदि प्रस्तुत तर्क प्रणाली शुद्ध है तो होना यह चाहिए कि नंददास में तुलसीदास की अपेक्षा फ़ारसी अरबी शब्दों का प्रयोग अधिक मिलना चाहिए। क्या लेखक यह कहने के लिए तैयार है कि वस्तुस्थिति यही है?

छठे तर्क का आधार 'वार्ता' है। 'वार्ता' के एक संस्करण में न तो यह उल्लेख मिलता है कि नंददास 'सनौढ़िया' ब्राह्मण थे, और न यही कि वे रामपुर के निवासी थे। यह असंभव नहीं कि उस के किसी अन्य संस्करण में लेखक का यह उल्लेख मिले हों, किंतु जब तक उक्त संस्करण भली भाँति

[1] 'तुलसीदास और उन की कविता', पृ० १०३

[2] "सो वे नंददास पूर्व रहते, सो वे दोय भाई हते। सो बड़े भाई तुलसीदास हते और छोटे भाई नंददास हते।" 'तुलसीदास और उन की कविता' पृ० ५०

[3] ८४ वार्ता के अनुसार वल्लभाचार्य के संपर्क में आने से पहले सूरदास गऊघाट पर रहते थे, जो आगरा और मथुरा के बीचोबीच है (८४ वार्ता, पृ० २७२)

देखा न जावे तब तक उस की और उस की सूचनाओं की प्रामाणिकता के बारे में विश्वास करना समीचीन न होगा। लेखक ने अन्यत्र[1] 'नंददास की वार्ता' से जो उद्धरण दिए हैं उन के संबंध में उस ने यह नहीं कहा है कि वे उसे किस संस्करण से प्राप्त हुए हैं। उस में यह तो अवश्य आता है कि "नंददास सनौढिया ब्राह्मण है।" किंतु उस में भी यह कहीं नहीं दिखाई पड़ता कि वह रामपुर के निवासी हैं।

लेखक का सातवाँ प्रमाण राजापुर-पक्ष की कमज़ोरी की ओर संकेत करता है। वह संकेत कहाँ तक मान्य है इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। अभी कदाचित् इतना ही सुझा देना पर्याप्त होगा कि यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जावे कि राजापुर पक्ष का भली भाँति निराकरण कर दिया गया, फिर भी विचारणीय यह है कि उस से सोरों किस प्रकार कवि का जन्म-स्थान सिद्ध होता है।

आठवाँ प्रमाण भी दुर्बल ही है। यदि गोस्वामी जी अपनी जाति-पाँति के संबंध में उठाए हुए आक्षेपों का उत्तर अपनी जाति-पाँति बतला कर नहीं देते—या नहीं देना चाहते—तो इस से यह निष्कर्ष निकालना कि गोस्वामी जी कान्यकुब्ज या सरयूपारीण नहीं थे कदाचित् तर्कसंगत नहीं है। और यदि यह सिद्ध भी हो जावे कि गोस्वामी जी सनाढ्य थे तो उस से यह परिणाम कैसे निकाला जा सकता है कि राजापुर में उन का जन्म हो ही नहीं सकता है।

नवाँ प्रमाण इस तर्क के आधार पर है कि यदि सूकरखेत (सोरों) उन का जन्म-स्थान नहीं था तो गोस्वामी जी अपने 'बालपन' में जब वे 'अति अचेत' थे वहाँ कैसे पहुँच गए। उत्तर में अधिकतर यह कहा गया है कि 'सूकरखेत' अयोध्या के निकट वह स्थान है जहाँ सरजू और घाघरा का संगम है, और जो अब 'पसका' कहलाता है। प्रत्युत्तर में सोरों के लेखकों ने अपने नगर की प्राचीनता और तीर्थस्थानों में उस की महत्ता विस्तारपूर्वक सिद्ध की है। इस में संदेह नहीं कि सोरों एक प्राचीन स्थान और तीर्थ है। मैंने स्वतः वहाँ के एक सुरक्षित स्थान में तेरहवीं शताब्दी विक्रमीय के इस प्रकार के लेख देखे हैं जिन में सोरों-यात्रा का उल्लेख हुआ है। पसका वाले 'सूकरखेत' की

[1] 'तुलसीदास और उन की कविता', पृ० ५०–५१

प्राचीनता कदाचित् इतनी असंदिग्ध न होगी—कम से कम मुझे उस की प्राचीनता के संबंध में कोई दृढ़ प्रमाण अभी तक नहीं मिले हैं। एक बात अवश्य है : इस बात के लिए प्रमाण यथेष्ट है कि कवि जिस समय अपने जीवन-प्रभात में ही माता-पिता से हीन और अनाथ हो कर दीन और दुखी भटक रहा था, उस समय वह संतों के संपर्क में आया। वह संत रामभक्त थे, और इन्हीं के उपदेशों से उसे रामभक्ति के लिए यथेष्ट प्रेरणा मिली।[1] फलतः यदि सोरों वस्तुतः एक अति प्राचीन और महत्वपूर्ण तीर्थस्थान था, तो क्या यह संभव नहीं है कि संतों का वह 'संग' जिस से हमारे कवि को राम की शरण में जाने की यथेष्ट प्रेरणा मिली कभी सूकरखेत की यात्रा के लिए निकला हो—अथवा किसी ऐसे अन्य तीर्थ जैसे मथुरा-वृन्दावन की यात्रा के लिए निकला हो जो सूकरखेत से दूर न हो और उसी सिलसिले में उस ने 'सूकरखेत' की भी यात्रा की हो।

अंतिम तर्क दो धारणाओं पर निर्भर है। किंतु उन का कोई भी आधार नहीं मिलता। केवल अपने कुल के विषय में कुछ कहने से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उस के कर्ता ने यह कथन छोटी आयु में किया था, और न यही माना जा सकता है कि यदि कोई अपने कुल के संबंध का कोई उल्लेख करे तो उस में अपने जन्मस्थान के अतिरिक्त वह किसी दूसरे स्थान की चर्चा भी नहीं कर सकता। पूरा पद्यांश जिस से इस प्रकार का परिणाम निकाला गया है निम्नलिखित है।

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि सो तनु तोहिं दियो।
दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को।
यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपबल्ली चहति विष फल फली॥

(विनय० १३५)

मैं समझता हूँ कि इस पद्यांश में—और पूरे पद में भी—कदाचित् ऐसी कोई बात नहीं है जिस से काशी में उस का निर्माण न माना जा सके।

[1] देखिए विनय० २७५

यह अन्य प्रमाण भी फलतः ऐसे नहीं हैं जिन से सोरों का पक्ष सिद्ध होता हो। यह बात दूसरी है कि कहाँ तक इनसे राजापुर का पक्ष निर्बल होता है, और इस पर हम अभी विचार करेंगे।

२१. ऊपर जो तर्क राजापुर और सोरों के पक्ष मे अलग अलग उपस्थित किए गए हैं उन में से प्रत्येक पक्ष से एक-एक तर्क ऐसा है जिस पर थोड़ा और विचार करना आवश्यक है। राजापुर पक्ष मे इस प्रकार का विचारणीय तर्क है दूसरा, और सोरों-पक्ष में इस प्रकार विचारणीय तर्क है सातवाँ। इन पर हम कुछ और विस्तारपूर्वक विचार कर सकते हैं।

तुलसी साहिब की आत्म-कथा के संबंध में विचार करते हुए ऊपर[1] हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि उक्त कथा के वास्तविक मूल्य के संबंध में किसी भी कोटि के निश्चय के साथ मत स्थिर करना कठिन है, और अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि हमारे कवि के जीवन के संबंध में वह कुछ मूल्यवान् परंपराओं का इतने पूर्व उल्लेख करती है कि और पूर्व का इस प्रकार का कोई उल्लेख इस समय हमें उपलब्ध नहीं है। एक और बात पर भी उक्त चरित का उल्लेख करते हुए बल दिया जा सकता है, वह यह है कि जब उस का लेखक अपने संबंध में यह प्रसिद्ध करना चाहता था कि वह उन्हीं तुलसीदास का अवतार है जिन्हों ने 'रामचरित मानस' की रचना की थी, उस ने यह प्रयत्न भरपूर किया होगा कि उसे उन तुलसीदास का जीवन वृत्त यथासंभव प्रामाणिक रूप में ज्ञात हो जावे जिन का अवतार वह अपने को प्रसिद्ध करना चाहता है, क्यों कि अन्यथा उस वृत्त के असत्य सिद्ध होने पर, जो वह अपने उस पूर्व जन्म की कथा के रूप में उपस्थित कर रहा था, स्वत. एक महान धूर्त सिद्ध हो सकता था। साथ ही उस का स्थान सोरों से जितना निकट था उतना ही राजापुर से दूर भी, और दो में से किसी स्थान-विशेष से उसे कोई पक्षपात भी नहीं हो सकता था—स्वत. वह अपनी जन्म-भूमि छोड़ कर हाथरस आया था—ऐसी दशा में राजापुर को जब वह अपने पूर्व जन्म का जन्म-स्थान कहता है तो हमें उसे यथेष्ट महत्व देना चाहिए।

दूसरी ओर श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा उपस्थित किए गए उल्लिखित तर्क में जो यह कहा जाता है कि राजापुर में अब भी कुछ ऐसे वृद्ध मिलते हैं

[1] देखिए ऊपर पृ० ५९

जो राजापुर को गोस्वामी जी का जन्म स्थान नहीं मानते। इस मे सत्य का यथेष्ट अश जान पडता है। राजापुर जाने पर कुछ लोगों से मैं ने भी इस आशय की बातें सुनी थीं। किंतु गगा पार करने वाली किवदती ता निमूल जान पडती है, राजापुर में ता यह किवदती नहीं है, अन्यत्र कहीं हा तो मुझे ज्ञात नहीं। यह तर्क निस्सदेह कुछ विचारणीय है कि राजापुर से विरक्त होकर निकले हुए तुलसीदास कैसे फिर उसी गाँव म—या उस के निकट—आ कर के रहते। इस कथन में कुछ बल अवश्य जान पडता है।

किंतु इस सबध म कुछ और पूर्व की—कम से कम आज से ७० वर्ष पूर्व की—राजापुर की जन श्रुतियों का उल्लेख करना आवश्यक होगा। उस समय तुलसीदास के जन्म-स्थान के सबध में इस प्रकार का सघर्ष नहीं था जैसा वह इधर पिछले कुछ वर्षों से है, इस लिए आशा यह करनी चाहिये कि स्थानीय जन श्रुति बहुत कुछ अनुरुण रूप में हमारे सामने आती है। आश्चर्य यह है कि उस पर अभी तक लोगों का ध्यान नहीं गया है। उस की प्रामाणिकता के सबध में अन्यत्र ऊपर विचार हो चुका है[१] फलतः पुनर्विचार अनावश्यक होगा। जन श्रुति का यह उल्लेख बाँदा जिले क गजटियर म आता है। गजेटियर के दो सस्करण हमे प्राप्त हैं, एक स० १६३१ मे और दूसरा स० १६६६ म प्रकाशित और इन दोनों म राजापुर की उत्पत्ति का इतिहास देते हुए तत्सबधी स्थानीय जन श्रुति का उल्लेख किया गया है। अतर इतना ही है कि स० १६३१ वाले सस्करण की कुल बातों के अतिरिक्त कुछ और बातों का उल्लेख भी स० १६६६ म प्रकाशित सस्करण में किया गया है। प्राचीनता के आधार पर दोनों अशों को उद्धृत करते समय वह अश जो स० १६६६ में प्रकाशित सस्करण मे बढाया गया है कोष्टकों के अदर रक्खा गया है, और शेष जो स० १६३१ का है कोष्टकों के बाहर रहने दिया गया है।

उस के अनुयायी हो गए, जो उस के समीप रहने लगे, और जब उन की संख्या और बढ़ी वे व्यापार और धर्माचरण में लगे। [यह वहीं तुलसीदास थे जिन्होंने 'रामायण' की रचना की, और कस्बे में उन का मकान अब भी दिखाया जाता है। यह वस्तुतः एक कच्ची इमारत था, किंतु अब पुनर्निमित हुई है और इस में एक स्मारक और एक किंचित् खंडित प्रति रामायण' की है। स्मारक के साथ थोड़ी सी मुआफ़ी प्राप्त है, किंतु इस समय के मुआफ़ीदार अनपढ़ और झगड़ालू हैं, और आदरणीय कवि की धार्मिक पवित्रता तथा उदारता की उन भावनाओं को प्रसार देने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते जिन का उपदेश कवि किया करता था। उक्त स्मारक में एक प्रस्तर मूर्ति भी है, जो कवि की 'प्रतिमूर्ति कही जाती है, और जिस की उत्पत्ति दिव्य बताई जाती है, और यह कहा जाता है कि यह मूर्ति राजापुर के निकट बालू में गड़ी हुई प्राप्त हुई थी। स्थानीय जन श्रुति कहती है कि तुलसीदास का परिचय राजापुर से उस महेवा गाँव के एक ब्राह्मण घर में विवाह के कारण हुआ जो तहसील सिराथू जिला इलाहाबाद में है।] राजापुर में कुछ ऐसी विचित्र प्रथाएँ प्रचलित हैं जो तुलसीदास के उपदेशों से निकली हुई हैं, कोई भी पत्थर या ईंट का मकान बनाने नहीं पाता, धनी से धनी लोग भी कच्चे मकानों में रहते हैं, केवल मंदिर ईंट के बनते हैं, नाई क़स्बे में आबाद नहीं होने पाते, और बेड़ियों के अतिरिक्त दूसरी कोई नर्तकियों की जाति उस में रहने नहीं पाती। कुम्हारों को भी मकान बना कर रहने के विषय में प्रतिबंध है और तमाम घड़े और मिट्टी के बर्तन बाहर से आते हैं। ये नियम अब अवश्य ही इतने ढीले हो गए हैं कि केवल तुलसीदास के मकान के पास पड़ोस तक सीमित माने जाते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण से यह ज्ञात होगा कि राजापुर की जन-श्रुति का अंश से कुछ प्राचीनतर रूप तुलसीदास के संबंध में अंशतः सोरों के साक्ष्य का समर्थन करता है; दोनों स्थानों के साक्ष्यों में अंतर अवश्य यह है कि एक तो सोरों की सामग्री वहाँ के बदरिया गाँव में ससुराल का उल्लेख करता है और राजापुर की जन श्रुति वहाँ से महेवा गाँव में ससुराल होने का उल्लेख करती है, और दूसरे, सोरों की सामग्री कवि की राजापुर यात्रा का कोई उल्लेख नहीं करती और राजापुर की जन-श्रुति के अनुसार कवि सोरों से आकर राजापुर इतने दिनों तक रहता है कि वहाँ पर एक बस्ती उस के तत्वावधान में बस जाती है और उस में बहुत सी प्रथाएँ उस के उपदेशों का आधार ग्रहण कर

के चल पड़ती हैं। इस दशा मे थोड़ी देर के लिए सोरों को सामग्री के तथा राजापुर की उपर्युक्त जन श्रुति के साक्ष्य में जहाँ पर अतर है वहाँ पर यदि हम राजापुर की जन श्रुति का ही प्रामाणिक मानें ता भी सत तुलसी साहिब के उल्लेख इस का स्पष्ट विरोध करते हैं, और सत तुलसी साहिब की आत्म कथा के सबध म ऊपर हम देख आए हैं कि अधिक से अधिक उसे हम किन्हीं परपराओं का प्राचीनतम उल्लेख मान सकते हैं,[1] इस लिए यह एक विचित्र समस्या है कि सारों के निकटवर्ती प्रात म—हाथरस सारां के निकट ही है—राजापुर जन्म स्थान हाने का प्रमाण मिले और राजापुर और उस के आस पास सोरों जन्म स्थान होने का प्रमाण मिले। फलत दोनों पक्षों क प्रस्तुत साक्ष्य क आधार पर यह कहना कठिन है कि दानों में से कौन सा स्थान कवि का जन्म-स्थान है, और यह भी सर्वथा असभव नहीं कि कोई तीसरा स्थान इस पुनीत पद का अधिकारी हो। यह अवश्य निश्चित जान पड़ता है कि गास्वामी जी बहुत समय तक राजापुर रहे थे और यात्रा उन्हों ने कदाचित् उसी सूकरखेत की की थी जो सोरों कहलाता है।

जाति-पाँति

२२ इस बात में कदाचित् सदेह नहीं किया जा सकता कि तुलसीदास ब्राह्मण थे। न केवल इस लिए कि इस के विरोध में कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं बल्कि 'कवितावली' के निम्नलिखित छद से यह ध्वनि निकलती है कि वे ब्राह्मण थे

> भागीरथी जल पान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।
> लोको न लेनो न देनो कछू कलि भूलि न रावरी ओर चितैहौं॥
> जानि कै जोर करौ परिनाम तुम्है पछितैहौ पै मैं न भितैहौं।
> ब्राह्मण ज्यौं उगिल्यो उरगारि हौं त्यों ही तिहारे हिए न हितैहौं॥
>
> (कविता० उत्तर० १०२)

इस लिए वस्तुत. जा समस्या है वह यह है कि हमारे कवि की उप जाति आदि क्या थी। इस सबध म तीन विभिन्न कथन किए जाते हैं.

(१) स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी का अनुसरण करते हु

[1] देखिए ऊपर पृ० ५९

स्वर्गीय सर जॉर्ज ग्रियर्सन का कहना था कि "तुलसीदास सरयूपारीण ब्राह्मण थे, कान्यकुब्ज नहीं, क्योंकि कान्यकुब्ज ब्राह्मण दान लेना तथा भिक्षा-याचना आदि गर्हित मानते हैं, किंतु कवि ने स्वतः 'कवितावली' में (उत्तर० ७३) अपने जन्म के संबंध में कहते हुए 'जायो कुल मंगन' कहा है।"[1] सरयूपारीण-पक्ष में निम्नलिखित जन-श्रुति का भी उल्लेख किया जाता है :

"तुलसी परासर गोत दूबे पतिऔजा के"

(२) राजापुर तथा आसपास के गाँवों में बसने वाले ब्राह्मणों की बस्ती का पता लगा कर मिश्रबंधु कहते हैं कि वहाँ पर कान्यकुब्ज द्विवेदियों की बस्ती है, सरयूपारीण ब्राह्मणों (द्विवेदियों ?) की नहीं। इस लिए इस प्रकार की संभावना विशेष है कि तुलसीदास कान्यकुब्ज थे, सरयूपारीण नहीं, यदि वह वस्तुतः द्विवेदी थे। दूसरे, हमारे कवि का विवाह पाठकों के यहाँ हुआ था, किंतु सरयूपारीणों में पाठक द्विवेदियों से ऊँचे माने जाते हैं, इस लिए यह असंभव था कि—यदि तुलसीदास सरयूपारीण रहे होते तो—उन्होंने पाठकों के यहाँ विवाह किया होता। कान्यकुब्जों में,इस के विपरीत, पाठक द्विवेदियों से नीचे माने जाते हैं, इस लिए संभावना इस बात की है कि तुलसीदास कान्यकुब्ज थे, यद्यपि राजापुर में जनश्रुति यह है कि तुलसीदास सरयूपारीण थे।[2]

(३) सोरों जन्म-स्थान के समर्थकों का कहना है कि तुलसीदास सनाढ्य थे, और उन का गोत्र 'शुक्ल' था; अपने इन कथनों के संबंध में वह सोरों की सामग्री के अतिरिक्त क्रमशः २५२ वार्ता में उल्लिखित नंददास की वार्ता तथा 'विनय-पत्रिका' की निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत करते हैं :

"दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।"

(विनय० १३५)

और यह भी कहते हैं कि यदि गोस्वामी जी सनाढ्य न होते तो काशी में अपनी जाति-पाँति बतलाने में आनाकानी क्यों करते।[3]

२३. इन कथनों पर अलग-अलग हम क्रमशः विचार कर सकते हैं। पहले कथन को लीजिए। इस में दो बातें पूर्वकल्पित हैं : पहली यह कि कान्यकुब्जों में दान लेना गर्हित माना जाता है, तथा दूसरी यह कि 'जायो कुल

[1] इं० ऐं० १८९३, पृ० २६४ [2] 'हिंदी-नवरत्न' पृ० ६८

[3] देखिए ऊपर पृ० १३५

के चल पड़ती हैं। इस दशा में थोड़ी देर के लिए सोरों की सामग्री के तथा राजापुर की उपर्युक्त जन श्रुति के साक्ष्य में जहाँ पर अंतर है वहाँ पर यदि हम राजापुर का जन श्रुति का ही प्रामाणिक मानें तो भी संत तुलसी साहिब के उल्लेख इस का स्पष्ट विरोध करते हैं, और संत तुलसी साहिब की आत्म कथा के संबंध में ऊपर हम देख आए हैं कि अधिक से अधिक उसे हम किन्हीं परंपराओं का प्राचीनतम उल्लेख मान सकते हैं,[१] इस लिए यह एक विचित्र समस्या है कि सोरों के निकटवर्ती प्रांत में—हाथरस सोरों के निकट ही है—राजापुर जन्म स्थान होने का प्रमाण मिले और राजापुर और उस के आस पास सोरों जन्म स्थान होने का प्रमाण मिले। फलतः दोनों पक्षों के प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर यह कहना कठिन है कि दोनों में से कौन सा *स्थान कवि का जन्म स्थान है, और यह भी सर्वथा असंभव नहीं कि कोई* तीसरा स्थान इस पुनीत पद का अधिकारी हो। यह अवश्य निश्चित जान पड़ता है कि गोस्वामी जी बहुत समय तक राजापुर रहे थे और शाना उन्हों ने कदाचित् उसी सूकरक्षेत्र की की थी जो सोरों कहलाता है।

जाति-पाँति

२२. इस बात में कदाचित् संदेह नहीं किया जा सकता कि तुलसीदास ब्राह्मण थे। न केवल इस लिए कि इस के विरोध में कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं है बल्कि 'कवितावली' के निम्नलिखित छंद में यह ध्वनि निकलती है कि वे ब्राह्मण थे :

> भागीरथी जल पान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।
> मोको न लेनो न देनो कछू कलि भूलि न रावरी ओर चितैहौं॥
> जानि कै जोर करौ परिनाम तुम्हैं पछितैहौं पै मैं न भितैहौं।
> ब्राह्मण ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं त्यों ही तिहारे हिए न हितैहौं॥
> (कविता० उत्तर० १०२)

इस लिए वस्तुतः जा समस्या है वह यह है कि हमारे कवि की उप-जाति आदि क्या थी। इस संबंध में तीन विभिन्न कथन किए जाते हैं :

(१) स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी का अनुसरण करते हु

[१] देखिए ऊपर ४० ५९

स्वर्गीय सर जॉर्ज ग्रियर्सन का कहना था कि "तुलसीदास सरयूपारीण ब्राह्मण थे, कान्यकुब्ज नहीं, क्योंकि कान्यकुब्ज ब्राह्मण दान लेना तथा भिक्षा-याचना आदि गर्हित मानते हैं, किंतु कवि ने स्वतः 'कवितावली' में (उत्तर० ७३) अपने जन्म के संबंध में कहते हुए 'जायो कुल मंगन' कहा है।"[1] सरयूपारीण-पक्ष में निम्नलिखित जन-श्रुति का भी उल्लेख किया जाता है :

"तुलसी पराशर गोत दूबे पतिऔजा के"

(२) राजापुर तथा आसपास के गाँवों में बसने वाले ब्राह्मणों की बस्ती का पता लगा कर मिश्रबंधु कहते हैं कि वहाँ पर कान्यकुब्ज द्विवेदियों की बस्ती है, सरयूपारीण ब्राह्मणों (द्विवेदियों ?) की नहीं। इस लिए इस प्रकार की संभावना विशेष है कि तुलसीदास कान्यकुब्ज थे, सरयूपारीण नहीं, यदि वह वस्तुतः द्विवेदी थे। दूसरे, हमारे कवि का विवाह पाठकों के यहाँ हुआ था, किंतु सरयूपारीणों में पाठक द्विवेदियों से ऊँचे माने जाते हैं, इस लिए यह असंभव था कि—यदि तुलसीदास सरयूपारीण रहे होते तो—उन्हों ने पाठकों के यहाँ विवाह किया होता। कान्यकुब्जों में, इस के विपरीत, पाठक द्विवेदियों से नीचे माने जाते हैं, इस लिए संभावना इस बात की है कि तुलसीदास कान्यकुब्ज थे, यद्यपि राजापुर में जनश्रुति यह है कि तुलसीदास सरयूपारीण थे।[2]

(३) सोरों जन्म-स्थान के समर्थकों का कहना है कि तुलसीदास सनाढ्य थे, और उन का गोत्र 'शुक्र' था; अपने इन कथनों के संबंध में वह सोरों की सामग्री के अतिरिक्त क्रमशः २५२ वार्ता में उल्लिखित नंददास की वार्ता तथा 'विनय-पत्रिका' की निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत करते हैं :

"दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।"

(विनय० १३५)

और यह भी कहते हैं कि यदि गोस्वामी जी सनाढ्य न होते तो काशी में अपनी जाति-पाँति बतलाने में आनाकानी क्यों करते।[3]

२३. इन कथनों पर अलग-अलग हम क्रमशः विचार कर सकते हैं। पहले कथन को लीजिए। इस में दो बातें पूर्वकल्पित हैं : पहली यह कि कान्यकुब्जों में दान लेना गर्हित माना जाता है, तथा दूसरी यह कि 'जायो कुल

मगन' में आने वाले 'मगन' से ब्राह्मण का ही आशय लिया जा सकता है। जहाँ तक प्रथम पूर्व कल्पना का संबंध है, स्वर्गीय महामहोपाध्याय जी का कथन अशतः ठीक जान पड़ता है, क्यों कि शेरिंग भी सरयूपारीणों के कान्यकुब्जों से पार्थक्य का कारण बताते हुए कहते हैं "एक परंपरा के अनुसार सरयूपारीण ब्राह्मण कान्यकुब्जों की पंक्ति से इस कारण हटा दिए गए कि उन्हों ने दान लेना स्वीकार कर लिया।"[१] किंतु दूसरी पूर्वकल्पना ठीक नहीं ज्ञात होती, क्यों कि 'मगन' शब्द से उस का साधारण अर्थ भी लिया जा सकता है। रही जन श्रुति, उस को विशेष महत्व देना ठीक न होगा।

दूसरा मत दो तर्कों के आधार पर उपस्थित किया जाता है। पहला तर्क है राजापुर और उस के आस पास कान्यकुब्ज द्विवेदियों की बस्ती के होने का, और दूसरा द्विवेदियों और पाठकों के बीच विवाह-संबंधी प्रथा का। प्रथम के संबंध में यह सत्य हो सकता है कि राजापुर और उस के आस पास बसने वाले द्विवेदी कुल इस समय केवल कान्यकुब्जों के ही हों, किंतु यह असंभव नहीं कि पहले सरयूपारीण द्विवेदी कुल भी वहाँ बसते रहे हों, क्यों कि सं० १९४८ में राजापुर कान्यकुब्ज और सरयूपारीण जन क्षेत्रों की विभाजन रेखा पर बहुत कुछ सरयूपारीण जन क्षेत्र में स्थित था, जैसा उक्त वर्ष की जन-गणना की रिपोर्ट में दिए हुए संयुक्तप्रांत में ब्राह्मणों की बस्ती के नक्शे से ज्ञात होता है।[२] दूसरे तर्क के संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादक, जिन में से एक स्वतः सरयूपारीण ब्राह्मण थे, यह स्वीकार नहीं करते कि उन में पाठक द्विवेदियों से ऊँचे माने जाते हैं।[३]

तीसरा मत वार्तों की सामग्री, 'वार्ता' के उल्लेख, तथा 'विनय पत्रिका' की एक पंक्ति में आए हुए एक शब्द के आधार पर उपस्थित किया जाता है, और उस की पुष्टि इस प्रकार की जाती है कि यदि गोस्वामी जी सनाढ्य न होते तो काशी में उन्हें अपनी जाति पाँति बतलाने में आपत्ति क्यों होती। इन चारों आधारों में से प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ पर ऊपर सम्यक् रूप से विचार किया जा चुका है।[४] और उन की प्रामाणिकता और युक्ति युक्तता

के संबंध में हम अलग-अलग जिस परिणाम पर पहुँचे हैं वह निश्चय ही प्रस्तुत मत के लिए अनुकूल नहीं है। तृतीय के संबंध में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि 'दियो सुकुल जनम' का अर्थ है कि 'भगवान ने हमें अच्छे कुल में जन्म दिया' जो प्रसंग से स्पष्ट है, न कि यह कि 'शुक्र ने मुझे जन्म दिया' या 'भगवान ने मुझे शुक्र कुल में जन्म दिया।

२४. श्री भागीरथ प्रसाद दीक्षित 'विनय-पत्रिका' की एक अन्य पंक्ति पर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वह इस प्रकार है :

"कौन धौं सोमजागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेयी।"

(विनय० २०६)

और कहते हैं कि गजराज की तुलना 'वाजपेयी' से कर के कवि ने अनसोचे ही स्वतः कान्यकुब्ज होने का प्रमाण दे दिया है, क्योंकि सरयूपारीणों और सनाढ्यों में वाजपेयी नहीं होते, वे कान्यकुब्जों में ही होते हैं।[1] तर्क कुछ भारी अवश्य ज्ञात होता है, किंतु थोड़ा और निकट से विचार करने पर ज्ञात होगा कि 'वाजपेयी' का प्रयोग कवि ने यहाँ किसी ब्राह्मण उपजाति के अर्थ में नहीं किया है, वरन् 'सोमयागी' के समानांतर 'वाजपेययागी' के अर्थ में ही किया है। इसी प्रकार का प्रयोग उस ने अन्यत्र भी 'विनय-पत्रिका' के एक पद मे किया है :

बिरद गरीब निवाज राम को।......
बाजिमेध कब कियो अजामिल गज गायो कब साम को ?

(विनय० ९९)

प्रस्तुत प्रसंग मे हम एक साक्ष्य पर और विचार कर सकते हैं, वह है तुलसी साहिब का। उनका कथन है कि अपने पूर्व-जन्म में जब वह राजापुर में उत्पन्न हुए थे, वह कान्यकुब्ज थे।[2] उनके आत्मोल्लेखों पर विचार करते हुए ऊपर हम अन्यत्र इस परिणाम पर पहुँच चुके हैं कि अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि तुलसी साहिब ने हमारे कवि के जीवन-वृत्त से संबध रखने वाली कुछ अमूल्य किंवदंतियों और जनश्रुतियों का इतना पुराना संकलन उपस्थित किया है उससे पुराना संकलन हमें अन्यत्र नहीं मिलता। तुलसी साहिब का साक्ष्य महत्वपूर्ण एक तो इस लिए है कि यह किंवदंतियाँ और जनश्रुतियाँ आज की अपेक्षा उनके समय में कहीं अधिक अक्षुण्ण और

[1] 'माधुरी', जिल्द ७, भाग २, पृ० ८५ [2] देखिए ऊपर पृ० ५७

अविकृत रूप में उन्हें उपलब्ध रही होंगी—कम से कम १०० वर्ष पूर्व उनकी स्थिति वह न रही होगी जो आज है—और दूसरे, तुलसी साहित्य ने इस संबंध में जान बूझ कर इनमें से केवल उन्हीं का प्रतिपादन किया होगा जिन को वह सत्य समझते रहे होंगे, क्यों कि उनके कथन के असत्य ठहरने पर उन के महात्मापन और उन की पूर्व-जन्म की दिव्य स्मृति के निराकरण की आशंका उन्हें इस संबंध में सर्वथा सतर्क रखती रही होगी।

२१. प्रस्तुत परिस्थिति में फलतः गोस्वामी जी की जाति-पाँति की भी लगभग वही परिस्थिति है जो उन के जन्म-स्थान की और इस संबंध में भी अंतिम निर्णय करना प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर उपयुक्त न होगा।

तुलसीदास-नंददास

२६. सोरों जन्म-स्थान के समर्थकों का कहना है कि तुलसीदास और नंददास में परस्पर भ्रातृ-संबंध था, और सोरों की सामग्री के अतिरिक्त इस संबंध में एक प्रमाण और वह देते हैं, वह है '२५२ वार्ता में' संगृहीत "नंददास की वार्ता" का।[1] सोरों की सामग्री[2] तथा '२५२ वार्ता' की परीक्षा ऊपर की जा चुकी है।[3] केवल उन के आधार पर इस प्रकार के संबंध की कल्पना कदाचित् युक्तियुक्त न होगी। नाभादास जी ने अपने 'भक्तमाल' में तुलसीदास और नंददास दोनों के संबंध में एक-एक छप्पय लिखा है[4] और दोनों भक्तों की बड़ी प्रशंसा की है, किंतु किसी के भी छप्पय में इस प्रकार के संबंध की ओर संकेत नहीं किया है। साथ ही, नंददास का परिचय देते हुए उन्हें 'रामपुर ग्राम निवासी' और 'चंद्रहास अग्रज सुहृद' कहा है। नाभादास जी तुलसीदास तथा नंददास दोनों के समकालीन थे। यदि तुलसीदास और नंददास में भ्रातृ संबंध होता तो नंददास का परिचय देते हुए वह यही क्यों न करते कि उन तुलसीदास से उन का संबंध बताते जिन का उन्हों ने 'भक्तमाल' में में ही अन्यत्र परिचय दिया था—बजाय इस के कि उन 'चंद्रहास' के साथ उन का संबंध स्थापित करते जिन के संबंध में वह अपने 'भक्तमाल' में एक शब्द भी नहीं कहते। सोरों की सामग्री के अनुसार नंददास के सगे भाई

[1] देखिए ऊपर पृ० १२४
[2] देखिए ऊपर पृ० ८०
[3] देखिए ऊपर पृ० ६१
[4] 'भक्तमाल' १२९ तथ

चंद्रहास ही थे, तुलसीदास नहीं[1], इस लिए कहा यह जा सकता है कि नाभादास जी ने केवल चंद्रहास का ही भ्रातृ-संबंध नंददास का परिचय देते हुए दिया हो; फिर भी किसी और प्रकार से दोनों महानुभावों की सन्निकटता नाभादास जी व्यक्त कर ही सकते थे। सं० १७६६ में उक्त छप्पयों पर टीका करते हुए प्रियादास जी भी इस संबंध का उल्लेख नहीं करते। इस लिए प्रस्तुत साक्ष्यों के आधार पर यह विश्वास करना ज़रा कठिन ज्ञात होता है कि तुलसीदास और नंददास भाई-भाई थे।

जन्म और जीवन-संघर्ष का प्रारंभ

२७. 'कवितावली' का एक छंद—जिस के कुछ शब्द ऊपर उद्धृत किए जा चुके हैं—इस प्रकार है :

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।
तुलसी सो साहिब समर्थ को सु सेवक है
सुनत सिहात सोच विधि हू गनक को।
नाम राम रावरो सयानो किधौं बावरो जो
करत गिरी तें गरु तिन ते तिनक को॥

(कविता० उत्तर० ७३)

एक और दूसरा छंद उसी ग्रंथ का इस प्रकार है :

मातु पिता जगं जाय तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकनि लागि ललाई।
राम सुभाउ सुन्यो तुलसी प्रभु सो कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सो साहब खोरि न लाई॥

(कविता० उत्तर० ५७)

और 'विनय-पत्रिका' का एक पद इस प्रकार है :

[1] देखिए ऊपर पृ० १०५

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पा हूं।
हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलनं छम कियो न सभावन काहू।
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूं।
काहे को रोस दोस काहि धौं मेरे ही अभाग मो सों सकुचत छुइ छाहू।
दुखित देखि सतन कह्यो सोचें जनि मन माहूं।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहू।
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिना हू।
नाम की महिमा सील नाथ को मेरो भलो बिलोकि अब ते सकुचाहुं सिहाहू॥
(विनय० २७५)

'कवितावली' के उपर्युक्त प्रथम छंद में कवि दरिद्र कुल में जन्म ग्रहण के उल्लेख के पश्चात् कहता है कि उस के "माता पिता बधावे का बजाया जाना सुन कर अत्यंत परितप्त हुए और उन्होंने पाप किया।" कुछ लेखकों का विचार है कि इस का कारण यह है कि तुलसीदास पाप कर्म की संतान थे।[१] प्रस्तुत लेखक यह नहीं समझ पाता है कि माता ने जब तुलसीदास को अपने उदर में स्थान देकर "पाप" नहीं किया था तो उन के जन्म के बधावे को सुन कर उस ने पाप कैसे किया, साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त पंक्ति में केवल माता ही नहीं है "पिता" भी है।

वास्तविकता कुछ और ही जान पड़ती है। हिंदुओं में पुत्र का जन्मोत्सव कुछ अन्य संबंधियों द्वारा ढोल तथा संगीत के साथ, जिसे 'बधावा' कहते हैं, मनाया जाता है। साधारणतः मूल में पुत्र जन्म पर मूल शांति के पूर्व यह नहीं मनाया जाता, क्यों कि उन हिंदुओं के घरों में जिन के यहां ज्योतिष शास्त्र में विश्वास है यह एक सामान्य धारणा है कि अभुक्त-मूल में उत्पन्न हुआ पुत्र निरपवाद रूप से पिता अथवा माता के जीवन के लिए अनिष्टकारक होता है और साधारण कोटि के मूल में भी उत्पन्न होने पर कम से कम पिता के धनादि की क्षति करता है। अतएव मूल शांति होने पर ही यह आनंदोत्सव मनाया जाता है, विशेष कर उस मूल की दशा में जिसे कि 'अभुक्त मूल' कहते हैं, और बिना मूल शांति हुए तो 'बधावा' सुनना भी वर्जित माना जाता है। लेखक का विचार है कि यह रीति इतनी

[१] चंद्रराम

लिए यथेष्ट हो सकती है। प्रस्तुत मत की पुष्टि कदाचित् उपर्युक्त छंद के तीसरे चरण से भी होती है, जिस में कवि कहता है कि "विधि और गणक (ज्योतिषी) तक उस से ईर्षा करते हैं जब वे यह सुनते हैं कि तुलसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का दास है।"

'कवितावली' के दूसरे छंद में वह कहता है "मुझे जन्म देकर मेरे माता-पिता ने मुझे छोड़ दिया, तथा दैव ने भी मुझे अभागा उत्पन्न किया।" इसी प्रकार वह 'विनय-पत्रिका' से उद्धृत पद में कहता है "मेरे माता-पिता ने मुझे उत्पन्न कर के कुटिल कीट की भाँति त्याग दिया।" तो क्या कवि के माता-पिता का उसे उस के शैशवकाल ही में उसे त्याग देना संभव है? कभी-कभी ऐसा विचार भी प्रकट किया गया है कि 'अभुक्त-मूल' में उत्पन्न होने के कारण ही उन्हों ने उस को त्याग दिया होगा।[1] परंतु यह कारण प्रतीतिजनक नहीं ज्ञात होता है, क्यों कि ज्योतिषियों ने ही कुछ ऐसे साधनों की व्यवस्था की है जिन के द्वारा मूल-शांति की जा सकती है। दरिद्रता भी पुत्र-त्याग का कारण नहीं हो सकती, क्यों कि दरिद्र से दरिद्र माता-पिता भी अपनी संतान को नहीं छोड़ते हैं। तो फिर इस घटना का समाधान हम और कैसे कर सकते हैं? *संभवतः एक मात्र समाधान यह है कि उस के माता-पिता* का देहांत उस के बचपन ही में हो गया था।

२८. 'विनय-पत्रिका' के उपर्युक्त उद्धरण में आए हुए "कुटिल कीट" से सोरों वाले किसी 'कुटीला' नामक ऐसे कीड़े का आशय निकालते हैं जो संतान को जन्म देने के बाद ही मर जाता है, और कहते हैं कि कवि के माता-पिता का देहांत उस के जन्म के कुछ ही समय बाद हो गया होगा इस लिए उस ने ऐसा लिखा है। किंतु इस अर्थ में शंका यह है कि कदाचित् मादा कीड़ा ही मरता होगा, नर नहीं, और यहाँ पर "माता-पिता हू" है; दूसरे, "तनु जनेउ" के जो पाठ-भेद मिलते हैं वे इस अर्थ का विरोध करते हैं: सं० १६६६ की एक प्रति में, जिस का परिचय आगे दिया जायगा[2], "तनुज तऊ" पाठ मिलता है; और एक अन्य प्राचीन प्रति में, जिस की तिथि अज्ञात है और जो प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है, "तुचा तजत" पाठ है। इन में से कौन सा पाठ समीचीन है यह कहना कठिन है; किंतु सं० १६६६ की प्रति का पाठ हम न ग्रहण

[1] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० २६५ [2] देखिए नीचे अध्याय ४

कर इधर की प्रतियों का पाठ ग्रहण करें इस बात का पर्याप्त कारण नहीं दिखाई पड़ता, और इस पाठ को लेने पर 'कुटीला' आशय की सगति नहीं बैठती, इस लिए "कुटिल कीट" से साधारणतः प्रचलित अर्थ लेना ही कदाचित् ठीक होगा।

२६. दरिद्र कुल में उत्पन्न होकर माता पिता से अपने शैशव-काल ही में वंचित होने के कारण हमारे कवि को भिक्षा के अतिरिक्त जीवन निर्वाह का कदाचित् और कोई साधन नहीं रहा। अपने जीवन के प्रभात ही में उसे इस लिए जीवन-सघर्ष का सामना करना पड़ा। 'विनय-पत्रिका' के उपर्युक्त पद में वह कहता है : अपने दाँतों को दिखलाते हुए तथा उन के चरणों का स्पर्श करते हुए मैं अपनी आपदाओं की कथा बारबार दुहराता रहा, इस ससार में दसों दिशाओं में ऐसे दानी तथा परोपकारी पुरुष हैं जो कि मेरी कठिनाइयों का अंत कर सकते थे, परंतु किसी ने मुझ से बात भी न की।" इसी प्रकार 'कवितावली' के उपर्युक्त छद में वह कहता है "बचपन से ही मैं द्वार द्वार निरुद्देश्य, क्षुधित, शोकग्रस्त और चारों पुरुषार्थों को चने के चार दानों का पर्यायवाची जानता हुआ भटकता रहा।" इसी प्रकार 'कवितावली' के दूसरे छद में वह कहता है कि "मेरे माता पिता ने मुझे जन्म देकर त्याग दिया था, और विधाता ने भी भाग्यहीन बनाया था, इस लिए निरादर का पात्र तथा कादर बन कर मैं कुत्तों के आगे फेंकी हुई रोटी के टुकड़ों की लालच में इधर-उधर फिरा करता था।"

३०. 'विनय-पत्रिका' के उपर्युक्त छद में वह कहता है कि "सतों ने मुझे दुखित देख कर कहा 'चिंता न करो, राम ने उन पशुओं को भी नहीं भुलाया जो कि तुम से भी अधिक घृणित तथा पापी थे, यदि कोई उन की शरण में जाता है तो राम उस की सहायता उस समय तक करते हैं जब तक कि वह दुखों से मुक्त नहीं हो जाता है।' और जैसे ही तुलसी ने राम का आश्रय लिया वह सुखी हो गया—यद्यपि उस के हृदय में आराध्य के प्रति भक्ति और पूर्ण निर्भरता न थी।" फलत., कवि कदाचित् अपने प्रारंभिक युवाकाल में ही राम-भक्ति में मन लगाने लगा था। इसी समय वह तत्कालीन रामभक्त सतों के सम्पर्क में आया हुआ जान पड़ता है, जिन्हों ने उसे राम के तईं अपने को समर्पित करने का उपदेश दिया।

यह सर्वथा असभव नहीं कि उपर्युक्त आत्मोल्लेखों में थोड़ा-सा अति

छंदों का साधारण अर्थ तो स्पष्ट है, किंतु उस का सामंजस्य कवि के व्यावहारिक जीवन से करने के लिए देखना हमें यह है कि अपने शैशव-काल में हनुमान के कृपालु करों की सहायता पाने का जो उल्लेख उस ने किया है वह किस दृष्टिकोण से अधिक युक्तिसगत रूप में समझा जा सकता है, और उपर्युक्त उल्लेखों का हमें किस दृष्टि से तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए।

३२. 'बाहुक' के उपर्युक्त पहले छंद में वे कहते हैं "हे निःसहायों के बंधु मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ कि तुम ने मुझे अल्पवयस्क देख कर मेरे बचपन ही में मुझे अपना बना लिया और अपनी असीम एवं अनुपम दयालुता का दान मुझे दिया।" फिर दूसरे छंद में वे कहते हैं "तुम ने जिन रोटी के टुकड़ों को मुझे दिया उन्हीं से मेरा पालन-पोषण हुआ। इस लिए इस समय भी यदि कोई त्रुटि मुझ से हुई हो तो मुझे (असहाय) मत छोड़ देना।" और तीसरे छंद में वे कहते हैं "हे शरणागत तथा दीन-रक्षक, तुम ने मेरा भरण-पोषण अपने पुत्र के समान किया। मैं 'कंगाल' कहा जाता हुआ दर-दर भिक्षा माँगता फिरता था। हे अंजनीकुमार वीर! जब मैं निःसहाय था उस समय तुम ने मेरा पालन-पोषण किया। अतएव, मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम कभी इस तुलसीदास को नहीं भूल सकते जो कि तुम्हारा ही है।" इन वाक्यों को पढ़ने के उपरांत ज्ञात यह होता है कि बाल्यावस्था में कवि किसी हनुमान मंदिर या मंदिरों से अपने जीवन-निर्वाह के लिए सहायता प्राप्त करता था; हनुमान मंदिरों में अब भी प्रसाद खूब चढ़ा करता है इस लिए यह असंभव भी नहीं है; फलतः कदाचित् इसी अर्थ में हमें उपर्युक्त उल्लेखों का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए।

गुरु

३३. अपने गुरु के विषय में तुलसीदास ने बहुत कम संकेत किया है, और निम्नलिखित अंश ही उन के विषय में वह सब कुछ है:

बंदौं गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥

(मानस, बाल० बंदना)

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥

छंदों का साधारण अर्थ तो स्पष्ट है, किंतु उस का सामंजस्य कवि के व्यावहारिक जीवन से करने के लिए देखना हमें यह है कि अपने शैशव-काल में हनुमान के कृपालु करों की सहायता पाने का जो उल्लेख उस ने किया है वह किस दृष्टिकोण से अधिक युक्तिसंगत रूप में समझा जा सकता है, और उपर्युक्त उल्लेखों का हमें किस दृष्टि से तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए।

३२. 'बाहुक' के उपर्युक्त पहले छंद में वे कहते हैं "हे निःसहायों के बंधु मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ कि तुम ने मुझे अल्पवयस्क देख कर मेरे बचपन ही में मुझे अपना बना लिया और अपनी असीम एवं अनुपम दयालुता का दान मुझे दिया।" फिर दूसरे छंद में वे कहते हैं "तुम ने जिन रोटी के टुकड़ों को मुझे दिया उन्हीं से मेरा पालन-पोषण हुआ। इस लिए इस समय भी यदि कोई त्रुटि मुझ से हुई हो तो मुझे (असहाय) मत छोड़ देना।" और तीसरे छंद में वे कहते हैं "हे शरणागत तथा दीन-रक्षक, तुम ने मेरा भरण-पोषण अपने पुत्र के समान किया। मैं 'कंगाल' कहा जाता हुआ दर-दर भिक्षा माँगता फिरता था। हे अंजनीकुमार वीर! जब मैं निःसहाय था उस समय तुम ने मेरा पालन-पोषण किया। अतएव, मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम कभी इस तुलसीदास को नहीं भूल सकते हो जो कि तुम्हारा ही है।" इन वाक्यों को पढ़ने के उपरांत ज्ञात यह होता है कि बाल्यावस्था में कवि किसी हनुमान मंदिर या मंदिरों से अपने जीवन-निर्वाह के लिए सहायता प्राप्त करता था; हनुमान-मंदिरों में अब भी प्रसाद खूब चढ़ा करता है इस लिए यह असंभव भी नहीं है; फलतः कदाचित् इसी अर्थ में हमें उपर्युक्त उल्लेखों का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए।

गुरु

३३. अपने गुरु के विषय में तुलसीदास ने बहुत कम संकेत किया है, और निम्नलिखित अंश ही उन के विषय में वह सब कुछ है:

> बंदौं गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
> महा मोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥
>
> (मानस, बाल० वंदना)
>
> मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
> समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥

तदपि कही गुरु बारहिं बारा । समुझि परी कछु मति अनुसारा ।
भाषाबद्ध करबि मैं सोई । मोरे मन प्रबोध जेहि होई ॥
(मानस, बाल० ३०, ३१)

बहुमत सुनि गुनि पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो ।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो ॥
(विनय० १७३)

३४. कवि के गुरु के विषय में तत्कालीन प्रमाणों का सर्वथा अभाव है। विल्सन संभवतः किसी जनश्रुति के आधार पर कवि के गुरु का नाम जगन्नाथ-दास बतलाते हैं, जो कि उन्हीं के अनुसार नाभादास के एक शिष्य थे।[1] परंतु यह सर्वथा असंभव है जब कि नाभादास ने, जैसा हम अभी देखेंगे, हमारे कवि की प्रशंसा इतने सम्मानपूर्ण शब्दों में की है जितने सम्मानपूर्ण शब्दों में कदाचित् कोई भी अपने प्रशिष्य की न करेगा।

'भविष्य पुराण' कहता है कि कवि के गुरु काशी निवासी राघवानंद थे, और उन्हों ने ही इन्हें रामानंदी संप्रदाय के अंतर्गत अंगीकृत किया था।[2] परंतु इस कथन को पुष्ट करने वाला और कोई प्रमाण नहीं है।

ग्रियर्सन ने कवि की गुरु-परंपरा की दो सूचियाँ दी हैं।[3] उन दोनों के अनुसार वे रामानंद के पश्चात् इस प्रकार आठवें ठहरते हैं :

(१) रामानंद—(२) सुरसुरानंद—(३) माधवानंद—(४) गरीबदास—(५) लक्ष्मीदास—(६) गोपालदास—(७) नरहरिदास—(८) तुलसीदास। और इन सूचियों की प्रामाणिकता के विषय में कहते हुए वे एक के विषय में बतलाते हैं कि वह अधिकांश संभवतः मौखिक परंपरा के आधार पर निर्मित है, और दूसरी के संबंध में वे कहते हैं कि उस के आधार का उन को ज्ञान नहीं है।[4] नाभादास का 'भक्तमाल' ही इस गुरु-परंपरा की प्रामाणिकता की जाँच के लिए एकमात्र विश्वसनीय साक्ष्य है। हमारे सौभाग्य से रामानंद के अनुयायियों के विषय में जानने के लिए यह एक महत्वपूर्ण साधन इस लिए है कि नाभादास स्वयं उन्हीं की शिष्य-परंपरा में थे। नाभादास के अनुसार

सुरसुरानंद रामानंद जी के शिष्य थे,[1] परंतु माधवानंद तथा उपर्युक्त सूची के शेष संतों के संबंध में वे यह नहीं लिखते कि वे सुरसुरानंद की शिष्य-परंपरा में हुए थे अथवा नहीं। दूसरी ओर, नाभादास सुरसुरानंद की परंपरा में ऐसे अप्रसिद्ध संतों तक का उल्लेख करना नहीं भूलते जैसे केशव लटेरा का[2]। यह कम संभव ज्ञात होता है कि 'भक्तमाल' के सुमेरु तुलसीदास के विषय में इस लिए लिखते हुए इस प्रकार का उल्लेख करना भूल जाते यदि तुलसीदास भी उसी शिष्य-परंपरा में होते। अतएव, ग्रियर्सन की सूचियों पर विश्वास करना कठिन हो जाता है।

कुछ लोग कवि-कथित "नर रूप हरि" के आधार पर, जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, कहते हैं कि कवि के गुरु का नाम-'नरहरि' था—या कुछ ऐसा ही दूसरा था जिस का प्रथम पद 'नर' और दूसरा 'हरि' अथवा उस का पर्यायवाची 'सिंह' था। परंतु यहाँ पर इस ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक होगा कि प्रत्येक हस्तलिखित प्रति में पाठ एक सा नहीं है: कुछ में तो "हरि" पाठ पाया जाता है, किंतु कुछ में "हर" पाया जाता है,[3] और यह कहना सरल नहीं है कि इन दोनों में से कौन सा पाठ प्रामाणिक है। फिर, यदि कवि के गुरु का नाम 'नरहरि' या उस का कोई पर्यायवाची स्वीकृत भी कर लिया जाय तो भी यह हमारी ज्ञान-वृद्धि में वस्तुतः कोई सहायता नहीं करता जब तक कि हमें उन के विषय में कुछ और विशेष बातें न ज्ञात हो सकें क्योंकि अकेले नाभादास ने ही इसी नाम के छः संतों का उल्लेख किया है।[4] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सभी रामानंद जी के समय से ले

[1] 'भक्तमाल', छप्पय ३६

[2] वही, १७२

[3] उदाहरणार्थ, देखिए सं० १८७१ की एक प्रति जो काशी के राय कृष्णदास जी के पास है, और सं० १८७८ की एक प्रति जो प्रस्तुत लेखक के पास है; खेद है कि वह पृष्ठ जिस पर कि इस सोरठे को होना चाहिए था सं० १६६१ की हस्तलिखित प्रति में जिस पर हम आगे (अध्याय ४) विचार करेंगे अब नहीं है।

[4] (१) नरहरि : रामानंद के शिष्य, छप्पय ३६, ६७; (२) नरहरि : अनंतदेव के शिष्य, छप्पय ३७; (३) नरसिंह : अग्रदास के शिष्य, छप्पय १५०; (४) नरहरियानंद : छप्पय १००; (५) नरहरि : छप्पय १००; तथा (६) नरसिंहारण्य : छप्पय १८१

कर हमारे कवि के समय तक के भीतर ही हुए थे, और इन में से तीन तो नाभादास जी के अनुसार रामानंद जी की शिष्य-परपरा के अंतर्गत ही हुए थे।

सोरों की सामग्री के आधार पर कहा जाता है कि कवि के गुरु का नाम नरसिंह चौधरी था, और वे सोरों-निवासी थे; वहाँ पर वे एक मंदिर भी दिखाते हैं, जिसे वे उन्हीं का मंदिर कहते हैं। ऊपर इस सामग्री का परिचय प्राप्त करते हुए इसकी प्रामाणिकता के संबंध में भी विचार किया जा चुका है[१] इस लिए उस के संबंध में पुनर्विचार की आवश्यकता नहीं है।

विवाहित जीवन तथा वैराग्य

३५. इस में कदाचित् संदेह नहीं कि तुलसीदास ने विवाहित-जीवन व्यतीत किया था, क्यों कि यदि वस्तुस्थिति इस के विपरीत होती तो 'दोहावली' में संकलित इस दोहे का कोई अवसर ही न उपस्थित होता :

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि कै बिमल बिबेक बिराग॥

(दोहा० २५५)

'बाहुक' के निम्नलिखित छंद से भी कदाचित् इस बात का समर्थन होता है—बाल्यावस्था में रामसम्मुख होने के उपरान्त "लोक रीति" में पड़ने का अभिप्राय यही ज्ञात होता है :—

बालपने सूधे मन राम सनमुख गयो
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
परयो लोक रीति में पुनीत प्रीति राम राय
मोहबस बैठो तोरि तरक तराक हौं।
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूल गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥

(बाहुक ४०)

कहा जाता है कि वैराग्य के पूर्व वे अपनी पत्नी पर अत्यधिक आसक्त थे, और राम-भक्ति की ओर उन को अग्रसर करने की उत्तरदायिनी उन की

[१] देखिए ऊपर पृ० ८०

यह पत्नी ही थी। परतु स्वय कवि ने अथवा उन के किसी समकालीन व्यक्ति ने इस का उल्लेख नहीं किया है। यह अवश्य है कि मौखिक परपरा इस सबध में व्यापक तथा एकरूप है। प्रियादास ने 'भक्तमाल' के तुलसीदास विषयक छप्पय की टीका का आरभ करते हुए इसी कथा का उल्लेख किया है।[1]

२६ गृह त्याग के उपरात कवि का स्वभावत एकात जीवन और समाज सबद्ध जीवन में से एक को ग्रहण करना था, उस ने मध्यम मार्ग अपनाया, ऐसा 'दोहावली' के एक दोहे से ध्वनित होता है

घर छोड़े घर जात है घर राखे घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेम पुर छाय

(दोहा० २५६)

मूल नाम

२७ कवि ने 'कवितावली' के एक छद में कहा है कि उस का नाम "तुलसी" था, जिस में उस ने किसी समय "दास" जोड़ लिया

नाम तुलसी पै भोंड़े भाग सो कहायो दास
कियो अगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।

(कविता०, उत्तर० १३)

इस लिए मूल नाम या तो "तुलसी" ही रहा होगा या ऐसा ही कोई दूसरा नाम जिस का प्रथम शब्दाश "तुलसी" था और यह असभव नहीं कि उसी का दीक्षित होने के अनतर "तुलसीदास" हो गया हो।

२८ अन्यत्र उस ने उल्लेख किया है कि उस का नाम "रामबोला" था, जो कि उस के स्वामी राम द्वारा उसे प्राप्त हुआ था

राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम
काम यहै नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं।

(विनय० ७६)

'रामबोला' नाम हौं गुलाम राम साहि को।

(कविता०, उत्तर० १००)

स्पष्ट है कि यह उस का आध्यात्मिक नाम था, जैसा कभी कभी वैष्णव

[1] देखिए ऊपर पृ० ६०

भक्तों का हुआ करता है, और केवल इतना ही व्यक्त करता है कि नाम-परण को हमारा कवि आराध्य की कदाचित् सब से बड़ी सेवा मानता था।

काशी-गमन तथा काशी-निवास

३६- जान पड़ता है कि तुलसीदास सं० १६२१ के पहले किसी समय काशी च गए थे, क्यों कि 'रामाज्ञा-प्रश्न' के निम्नलिखित दोहे में उन्हों ने उसी वर्ष ईं गंगाराम को संबोधन किया है, जो कहा जाता है कि काशी में प्रह्लाद-ट के निवासी थे[1] :

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगाराम॥

(रामाज्ञा० १-७-७)

४०. तत्पश्चात् उन्हों ने काशी को अपना निवास-स्थान सा बना लिया था, क्यों कि उस का उल्लेख प्रायः उन्हों ने रामचरित-मानस[2] 'विनय-पत्रिका[3]' 'दोहावली'[4], कवितावली'[5], और 'बाहुक'[6] में किया है। वे अन्य तीर्थों की भी यात्रा किया करते थे। यह निश्चित है कि वे कई बार चित्रकूट गए थे।[7] कुछ समय तक वे अयोध्या में[8] कदाचित् तुलसी-चौरा नामक स्थान पर रहे थे।[9] वे प्रयाग[10], सीतावट[11] और कदाचित् बदरिकाश्रम भी[12] गए थे। फिर भी, मालूम होता है कि उन्हों ने काशी को अपना स्थान-सा बना रक्खा था, और उसे उन्हों ने मृत्यु-पर्यन्त न छोड़ा, और प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार वहीं असीघाट पर उन्हों ने शरीर-त्याग किया।

मित्र और स्नेही

४१. ऊपर अभी हम ने एक गंगाराम जी का उल्लेख किया है, जिन्हें

[1] ना० प्र० प० भाग १९, पृ० ३२९
[2] मानस, किष्कि० १
[3] विनय० २६४
[4] दोहा० १८०
[5] कविता०, उत्तर० १६५, १६७
[6] बाहुक ४२
[7] कविता०, उत्तर० १४१, १४२; तथा विनय० २३, २४, २६४
[8] मानस, बाल० ३४
[9] देखिए ऊपर पृ० ७६
[10] कविता०, उत्तर० १४४, १४५, १४६, १४७
[11] कविता०, उत्तर० १३८, १३९, १४०
[12] विनय० ६०

कवि ने 'रामाज्ञा प्रश्न' में संबोधित किया है। बहुत समय तक उन के उत्तराधिकारियों के पास सं० १६५५ की लिखी हुई इस कृति की एक हस्तलिखित प्रति मौजूद थी जो कवि की लिखी हुई मानी जाती थी।[1] अब भी उन के पास एक चित्र है जिसे वे कवि का बताते हैं।[2] टोडर कवि के एक दूसरे मित्र थे, जो काशी के एक जमींदार थे। उन की मृत्यु के बाद गोस्वामी जी ने उन की जमींदारी का बँटवारा उन के उत्तराधिकारियों में एक पंचायतनामे के द्वारा कर दिया था जिस की शीर्ष की कुछ पंक्तियाँ, उन्हीं की लिखी हुई कही जाती हैं। पंचायतनामे पर सं० १६६६ की तिथि लिखी है, और अब वह काशिराज के संग्रह में है।[3] टोडर के उत्तराधिकारी आज तक कवि की बर्षी मनाते हैं, और उस की मृत्यु तिथि पर सीधा बाँटते हैं।[4] कहा जाता है कि नवाब अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना भी कवि के मित्र थे, जो असंभव नहीं है। ख़ानख़ाना सं० १६४६-४८ के बीच बनारस के हाकिम थे,[5] और उस समय यह असंभव नहीं कि कविता के इस प्रसिद्ध संरक्षक ने अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि से, जब कि वह वहीं था, मैत्री की हो। मौखिक परंपरा द्वारा यह बात भी चली आ रही है कि मानसिंह तथा कुछ अन्य राजे कवि के दर्शनों को जाया करते थे।[6] यह असंभव नहीं लगता है, क्यों कि कवि स्वयं कहता है :

घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाँय।
जो तुलसी तब राम बिनु सो अब राम सहाय॥

(दोहा० १०९)

जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस
खाए टूक सब के बिदित बात दुनी सो।
मानस बचन काय किए पाप सति भाय
राम को कहाय दास दगाबाज पुनी सो।
राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप
तुलसी से जग मानियत महामुनी सो।
अति ही अभागो अनुरागत न राम पद
मूढ़ एतो बड़ो अचरज देखि सुनी सो॥
(कविता०, उत्तर० ७२)

नाभादास का छप्पय भी प्रमुख रूप से हमारे कवि के प्रति इसी श्रद्धा से प्रेरित हो कर लिखा गया जान पड़ता है :

त्रेता काव्य निबंध करिव सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन।
पुनि भक्तन सुख देन बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रस मत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी।
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लिए।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भए॥
(भक्तमाल, छप्पय १२९)

पीछे के संतों और कवियों ने तो इस विश्वास की परंपरा को बनाए रक्खा ही है, महाराष्ट्र के भक्त कवि मोरोपंत का ही उल्लेख इस संबंध में यथेष्ट होगा।[1]

विरोध

४३ 'दोहावली' के निम्नलिखित दोहों में इस प्रकार की ध्वनि स्पष्ट है कि हमारे कवि का विरोध भी होने लगा था :

तुलसी रघुबर सेवकहिं खल डाँटत मन माखि।
बाजराज के बालकहिं लवा दिखावत आँखि॥
रावनरिपु के दास तें कायर करहिं कुचालि।
खर दूषन मारीच ज्यों नीच जाहिंगे कालि॥

[1] देखिए ऊपर पृ० ७२

पुन्य पाप जस अजस के भावी भाजन भूरि।
सकट तुलसीदास को राम करहिंगे दूरि॥
भली कहैं बिनु जानेहुँ बिनु जाने अपवाद।
ते नर गादुर जानि जिय करिय न हरष बिषाद॥
पर सुख संपति देखि सुनि जरहि जे जड़ बिनु आगि।
तुलसी तिनके भाग ते चलै भलाई भागि॥
तुलसी जे कीरति चहैं पर कीरति को खोय।
तिनके मुँह मसि लागि है मिटिहि न मरिहैं धोय॥
माँगि मधुकरी खात जे सोवत पाँव पसारि।
पाप प्रतिष्ठा बढ़ि परी ताते बाढ़ी रारि॥
रामायण अनुहरत सिख जग भो भारत रीति।
तुलसी सठ की को सुनै कलि कुचालि पर प्रीति॥

(क्रमशः दोहा० १४४, १४५, १४६, ३८७, ३८८, ३८९, ४१४, ४४५)

'कवितावली' के भी कुछ छंदों में इसी प्रकार का उल्लेख होता है;[1] केवल एक छंद उद्धृत करना यथेष्ट होगा :

कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।
साधु जानैं महासाधु खल जानैं महाखल
बानी झूठी साँची कोटि उठत हबूब है।
चहत न काहू सों न कहत काहू को कछू
सब की सहत उर अन्तर न ऊब है।
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है॥

माने जा सकते जैसा आगे ज्ञात होगा[1], फलत: यह कहना कठिन है कि इन बाधाओं का समय क्या है। एक विशेषता उपर्युक्त दोहों में से चार में अवश्य है: वह यह है कि वे 'सतसई' (रचना-काल सं० १६४२ ?) में भी पाए जाते हैं।[2] किंतु 'सतसई' के रचना काल के संबंध में संदेह किया जा सकता है, जैसा आगे किया भी गया है।[3] इस लिए काल निर्धारण की समस्या प्रस्तुत प्रसंग में बनी ही रह जाती है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि इस प्रकार का विरोध कवि की सुख-संपत्ति, कीर्ति और प्रतिष्ठा वृद्धि के साथ प्रारंभ हुआ, और यह वृद्धि कदाचित् 'मानस' की समाप्ति के बाद ही विशेष रूप से हुई, क्यों कि और पहले की रचनाएँ—और बहुत कुछ बाद की भी—उतनी लोकप्रिय न हुईं जितनी 'मानस'।

४५. गोस्वामी जी का एक और प्रकार का विरोध उनकी जाति पाँति के प्रश्न को ले कर खड़ा हुआ था। 'कवितावली' के अनेक छंदों में कवि ने उस आक्षेप का खरा उत्तर दिया है:

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै किन कोऊ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥
(कविता०, उत्तर० १०६)

मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग
साह ही को गोत गोत होत है गुलाम को।
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को॥
(कविता०, उत्तर० १०७)

'विनय पत्रिका' के भी एक पद में इसी प्रकार का उत्तर है—यद्यपि वह इतना खरा नहीं है :

> रोग कहैं पोचु सो न सोचु न सँकोच मेरे
> ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।
> तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
> प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं
>
> (विनय० ७६)

इस प्रकार का विरोध तत्कालीन रूढ़िवादी ब्राह्मण-समाज का कार्य रहा होगा, क्यों कि और किसी को क्या पड़ी थी कि जाति-पाँति के पचड़े इस विरक्त भक्त के संबंध में खड़े करता। ऐसा जान पड़ता है कि अंधी जनता पर इसका कुछ प्रभाव भी पड़ा, जैसा कि 'विनय-पत्रिका' के एक अन्य पद से ध्वनित होता है, यद्यपि हमारा कवि उस से ज़रा भी विचलित न हुआ :

> रीझि बूझि सब की प्रतीति प्रीति एही द्वार
> दूध को जर्‌यो पियत फूँकि फूँकि मह्यो हौं।
> रटत रटत लट्‌यो जाति पाँति भाँति घट्‌यो
> जूठनि को लालची न चाह्यो दूध नह्यो हौं।
> अनत चह्यो न भलो सुपथ सुचाल चल्यो
> नीके जिय जानि इहाँ भलो अनचह्यो हौं।
> तुलसी समुझि समुझायो मन बार बार
> अपनो सो नाथ हूँ सों कहि निरबह्यो हौं॥
>
> (विनय० २६०)

तुलसीदास वर्णाश्रम-धर्म के पूरे समर्थक थे, और ब्राह्मण-सेवा तक का उपदेश रामभक्ति के साधन-रूप में करने वाले थे— जैसा आगे ज्ञात होगा।[1] फिर क्या कारण इस विरोध का हो सकता है? संभवतः इस विरोध का कारण पंडितों का एक संकुचित स्वार्थ था : 'मानस'-रचना के अनंतर उन की पंडिताई कदाचित् जनसाधारण के लिए उतनी अनिवार्य न रह गई होगी जितनी उस के पूर्व थी, अथवा कम से कम उन्हें इस प्रकार का भय हुआ होगा, और असंभव नहीं यदि इसी लिए उन्होंने तुलसीदास का विरोध किया हो।

[1] देखिए नीचे अध्याय ७

४६. एक और तीसरे प्रकार का विरोध काशी के शिवोपासकों ने, कदाचित् शिव मंदिरों के पुजारियों ने किया। इस विरोध का उल्लेख शिव से प्रार्थना करते हुए कवि 'कवितावली' तथा 'विनय-पत्रिका' में इस प्रकार करता है:

देवसरि सेवौं बामदेव गाँव रावरेई
नाम राम ही के मांगि उदर भरत हौं।
दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछु
लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं।
एते पर हू जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै
ताको जोर देवे दीन द्वारे गुदरत हौं।
पाइकै उराहनौ उराहनो न दीजे मोहिं
काल कला कासीनाथ कहे निबरत हौं।

(कविता०, उत्तर० १६७)

गाँव बसत बामदेव कबहुँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे।
वेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोरे॥

(विनय० ८)

शिवोपासक पुजारियों के विरोध का कारण कदाचित् आसानी से समझा जा सकता है। यद्यपि तुलसीदास ने शिवोपासना का विरोध नहीं किया—बल्कि राम भक्ति की प्राप्ति के लिए एक आवश्यक साधन के रूप में उस का प्रतिपादन किया[1]—फिर भी यह असंभव नहीं कि उन की रचनाओं से रामभक्ति काशी की जनता में एक बार वेग से बढ़ी हो, और उस बाढ़ में बहुत से शिवभक्त भी रामभक्ति की ओर आकृष्ट होने लगे हों और उन के उपास्य के एकाधिपत्य से बाहर निकलने लगे हों। अथवा इन पुजारियों को भविष्य के लिए ही इस प्रकार की आशंका होने लगी हो। इस लिए शिव की पुरी में यदि शिव के उपासकों ने हमारे कवि को पीड़ा पहुँचाने का कोई प्रयत्न किया हो तो आश्चर्य न होना चाहिए।

[1] देखिए नीचे अध्याय ७

४७ अंतिम प्रकार का आक्रमण उन के जीवन पर किया हुआ ज्ञात होता है। 'कवितावली' में निर्भीकता के साथ वे उस आक्रमण की तैयारी का समाचार पा कर उस का उत्तर देते हैं और इसी प्रकार 'विनय पत्रिका' में भी वे उस से अविचलित दिखाई देते हैं

> ब्याल कराल महा विष पावक मत्त गयदहु के रद तोरे।
> साँसति सकि चली डरपे हुते किंकर ते करनी मुख मोरे।
> नेकु विषाद नहीं प्रहलादहि कारन केवल केहरि हो रे।
> कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहैं राम तो मारिहैं कोरे॥
> (कवित०, उत्त० ४)

> जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै।
> होइ न बाँको बार भगत को जो कोउ कोटि उपाय करै।
> तकै नीच जो मीच साधु की सोइ पामर तेहि मीच मरै।
> बेद बिदित प्रहलाद कथा सुनि को न भगति पथ पाँव धरै।
> जो जो कूप खनैगो पर कहँ सो सठ फिरि तेहि कूप परै।
> सपनेहु सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ बिष फरनि फरै।
> हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै।
> तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥
> (विनय० १३७)

४८ इन सब यातनाओं पर गोस्वामी जी ने विजय पाई। अपनी रक्षा के लिए अपने उपास्य पर ऐसा अखंड भरोसा उन्हें था कि उन्हों ने निर्भीक भाव से इन सब का सामना किया, और अपने निश्चित पथ से एक क्षण के लिए भी वे विचलित नहीं हुए। रामभक्ति का जो संदेश देना उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था, आजीवन उस की पूर्ति में वे लगे रहे, और यही कारण है कि वे आज भी हमारे बीच अमर हैं।

रुद्रबीसी तथा मीन के शनि

४९ 'दोहावली'[1] तथा 'कवितावली'[2] में काशी के तत्कालीन उपद्रवों के संबंध में कवि रुद्रबीसी का उल्लेख करता है। रुद्रबीसी—अथवा रुद्रविंशति—६० वर्ष की बार्हस्पत्य वर्ष प्रणाली के अंतिम २० वर्षों को कहते हैं।[3] इस वर्ष

[1] दोहा० २४०

[2] कविता०, उत्तर० १७०

[3] मन्० विलियम्स : 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी', पृ० ८४१

प्रणाली की गणना दो रीतियों से होती है . एक तो उत्तरी रीति से तथा दूसरी दक्षिणी रीति से। किंतु, कवि ने दक्षिणी रीति का प्रयोग किसी तिथि के उल्लेख में नहीं किया है, और 'पार्वती मंगल' की रचना तिथि बार्हस्पत्य वर्ष म देते हुए उस ने उत्तरी रीति का अवलंबन किया है[१] इस लिए उत्तरी रीति पर जो तिथियाँ प्राप्त हों हमें उन्हीं पर विचार करना चाहिए। उत्तरी रीति पर बार्हस्पत्य वर्ष प्रणाली का इकतालीसवाँ वर्ष और रुद्रबीसी का पहला वर्ष कवि के जीवन काल में दो बार उपस्थित हुआ होगा .[२] पहले सं० १५९६ में और फिर सं० १६५६ में। इन दोनों में से संभावना दूसरे की ही है, क्यों कि सं० १५९६–१६१६ म उस की शैली इतनी प्रौढ़ नहीं हो सकती थी जितनी 'दोहावली' के उक्त दोहों तथा 'कवितावली' के उक्त छंदों में मिलती है। कुछ लोगों का विचार है कि रुद्रबीसी का समय सं० १६२५ से सं० १६८५ तक होता है[३], और स्वर्गीय ग्रियर्सन स्वर्गीय सुधाकर द्विवेदी की गणना के आधार पर इस का समय सं० १६५५ से १६७५ तक मानते थे[४], किंतु मैं कोई कारण इस बात के लिए नहीं देखता कि रुद्रबीसी का समय वह क्यों न मानूँ जो मुझे गणना द्वारा प्राप्त हुआ है। पहला तो असंभव है, और दूसरे में एक वर्ष का जो अंतर है वह संभव है विगत और वर्त्तमान संवत् वर्ष प्रणालियों पर गणना के अंतर के कारण पड़ता हो।

५०. मीन के शनि के विषय में, जिस का उल्लेख तुलसीदास 'कवितावली' में करते हैं[५], स्वर्गीय सुधाकर द्विवेदी कहते थे कि शनि का प्रवेश एक बार मीन में चैत्र शुक्ला ५, सं० १६४० को या उस के लगभग हुआ, और वहाँ वह सं० १६४२ के ज्येष्ठ तक बना रहा, फिर मीन में उस ने चैत्र शुक्ला २ सं० १६६६ को प्रवेश किया, और वहाँ वह सं० १६७१ के ज्येष्ठ तक रहा। दोनों ही तिथियाँ गणना से ठीक उतरती हैं,[६] किंतु इन दो में से दूसरी अधिक संभव जान पड़ती है, क्यों कि वह रुद्रबीसी की तिथियों के निकट पड़ती है।

[१] देखिए परिशिष्ट अ

[२] देखिए स्वामी कन्नू पिलाई : 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी', चक्र १४

[३] तु० अ०, भाग ३, पृ० ८५

[४] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० ९७

[५] कविता०, उत्तर० १७७

[६] देखिए परिशिष्ट अ

महामारी

५१ 'कवितावली' के कुछ छंदों में कवि काशी का विनाश करती हुई एक भयंकर महामारी का उल्लेख करता है।[1] यह महामारी हैजा थी या ताऊन, यह उस ने नहीं लिखा है। दुर्भिक्षों के पश्चात् तो हैजा बहुधा हो जाया करता था, परंतु ताऊन तो केवल सं० १६७३ में आया जब कि वह एक अनोखी बात मानी जाती थी।[2] कवि महामारी का जो वर्णन देता है वह इस प्रकार है

संकर सहर सर नर नारि बारिचर
बिकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि मरि जात
भभरि भगात जल थल मीचु मई है।
देव न दयालु महिपाल न कृपालु चित
बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज पाहि कपिराज रामदूत
रामहू की बिगरी तुहीं सुधारि लई है।

(कविता०, उत्तर० १७६)

उपर्युक्त वर्णन दोनों मरिगों में से किसी एक के संबंध में निर्णय पर पहुँच सकने के लिए पर्याप्त नहीं है यह स्पष्ट होगा। परंतु अधिक संभावना ताऊन की ही मालूम पड़ती है[3] जो काशी में सं० १६७३ और सं० १६८० के बीच किसी समय आया रहा होगा—सं०१६७३ भारत में ताऊन के पहली बार आने की, सं० १६८१ उसकी शान्ति की,[4] और सं० १६८० कवि की मृत्यु की तिथियाँ हैं।

५२ कुछ विद्वानों का विचार है कि हमारा कवि ताऊन से पीड़ित हुआ था[5], किंतु स्वतः वह कहता है कि यद्यपि हनुमान भी कहीं कहीं उसका दमन कर चुके थे[6] राम ने महामारी का अंत कर दिया

[1] कविता०, उत्तर० १७३–१७६ तथा १८३

[2] स्मिथ 'अकबर दि ग्रेट मोगल', पृ० ३९

[3] देखिए नीचे अध्याय ५

[4] इलियट 'द हिस्ट्री अव् इंडिया', जिल्द ६, पृ० ४०६

[5] ग्रियर्सन 'जनरल अव् रॉयल एशियाटिक सोसाइटी', सन् १९०३, पृ०४५०

[6] कविता०, उत्तर० १७५

आश्रम बरन कलि बिबस बिकल भय
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।
संकर सरोष महामारी ही तें जानियत
साहिब सरोष दुनी दिन दिन दार दी।
नारि नर आरत पुकारत सुनै न कोउ
काहू देवतन मिलि मोटी मूठ मार दी।
तुलसी सभीतपाल सुमिरे कृपालु राम
समय सुकरुना सराहि सनकार दी।
(कविता०, उत्तर० १८३)

बाहुपीडा और अन्य कष्ट

५३. 'दोहावली',[१] 'कवितावली'[२] और 'विनय पत्रिका'[३] के कुछ छंदों में कवि देवताओं से किसी पीड़ा की शांति के लिए प्रार्थना करता है, यद्यपि वह उस बीमारी का नाम नहीं लिखता जिस के कारण पीड़ा है। परंतु 'दोहावली' के कुछ दोहों[४] तथा 'बाहुक' के कुछ छंदों में[५] वह अपनी बाहु-पीड़ा की शांति के लिए प्रार्थना करता है। वह यह भी कहता है कि वह बहुत समय से इसी पीड़ा से व्यथित है।[६] मालूम होता है कि यह पीड़ा वर्षा ऋतु में हुई थी, क्यों कि एक पद में वह हनुमान से पीड़ा को उसी प्रकार जलाने की प्रार्थना करता है जिस प्रकार वर्षा का जल जवासे को जला देता है।[७] कवि पीड़ा का कारण 'बात' बतलाता है,[८] यद्यपि कभी-कभी वह उस का कारण कलिकाल की बुराइयाँ तथा भूत प्रेत पिशाचादि की बाधा को भी सोचता है।[९] वेदना पहले कदाचित् दाईं भुजा में प्रारंभ हुई थी,[१०] और फिर सारे शरीर में फैल गई थी।[११] अंत में, जैसा कि कवि स्वयं कहता है, राम-कृपा से उस पीड़ा का अंत हो गया :

बाहुक सुबाहु नीच लीचर मरीच मिलि
मुँहपीर केतुजा कुरोग जातुधान हैं।
राम नाम जप जाग कियो चाहौं सानुराग
काल कैसे दूत भूत कहा मेरे मान हैं।
सुमिरे सहाइ राम लषन आखर दोइ
जिनके साके समूह जागत जहान हैं।
तुलसी सँभारि ताड़का सँहारि भारी भट
बेधे बरगद से बनाइ बान बान हैं॥

(बाहुक ३९)

५४. किसी समय कवि के सारे शरीर में बरतोर के घिनौने फोड़े भी निकल आए थे, जिन में से रुधिर और पीव बहता था।[1] उस ने राम, शिव, तथा हनुमान से—जिन में उस का अविचल विश्वास था—प्रार्थना की, परंतु जान पड़ता है कि रोग का शमन नहीं हुआ, क्यों कि कवि यह कहीं नहीं लिखता कि वह इन फोड़ों से अच्छा हो गया था, और यह असंभव नहीं यदि इसी रोग से उस की मृत्यु हो गई हो।

५५. इस प्रसंग में उस बात-रोग के वर्णन पर विचार करना कदाचित् उपयोगी होगा जिस से उस के समकालीन बनारसीदास जैन भी पीड़ित हुए थे। यह वर्णन बनारसीदास जी के आत्म चरित 'बनारसी अवस्था' में मिलता है। प्रसंग के छंद इस प्रकार हैं :

मास एक जब भयो बितीत। पौष मास सित पष रितु सीत।
पूरब कर्म उदै सजोग। आकस्मात बात को रोग।
भयो बनारसि दास तनु कुष्ट रूप सरबंग।
हाड़ हाड़ उपजी बिथा केस रोम भ्रुव भंग॥
बिस्फोटक अगनित भए हस्त चरण चौरंग।
कोई नर सौसा ससुर भोजन करै न संग॥
ऐसी असुभ दशा भई निकट न आवै कोय।
सासू और बियाहिता करहिं सेव तिय दोय॥

[1] बाहुक ४०, ४१

जल भोजन की लेहिं सुधि देहिं अब मुप माहिं।
औषध नावैं देह में नाक मूंदि उठि जाहिं॥
इस अवसर ही नापत कोय। औषध पुरी पवावै सोय।
घने अलौने भोजन देय। पैसा टका कछू नहिं लेय।
च्यार मास बीते इस भाँति। तब कछु भई बिथा उपसांति।
मास दोय, औरउ चल गए। तब बानारसि नीके भए।

कवि के रोग में और बनारसीदास के रोग में कितना साम्य है, यह आसानी से देखा जा सकता है। अंतर दोनों के निदान और उपचार में है। यदि प्रार्थनाओं आदि पर विशेष विश्वास न करके बनारसीदास की भाँति वह भी दवा-दारू पर उतारू हो जाता तो आश्चर्य नहीं कि हमारा कवि कुछ दिन और भी जीवित रहता, किंतु वहाँ तो बातें दूसरी ही थीं।

मृत्यु

५६. कवि की मृत्यु के विषय में कोई समकालीन प्रमाण नहीं मिलता। साधारण जन-श्रुति कहती है कि सं० १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी को काशी में असीघाट पर कवि की मृत्यु हुई :

संवत सोरह से असी असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी तुलसी तजे शरीर॥

'मूल गोसाईं-चरित' का लेखक इसी संवत् को मानते हुए कहता है कि निधन-तिथि श्रावण कृष्णा तृतीया थी और दिन शनिवार था :

संबत सोरह से असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज शनि तुलसी तजे शरीर॥
(मू० गो० च० ११९)

गणना द्वारा तिथि की जाँच अन्यत्र की गई है और वह सही निकली है।[1] इस के अतिरिक्त कवि के मित्र टोडर के उत्तराधिकारी कवि की स्मृति में इसी तिथि को सीधा बाँटते हैं, और उस की बर्षी मनाते हैं।[2] फलतः यह नितांत संभव मालूम होता है कि कवि की मृत्यु इसी तिथि को हुई हो, और पीछे कभी इसमें और "सावन शुक्ला सप्तमी" में भ्रम हो गया हो, जो कि घाघ की कुछ अति प्रसिद्ध कहावतों में भी आती है, उदाहरणार्थ :

[1] देखिए परिशिष्ट आ

[2] विजयानंद त्रिपाठी : 'मानस', भूमिका

बाहुक सुबाहु नीच लीचर मरीच मिलि
मुँहपीर केतुजा कुरोग जातुधान हैं।
राम नाम जप जाग कियो चाहौं सानुराग
काल कैसे दूत भूत कहा मेरे मान हैं।
सुमिरे सहाइ राम लखन आखर दोइ
जिनके साके समूह जागत जहान हैं।
तुलसी सँभारि ताड़का सँहारि भारी भट
बेधे बरगद से बनाइ बान बान हैं॥

(बाहुक ३९)

५४. किसी समय कवि के सारे शरीर में बरतार के घिनौने फोड़े भी निकल आए थे, जिन में से रुधिर और पीव बहता था।[1] उस ने राम, शिव, तथा हनुमान से—जिन में उस का अविचल विश्वास था—प्रार्थना की, परंतु जान पड़ता है कि रोग का शमन नहीं हुआ, क्यों कि कवि यह कहीं नहीं लिखता कि वह इन फोड़ों से अच्छा हो गया था, और यह असंभव नहीं यदि इसी रोग से उस की मृत्यु हो गई हो।

५५. इस प्रसंग में उस बात-रोग के वर्णन पर विचार करना कदाचित् उपयोगी होगा जिस से उस के समकालीन बनारसीदास जैन भी पीड़ित हुए थे। यह वर्णन बनारसीदास जी के आत्म चरित 'बनारसी अवस्था' में मिलता है। प्रसंग के छंद इस प्रकार हैं.

मास एक जब भयो बितीत। पौष मास सित पख रितु सीत।
पूरब कर्म उदै संजोग। आकस्मात बात को रोग।
भयो बनारसि दास तनु कुष्ट रूप सरबंग।
हाड़ हाड़ उपजी बिथा केस रोम भ्रु व भंग॥
बिस्फोटक अगनित भए हस्त चरण चौरंग।
कोई नर सीवा ससुर भोजन करै न संग॥
ऐसी असुभ दशा भई निकट न आवे कोय।
सासू और बियाहिता करहिं सेव तिय दोय॥

[1] बाहुक ४०, ४१

जल भोजन की लेहिं सुधि देहि अस्र मुप माहिं।
औषध नावैं देह में नाक मूंदि उठि जाहिं॥
इस अवसर ही नापत कोय। औषध पुरी पवावे सोय।
चने अलौने भोजन देय। पैसा टका कछू नहिं लेय।
च्यार मास बीते इस भाँति। तब कछु भई विथा उपसांति।
मास दोय और चल गए। तब बानारसि नीके भए।

कवि के रोग में और बनारसीदास के रोग में कितना साम्य है, यह आसानी से देखा जा सकता है। अतर दोनों के निदान और उपचार में है। यदि प्रार्थनाओं आदि पर विशेष विश्वास न करके बनारसीदास की भाँति वह भी दवा-दारू पर उतारू हो जाता तो आश्चर्य नहीं कि हमारा कवि कुछ दिन और भी जीवित रहता, किंतु वहाँ तो बातें दूसरी ही थीं।

मृत्यु

५६. *कवि की मृत्यु के विषय में कोई समकालीन प्रमाण नहीं मिलता।* साधारण जन-श्रुति कहती है कि सं० १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी को काशी में असीघाट पर कवि की मृत्यु हुई :

संवत सोरह से असी असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी तुलसी तजे शरीर॥

'मूल गोसाईं-चरित' का लेखक इसी संवत् को मानते हुए कहता है कि निधन तिथि श्रावण कृष्णा तृतीया थी और दिन शनिवार था :

संवत सोलह से असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज शनि तुलसी तजे शरीर॥
(मू० गो० च० ११९)

गणना द्वारा तिथि की जाँच अन्यत्र की गई है और वह सही निकली है।[1] इस के अतिरिक्त कवि के मित्र टोडर के उत्तराधिकारी कवि की स्मृति में इसी तिथि को सीधा बाँटते हैं, और उस की बर्षी मनाते हैं।[2] फलतः यह नितात *संभव मालूम होता है कि कवि की मृत्यु इसी तिथि को हुई हो,* और पीछे कभी इसमें और "सावन शुक्ला सप्तमी" में भ्रम हो गया हो, जो कि घाघ की कुछ अति प्रसिद्ध कहावतों में भी आती है, उदाहरणार्थ :

[1] देखिए परिशिष्ट आ

[2] विजयानंद त्रिपाठी : 'मानस', भूमिका

श्रावण शुक्ला सप्तमी जो गरजै अधिरात।
तो पिय जावो मालवा मैं जैहौं गुजरात॥

अतः हम यह विश्वास कर सकते हैं कि कवि की मृत्यु तिथि सं० १६८० श्रावण कृष्णा तृतीया थी।

गोसाईं-उपाधि

५७. कवि के नाम के साथ लगी हुई 'गोसाईं' उपाधि की विवेचना करना हमारे लिये आवश्यक होगा। 'कवितावली' के एक छंद में राम को संबोधित करते हुए कहा गया है:

स्वारथ सयानप प्रपंच परमारथ
कहायो राम रावरो सौं जानत जहानु है।
नाम के प्रताप बाप आजु लौं निबाही नीके
आगे को गोसाईं स्वामी सबल सुजानु है।
कलि की कुचालि देखि दिन दिन दूनी देव
पाहरु रई चोर हेरि हिय हहरानु है।
तुलसी की बलि बार बार ही सँभार कीबी
जदपि कृपानिधान सदा सावधानु है॥
(कविता०, उत्तर० ८०)

इस पद में कवि स्पष्टतः यह सूचित करता है कि ऐसे कोई 'गोसाईं' थे जिन्हें वह अपना स्वामी-सा मानता था। इसी प्रकार 'विनय पत्रिका' के एक पद में भी किन्हीं 'गोसाईं' को संबोधित करते हुए वह कहता है:

नाथ नीके कै जानिबी ठीक जन-जीय की।
रावरो भरोसो नाह कैसो प्रेम नेम लियो
रुचिर रहनि रुचि मति गति तीय की।
दुकृत सुकृतबस सब ही सौं संग पर्‌यो
परखी पराई गति अपने हूँ कीय की।
मेरे भले को गोसाईं पोच को न सोच सक
हौं किए कहौं सौंह साँची सीय पीयकी।
ग्यान हूँ गिरा के स्वामी बाहर भीतर जामी
यहाँ क्यों दुरैगी बात मुखकी औ हीय की।

सफल हुआ है, जिस की स्थिति काशी में लोलार्क कुंड पर थी। यह मठ सं० १७६७ तक विद्यमान था, क्यों कि उसी वर्ष किसी जयकृष्ण दास ने इस मठ में 'न्याय सिद्धांत मंजरी' की एक प्रतिलिपि की थी। मालूम होता है कि वह इसी मठ के थे। उक्त हस्तलिखित प्रति अब इंडिया ऑफ़िस लाइब्रेरी में है,[1] और उस की पुष्पिका इस प्रकार है :

"सं० १७६७ वैशाख सुदी पूर्णिमा लिखितम् लोलार्क तुलसीदास मठे जयकृष्णदास शुभम्"

महाकवि के समकालीन केशवदास जी की की हुई मठाधीशों की तीव्र निंदा[2] से हम परिचित हैं। अतः हमें इस बात पर आश्चर्य न करना चाहिए कि तुलसीदास ने 'गोसाँई' हो जाने पर पश्चात्ताप प्रकट किया और इसी को फोड़ों का मूल कारण भी बताया। यह हमारा दुर्भाग्य है कि अब हमें लोलार्क कुंड पर के मठ के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। संभव है आगे की खोजों से इस पर कुछ प्रकाश पड़े। यदि हमारे पास उक्त स्थान के सब गोसाइयों की परंपरा की एक ऐसी सूची होती जिस में उस के मठाधीशों और सदस्यों के नाम होते तो संभव था कि हम कवि के दार्शनिक और धार्मिक विचारों को दृष्टि कोण में रखते हुये अनुमान कर सकते कि गोसाइयों का वह संघ किस विशेष संप्रदाय से संबद्ध था जिस में उस ने अपना जीवन बिताया था। दुर्भाग्य से इस विषय में ज्ञान अत्यंत अपूर्ण है। ऐसा जन-गणना-विवरण जिस में गोसाइयों को स्वतंत्र स्थान दिया गया हो, और जिस में उन के सभी संघों की जन-संख्या भी दी हो, केवल एक है जो सं० १६४८ में प्रकाशित है, परंतु यह भी संतोष-जनक नहीं है।

६०. किंतु, बनारस के लोलार्क मुहल्ले में स्थित 'स्थान तुलसीदास जी' से यह मठ भिन्न नहीं प्रतीत होता। यह बड़े दुःख की बात है कि अब हमें इस स्थान पर सं० १८३२ के पूर्व का कोई लेख नहीं मिलता। प्राचीनतम लेख जो इस स्थान पर मिलता है, वह बनारस के महाराज चेतसिंह का सं० १८३२ का एक फ़रमान है, जिस में उन्हों ने उक्त स्थान पर

तथा अन्य खाद्य पदार्थों को चुङ्गी आदि करों से बरी किया है। यह हिंदी अनुवाद सहित फारसी में है, और इस में स्थान के महंत तुलाराम को "गोसाईं तुलाराम" कहा गया है :

"(फ़ारसी में) व इस्म राहेदारान व चौकीदारान व गुज़रबानान मुस्तक़िलान तरक नवाजअ आँ कि चूँ ग़ल्ला वगेरह जेहत सदावर्त गोसाईं तुलाराम अज वेरू जात साल ब साल व माह ब माह मी आमद बाला कि कसे नइल्लत महसूले राहदारी वगैरह मुजाहिम मुतअरिज़ नसलए बहुदूद खुंदहा बसलामत बगुजारेद दर निहायत ताकीदे सनद नम्बर ७२ बतारीख़ २१ रमज़ान सन् ११८३ फसली। (हिंदी में) इस्तमजररी चौकीदारान वो राहदारान गुजर-बानान व मुस्तक़ीलान वोगैरे के मालुम आगे गोसाईं तुलाराम की सदाबरत वो गला वो सरजाम सदाबरत जो साल ब साल माह दर माह बाहर से आवत है सो कोइ महसुल और वेहु बाबत से हरगीज मुजाहिम न होना चौकी पहरा से अपनी हद भर खबरदारी भरी देना डीहवा तक ताकीद बड़ी जानना ता० २१ रमजान सन् ११८३ सं० १८३२"

एक अन्य लेख किसी शिवरतन सिंह का दान पत्र है, जिस में सं० १८८८ की तिथि दी हुई है। यह हिंदी में है, और इस में तुलसीदास के स्थान का नाम 'स्थान श्री गोसाईं तुलसीदास जी' और स्थान के महंत 'पीताबरदास' को 'श्री गोसाईं जी पीताबर बैष्णव' लिखा है :

"ली० शिवरतन सींध आगे मौजे कहरपुरा अमले तालुके लाहता मे पदह बीगहा खेत उपजाऊ आपने हींसे का हम अपने खुशी रजामदी से श्री गोशाइ जी पीतावर वैस्नौ श्री अस्थान श्री गोशाइ तुलशीदास जी क क्रीश्नार्पन करी दीहा जमा इश जमीन का गाव के बदवशत पर बैठाए लीआ शो गोशाइ जी इस जमीन क्रीश्नार्पन को अपने खातिर जमा शों जोतें जोतावें इश जमीन का श्री ठाकुर जीव को भोग लगावें कोइ हमारे में इश जमीन का मोजाहिमत न करै जो कोइ हींदु इश्रा मुसलमान इश जमीन क्रीश्नार्पन शों माजाहिम होए इश्रा मोत्रारीजे बेजाए करै तीशा का अपने दीन ईमान का शौगद है जमीन क्रीश्नार्पन जारी अपने इमान से बदमान कोइ कीशी बात का मोत्रारीज न करै जमीन पन्दह बीगहा का न्योरा आशामी बारामासी क तरशीन वो नाप पटवारी गाव के जमा जमीन के १५ बीघा कातीका शुदी ७ सवत ८८ शाशन १२६६ फशली"

६१ अतः यह स्पष्ट है कि यद्यपि महंतों ने 'गोसाईं' की उपाधि छोड़ी नहीं थी, परंतु सं० १८४८ तक स्थान का नाम 'तुलसीदास मठ' से 'स्थान तुलसीदास' हो गया था। वास्तव में 'मठ' और 'स्थान' में बहुत कम अंतर मालूम होता है। दोनों शब्दों से ऐसे स्थान का बोध होता है जहाँ किसी संप्रदाय विशेष के तपस्वी या विरक्त सामूहिक रूप में रहते हों; अंतर दोनों में केवल व्यवहार भेद का विदित होता है। साधारणतया 'मठ' का अर्थ किसी भी संप्रदाय के तपस्वियों के स्थान से होता है। परंतु 'स्थान' कदाचित् केवल वैष्णव-मतानुयायियों के स्थानों के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे अयोध्या में, यह भी असंभव नहीं है कि अयोध्या के मठों के अनुकरण में ही इस स्थान के नाम में परिवर्तन हुआ हो। अयोध्या का इस समय प्राचीनतम वैष्णव मठ कदाचित् 'बड़ा स्थान' है, जिस की नींव स्वामी रामप्रसाद जी ने डाली थी। उन की तिथि सं० १७८०-१८६१ है, जिस का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।[1]

६२ अब हम जयकृष्णदास द्वारा की हुई 'न्याय सिद्धांत मंजरी' की प्रतिलिपि के लगभग १०० वर्ष पश्चात् की तिथि सं० १८९२ पर विचार करेंगे। इस समय कोई लक्ष्मणदास स्थान के महंत थे। इसी वर्ष काष्ठजिह्वा स्वामी ने 'रामायण-परिचर्या' नाम से 'रामचरित मानस' की एक टीका की है, जिस में उन्हों ने इन लक्ष्मणदास का उल्लेख बिना 'गोसाईं' उपाधि के किया है।[2] उस के विरुद्ध इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता जिस से यह सिद्ध होता हो कि लक्ष्मणदास अथवा उन के उत्तराधिकारी आज तक कभी भी अपने नाम के साथ 'गोसाईं' शब्द का प्रयोग करते रहे हों। अतः यह स्पष्ट है कि सं० १८९२ तक इस मठ के महंतों ने 'गोसाईं' उपाधि छोड़ दी थी।

६३. हमें ज्ञात महंतों में सब से पहले महंत तुलाराम से अब तक के महंतों की परंपरा जान लेनी चाहिए। प्रस्तुत लेखक को यह परंपरा श्री विजयानंद त्रिपाठी से मिली है, जो इस समय ६५ वर्ष से ऊपर की अवस्था के हैं। और कोई दूसरा व्यक्ति मुझे नहीं मिला जो 'स्थान' के विषय में उन से अधिक कुछ बतला सके, क्यों कि जीवित व्यक्तियों में से ऐसा कोई न होगा

[1] देखिए ऊपर पृ० ३८ [2] 'रामायण परिचर्या' भूमिका

जो उक्त स्थान से पिछले ४०-४५ वर्षों में उन की अपेक्षा अधिक निकट संपर्क में रहा हो। इस समय के महत बाँकेराम जी ३५ वर्ष के एक नवयुवक हैं, और स्थान के विषय में वे जो कुछ जानते हैं अधिकतर विजयानद जी से ही उन्हें यह ज्ञात हुआ है। महत परपरा इस प्रकार है·

तुलाराम
|
धनीराम
|
पीताबरदास
|
लक्ष्मीनारायण[1]
|
विध्येश्वरीप्रसाद
|
गिरिधरदास
|
तुलसीराम
|
स्वामीनाथ
|
बाँकेराम

६४. विजयानद जी कहते हैं कि उन्हों ने स्वय गिरिधरदास और उन के उत्तराधिकारी महतों को देखा है, और उन के अनुसार वे सभी गृहस्थ थे। मालूम होता है कि जैसे ही यह लोग गृहस्थ हुए, इन की 'गोसाईं' उपाधि छूट गई, महतों की परपरा ने वश-परंपरा का रूप धारण कर लिया और उस निर्वाचन प्रणाली का अत हो गया जिस में गुरु द्वारा शिष्यों में से उत्तराधिकारी मनोनीत होता है अथवा मठ के सदस्यों द्वारा बहुमत से महत का चुनाव होता है। यह पिछली प्रथा अन्यत्र आज भी प्रचलित है।

हस्तलेख

इस तरह के सात नमूने हस्तलेखों के हैं जो अलग अलग तुलसीदास कहे जाते हैं। इन का सक्षिप्त परिचय मनोरजक और आवश्यक होगा।

[1] यह वही जान पड़ते हैं जिन्हें ऊपर लक्ष्मणदास कहा गया है

६५. ए : सं० १६६६ का लिखा हुआ एक पंचायतनामा है जिस के द्वारा एक टोडर की जायदाद का बँटवारा उन के देहांत के पीछे उनके दो उत्तराधिकारियों के बीच किया गया है—इन उत्तराधिकारियों में से एक उन का लड़का है और दूसरा उन के एक मृत लड़के का लड़का है। यह पंचायतनामा अब काशिराज के निजी संग्रह में है। इस की केवल पहली छः पंक्तियाँ ही तुलसीदास की लिखी कही जाती हैं। इस की प्राप्ति का स्थान विश्वसनीय है। यह सैकड़ों वर्षों तक टोडर के उत्तराधिकारियों के पास था—केवल थोड़े ही वर्ष हुए जब यह वर्तमान महाराज बनारस के एक पूर्वज के अधिकार में आया। इस के बदले में प्राप्तकर्ता महाराज ने कुछ वार्षिक सहायता देने का वचन दिया था, जो अभी तक चौधरी लालबहादुर सिंह को राज्य से मिला करती है—चौधरी लालबहादुर सिंह ही अब उपर्युक्त टोडर के एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। टोडर का घर बनारस में असीघाट के निकट ही था, और वह अब भी लालबहादुर सिंह जी के अधिकार में है। लालबहादुर सिंह जी प्रत्येक वर्ष श्रावण की श्यामा तीज को तुलसीदास के नाम पर उन की निधन-तिथि के उपलक्ष्य में सीधा दिया करते हैं। उन का कहना है कि उन्हों ने अपने पिता को भी इसी तिथि पर तुलसीदास के नाम पर सीधा देते हुए देखा था, और उन से यह सुना भी था कि यह प्रथा उन के घराने में पहले से चली आ रही है। इस साक्ष्य से यह भली भाँति जान पड़ता है कि टोडर और तुलसीदास जी का संबंध बहुत-कुछ घरेलू ढंग का रहा होगा। फलतः यह असंभव नहीं है कि कवि ने उन के उत्तराधिकारियों के बँटवारे में कुछ हाथ बँटाया हो, और पंचायतनामे की प्रथम छः पंक्तियाँ लिख दी हों। यह हलके भूरे हाथ के बनाए हुए काग़ज़ पर फीकी काली स्याही से लिखा हुआ है। काग़ज़ पतला है, और बहुत घिसा हुआ है। यह बड़ी ही असावधानी के साथ एक मोटे काग़ज़ पर चिपकाया और मोड़ कर लपेटा हुआ है। इसी असावधानी के कारण हाशियों पर पंक्तियाँ टेढ़ी-मेढ़ी हो गई हैं और अनेक अक्षर बिगड़ गए हैं। नीचे के विवेचन में इस पत्र की पहली छः पंक्तियाँ ए कही जाएँगी।

६६. बी : सं० १६४१ की लिखी हुई 'वाल्मीकि रामायण' के, उत्तरकांड की एक हस्तलिखित प्रति है। प्रतिलिपि किन्हीं तुलसीदास की की हुई है यह उक्त प्रति की पुष्पिका से प्रकट है। प्रति इस समय काशी के सरस्वती-भवन में सुरक्षित है। यह किस प्रकार हस्तांतरित होते हुए सरस्वती-भवन में पहुँची,

और कब और किस प्रकार अपने पहले स्वामी से इस का संबंध विच्छेद हुआ अब अज्ञात है। प्रति की पुष्पिका के नीचे एक श्लोक लिखा हुआ है, जो इस संबंध में जानने योग्य है। वह इस प्रकार है :

श्रीमद्येदिलशाह भूमिपसभा सभ्येंद्र भूमीसुर—
श्रेणीमंडन मंडलीधुरि दयादानादि भाजिप्रभु ।
वाल्मीके कृतिमुत्तमा पुररिपो पुर्यां पुरोग कृतीद्
दत्तात्रेय समाह्वयो लिपिकृतैः कर्म्मत्वमाचीकरत् ॥१॥

"जो राजा एदिलशाह की सभा का सर्वश्रेष्ठ सदस्य है, जो ब्राह्मणों का भूषण और उन की मंडली का धुरा है, जो दया-दानादि विभाग का अध्यक्ष है, और जिस का नाम दत्तात्रेय है, उस ने वाल्मीकि की इस उत्तम कृति का लिपि-कर्म शिव की पुरी में करवाया।" किंतु यह समझने में कठिनाई ज्ञात होती है कि महाकवि और महात्मा तुलसीदास से कोई भी व्यक्ति "लिपि-कर्म" कैसे करा सकता था, विशेषत. उस समय जिस समय अपना लोक प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरित मानस' उन्हों ने प्रकाशित कर दिया था। यह अत्यंत स्पष्ट है कि यह श्लोक उस हाथ का लिखा नहीं है जिस हाथ की लिखी पूरी प्रति सपुष्पिका है। फलतः ऐसा समझ पड़ता है कि किसी किंवदंती के आधार पर बाद को किसी ने इस प्रकार का उल्लेख प्रति के अंत में कर दिया। प्रति सुरक्षित दशा में है। कागज उस का हाथ का बना भूरापन लिए हुए सफेद है। प्रति भर में काली स्याही का प्रयोग हुआ है, केवल पुष्पिका लाल स्याही से लिखी गई है। उस के नीचे का उपर्युक्त श्लोक चूँकि उस हाथ का लिखा नहीं है जिस की शेष प्रति है। अतः नीचे के विवेचन में हम प्रति के हस्तलेख पर विचार करते हुए उक्त श्लोक के हस्तलेख को विस्मृत रक्खेंगे। इस प्रति के लेख को हम बी कहेंगे।

६७. सी, डी, और ई 'रामचरित मानस' के बालकांड की एक प्रति है जिसकी पुष्पिका में उसका प्रति लिपिकाल सं० १६६१ दिया गया है। यह अयोध्या में श्रावणकुंज नामक एक मंदिर में है। तुलसीदास को इस प्रति का लिपिकार नहीं कहा जाता, केवल इस में किए हुए कुछ स्थलों पर के संशोधन उन के हाथ के कहे जाते हैं। ये संशोधन पूरी पूरी पंक्तियों के हैं, और तीन पृष्ठों पर हैं। पुनः ये संशोधन पृष्ठों के ऊपरी या नीचे के हाशिए में लिखे गए हैं। इन संशोधनों के तुलसीदास के हस्तलेख होने का दावा

ए से जी तक के हस्तलेखों के विविध अक्षरों का क्रमागत 'तुलनात्मक मानचित्र' (१)

कुछ भूरा पड़ गया है, और स्याही काली है। प्रति साधारणतः अच्छी हालत में है, केवल काग़ज़ के किनारों पर पानी से भीगने के दाग़ बने हुए हैं। नीचे के विवेचन में इस प्रति के लेख का उल्लेख जी नाम से किया जायगा।

इस विवेचन के साथ जो चित्र दिए जा रहे हैं, वे सभी मूल के प्रतिचित्र हैं, केवल जी मूल के एक छपे हुए 'ब्लाक'[1] का परिवर्धित प्रतिचित्र है, और यह इस कारण कि मूल का प्रतिचित्र उस के अधिकारियों ने अनेक प्रयत्न करने पर भी देने से इन्कार कर दिया। हस्तलेखों का मिलान करने के कुछ प्रचलित नियम हैं, उन्हीं को ध्यान मे रखते हुए नीचे इन नमूनों का हम विश्लेषण करेंगे।

७०. हस्तलेखों के मिलान में पहली बात जो साधारणतः देखी जाती है वह है उन का 'साधारण स्वरूप' ('स्टाइल')। 'साधारण स्वरूप' से तात्पर्य है उस मानसिक चित्र से जो कोई भी हस्तलेख उस के विश्लेषक के *मस्तिष्क में निर्मित करता है। अस्तु, 'साधारण स्वरूप' की दृष्टि से जब हम* ए से ले कर जी तक के हस्तलेखों की तुलना करते हैं तो, यह ज्ञात होता है कि बी तथा जी सब से अधिक नियमित हैं और एक-ढग पर लिखे गए हैं; ए का स्थान इस दृष्टि से बी तथा जी के बाद आता है, क्यों कि उन की अपेक्षा यह कम नियमित ढंग पर लिखा गया जान पड़ता है; सी, डी और ई का 'साधारण स्वरूप' इन तीनों की अपेक्षा कम नियमित और एक सा जँचता है; और एफ़् तो इस दृष्टि से सब से पिछड़ा हुआ ज्ञात होता है।

७१. हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और तरीक़ा उन की 'गति' ('मूवमेंट') की जाँच का है, अर्थात् यह देखने का है कि विभिन्न हस्तलेखों मे उन के लेखकों ने अपेक्षाकृत द्रुत या मंद 'गति' से लिखा है। इस दृष्टि से जब हम ए से ले कर जी तक के लेखों को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि ए सर्वश्रेष्ठ है, क्यों कि अन्य सब की अपेक्षा इस में गति-विधि स्वच्छंद और द्रुत है; एफ्, सी, डी और ई क्रमशः ठीक इस के पीछे आते हैं, क्यों कि इन में 'गति' कुछ बाधित और अपेक्षाकृत मंद है; बी और जी इस दृष्टि से सब से पीछे हैं, क्यों कि वे सब से अधिक सावधानी और इसी लिए मद 'गति' से लिखे ज्ञात होते हैं; और बी और जी मे भी बी की गति जी से मदतर ज्ञात होती है।

[1] 'पेन इंटरनैशनल ओरियंटल कॉंग्रेस' सन् १८८६, पृ० २११

७२. हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और तरीक़ा उन में व्यवहृत अक्षरों के 'खतों' और 'मोडों' (क्रमश. 'स्ट्रोक्स' और 'कर्व्स') की जाँच करने का है। नमूनों की जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो ज्ञान पड़ता है कि न और जी के 'खत' अन्य हस्तलेखों के 'खतों' की अपेक्षा कहीं अधिक भरपूर हैं—और यह स्वाभाविक भी है, क्यों कि वे अन्य सभी नमूनों की अपेक्षा अधिक सावधानी से लिखे गए हैं, सी, डी और ई के 'खत' वी और जी के खतों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, इन के पीछे स्थान इस दृष्टि से एफ़् का है, और ए सभी की अपेक्षा इस दृष्टि से गया-बीता ज्ञान पड़ता है। इन नमूनों को 'खत' की दृष्टि से तुलना करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि सभी लेख बहुत पुराने हैं, और इसी लिए 'खतों' की स्याही पर समय का प्रभाव यथेष्ट पड़ा है। ये नमूने, अलग अलग, अभी तक जिस प्रकार सुरक्षित रखे गए होंगे उस का भी प्रभाव कम न पड़ा होगा। फिर वह कागज, जिस पर ए लिखा गया है, असावधानी के साथ प्रयोग में आने के कारण हाशिए और सिरे पर कई जगह फट गया है, इस की मरम्मत, जैसा अधिकतर होता है, पत्र को एक दूसरे काग़ज़ पर चिपका कर की गई है, किंतु इस को चिपकाने में कौन सी गोंद का प्रयोग हुआ है यह भी अज्ञात है, इस लिए यह कहना कठिन है कि ए का 'खत' दूसरे काग़ज़ पर उसे चिपकाने के कारण कहाँ तक विकृत हुआ है।

७३ एक और भी तरीक़ा हस्तलेखों के विश्लेषण का उन के अक्षरों के 'आकार' ('साइज') की तुलना का है। यह अनुभव करने में कदाचित् देर न लगेगी कि इस बात में बी और जी सर्वश्रेष्ठ हैं—इन दोनों में अक्षरों का 'आकार' अन्य नमूनों की अपेक्षा अधिक एक-सा है। इन के बाद स्थान सी तथा डी का है, जिन के अक्षरों का 'आकार' बी और जी की अपेक्षा कम एक सा है, ए का इस दृष्टि से और भी नीचा स्थान है, और ई, तथा एफ़् विशेषतः एफ़् का स्थान सभी से नीचा है। पुन', यह ध्यान देने योग्य है कि ए, बी तथा सी के अक्षरों का 'आकार' कुछ कुछ वर्ग का सा है, डी, जी, तथा एफ़् के अक्षरों का 'आकार' अपेक्षाकृत समकोण-समद्विबाहु चतुर्भुज का सा है, और ई तथा एफ़् में कुछ अक्षरों का 'आकार' तो ऐसा है कि उन की लंबाई और चौड़ाई का अनुपात दो और एक का है।

७४. हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और भी अन्य तरीका अक्षरों

७२ हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और तरीक़ा उन में व्यवहृ
अक्षरों के 'ख़तों' और 'मोड़ों' (क्रमश 'स्ट्रोक्स' और 'कर्व्स') की जाँच कर
का है। नमूनों का जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो जान पड़ता है कि
और जी के 'ख़त' अन्य हस्तलेखों के 'ख़तों' की अपेक्षा कहीं अधिक भरप
हैं—और यह स्वाभाविक भी है, क्यों कि वे अन्य सभी नमूनों की अपेक्ष
अधिक सावधानी से लिखे गए हैं, सी, डी और ई के 'ख़त' बी और जी
ख़तों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, इन के पीछे स्थान इस दृष्टि से एफ़् क
है, और ए सभी की अपेक्षा इस दृष्टि से गया-बीता जान पड़ता है। इ
नमूनों को 'ख़त' की दृष्टि से तुलना करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि
सभी लेख बहुत पुराने हैं, और इसी लिए 'ख़तों' की स्याही पर समय का प्रभा
यथेष्ट पड़ा है। ये नमूने, अलग अलग, अभी तक जिस प्रकार सुरक्षित रक
गए होंगे उस का भी प्रभाव कम न पड़ा होगा। फिर वह कागज़, जिस पर
लिखा गया है, असावधानी के साथ प्रयोग में आने के कारण हाशिए औ
सिरे पर कई जगह फट गया है, इस की मरम्मत, जैसा अधिकतर होता है,
पत्र को एक दूसरे काग़ज़ पर चिपका कर की गई है, किंतु इस को चिपकाने
कौन सी गोंद का प्रयोग हुआ है यह भी अज्ञात है, इस लिए यह कहना कठि
है कि ए का 'ख़त' दूसरे कागज पर उसे चिपकाने के कारण कहाँ तक बिग
हुआ है।

७३ एक और भी तरीक़ा हस्तलेखों के विश्लेषण का उन के अक्ष
के 'आकार' ('साइज़') की तुलना का है। यह अनुभव करने में कदाचित्
न लगेगी कि इस बात में बी और जी सर्वश्रेष्ठ हैं—इन दोनों में अक्षरों
'आकार' अन्य नमूनों की अपेक्षा अधिक एक-सा है। इन के बाद स्थान
तथा डी का है, जिन के अक्षरों का 'आकार' बी और जी की अपेक्षा क
एक सा है, ए का इस दृष्टि से और भी नीचा स्थान है, और ई, तथा ए
विशेषत एफ़् का स्थान सभी से नीचा है। पुन, यह ध्यान देने योग्य है
ए, बी तथा सी के अक्षरों का 'आकार' कुछ कुछ वर्ग का सा है, डी, जी,
तथा एफ़् के अक्षरों का 'आकार' अपेक्षाकृत समकोण समद्विबाहु चतुर्भुज क
सा है, और ई तथा एफ़् में कुछ अक्षरों का 'आकार' तो ऐसा है कि उन
लंबाई और चौड़ाई का अनुपात दो और एक का है।

७४ हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और भी अन्य तरीका अक्षरों

बीच का फासला ('स्पेस') देखने का है। यह स्वत स्पष्ट है कि ए के अक्षरों के बीच सब से अधिक 'फ़ासला' रक्खा गया है, किंतु साथ ही हमें यह न भूलना चाहिए कि ए में लिखने के लिए लेख-स्थल भी अपेक्षाकृत सब से अधिक था। ए के बाद स्थान सी और डी का आता है, इन में यह फासला ए की अपेक्षा कम है, बी और जी म यह फासला और भी कम रक्खा गया है, और एफ तथा एफ़्र् म तो बहुत ही कम है, ई तथा एफ़् मे अक्षर एक दूसरे से जितने सटा सटा कर लिखे गए हैं, उतने किसी भी अन्य नमूने म वे नहीं लिखे गए हैं।

७५. हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और भी तरीका यह देखने का है कि उन की पक्तियाँ की 'गति' कागज़ के दूसरे किनारे तक पहुँचते पहुँचते कैसी रहती है। इस सबध में ए विशेष ध्यान देने योग्य है उस की पक्तियाँ दूसरे छोर तक पहुँचते पहुँचते नीचे की तरफ कुछ झुक जाती हैं। किंतु, कागज़ के फट जाने और पुन एक दूसरे कागज पर उस के चिपकाए जाने, और चिपकाने में भी असावधानी होने कारण—जो पक्तियों के दाहिनी छोर पर अक्षरों और शब्दों की विकृति से अत्यत स्पष्ट है—यह झुकाव स्वभावत जितना होना चाहिए था उस से कुछ अधिक हो गया है। इस लिए यह झुकाव विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। अन्य नमूनों म तो यह झुकाव ज्ञात ही नहीं होता। इसी प्रकार बी और जी की पक्तियों म जो सीधापन है वह भी महत्व नहीं रखता, दोनों में पहली पक्ति के लिए रेखा खींच लेने के बाद लिखना आरभ किया गया है। और सी, डी, ई तथा एफ़् पूरा पत्र लिखे जाने पर लिखे गए हैं, इस लिए लेखक को लिखी हुई पक्तियों से समानातर रेखा पर लिखने म सहायता अवश्य मिली होगी। यह ध्यान देने योग्य है कि ए के लेखक को इन में से एक भी सुविधा नहीं थी।

एक और महत्त्वपूर्ण बात इस सबध में ध्यान देने योग्य है, यदि ए के प्रत्येक अक्षर का सम्यक् निरीक्षण किया जाय तो यह विदित होगा कि प्रत्येक अक्षर अपने पूर्ववर्ती अक्षर की अपेक्षा कुछ नीचे से लिखा जाने लगता है, और इसी लिए पूरी पक्ति एक सीढियों की पक्ति सी दिखाई पडती है। यह 'सीढीनुमा' पक्ति विन्यास अन्य किसी नमूने म नहीं मिलता।

७६ हस्तलेखों के विश्लेषण का एक और भी तरीका यह देखने का है कि लेखक शिरोरेखा के साथ अक्षरों का शेष भाग साधारणत कितने अश के कोण पर रखता है, जिसे 'झुकाव' ('स्लैंट') कहते हैं। इस सबध में यह प्रकट है कि ए तथा एफ़् में यह कोण समकोण है, अर्थात् यदि शिरोरेखा से

समानांतर कोई रेखा खींची जाय तो इन के अक्षर ६०° का कोण बनावेंगे। अन्य नमूनों अर्थात् बी, सी, डी, ई, तथा जी में यद्यपि यह झुकाव समकोण प्रतीत होता है, किंतु ध्यानपूर्वक देखने पर विदित होगा कि अनेक स्थलों पर वस्तुत वह पूरा समकोण नहीं है।

७७. अंत में, हस्तलेखों के विश्लेषण का सब से अधिक प्रचलित और मान्य तरीका नमूनों में से ऐसे शब्दों और अक्षरों को काट काट कर एक आमने-सामने चिपकाने का है जिसे 'तुलनात्मक मानचित्र' ('जक्स्टापोज्ड चार्ट') तैयार करना कहते हैं। इस के निर्माण से अक्षरों की बनावट का अंतर आसानी से स्पष्ट हो जाता है। इन नमूनों का 'तुलनात्मक मानचित्र' देखने से यह भली भाँति विदित होगा कि अक्षरों की बनावट में ये नमूने एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। यह अंतर कुछ अक्षरों के संबंध में तो अत्यंत स्पष्ट है- जैसे ज, ध, न, न्, प, भ, म, र, ल, व, स और, ह के संबंध में, ये अक्षर अधिकतर नमूनों में परस्पर बनावट में बहुत भिन्न हैं। यही बात इ, ई, उ, ऋ तथा ओ की मात्राओं के विषय में भी कही जा सकती है: न केवल इन मात्राओं की बनावट अधिकतर नमूनों में एक दूसरे से भिन्न है, बल्कि वर्णों के साथ जिस ढंग से इन्हें जोड़ा गया है उस में भी ध्यान देने योग्य अंतर है।

७८. इस प्रकार, हम देखते हैं कि ऊपर के सात नमूनों में से कोई दो भी ऐसे नहीं हैं जो कसौटी पर ठीक ठीक एक से उतरते हों। अधिक से अधिक साम्य यदि देखा जावे तो बी और जी में है: वे परस्पर बहुत कुछ निकट हैं, किंतु उन में ध्यान देने योग्य अंतर भी पाया जाता है, जैसे प, और र के अक्षरों तथा इ और ऋ की मात्रा की बनावट में, जो 'तुलनात्मक मानचित्र' में आसानी से देखा जा सकता है।

अन्य दृष्टियों से विचार करने पर केवल बी और ए का पारस्परिक अंतर महत्वपूर्ण लगता है, क्योंकि एक तो दोनों में तिथियाँ आती हैं, और यह तिथियाँ गणना करने पर शुद्ध उतरती हैं,[1] दूसरे बी में जब कि एक ओर प्रतिलिपिकार का नाम "तुलसीदास" आता है ए की संबंध की अनुश्रुति सब से अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय है और उसमें आने वाला दोहा स्वत: कविकृत है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में किसी के पक्ष में निर्णय देना कदाचित् ठीक न होगा।

[1] देखिए परिशिष्ट क

४

कृतियों का पाठ

१. हस्तलिखित प्रतियाँ मूलतः दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं : कवि-हस्तलिखित प्रतियाँ, तथा प्रतिलिपियाँ। प्रतिलिपियाँ फिर दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं : कवि-हस्तलिखित प्रतियों की प्रतिलिपियाँ, तथा उत्तरोत्तर किसी भी क्रम-संख्या तक पहुँची हुई प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ। इन का एक संक्षिप्त विवेचन आवश्यक होगा, इस के पूर्व कि हम कवि की कृतियों के पाठ पर विचार करें।

कवि-हस्तलिखित प्रतियों से आशय रचयिता के अपने हाथ से लिखी हुई प्रतियों से होता है, और इन के अंतर्गत वे कवि-संशोधित प्रतियाँ भी आ जाती हैं जिन्हें चाहे रचयिता ने स्वतः लिपिबद्ध न किया हो फिर भी जिन का उस ने स्वयं निरीक्षण कर के संशोधन किया हो। पाठ-संपादन करने वाले को इन प्रतियों के संबंध में लिपि की भूलों को सुधारने के अतिरिक्त साधारणतः किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती। किंतु अधिकतर कवि-हस्तलिखित प्रतियाँ बहुत कम प्राप्त होती हैं, और पाठ-संपादकों को दूसरी ही प्रकार की प्रतियों का आश्रय लेना पड़ता है।

इन दूसरी प्रकार की प्रतियों के लिपिकार प्रायः वे होते हैं जो बिना किसी विशेष शिक्षा के प्राचीन काल में मुद्रण-यंत्रों के अभाव में पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ कर के जीविकोपार्जन करते थे। फलतः यह अनुमान सहज में किया जा सकता है कि यह प्रतिलिपियाँ मूल ग्रंथ की सच्ची प्रतिकृतियाँ बहुत कम हो सकती हैं; यही नहीं, अधिकतर प्रतिलिपियाँ तो अपने मूल की अपेक्षा इस लिये निकृष्ट भी देखी जाती हैं; और ज्यों-ज्यों आनुक्रमिक प्रतिलिपियाँ कवि की स्वहस्तलिखित मूल से दूर होती जाती हैं, त्यों-त्यों यह विकार बढ़ता जाता है। अतएव किसी भी प्रति के पाठ के मूल्यांकन में हमें कृति की रचना और प्रतिलिपि के कालांतर को उचित महत्त्व देना होगा।

कवि-हस्तलिखित प्रतियों की प्रतिलिपियों से आशय उन प्रतियों से है जो उक्त प्रकार की प्रति को देख कर लिखी या लिखने के अनंतर उससे मिला

कर तैयार की गई होती हैं। किसी भी रचना की कवि-हस्तलिखित प्रति की अनुपस्थिति में उस के पाठ को साधारणत. इसी प्रकार की प्रतिलिपियों के आधार पर निश्चित रूप दिया जाता है। किंतु इस प्रकार की प्रतियाँ कभी कभी प्राप्त होती हैं, अधिकतर प्राप्त होती हैं किसी भी उत्तरोत्तर क्रम-संख्या तक पहुँची हुई प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ। अपने कवि के विषय में हमें देखना है कि किस प्रकार प्रतियाँ और प्रतिलिपियाँ हमें प्राप्त हैं।

समस्त प्रतिलिपियों के संबंध में हमें दो बातों पर और ध्यान देना होता है, एक तो लिपिकार की लिपि-संबंधी प्रवृत्तियों पर, और दूसरे संशोधक की संशोधन संबंधी प्रवृत्तियों पर। इन के प्रकाश में ही वस्तुतः हम प्रतिलिपियों का ठीक ठीक मूल्य निर्धारित कर सकते हैं। आगे फलतः प्राप्त प्रतियों का पाठ-विवेचन करते हुए हमें इन दोनों बातों को भी निरंतर अपने ध्यान में रखना होगा।

लेखक को आशा है कि प्रस्तुत गवेषणा का आशय एवं उद्देश्य इस समय तक स्पष्ट हो गया होगा। विवशता हमारी यह है कि यहाँ पर हम कवि की रचनाओं की केवल मुख्यतातिमुख्य प्रतियों पर ही विचार कर सकते हैं, क्योंकि प्रस्तुत ग्रंथ की छोटी परिधि में यही संभव है। दूसरी कठिनाई हमारी यह है कि इस प्रकार के अध्ययन के लिये आवश्यकता होती है हस्तलिखित प्रतियों के संग्रह और खोज की पूर्णता की, और हमारे यहाँ यह अंग कितना उपेक्षित है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसलिए यह प्राथमिक प्रयास भी विश्वास है कि लाभदायक होगा। आगे चल कर जिस क्रम से कवि की कृतियों के रचना-काल पर विचार किया गया है, सुविधा के लिए वही क्रम प्रस्तुत अध्याय में उन के पाठ-विवेचन में भी रक्खा गया है।

रामलला नहछू

२. तुलसी ग्रंथावली में जितनी कम प्रतियाँ 'नहछू' की प्राप्त हैं, उतनी कदाचित् किसी भी अन्य ग्रंथ की नहीं, और, अभी तक की खोज में उस की जितनी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उन में से कोई ऐसी नहीं है जो उल्लेखयोग्य रूप से प्राचीन कही जा सके, पाठ भी इन प्रतियों का, जहाँ तक पता चलता है, मुद्रित प्रतियों के पाठ से मिलता जुलता है, इस लिए इन में से कोई भी ऐसी नहीं है

जिस का उल्लेख यहाँ पर किया जावे। प्रस्तुत लेखक को सौभाग्यवश ग्रंथ की एक ऐसी प्रति प्राप्त हुई है जो कवि के जीवन-काल की ज्ञात होती है; उस का विस्तृत परिचय देना आवश्यक होगा।

३. प्रति संपूर्ण प्राप्त है, और उस की पुष्पिका का आवश्यक अंश इस प्रकार है :

"ऐती श्री पोथी राम जी का नहछु···दसखत कीसोरदास वार्मीदा गश्रा जी प्रगना सोनउत संवत् १६६५ साल मीती माघ सुदी पचमी दीन सोमार समात।"

पुष्पिका से यह स्पष्ट ही है कि प्रति कवि-हस्तलिखित नहीं है। वह किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संशोधित भी नहीं है; इस लिए यह प्रश्न नहीं उठता कि वह कवि संशोधित भी है या नहीं, और न यही कि संशोधन साधारण लिपि त्रुटि को दूर करने के लिए किया गया है, अथवा पाठ परिवर्तन के लिए। एक विषय प्रस्तुत प्रति के संबंध में अत्यंत महत्वपूर्ण है : वह है लिपिकार की लिपि-संबंधी प्रवृत्तियों का अध्ययन। ऊपर हम ने पुष्पिका से कुछ अंश उद्धृत किया ही है, नीचे मूल पाठ से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर उस के अध्ययन का प्रयत्न करेंगे।

४. *लिपिकार की लिपि संबंधी प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए हम कृति* के चार अन्य विभिन्न स्थलों से निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं :

कनक कलसां गंगा जल भरी लाइश्र।
चंदन चौका पुराऐ प्रभु को नहवाइश्रै॥

*   *   *

श्री राम भऐ दशरथ को लछुमन आन को।
भरत चतुरगुन भए दोउ चतुर सुजान को॥

*   *   *

काचही बांस कर माड़व हरीअर दुबी हे।
पानन्ही माड़ो छाऐ अम्ब डार ही कपुर हे॥

*   *   *

छोन लागु नीहछावरी गीतनी सब हर्खीश्रा।
जम्न सावन को बुंद स्याम घन बर्खीश्रा॥

ऐसा जान पड़ता है कि लिपिकार केवल अ, आ, ए, ऐ, ओ, तथा औ, की मात्राएँ ही बनाना ठीक ठीक जानता है; इ तथा ई की ध्वनियों के लिए केवल

ई की मात्रा का और उ तथा ऊ की ध्वनियों के लिए केवल उ की मात्रा का प्रयोग वह करता है, और र की ध्वनि को लिपि में वह यथास्थान नहीं रख पाता है। यह प्रवृत्तियाँ लिपिकार की अत्यंत स्पष्ट हैं; और जब तक हम उस की इन प्रवृत्तियों को जान नहीं लेते उस की प्रति के पाठ का यथेष्ट मूल्यांकन नहीं कर सकते। उस की इन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए यदि हम पाठ का पुनर्निर्माण करना चाहें तो कदाचित् कोई कठिनाई नहीं होगी।

५. लिपिकार की इन प्रवृत्तियों का यथेष्ट मार्जन कर देने के अनंतर इस महत्वपूर्ण प्रति के पाठ और मुद्रित पाठ में परस्पर जो अंतर दिखाई पड़ता है हमें उस पर ध्यान देना चाहिए। ग्रंथ के मुद्रित पाठ में कुल ४० द्विपदियाँ हैं, और प्रस्तुत प्रति के पाठ में कुल केवल २६ द्विपदियाँ हैं, और ऐसी द्विपदियाँ जो दोनों में लगभग सामान्य हैं—क्यों कि ऐसी एकाध ही हैं जो शब्दशः सामान्य हैं—केवल १३ हैं, यद्यपि वे भी दोनों में विभिन्न क्रम से संगृहीत हैं। इस प्रकार मुद्रित पाठ की २७ द्विपदियाँ प्रस्तुत पाठ में, और प्रस्तुत पाठ की १३ द्विपदियाँ मुद्रित पाठ में नहीं मिलती हैं। मुद्रित पाठ की जो द्विपदियाँ प्रस्तुत पाठ में नहीं मिलतीं उन में से प्रमुख हैं वे जिन में लोहारिनि, अहिरिनि, तँबोलिनि, दरजिनि, मोचिनि, मलिनियाँ, बरिनिआँ, और नउनियाँ के हाव भाव का वर्णन है, जिन में राजा दशरथ उन में से एक के यौवन पर मुग्ध बतलाए जाते हैं, और जिन में 'कौसल्या की जेठि' का उल्लेख होता है, और जिन में नाउनि की विद्यमानता का पहले से ही उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत पाठ की उन द्विपदियों में से जो मुद्रित पाठ में नहीं मिलतीं प्रमुख हैं वे जो नाइन के 'निछावर' के लिए झगड़ने का उल्लेख करती हैं। पहले प्रकार के अंशों का पाठ परिचय प्राप्त करने के लिए ऊपर उद्धृत पंक्तियाँ यथेष्ट होंगी—वे कुछ अंतर के साथ दोनों में पाई जाती हैं। दूसरे प्रकार के अंशों का पाठ परिचय प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं। प्रस्तुत पाठ उपर्युक्त प्रवृत्तियों के प्रकाश में संपादन के अनंतर दिया जा रहा है.

मदवहि झकरै नउनिआ एहि सब निछावर थोर हे।
रघुबर कै निछावर लेबु मए घोर हे ॥
काहे झगरहु नउनिआ एहि सब लेहु हे।
राम बिआहि घर आएब देबुँ मए घोर हे ॥
जो सब देहल रानी सो सब थोर हे।

सामी चदन को घोरा मोहि पटोर हे ॥

अन्य विस्तारों में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं 'गीत' और 'निछावर' संबंधी विस्तार। इनमें आए हुए समान शब्दावली के प्रश्नोत्तरों के द्वारा पाठ में जिस लोकगीत तत्व का समावेश मिलता है वह मुद्रित पाठ में नहीं मिल सकता। यह विस्तार उपर्युक्त प्रकार से संपादित रूप में क्रमश. इस प्रकार हैं :

(सोने कर कलसा ऊपर बरहि मानिक दीप हे।
मचिया बैठली कोसिला उठै लागु गीति हे ॥)
केहि एह पोखरा खनावल घाट बंधावल हे।
काकर भरिहै कहार तौ केहि नहवाएब हे ॥
राजा दसरथ पोखरा खनावल घाट बंधावल हे।
कोसिला के भरिहैं कहार तौ प्रभु को नेहवाएब हे ॥

* * *

(होन लागु निछावरि गीतनि सब हरखिअ।
जस सावन को बुंद स्यामघन बरखिअ ॥)
के दिहल चुटकी मुदरिआ के दीहल रूप हे।
के दिहल रतन पदारथ भरि गएउ सूप हे ॥
केकइ दिहल चुटकी मुदरिया सोमित्रा दीहल रूप हे।
कोसिला दीहल रतन पदारथ भरि गएउ सूप हे ॥

दोनों पाठों में से कौन सा पाठ कवि की विचार-धारा के अधिक निकट है, यह समझने में कदाचित् कठिनाई न होगी। मैं समझता हूँ कि उक्त प्रति का इतना परिचय यथेष्ट होगा।

वैराग्य-संदीपिनी

६. 'वैराग्य-संदीपिनी' की प्राप्त प्रतियाँ संख्या में 'नहछू' की अपेक्षा अधिक हैं, पर उन में से भी कोई ऐसी नहीं है जो उल्लेख-योग्य रूप से प्राचीन कही जा सके, और न जहाँ तक पता चलता है उन में से कोई ऐसी ही है जिस में मुद्रित प्रतियों की तुलना में कोई महत्वपूर्ण पाठांतर मिलता हो, इस लिए उन में से कोई ऐसी नहीं है जिस का उल्लेख हम यहाँ पर कर सकें।

रामाज्ञा प्रश्न

७. 'रामाज्ञा प्रश्न' की प्रतियाँ कई नामों से मिलती हैं, 'रामाज्ञा प्रश्न के अतिरिक्त उन में से कुछ यह हैं: 'रामायण सगुनौती', 'सगुनावली', 'रामशलाका', 'रघुवरशलाका' तथा 'सगुनमाला'। इन विभिन्न नामों के अंतर्गत पूर्वनिर्दिष्ट प्रतियों की सूचनाओं की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सब का पाठ एक ही है, और मुद्रित प्रतियों के पाठ से मिलता है, फलतः 'रामाज्ञा प्रश्न' की प्रतियों पर विचार करते समय हम इन सब पर भी विचार कर सकते हैं।

८. प्राप्त प्रतियों में से इस समय सब से प्राचीन सं० १६५५ की है, जो हाल में ही पंजाब में हिंदी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज में प्राप्त हुई है।[1] यह अत्यंत खेद का विषय है कि खोज विवरण में उस की जो सूचना दी गई है, उस में उस की प्राप्ति का स्थान निर्दिष्ट नहीं है, और नागरी प्रचारिणी सभा काशी से, जिस ने वह खोज विवरण प्रकाशित किया है, पत्र व्यवहार करने पर भी उस का पता नहीं चल सका। क्या ही अच्छा होता यदि इस महत्वपूर्ण प्रति का पता चल जाता।

९. अब से लगभग ५० वर्ष पूर्व सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने लिखा था, "छक्कन लाल कहते हैं कि सन् १८२७ (सं० १८८४) में उन्हों ने 'रामाज्ञा प्रश्न' की एक प्रतिलिपि मूल प्रति से की थी, जो कवि के हाथ की लिखी थी, और जिस की तिथि कवि ने स्वतः सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार दी थी।"[2] उन्हों ने छक्कनलाल की प्रति की पुष्पिका भी दी थी, जो इस प्रकार थी: "श्री सं० १६५५ जेठ सुदी १० रविवार की लिखी पुस्तक श्री गोसाईं जी के हस्तकमल की प्रह्लादघाट श्री काशी जी में रही। उस पुस्तक पर से श्री पंडित रामगुलाम जी के सत्संगी छक्कनलाल कायस्थ मिरजापुरवासी ने अपने हाथ से सं० १८८४ में लिखा था।"[3] "वह प्रति" ग्रियर्सन साहब का कहना है, "प्रह्लादघाट पर ३० वर्ष पूर्व (सं० १९२०) तक विद्यमान थी",[4] और पं० सुधाकर द्विवेदी की

[1] 'रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर हिंदी मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि पंजाब' (सन् १९२२-२४) नं० ११९ ई

[2] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० ९६

[3] वही, पाद टिप्पणी

[4] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० ९६

सूचना के अनुसार "प० रामकृष्ण नामक एक पुरोहित के पास थी, जिन के पास से वह उस समय चुरा ली गई थी जिस समय उसे एक बार रेल में यात्रा करते समय उन्हों ने बाँचने के लिए निकाला था।"[1]

१० उक्त सूचना के प्रकाशित होने के लगभग इक्कीस वर्ष बाद स० १९७१ में प्रह्लादघाट निवासी रणछोड़ लाल व्यास ने एक लेख उस के प्रतिवाद में प्रकाशित किया था,[2] जिस में उन्हों ने लिखा था कि वह उन गंगाराम के उत्तराधिकारियों में से हैं जो गोस्वामी जी के समकालीन और उन के मित्रों और स्नेहियों में से थे, और असल में वह 'रामाज्ञा प्रश्न' नहीं 'रामशलाका' की प्रति थी जो इस प्रकार छिन गई थी, और इसी की एक प्रतिलिपि छक्कन लाल ने भी की थी।

११ यह विवाद लगभग तेइस वर्ष तक और इसी रूप में चलता रहा,[3] जब कि अंत में प्रस्तुत लेखक ने उसे इस प्रकार सुलझाने का यत्न किया कि 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'रामशलाका' वस्तुत एक ही कृति हैं, और अंतर दोनों में केवल नामों का है।[4] पंजाब की खोज में जो प्रति प्राप्त हुई है उस की भी तिथि स० १६५५ बताई जाती है, और उस के संबंध में भी यही कहा जाता है कि प्रति कवि हस्तलिखित है, इस लिए यह असंभव नहीं कि वह प्रति जो पहले प्रह्लादघाट पर थी अब हम इतने दिनों बाद फिर प्राप्त हो रही हो।

१२ मुद्रित प्रतियों के पाठ में से एक की पुष्पिका प्रस्तुत प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। वह है 'षोडस रामायण संग्रह' में संगृहीत 'रामाज्ञा प्रश्न' की पुष्पिका, जो इस प्रकार है

"हस्ताक्षर श्री गुसाईं जी स० १६५५ रविवार ज्येष्ठ शुक्र १०।"

इस पुष्पिका से ज्ञात होता है कि मुद्रित प्रति उक्त हस्ताक्षर की किसी प्रति का पाठ सीधे लेकर अथवा उसकी किसी प्रतिलिपि के द्वारा तैयार की गई है।

१३ प्रश्न यह हो सकता है कि उक्त प्रति का संपूर्ण पाठ कवि के हाथ का लिखा है, या केवल हस्ताक्षर मात्र प्रति पर कवि का है। पूर्ण निश्चय के साथ इस संबंध में तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक कि मूल प्रति

[1] ई० ऐं०, सन् १८९३, पृ० १६, पाद टिप्पणी

[2] ना० प्र० प०, स० १९७१, पृ० ३१५ [3] देखिए मिश्रबंधु 'हिंदी नवरत्न' पृ० ७८

[4] ना० प्र० प०, स० १९९०, पृ० ३३३

देख नहीं ली जाती। फिर भी इतना कदाचित् अनुमान किया जा सकता है कि यदि उस के अंत का हस्ताक्षर मात्र भी कवि का होगा तो उस ने प्रति के पाठ को स्वत. दुहराया होगा, और इस प्रकार उक्त प्रति यदि प्रथम आशय म कवि की स्वहस्तलिखित न ठहरेगी तो दूसरे आशय मे उस की स्वहस्तलिखित अवश्य ठहरेगी। यह प्रसन्नता की बात है कि उसकी एक प्रतिलिपि मुद्रित रूप में प्राप्त है।

१४ इस प्रति के बाद की सब से प्राचीन प्रति स० १६८६ की है, जो काशिराज क सग्रह म है। प्रस्तुत लेखक ने उसे भली भाँति देखा है। उस का भी पाठ वैसा ही है जैसा मुद्रित प्रतियों का है। शेष प्राप्त प्रतियों का पाठ भी मुद्रित पाठों से भिन्न नहीं है, इस लिए उन के सबध म विचार करने की आवश्यकता यहाँ हम नहीं है।

जानकी मगल

१५ 'जानकी मगल' की भी प्रतियाँ खोज म पर्याप्त सख्या में प्राप्त हुई हैं, और इन म से एक कवि के जीवन काल की ही है।[1] उस का सक्षिप्त परिचय देना आवश्यक होगा। खोज में प्राप्त अन्य प्रतियों म से कोई भी ऐसी नहीं है जो उल्लेखयोग्य रूप से प्राचीन हो, अथवा जिस का पाठ विचारणीय हो, इस लिए उन के सबध म यहाँ विचार की आवश्यकता नहीं है।

१६ कवि क जीवन-काल की यह प्रति कामदकु ज, अयोध्या म प्राप्त हुई बताई गई है। प्राप्त सूचना के अनुसार प्रति म पुष्पिका नहीं है, इस लिए उस के लिपिकार के सबध में अनिश्चय अवश्यभावी है। कहा गया है कि तिथि एक प्रारभ म दी हुई है, जो इस प्रकार है

"सवत् १६३२ कथा किये सवा।"

और प्रारभ और अत का पाठ क्रमश इस प्रकार दिया हुआ है

गुर गणपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
सारद सेष सुकवि श्रुति सत सरल मति॥
हाथ जोरि करि विनइ सबहि सिर नावौं।
सिय रघुबीर बिबाहु जथामति गावौं॥

[1] हिं० खो० रि० (सन् १९२० २२) नो० १९८ ई

शुभ दिन रचेउ स्वयंबर मंगल दायक।
सुनत श्रवण हिये बसहि सीश्र रघुनायक॥
देश सुहावन पावन बेद बखानिश्र।
भूमि तिलक सम तिरहुत त्रिभुवन जानिश्र।

*

येगसहि कुमुदिनी देपि बिधु भई" अवध सुप सोभा नई।
येहि बिधि बिवाह जो राम गावहिं सकल सुप कीरति नई।
सुभ चरित ब्याह उछाह जो सिय राम मंगल गाइहैं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिन पाइहैं॥

तिथि तथा लिपिकार के संबंध में खोज-विवरण के संपादक का कहना है कि "तिथि का प्रति के शीर्ष में दिया जाना कुछ विचित्र जान पड़ता है। 'संवत् १६३२ कथा किये सवा' का अर्थ भी स्पष्ट नहीं है: यह रचना-तिथि भी हो सकती है और प्रतिलिपि-तिथि भी। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रति किसी अन्य व्यक्ति की लिखी हुई है, या कवि की स्वहस्तलिखित है। पिछले विचार के विपक्ष में एक बड़ा तर्क यह है कि प्रति में ण का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है और कवि ण के स्थान पर सर्वदा न का प्रयोग करता था।" खेद यह है *कि प्रस्तुत लेखक ने सं० १६६२ में अयोध्या जा कर यह प्रति देखनी चाही,* किंतु उस समय वह मिली नहीं। इस प्रति की एक प्रतिलिपि—जहाँ तक वह शुद्ध प्रतिलिपि है यह कहना कठिन है—नागरी प्रचारिणी सभा काशी के कार्यालय में रक्खी हुई कही जाती है। एक प्रति लेखक ने इधर अयोध्या के पं० राम रक्षा त्रिपाठी के पास देखी है। ऊपर जो विवरण कामद कुंज की प्रति के संबंध में दिया गया है वह पूर्ण रूप से इस प्रति पर भी लागू होता है। इस प्रति का अंतिम पन्ना यद्यपि नवीन नहीं है किंतु पहले किसी समय बदला हुआ है, और किसी अन्यव्यक्ति द्वारा लिखा हुआ है। प्रति के प्रारंभ में 'सं० १६३२ कथा किये सवा' ऊपर के हाशिये में लिखा हुआ है, और वह एक तीसरे व्यक्ति की लिखावट में है। मूल प्रति निस्संदेह अत्यंत प्राचीन है जैसा उसके कागज से ज्ञात होता है। कहा नहीं जा सकता कि यह प्रति वही है या नहीं। संभावना पहले अनुमान के संबंध में अधिक अवश्य है।

१७. जहाँ तक पाठ का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि वह लगभग वैसा ही है जैसा मुद्रित प्रतियों का। दी हुई तिथि के संबंध में मैं समझता हूँ कि उसे

अधिक से अधिक प्रतिलिपि तिथि ही होना चाहिए, क्यों कि एक तो पूरा ग्रंथ पद्य में होने के कारण यह असंभव सा जान पड़ता है कि उतना अंश प्रारंभ में कवि ने गद्य में दिया हो, दूसरे ग्रंथ में पहले तिथि का निर्देश कर देने के अनंतर कवि मंगलाचरण आदि किया हो यह भी कम संभव जान पड़ता है—कम से कम ऐसा उस की किसी अन्य कृति में नहीं मिलता। कृति के रचना काल के विषय में जो विचार हमने आगे चलकर अन्यत्र किया है[1] उस से भी हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि 'जानकी मंगल' 'मानस' से पूर्व की रचना है इसलिए प्रस्तुत तिथि उसकी रचना तिथि नहीं हो सकती। यह प्रतिलिपि तिथि है यह भी दृढतापूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह मूल प्रति के लिपिकार की लिखावट में भी नहीं है। मूल प्रतिलिपिकार कोई अन्य व्यक्ति था या स्वतः कवि ही, इस संबंध में संपादक का यह कथन कि कवि ण का प्रयोग नहीं करता था, और उस के स्थान पर न का ही प्रयोग करता था यद्यपि प्रति के कवि की स्वहस्तलिखित होने के विरोध में बहुत दृढ तर्क नहीं माना जा सकता फिर भी विचारणीय अवश्य है। कवि का कोई हस्तलेख प्रामाणिक रूप से ज्ञात न होने के कारण उसके साथ इसके लेख की तुलना भी नहीं हो सकती। किंतु उसे यदि कवि हस्तलिखित हम न भी मान सकें तो भी प्रति महत्वपूर्ण है इसमें संदेह नहीं।

१८ 'जानकी मंगल' की एक और प्रति है जिस का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक होगा। यह प्रति प्राचीन तो नहीं है—इस की प्रतिलिपि तिथि सं० १६१० है—किंतु इस का पाठ मुद्रित प्रतियों के पाठ से सर्वथा भिन्न है, और इस लिए यह महत्वपूर्ण है। यह प्रति डॉक्टर भवानी शंकर याज्ञिक, पडुवा डॉगर, नैनीताल, के पास है, और उन्हीं से प्राप्त हुई थी। कृति केवल ८८ चरणों की है, और उस का आदि अंत लिपिकार की लिपि-संबंधी सामान्य प्रवृत्तियों के प्रकाश में संपादन के अनंतर क्रमशः इस प्रकार है :

प्रथम सुमिरि गुरदेव गणेश मनाइयै।
सारद कूँ सिर नाइ राम गुन गाइयै॥
प्रभु गुन सिंधु समानि कौन बरनन करै।
जैसी जाकी बुद्धि जैसी हिरदै धरै॥

[1] देखिए नीचे अध्याय ५

तब कह्यौ तपधनी अवध पति (सू) कुमर हमकुं दीजियै ।
जग्य पूरन होइ हमरौ बिप्र कौ जस लीजियै ॥
तब बोले रिपिराय सोच कीनौ घनी ।
कीजै कौन उपाइ बात गाढ़ी बनी ॥
सुर नर मुनि सब देव सुमन बरषा करै ।
ब्रह्मादिक सब देव मुदित जै जै करै ॥
राम सिया कौ ध्यान सकर हिरदै धरै ।
ब्रह्मा रूप निहारि इंदु पूजा करै ॥
यह छवि जुगल किसोर मुनीजन ध्यावहीं ।
लिपि लिपि बिमल बिनोद बेद जस गावहीं ॥
तुलसी सीताराम हिरदै उर आनियै ।
राम भजन बिनि जनम मिथ्या कर मानियै ॥

प्रति भर में कोई स्थल ऐसा नहीं है जहाँ पर मुद्रित प्रति से पाठसाम्य ..लता हो, फलतः यह एक स्वतंत्र कृति है, यह अत्यन्त स्पष्ट है। प्रश्न अब यह है, ..या यह और वह दोनों गोस्वामी जी की कृतियाँ हैं, अथवा एक ही उन की कृति , और पिछली दशा में कौन सी कृति निश्चयपूर्वक उन की कही जा सकती । पहली वाली कृति के संबंध में हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं, और वहाँ ..मने देखा है कि उस के संबंध में कोई ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती जिस से ..स की प्रामाणिकता में अविश्वास किया जा सके[3], इस लिए उस को हमें ..माणिक मानना ही चाहिए। जहाँ तक इस कृति का संबंध है इस में भी ..ई ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती कि जिस का समाधान कृति को कवि की ..रंभिक कृतियों में रख कर न किया जा सके, भाषा में राजस्थानी का प्रभाव जो दिखाई पड़ता है वह प्रस्तुत—या उस के किसी पूर्व के—लिपिकार का भी ..योग हो सकता है। किन्तु यह अवश्य संगत नहीं जान पड़ता कि कवि ने दो रचनाएँ एक ही विषय पर और एक ही छंद में और बहुत कुछ एक ही ढंग पर की हों, इस लिए इन में एक ही को प्रामाणिक—और दूसरी को एक नक़ल मात्र—मानना ठीक होगा, और यदि दो में से एक को चुनना होगा

[1] देखिए नीचे अध्याय ५ [2] वही

[3] देखिए ऊपर पृ० ९७

तो निस्संदेह प्रचलित कृति को ही चुनना होगा, न केवल इस लिए कि इस की एक प्रति कवि के जीवन-काल की मिलती है, बल्कि जैसा हम कृति की रचना-तिथि का अनुमान करते हुए देखेंगे[1], 'मानस' से उस का गहरा साम्य बहुत स्पष्ट है।

रामचरित मानस

१६. कवि की सभी अन्य कृतियों की अपेक्षा 'मानस' की प्रतियाँ संख्या में अधिक प्राप्त हुई हैं। यह प्रतियाँ अधिकतर भिन्न भिन्न कांडों की हैं, इस लिए यदि हम कांड-क्रम से उन पर विचार करें तो कदाचित् सुविधा होगी।

'मानस' से बालकांड की प्राप्त प्रतियों में से कोई भी ऐसी नहीं है जो कवि के हाथ की लिखी हो और इस अर्थ में कवि-हस्तलिखित हो। एक प्रति श्रावणकुंज अयोध्या में है, जिस के संबंध में कहा जाता है कि यह कवि संशोधित है, और इस प्रकार दूसरे अर्थ में कवि-हस्तलिखित है। इस प्रति का एक सामान्य परिचय कवि के हस्तलेखों के विवेचन में ऊपर दिया जा चुका है; यहाँ पर उस का किंचित् विस्तृत परिचय आवश्यक होगा। प्रति की पुष्पिका निम्नलिखित है:[2]

"इति श्री रामचरित मानसे सकल कलि कलुष विध्वंशने प्रथमो सोपान समाप्त ॥ सुभमस्तु ॥ संवत् १६६१ वैशाख शुदि ६ बुधे ॥"

पुष्पिका के इस अंतिम पृष्ठ की दूसरी ओर एक बहुत मोटा काग़ज चिपकाया हुआ है, जिस पर किन्हीं सीताप्रसाद जी का इस आशय का लेख है कि प्रस्तुत प्रति उन भगवान दास की लिखी हुई है जिन की लिखी 'विनय-पत्रिका' की एक प्रति रामनगर, काशी के चौधरी छुन्नोसिंह के पास है, और यह कि लेखक ने अपना नाम भगवानदास दिया है, किन्तु पत्रा अनवरत उपयोग के कारण फटा जा रहा था, इस लिये उस पर यह काग़ज़ चिपका दिया गया और लिपिकार का नाम इस काग़ज़ के नीचे पड़ने के कारण छिप गया। प्रति के संशोधनकर्ता के संबंध में भी उन्होंने लिखा है। उन का कहना है कि प्रति का संशोधन स्वतः कवि का किया हुआ है, क्यों कि संशोधनों की लिखा

[1] देखिए नीचे अध्याय ५

[2] प्रतिचित्र के लिए देखिए हिं० खो० रि० सन् १९०१

वह राजापुर वाली अयोध्याकांड की प्रति की लिखावट से मिलती-जुलती है। प्रस्तुत लेखक ने उस दुहरे कागज को आर पार सूर्य के प्रकाश में देखने और लिपिकार के कथित आत्मोल्लेख के संबंध में निश्चय करने का उद्योग किया, किन्तु कृतकार्य न हो सका। जहाँ तक इस प्रति और उक्त 'विनय पत्रिका' की प्रति में लिपि साम्य का प्रश्न है वह कुछ न कुछ अवश्य ज्ञात होता है।[1] फिर भी, एक अंतर दोनों में है, उक्त 'विनय पत्रिका' की प्रति का लिपिकार अपना नामोल्लेख 'भगवान ब्राह्मण' कर के करता है, और सीताप्रसाद जी के अनुसार इस प्रति के लिपिकार का नाम 'भगवानदास' है, यद्यपि यह असंभव नहीं कि 'दास' पद उक्त सीताप्रसाद जी ने अपनी ओर से बढा दिया हो, लिपिकार ने स्वत न लिखा रहा हो।

२० प्रति वस्तुत. कवि-संशोधित है या नहीं यह प्रश्न निश्चयात्मक रूप से कथित संशोधनों की लिखावट के आधार पर ही हल किया जा सकता है, इस लिए अन्यत्र कवि के समस्त कथित हस्तलेखों का विवेचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन करते हुए मैं ने ऐसे तीन स्थलों के संशोधनों को ले कर विचार किया है जिन के संबंध में सीताप्रसाद जी ने स्वत लिखा है कि "ये दसखत तुलसीदास के अहीं राजापुर की पोथी मा मिलत हैं।"[2] वहाँ हम ने देखा है कि संशोधनों की लिखावट कवि की अन्य कथित लिखावटों से—और राजापुर की लिखावट से भी—मेल नहीं खाती, राजापुर की लिखावट से वह विशेष रूप से ज, भ, र, और उकार की मात्रा की बनावट में कितना भिन्न है यह 'तुलनात्मक मानचित्र' के द्वारा आसानी से देखा जा सकता है।[3] फलत सीताप्रसाद जी का यह कथन कि प्रति कवि-संशोधित है ठीक नहीं जान पडता।

२१ सीताप्रसाद जी ने कदाचित् एक संभावना छोड दी थी: "क्या यह —अथवा इन में से कोई—संशोधन प्रतिलिपिकार द्वारा स्वतः किए हुए तो नहीं हैं?" वस्तुतः पहला दृष्टिकोण उन का यही होना चाहिए था। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो ज्ञात होगा कि उपर्युक्त में से प्रति के दोहा १५८ की अर्द्धालियों में किया हुआ संशोधन स्वतः प्रतिलिपिकार का किया हुआ है। यदि उन्हों ने मूलप्रति की लिखावट से इस संशोधन की लिखावट का मिलान ध्यानपूर्वक

[1] प्रतिचित्रों के लिए देखिए ऊपर पृ० १६५, १६६

[2] वही

[3] वही, पृ० १६९

किया होता तो कदाचित् यह बात प्रकट हो जाती। उपर्युक्त में से शेष दो संशोधनों की लिखावट स्पष्ट ही मूलप्रति की लिखावट से भिन्न है। इसी प्रकार एक और स्थल का संशोधन है, जिस का प्रतिचित्र नहीं दिया गया है। इन पिछले संशोधनों में आने वाली पदावली—उपर्युत दोहा १५८ वाले संशोधन के विपरीत—पूरी-पूरी अर्द्धालियों के रूप में है, और निम्नलिखित प्रकार से प्रति के उन स्थलों पर मिलती है जिन की संकेत-संख्याएँ गीताप्रेस संस्करण के अनुसार नीचे कोष्ठकों में दी हुई हैं :

(१) तब ऋषि तुरत गौरि पह गयऊ। देखि दशा मुनि बिस्मै भयऊ।

(मानस, बाल० ७८

(२) सहित बशिष्ठ सोह नृप कैसे। सर गुर संग पुरंदर जैसे।

(मानस, बाल० ३०२

(३) जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहौं सो थोरी।
राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं। जगमगात मनि खंभन माहीं।

(मानस, बाल० ३२५

इन पंक्तियों को यदि अन्य प्राचीन प्रतियों में ढूँढा जावे तो इनकी कहानी अलग-अलग ज्ञात होगी। पहली के संबंध में स्वसंपादित 'रामचरित मानस' में विजयानंद त्रिपाठी का कहना है कि "अन्य किसी प्राचीन प्रति में यह नहीं है"[1] और उनका यह कथन ठीक है। दूसरी के संबंध में वे कुछ नहीं कहते हैं, और हम उसे उनके द्वारा संपादित मूल पाठ के अंतर्गत पाते हैं। यह पंक्ति वस्तुतः समस्त प्राचीन प्रतियों में मिलती है। तीसरी के संबंध में उनका कहना है "ये दोनों अर्द्धालियाँ न तो काशिराज की प्रति में हैं और न मोहनदास जी की प्रति में; अयोध्या की प्रति में भी पन्ने के किनारे पर लिखी हुई हैं, अतः सर्वांग सुन्दर होने पर भी इन्हें कवि-कृत नहीं कह सकते।"[2] उनका यह कथन अवश्य ठीक नहीं है; पर पंक्तियाँ काशिराज की प्रति में तो नहीं हैं, किंतु शेष प्रायः समस्त प्राचीन प्रतियों में पाई जाती हैं। फलतः ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ संशोधन किसी समय बहुत पीछे किया गया है।

२२. संशोधन संबंधी प्रवृत्तियों का जब और विस्तारपूर्वक हम अध्ययन

[1] विजयानंद त्रिपाठी : 'मानस' पृ० ५१, पाद-टिप्पणी ३

[2] वही, पृ० १८८, पाद-टिप्पणी १

करते हैं तो हम को ज्ञात होता है कि वह न केवल पाठ-वृद्धि तक सीमित रहा है बल्कि पाठ-परिवर्तन के रूप में पाठ-सुधार तक जा पहुँचा है—कम उपयुक्त जान पड़ने वाले शब्दों को निकाल कर अधिक उपयुक्त जान पड़ने वाले शब्दों को रखने का भी उद्योग किया गया है। इस प्रकार के कुछ संशोधन निम्नलिखित हैं :

(१) पूर्व का पाठ : जीव चराचर सब के राखे।
संशोधित पाठ : जीव चराचर बस के राखे।
(मानस, बाल० २००)

(२) पूर्व का पाठ : सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान।
संशोधित पाठ : सुत सनेह बस मात तब बाल चरित कर गान।
(मानस, बाल० २००)

(३) पूर्व का पाठ : बिधु बदनीं मृग बालक लोचनि।
संशोधित पाठ : बिधु बदनीं मृग सावक लोचनि।
(मानस, बाल० २९७)

२३. यह संतोष की बात है कि इस ढंग के संशोधनों की संख्या अधिक नहीं है, और अधिकतर स्थलों पर जहाँ इस प्रकार का संशोधन हुआ है पूर्व का पाठ भी पढ़ा जा सकता है। वस्तुतः यदि पाठ-वृद्धि और पाठांतर वाले इस प्रकार के संशोधनों को निकाल कर प्रति के मूल पाठ पर जावें तो हमें ज्ञात होगा कि पाठ की शुद्धता के ध्यान से वह बहुत ही उत्कृष्ट है। और कवि की भाषा-संबंधी जो प्रवृत्तियाँ हम राजापुर के अयोध्याकांड में[1] पाते हैं, वे सब हमें इस प्रति में इतनी पूर्णता के साथ मिल जाती हैं कि बालकांड की और किसी भी प्रति में उस प्रकार नहीं मिलतीं, इस लिए भी प्रति का महत्त्व-पूर्ण स्थान स्पष्ट है। ऊपर प्रति के तीन पृष्ठों के प्रतिचित्र दिए जा चुके हैं;[2] प्रति का पाठ उन पृष्ठों पर आसानी से देखा जा सकता है। इस लिए यहाँ पर उस का कोई उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। किंतु एक बात इस प्रति के लिपिकाल के संबंध में अवश्य उल्लेखनीय है : वह यह है कि प्रतिलिपि तिथि विगत संवत्-वर्ष प्रणाली पर गणना करने पर ठीक नहीं उतरती है, जैसी उस काल की अन्य प्रमाणित तिथियाँ ठीक उतरती हैं,[3]

[1] प्रतिचित्र के लिए देखिये ऊपर पृ० १६६

[2] देखिए ऊपर पृ० १६५

[3] देखिए परिशिष्ट ३

और यह बात उसके लिपिकाल के संबंध में गहरा संदेह उपस्थित करती है।

२४. प्रस्तुत प्रसंग में एक और प्रति का उल्लेख किया जा सकता है: वह है सोरों की सं० १६४३ की कही जाने वाली बालकांड की प्रति जिस का एक सामान्य परिचय देते हुए ऊपर यह विचार किया जा चुका है कि उस की पुष्पिका कहाँ तक प्रामाणिक है।[1] यहाँ पर हम उस के पाठ पर विचार कर सकते हैं। पुष्पिका के अनुसार प्रति सं० १६४३ में "सोरों निवासी नंददास पुत्र कृष्णदास हेत...कासीपुरी में" लिखी गई थी, इस लिए अनुमान साधारणतः यह किया जा सकता है कि प्रति गोस्वामी जी के निरीक्षण में लिखी गई होगी और कृष्णदास ने उस का पाठ भी किया होगा। और कृष्णदास के संबंध में कहा यह गया है कि वह स्वतः एक कवि थे और उन्हों ने कुछ ग्रन्थों की रचना की है।[2] ये अनुमान कहाँ तक तथ्यपूर्ण सिद्ध होते हैं, देखना हमें यह है।

२५. प्रति में संशोधन कहीं-कहीं किया हुआ है,[3] किंतु उस की लिखावट तुलसीदास के कथित हस्तलेखों से मेल नहीं खाती। और प्रति को देखा जाता है तो ज्ञात होता है कि जगह-जगह पर पूरे चरण छूट गए हैं। इस प्रकार का एक उदाहरण तो प्रति के अंतिम पृष्ठ पर ही देखा जा सकता है[4] कांड के अंतिम छंद का अंतिम चरण संशोधन के बाद भी रह गया है "निजगिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो।" में आने वाला "कारन" छूट गया था, और वह पंक्ति के ऊपर यथास्थान लिख दिया गया किंतु "बैदेहि रामप्रसाद ते जन सर्वदा सुख पावहीं" जो उक्त छंद का अंतिम चरण है—और जिस के बिना न छंद पूरा होता है और न उस का अर्थ ही—संशोधन के बाद भी कहीं नहीं लिखा गया दिखाई पड़ता। फलतः यह कदाचित् निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रति न तो कवि के निरीक्षण में लिखी गई होगी और न कृष्णदास द्वारा—यदि वह वस्तुतः वैसे योग्य जैसा सोरों वाले उन्हें कहते हैं—कभी भी वह पढ़ी गई होगी।

२६. 'मानस' के अयोध्याकांड की केवल एक प्रति इस प्रकार की प्राप्त हुई है जिस का उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग में किया जा सकता है: वह है राजापु

[1] देखिए ऊपर पृ० ८०

[2] वही

[3] प्रतिचित्र के लिए देखिए ऊपर पृ० ८

[4] वही

की प्रति। उस का एक सामान्य परिचय ऊपर कवि के हस्तलेख का विवेचन करते हुए दिया जा चुका है[1] और वहाँ पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उस की लिखावट 'वाल्मीकि-रामायण' उत्तरकांड की उस प्रति की लिखावट से कुछ मिलती है, जिस की पुष्पिका में लिपिकार ने अपना नाम तुलसीदास दिया है, और इस प्रकार वह कवि-हस्तलिखित जान पड़ती है। यहाँ हम उस के पाठ के संबंध में विचार कर सकते हैं।

२७. जिस वस्तु पर हमारा ध्यान प्रति को देखने पर पहले ही जाता है वह है प्रति के पाठ की भाषा का रूप। कवि की भाषात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन एक स्वतंत्र विषय है, और उस का अध्ययन करने का कुछ प्रयत्न किया भी गया है, किंतु नितांत प्रामाणिक संस्करणों के अभाव में इस प्रकार का अध्ययन एक अर्द्ध-सत्य से अधिक कुछ नहीं हो सकता। इस लिए उन के प्रकाश में कुछ कहना अभी ठीक न होगा। फिर भी जैसा कहा जा चुका है सं० १६६१ की बालकांड 'मानस' की प्रति में[2] हम कवि की भाषा-संबंधी जिन प्रवृत्तियों का दर्शन करते हैं राजापुर की प्रति में भी वे प्रवृत्तियाँ हमें पूर्ण रूप से मिलती हैं। राजापुर की प्रति के पाठ में एक अच्छाई और है: उस में हमें पाठसुधार का प्रयत्न नहीं मिलता, जिस का दर्शन हमें सं० १६६१ वाली प्रति में होता है: इस लिए ऐसा विश्वास होता है कि उस में मूल पाठ हमें अक्षुण्ण रूप में प्राप्त हो जाता है। साथ ही उस में एक त्रुटि भी है: प्रति का सामान्य संशोधन भी रह गया है, और जगह-जगह पर अर्द्धालियाँ छूटी हुई मिलती हैं।

२८. इस प्रति के पाठ का अच्छा अध्ययन किया गया है। इस प्रकार का एक अध्ययन इंद्रदेवनारायण द्वारा किया हुआ है, जिन्होंने इस के पाठ की तुलना सं० १८७१ की एक प्रति के पाठ के साथ कर के—जिसे बीजक का पाठ भी कहते हैं—यह दिखलाया है कि बीजक की कौन-कौन सी अर्द्धालियाँ इस में नहीं मिलतीं—और उन के न होने से किस प्रकार प्रसंगों की संगति नहीं बैठती—और किन-किन स्थलों पर विभिन्न पद-पाठ मिलता है और वह कहाँ तक ग्राह्य है।[3] इस लेख का एक उत्तर श्री भगवानदास हालना ने देने

[1] देखिए ऊपर पृ० १६६

[2] प्रतिचित्र के लिए देखिए ऊपर पृ० १६५ [3] 'सुधा', वर्ष ६, खंड १, पृ० ५६०

का प्रयत्न किया है, जिस में उन्हों ने बीजक के पाठ की अप्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[१] किंतु यह उत्तर ठीक नहीं है। बीजक में यह माना जा सकता है कि पाठ की अशुद्धियाँ हैं, फिर भी राजापुर की प्रति उस की त्रुटियों के कारण अपनी त्रुटियों से मुक्त नहीं हो सकती है। इस लिए हमें पूरे प्रश्न पर एक भिन्न और स्वतंत्र दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए। जो अर्द्धालियाँ राजापुर के पाठ में नहीं मिलतीं उन में से कोई ऐसी नहीं है जिस के संबंध में यह न कहा जा सके कि प्रतिलिपिकार ने भूल से उसे छोड़ दिया—और कुछ तो कदाचित् इस प्रकार की भी हैं जो उसी समय प्रामाणिक मानी जा सकती हैं जब कि वे बीजक की प्रति की अपेक्षा प्राचीनतर प्रतियों में भी निरपवाद रूप से मिलें। न मिलने वाली अर्द्धालियों में से कुछ इस प्रकार की हो सकती हैं जिन का अपने प्रसंगों के साथ अंगांगी भाव का संबंध हो, और कुछ इस प्रकार की भी हो सकती हैं जो प्रसंगों के लिए उतनी अनिवार्य न हों। विचार की सुविधा के लिए हम थोड़ी देर के लिए यदि यही कल्पना कर लें कि वह सभी की सभी अपने अपने प्रसंगों में अनिवार्य हैं, फिर भी क्या प्रतिलिपि करने में इस प्रकार की अर्द्धालियाँ छूट नहीं सकतीं थीं? उत्तर में एक शंका उठाई जा सकती है—प्रति का लिपिकार स्वतः कवि कहा जाता है, तब वह कैसे हो सकता था? इस शंका का समाधान उसी समय हो जाता है जब हम प्रति की इस त्रुटि पर ध्यान देते हैं कि उस का संशोधन नहीं किया गया है, और यह मानने के लिए प्रस्तुत होते हैं कि कवि स्वतः प्रतिलिपि करने में इस प्रकार की भूलें कर सकता था। मैं समझता हूँ पाठ भेदों का समाधान भी लगभग इसी प्रकार हो सकता है। यह अवश्य है कि पंक्तियाँ छूट जाना कदाचित् कुछ अधिक स्वाभाविक है बनिस्बत शब्द-विपर्यय के। किंतु दूसरा भी असंभव नहीं है, और बहुधा हो जाया करता है। इतना हमें और ध्यान में रखना चाहिए कि यह त्रुटियाँ उस पाठ के आधार पर निकाली गई हैं जो प्रति की मुद्रित प्रतिलिपियों में मिलता है, मूल प्रति को ही अगर देखा जावे तो कदाचित् इतनी भूलें न भी मिलें। मैं स्वतः प्रति को आदि से अंत तक नहीं देख पाया हूँ, इसलिए इस विषय को विशेष विस्तार देना मेरे लिए उचित न होगा। एक संभावना और रह जाती है, और उस का उल्लेख

[१] 'सुधा', वर्ष ७, खंड २, पृ० ७२ तथा १०२

करना आवश्यक होगा। संभव है कि बीजक आदि प्रतियों में जो पाठ मिलता है वह बाद का हो—चाहे कवि का ही दिया हुआ क्यों न हो—और राजापुर की प्रति का पाठ उस से पूर्व का हो। किंतु, इस पर पर्याप्त बल नहीं दिया जा सकता। राजापुर की प्रति के संबंध में इतना विस्तार कदाचित् यथेष्ट होगा।

२९. अरण्यकांड की प्राप्त प्रतियों में सब से अधिक उल्लेखनीय सोरों की है जिस की पुष्पिका में उस की प्रतिलिपि-तिथि सं० १६४३ दी हुई है। ऊपर उस का सामान्य परिचय देते हुए पुष्पिका की प्रामाणिकता पर विचार किया जा चुका है।[1] यहाँ पर उस के पाठ पर विचार कर सकते हैं। पुष्पिका के अनुसार प्रति "श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा सों उन के भ्रातासुत कृष्णदास सोरोंक्षेत्र निवासी हेत" लछिमनदास द्वारा काशी में लिखी गई थी।[2] इस लिए इस प्रति के संबंध में भी सामान्यतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वह कवि के निरीक्षण में लिखी गई होगी और उन कृष्णदास ने इस का पाठ भी किया होगा जिन के संबंध में कहा गया है कि वह स्वतः कवि थे और उन्हों ने कुछ ग्रंथों की रचना की है।[3] फिर, एक और विचित्रता इस में है: इस का प्रतिलिपिकार तुलसीदास का शिष्य है और उन्हीं की आज्ञा से उस ने प्रतिलिपि तैयार की है। प्रश्न यह है कि यह धारणाएँ कहाँ तक तथ्यपूर्ण सिद्ध होती हैं।

३०. प्रति में स्थान-स्थान पर संशोधन किया हुआ है, किंतु उन संशोधनों की लिखावट कहीं भी उन लिखावटों से मिलती हुई नहीं जान पड़ती जो कवि की मानी जाती हैं।[4] और, जो संशोधन किए गए हैं उन से तो धारणा यह होती है कि वे किसी नासमझ व्यक्ति के किए हुए हैं: उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित संशोधनों को ले सकते हैं। नीचे हम पूर्व का और संशोधित दोनों पाठ दे रहे हैं, और स्थल-संकेत गीता प्रेस की प्रति के अनुसार कर रहे हैं:

पूर्व का पाठ	संशोधित पाठ
साध्य सुचिंतित पुनि पुनि पेषिय।	साध्य सुचिंतित पुनि जग पेषिय।
	(मानस, अरण्य० ३८)

[1] देखिए ऊपर पृ० ८०

[2] उदाहरणार्थ देखिए ऊपर पृ० ८१ के सामने प्रति के पत्रा २६ का प्रतिचित्र

[3] देखिए ऊपर पृ० ८०

[4] वही

बालक सुत मम दास अमानी ।	बालक सुत मम दास अज्ञानी ।

(मानस, अरण्य० ४४)

गुनागार संसार के	गुनागार संसार के
सुख रहित बिगत संदेह ।	दुख रहित बिगत संदेह ।

(मानस, अरण्य० ४६)

इन सभी स्थलों पर पूर्व का पाठ ही अधिक समीचीन है यह स्वतः स्पष्ट है। एक स्थल पर एक चरण चौपाई का छूटा हुआ था जिस को निम्न लिखित प्रकार से पूरा किया गया है : उस का जो पाठ साधारणतः मिलता है वह भी सुविधा के लिए दे दिया गया है :

संस्करण का पाठ	संशोधन का पाठ
होउ नाथ अघ खग गन बधिका ।	अहे सदा अघ खग गन बधिका ।

(मानस, अरण्य० ४३)

यहाँ भी यदि हम प्रसंग को देखें तो अन्यत्र प्राप्त पाठ और संशोधन द्वारा प्राप्त पाठ में से कौन सा समीचीन है यह बतलाने की आवश्यकता न होगी। फलतः संशोधक के संबंध में कोई अच्छी धारणा हमारी नहीं बनती। मूल पाठ का परिचय भी आवश्यक होगा। नीचे गीता प्रेस संस्करण से स्थल संकेत करते हुए प्रति का पाठ तुलना के लिए दिया जाता है :

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता।
जप तप नेम जलासय भारी। होइ ग्रीषम सोषै सब नारी।
काम क्रोध मद मत्सर भेका। तिनहि हर्ष प्रद बरषा एका।
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन कहँ सदा सरद सुखदाई।
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ तिनहि पेद सब चंदा।
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहै नारि सिसिरि सम पाई।

(मानस, अरण्य० ४५)

तुलना करने पर ज्ञात होगा कि दोनों में अंतर स्पष्ट है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि संस्करण का पाठ ही शुद्ध पाठ है, किंतु प्रति का पाठ सर्वथा शुद्ध नहीं है यह स्वतः जान पड़ता है। फलतः हमारे कवि के शिष्य ने उन की आज्ञा से इस प्रकार की प्रतिलिपि की होगी। प्रति के मूल पाठ को देख कर यह धारणा भी बहुत कुछ कुंठित हो जाती है।

किष्किंधाकांड की कोई भी ऐसी प्रति नहीं प्राप्त है जिस का प्रस्तुत

प्रसग में उल्लेख किया जा सके।

३१ सु दरकाड की प्राप्त प्रतिया में से सब से प्राचीन है स० १६७२ की दुलही की प्रति, जिस का उल्लेख 'मानसाक' के सपादकों ने किया है।[1] प्रति की पुष्पिका इस प्रकार दी हुई है :

"इति श्री रामचरित मानस सकल कलि कलुष विध्वसने ज्ञान सपादनी नाम पचमस्सोपान समाप्त ॥ सुभमस्तु ॥ रामार्पणमस्तु ॥ स० १६७२" अस्तु पुष्पिका में न तिथि का ही कोई विस्तार है और न प्रतिलिपिकार ने अपना नामोल्लेख ही किया है। प्रति के कतिपय पृष्ठों के प्रतिचित्र भी उन्होंने प्रकाशित किए हैं, किंतु लिखावट का मिलान करने के लिए वह बहुत सफल प्रतिचित्र नहीं हैं, इस लिए उन के आधार पर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि प्रति कवि हस्तलिखित है या नहीं। किंतु पुष्पिका, जो उपर्युक्त है, इतनी अशुद्ध अवश्य है कि स्वत कवि उसे नहीं लिख सकता था। कवि सशोधित भी है या नहीं यह भी इसी कारण नहीं कहा जा सकता। किंतु मूल पाठ शुद्ध जान पड़ता है। प्रतिलिपि की एकाध भूलों के अतिरिक्त कोई अशुद्धि उन पृष्ठों में नहीं दिखाई पड़ती जिन के प्रतिचित्र प्रकाशित हैं, और भूल-सुधार के अतिरिक्त सशोधन किया हुआ नहीं दिखाई पड़ता। इसी प्रति के आधार पर 'मानसाक' के सु दरकाड का सपादन हुआ है, यद्यपि व्याकरण के रूपों में कदाचित् कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। प्रति को स्वत देखे बिना इस से अधिक कहना बहुत उचित न होगा।

३२ सु दरकाड की एक अन्य प्रति प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है जिस की पुष्पिका इस प्रकार है :

'सवत १६६४ मीति कार्तिक शुक्ल १४ शनिवासरे दसपत लाल जगुलाल का दंडवत ॥" किंतु वर्ष के अकों में कुछ बनावट सी प्रतीत होती है, जिस को पाठ के प्रकाश में और भी ध्यानपूर्वक देखने की आवश्यकता है।

प्रति सशोधित है, किंतु कदाचित् लिपिकार के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सशोधित नहीं है। वह बहुत सावधानी से लिखी गई है, फिर भी लिपिकार बहुत पढा लिखा नहीं था—जैसा उस की पुष्पिका से भी ज्ञात होता है—इस लिए पाठ मे यदि प्रतिलिपि की अशुद्धियाँ हों तो आश्चर्य नहीं।

[1] 'कल्याण', भाग १३, पृ० १२०

तुलना के लिए उपर्युक्त दुलही की प्रति तथा इस प्रति का पाठ नीचे दिए जाते हैं। देखने पर ज्ञात होगा कि दोनों में पाठांतर इतना अवश्य है कि उस का समाधान केवल लिपिकारों की योग्यता के अंतर द्वारा कदाचित् नहीं किया जा सकता। नीचे दोनों प्रतियों का पाठ देते हुए स्थल-संकेत गीता प्रेस संस्करण के अनुसार किया गया है :

सं० १६७२ की प्रति	सं० १६६४ की प्रति
कौतुक कह आए पुरवासी।	कौतुक लगि आए पुरवासी।
मारहिं चरन करहिं बहु हासी।	मारहि चरन करहि बहु हासी।
बाजहि ढोल देहि सब तारी।	बाजहि ढोल देहि सब तारी।
नगरु फेरि पुनि पूंछ प्रजारी।	नगर फेरि पुनि पूछि प्रजारी।
पावक जरत देषि हनुमंता।	पावक जरत देषि हनुमता।
भएउ परम लघु रूप तुरंता।	भएउ परम लघु रूप तुरंता।
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी	निबुकि चढ़े कपि कनक अटारी।
भईं समीत निसाचर नारी।	भऐ समीत नीसाचर नारी।
हरि प्रेरित तेहि अवसर	हरि प्रेरित ताही समय
चले मारुत उनचास।	बहे पवन उनचास।
अट्टहास करि गर्जा	अट्टहास करि गरज करि
कपि बढ़ि लाग अकास॥	'कपि बढ़ि लागु अकास

(मानस, सुदर० २५)

आकार प्रकार अर्थात् छंद-संख्या और छंद क्रम में उपर्युक्त दोनों समान हैं।

३३ लंकाकांड की प्राप्त प्रतियों में से कोई ऐसी नहीं है जिस का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। प्रस्तुत लेखक को उस की एक प्राचीन प्रति प्राप्त हुई है जिस की पुष्पिका इस प्रकार है :

"ईती श्री राम चरित्रे मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसनो विमल वैराग सपादिनी नाम षष्ठमो सोपान सपुरन समापत॥ सुभमस्तु सवतु १६६७॥ मास माघ वदि ८ र व उ श्रीराम राम राम राम १६२" किंतु इस पुष्पिका के अंकों में भी बनावट प्रतीत होती है, जिसकी प्रामाणिकता पाठ के प्रकाश में और ध्यान पूर्वक देखने की आवश्यकता है।

प्रति संशोधित है, यद्यपि संशोधन प्रतिलिपिकार के अतिरिक्त किसी

अन्य व्यक्ति द्वारा किया हुआ नहीं है; और प्रतिलिपिकार स्वतः—जैसा पुष्पिका से ज्ञात होगा—साधारण योग्यता का व्यक्ति है, इस लिए कहीं कहीं पाठ में इस कारण भी अंतर पड़ गया होगा, यद्यपि प्रति मनोनियोग पूर्वक लिखी गई जान पड़ती है। इ और ई दोनों को वह ई के रूप में लिखता है: अन्यथा साधारण पाठ प्रतिलिपि की भूलों को छोड़ कर बुरा नहीं है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं:

मेघनाद कै मुर्छा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी।
तुरत गयउ उठि गिरिवर कंदर। करै अजै मष अस मन धरा।
सो सुधि पाई बिभीषन कहई। सुनि प्रभु समाचार अस अहई।
मेघनाद मष करै अपायन। षल मायावी देव सतावन।
जौं प्रभु सिद्धि होई सो पाईह। नाथ बेगि रिपु जीति न आईह।
सुनि रघुपति अतिसय सुष माना। बालि अंगदादि कपि नाना।

(मानस, लंका० ७५)

किंतु एक प्रकरण में साधारणतः प्राप्त पाठ की अपेक्षा ६४ 'चौपाइयाँ'[1] अधिक मिलती हैं: वह है मेघनाद वध-प्रकरण, जो सामान्यतः लगभग ढाई 'चौपाइयों' में समाप्त मिलता है।[2] नीचे लिखी पंक्तियाँ इस अंश में से उदाहरण के लिए ली जा सकती हैं:

बहुरि सबन भेंटेव हनुमाना। कहहि तात तुम रापेउ प्राना।
देवन्ह सुमन ब्रिष्टि तब कीन्हा। प्रमुदित हिदय दुंदुभी दीन्हा।
अनुज सहित हरषे रघुबीरा। बोले बचन सुनु तनय समीरा।
तोहि समान नहिं कोउ हितकारी। सुर मुनि सिष्य जो कोउ तनुधारी।
जस तुम्हार त्रिभुवन मह भयऊ। सुनि अस बचन चरन कपि नयऊ।
नाथ कहहु तुम मै केहि लेपे। तरनी चलै न बिनु जल पेपे।

यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उपर्युक्त हमारे कवि की रचना नहीं है। कवि के देहावसान के सत्रह वर्षों के भीतर ही इस प्रकार की पाठवृद्धि भी आश्चर्यजनक है।

२४. उत्तरकांड की भी खोज में प्राप्त प्रतियों में से कोई ऐसी नहीं है

[1] 'चौपाइयों' से आशय उस चौपाई-दोहा समष्टि से है जिस के अनुसार छंद-क्रम-संख्या प्रत्येक कांड में दी गई है

[2] मानस, लंका० ७६–७८

जिस का यहाँ उल्लेख किया जा सके। उस की एक प्रति प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है, जिस की पुष्पिका इस प्रकार है :

"इती स्री पोथी उत्तरकाड कृत गोसाई तुलसीदास भाषा लिखा सपूरन समाप्त ॥ जो देषा सो लिषा मम दोष न दीयते : लिखा मिती सावन बदी ७ सन् १०४२ समत १६६३ साल के ॥" किंतु इस पुष्पिका मे भी वर्ष के अकों में बनावट प्रतीत होती है : जिसकी प्रामाणिकता के प्रश्न को पाठ के प्रकाश मे ध्यान पूर्वक देखने की आवश्यकता है।

प्रतिलिपिकार के अतिरिक्त संशोधन किसी अन्य व्यक्ति का किया हुआ नहीं है, और पाठ साधारणतः प्रतिलिपि की भूलों के अतिरिक्त शुद्ध है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

ऐह सुभ उमा संभु सबादा। सुषदाऐक मन समन बिषादा।
भवभंजन गजन संदेहा। जन रंजन स्सजन प्रय ऐहा।
राम उपासक जो जग माही। ऐह सम प्रय तिन्ह का कछु नाहीं।
रघुपति कृपा जथामति गावा। मैं ऐह पावन चरित सोहावा।
ऐह कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा।
रामहि सुमिरिऐ गाई रामहि। संतत सुनहि राम गुन ग्रामहि।

(मानस, उत्तर० १३०)

किंतु पाठाधिक्य इस प्रति में भी ज्ञात होता है। कांड का प्रारंभ इस प्रति में उस स्थल से होता है जहाँ गीता प्रेस संस्करण का लंकाकांड ११६ (क) समाप्त होता है, और ११६ (क) लंकाकांड और १२० (ख) लंकाकांड के बीच की १ 'चौपाई' के स्थान पर इस प्रति मे १० 'चौपाइयों' का विस्तार है; उस के बाद उत्तरकांड के छंद आते हैं, किंतु कांडारंभ के श्लोक नहीं हैं; और फिर गीता प्रेस संस्करण के उत्तरकांड ६ के बाद ही २ अतिरिक्त दोहों का विस्तार है; इसी प्रकार गीता प्रेस संस्करण के उत्तरकांड १०६ के चार दोहों में से पहले दो दोहों के बाद और बाद वाले दो दोहों के पहले दो 'चौपाइयाँ' बढ़ाई गई हैं। यह सब स्पष्टतः प्रक्षिप्त हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

बहुरि हनो सभापन कीन्हा। पोछि नैन जल यंकम लीन्हा।
सुनहु पुत्र मैं तोहि बुझावों। हहुक पुत्र का मेलि बढ़ावों।
नर तन धरे रघुबंस कुमारा। करत चरित्र परम बिस्तारा

तासु चरन सेएहु अनुरागी । तेहि जग तोहि समान बड़ भागी ।
तोहि देखत दसकंठ अपारा । कछु नहि पौरुष कीन्ह कुमारा ।
अस्थिन दाबि देपाएउ धारा । परबत फोरि निकरि गा पारा ।

३५. इस पाठभेद तथा पाठाधिक्य के प्रकाश में उपर्युक्त सुंदर, लंका तथा उत्तरकांड की प्रतियों की पुष्पिका पर जब हम पुनः विचार करते हैं तो यह धारणा और दृढ हो जाती है कि उनकी पुष्पिकाओं में वर्ष के अंकों में बनावट हुई है। वर्ष की संख्या के संबंध में एक बात अत्यंत ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि ८ का ६ बनाना कुछ विशेष कठिन नहीं है, और इतने ही से कोई वस्तु २०० वर्ष और पूर्व की बन जाती है। इसलिए सत्रहवीं शताब्दी की पुष्पिकाओं को बिना भली भाँति जाँच किए ग्रहण कर लेने में बड़ाभारी धोखा हो सकता है। यह बात तुलसीदास के ही ग्रंथों की प्रतियों के संबंध में नहीं समस्त प्रतियों के संबंध में ध्यान में रखने योग्य है।

३६. समस्त ग्रंथ की प्राप्त प्रतियों में से सब से प्राचीन सं० १७०४ की है जिस को प्रमुख रूप से आधार मान कर 'तुलसी-ग्रंथावली' में 'मानस' का संपादन हुआ है। उक्त संस्करणके संबंध में ऊपर हम भली भाँति विचार कर चुके हैं।[1] प्रति के अरण्य तथा किष्किंधा कांडों में कितना क्षेपक घुस गया है यह यदि ग्रंथावली वाले संस्करण को उठा कर देखा जाय तो प्रकट हो जावेगा, यद्यपि अन्य कांडों का पाठ मोटे ढंग पर शुद्ध प्रतीत होता है। जान पड़ता है अंशतः वह भी उपर्युक्त लंका तथा उत्तरकांड की प्रतियों की ही पूर्ववर्ती परंपरा में है।

इधर काशी के पं० शंभुनारायण चौबे तथा राय कृष्णदास जी के प्रयत्नों से सं० १७२१ तथा सं० १७६२ की दो और समग्र ग्रंथ की प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। यह दोनों प्रतियाँ प्रायः प्रक्षित अंशों से रहित हैं, और इनका पाठ भी सामान्यतः शुद्ध है। सं० १७२१ की प्रति का अयोध्या कांड अवश्य नहीं मिलता है। इन दोनों प्रतियों का उपयोग—भागवतदास खत्री ने सं० १९४२ में प्रकाशित 'मानस' के संपादन में भलीभाँति किया है, जैसा ऊपर बताया जा चुका है। शेष प्रतियाँ—बहुत पीछे की हैं। आशा है कि मानस की पाठ-सामग्री का इतना विस्तार यथेष्ट होगा।

[1] देखिए ऊपर पृ० १४

सतसई

३७ 'सतसई' की प्रतियाँ बहुत थोड़ी प्राप्त हुई हैं। जो प्राप्त हुई हैं उन में से कोई ऐसी नहीं है जो बहुत प्राचीन हो, और पाठ भी उन का, जहाँ तक पता चलता है, मुद्रित प्रति के पाठ से कोई महत्वपूर्ण अतर नहीं रखता, इस लिए उन में से कोई ऐसी नहीं है जिस का उल्लेख किया जा सके। एक प्रति प्रस्तुत लेखक को भी प्राप्त हुई है, वह स० १८०२ की है। प्रति सावधानी से लिखी गई है, और पाठ भी उस का सामान्यत वही है जो मुद्रित प्रतियों का है, केवल मुद्रित पाठ की अपेक्षा प्रथम सर्ग में १ तथा चतुर्थ में ७ दोहे अधिक हैं और सप्तम मे ३ दोहे कम हैं। इस से अधिक विस्तार पूर्वक उस का परिचय देना कदाचित् अनावश्यक होगा।

पार्वती मगल

३८. 'पार्वती मगल' की प्रतियाँ भी बहुत ही थोड़ी प्राप्त हुई हैं, और जो प्राप्त भी हुई हैं, उन में से कोई भी प्राचीनता अथवा पाठ के नाते महत्वपूर्ण नहीं है, इस लिए उन पर विचार करना यहाँ अनावश्यक होगा।

गीतावली

३९. 'गीतावली' की प्रतियाँ पर्याप्त सख्या में प्राप्त हुई हैं। इन का पाठ मुद्रित प्रतियों का-सा ही है। सब से प्राचीन इन में से—जहाँ तक उन की तिथियाँ प्राप्त हैं—स० १७६७ की है, जो प्रतापगढ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में है। इस को प्रस्तुत लेखक ने भली भाँति देखा है। यद्यपि अतिम कुछ पत्रे इस प्रति के नहीं मिलते, किंतु जहाँ तक पत्रे मिलते हैं, वहाँ तक पाठ मुद्रित प्रति के समान ही है, और साधारणत शुद्ध जान पड़ता है।

४०. किंतु इस ग्रथ की एक ऐसी प्रति है जो उपर्युक्त सभी की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, और जिस की ओर विद्वानों का ध्यान पर्याप्त रूप से अभी तक नहीं गया है। यह प्रति रामनगर (बनारस स्टेट) के चौधरी छुन्नीसिंह के पास है। प्रति बुरी तरह खडित है: सुन्दर और उत्तरकाड के अतिरिक्त—और वे भी सपूर्ण नहीं हैं—और काड उस में कोई नहीं हैं, और दुर्भाग्यवश वह अतिम पत्रा भी नहीं बचा है जिस पर प्रति की पुष्पिका रही होगी। प्रतिलिपि तिथि तथा प्रतिलिपिकार का अनुसधान भी फलतः एक समस्या है।

सज्जन मोहनी मनि गनो मोरे भूलि॥ २८ ॥ निसि बासर निरत राम राजिव नैना । जा
न निकट न बिरहिनी अरि अकनि ताते बैन॥ ना पके गुन गाथ कहि कपि दई मुंदरी डा
रि। कृपासुनि उठि लई कर कर उर बिरहानल निहारि॥ हृदय हरष विषाद अति पनि
मुद्रिका पहिचानि। दास तुलसी दसा सो केहि भांति कहौ बषानि॥ ४॥ हौ रघुवंस म
नि को दूतु। मातु मातु पतीति जानकि जानि मारुत पूतु॥ मैं सुनी बातें असैली जे
कहीं निसिचर नीच। क्यौं न मारे गाल बैठे हैं काल दाढ़नि बीच॥ निदरि अरिन दु
वीर बल लै जाउं जौ हठि आजु। डरों आयसु भंग ते अरु बिगरिहै सुर काजु॥ बाधि दा

रामनगर (बनारस स्टेट) की हस्तलिखित 'पदावली रामायण' का एक पृष्ठ

आकार प्रकार म मुद्रित प्रतियों जैसी हैं। इस लिए हम यह अनुमान सहज में ही कर सकते हैं कि 'पदावली रामायण' और 'रामगीतावली' भी उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष्य हैं जैसे 'गीतावली' और 'विनय पत्रिका', और दोनों सभवत लगभग एक ही समय में लिखी गई होंगी।

४३ प्रति असशोधित रह गई है, फिर भी पाठ साधारणत शुद्ध ज्ञात होता है। नीचे लिखा पद उदाहरण स्वरूप में लिया जा सकता है, स्थल निर्देश मुद्रित पाठ के अनुसार है

देषी जानकी जब जाइ।
परम धीर समीर सुत के प्रेमु उर न समाइ।
कृसु सरीर सुभाय सोहत लगी उढ़ि उढ़ि धूलि।
मनहु मनसिज मोहनी मनि गयो भोरें भूलि।
रटति निसि बासर निरंतर राम राजिव नैन।
जात निकट न बिरहिनी अरि अकनि ताते बैन।
नाथ के गुन गाय कहि कपि दई मुदरी डारि।
कथा सुनि उठि लई कर बर रुचिर नाम निहारि।
हृदय हरप बिषाद अति पति मुद्रिका पहिचानि।
दास तुलसी दसा सो केहि भांति कहौं बषानि॥

(गीता०, सुन्दर० २)

४४ प्राप्त पदों का क्रम समझने के लिए नीचे 'पदावली रामायण' पाठ के पदों की क्रम-सख्या बाहर और 'गीतावली' पाठ में उन की क्रम-सख्या कोष्ठकों में दे रहे हैं, और यथासभव खडित पदों के सबध में भी अनुमान का आश्रय लेकर 'गीतावली' में उन की पद सख्याओं का निर्देश कर रहे हैं, किंतु स्पष्टीकरण के लिए खडित पदों के सामने 'ख०' और अनुमान द्वारा प्राप्त पदों के सामने '?' चिन्ह लगा रहे हैं

सुदर काड

१ ख० (१) ?	२ (४७)	३ (४६)	४ (२)
५ (६)	६ (६)	७ (१०)	८ (११)
६ (७)	१० (८)	११ (१४)	१२ (१५)
१३ (४८)	१४ (५०)	१५ (५१)	१६ (१६)
१७ (१७)	१८ (१८)	१६ (१६)	२० (२०)

२१ (२१)	२२ (२३)	२३ (२४)	२४ (२५)
२५ (२६)	२६ (२७)	२७ ख० (२८) ?	२८ ख० (२६) ?
२६ ख० (३०) ?	३० ख० (३१) ?	३१ (३२)	३२ (३३)
३३ (३४)	३४ (३५)	३५ (३६)	३६ (३७)
३७ (३८)	३८ (४३)	३६ (४४)	४० (२२)

शेष खडित हैं।

उत्तर काड:

१ ख० (१०) ?	२ (२३)	३ (१०)	४ ख० (२१) ?
५ (२२)	६ (३)	७ (५)	८ (१८)
६ (१६)	१० (२४)	११ (२५)	१२ (२६)
१३ (२७)	१४ (२८)	१५ (२६)	१६ (३०)
१७ (३१)	१८ (३२)	१६ (३३)	२० (३४)
२१ (३५)	शेष खडित हैं।		

प्रति कितनी महत्वपूर्ण है यह बात इस पाठातर को देखने पर कदाचित् स्पष्ट हो गई होगी। कितना अच्छा होता यदि हम को 'पदावली रामायण' पाठ पूरा पूरा प्राप्त हो जाता।

४५ केवल एक प्रति का उल्लेख इस सबध में और करना है, वह प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है और—जैसा अभी कहा जा चुका है—'गीतावली' पाठ की उपलब्ध सब से प्राचीन प्रति है। पुष्पिका उस की इस प्रकार है:

"इति श्री रामगीतावल्या सप्तम काड समाप्त ॥ शुभ भवतु॥ तत्वर्षे आसाढ मासे शुक्र पक्षे पुन्यस्तिथौ ६ भौमवासरे संवत् १६८६ ॥ पुस्तक लिखी शुभस्थान मथुरा जी मध्ये बगालि घाट उपर शुभभूयात्॥" किंतु इस पुष्पिका में वर्ष की सख्या बनाई हुई प्रतीत होती है, सभवत. सैकडे के ८ का ६ बनाया गया है, उसी प्रकार जैसे ऊपर हमने 'मानस' की कुछ प्रतियों के सबध में देखा है।

यह प्रति सपूर्ण है और आकार-प्रकार में मुद्रित 'गीतावली' की सी है। पाठ से परिचय कराने के लिए ऊपर जो पद 'पदावली रामायण' की प्रति से दिया गया है, वही इस प्रति से भी दिया जा रहा है, स्थल-सकेत मुद्रित पाठ से किया गया है

देखी जानकी जब जाई ।
परम धीर समीर सुत के प्रेम उर न समाई ।
कृस सरीर सुभाइ सोभित लगी उठि उठि धूरि ।
मनहु मनसिज मोहनी मनि गयौ (भोरें) भूल ।
रटत निसि बासर निरन्तर राम राजीव नयन ।
जात निकटि न बिरहिनी अरि अकनि ताते बयन ।
नाथ के गुन गाथ कहि कपि दई मुदरी डारि ।
कथा सुनि उठि लई कर बर रुचिर नाम निहारि ।
हृदय हर्ष बिषाद अति पति मुद्रका पहिचान ।
दास तुलसी दसा सो किहि भाति कहै बखान ॥

(गीता० सुदर० २)

पाठ मे कुछ त्रुटिया तो ऐसी हैं जो लिपिकार की प्रवृत्तियों के कारण ही हुई ज्ञात होती हैं, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि पाठ कदाचित् उतना शुद्ध नहीं है जितना 'पदावली रामायण' वाली प्रति का हम ने ऊपर पाया है। प्रति सावधानी के साथ सुन्दर अक्षरों में लिखी गई है।

विनय-पत्रिका

४६ 'विनय पत्रिका' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ खोज मे प्राप्त हुई हैं। इस के पूर्व कि हम अन्य कुछ प्रतियों का उल्लेख करें, एक बड़ी महत्वपूर्ण प्रति का उल्लेख आवश्यक होगा, जिस की ओर विद्वानों का ध्यान कम गया है। यह हस्तलिखित प्रति कवि के जीवन-काल की है, और सभवतः किसी ऐसी कवि हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि है जिस की किसी भी अंश तक कोई अन्य प्रतिलिपि प्राप्त नहीं है। यह प्रति भी रामनगर (बनारस स्टेट) निवासी चौधरी छुन्नीसिंह के पास है, जिन का उल्लेख 'पदावली रामायण' की हस्तलिखित प्रति के सबध में ऊपर हो चुका है। कुछ खोये हुए पत्रों को छोड़ कर यह प्रति सपूर्ण है। इस का अंतिम पृष्ठ अवश्य कई स्थलों पर फट गया है, फलतः पुष्पिका के कुछ बड़े महत्वपूर्ण अंश जाते रहे हैं। 'विनय पत्रिका' पाठ की प्रतियों से रिक्त स्थलों की पूर्ति के पश्चात् पुष्पिका का वह अंश इस प्रकार पढा जा सकता है—इस में रचयिता का नाम, रचना का विषय तथा रचना का नाम दिया गया है :

"इति श्री तुलसीदास रचित [राम गीता] वली समाप्त । ५
यदि रघुपति भक्तिमुक्तिदा प्रेप्सते सा
सकल क [लुष हर्त्री] सेवनीयाऽप्रयासात् ।
श्रृणुत सुमति पुंसो निर्मिता रामभक्तै
जग [ति तुल] सिदासै रामगीतावलीयम् ॥" १

हस्तलिखित प्रति के प्रत्येक पृष्ठ के हाशिए पर "रा० गी०" के लिखे होने से और यहाँ पर "रामगीतावली" नाम आने से यह स्पष्ट है कि इस कृति का नाम 'राम गीतावली' के अतिरिक्त और कुछ न था, कुछ दूसरी हस्तलिखित प्रतियों में भी यही नाम देखने में आता है,[1] रचयिता का नाम तथा विषय स्पष्ट ही है, और वह 'विनय-पत्रिका' की भी सामान्य सपत्ति है।

४७ पुष्पिका का दूसरा भाग जिस में प्रतिलिपि तिथि तथा प्रतिलिपिकार का नाम दिया हुआ है इस प्रकार है :

"सुभम् सवत् १६६६ समय श्राव...द १२ बुधवासर लिखितम् भगवान ब्राह्मणेन सुभम भवेत ।"

इस अश के लिए अवश्य कहीं से भी सहायता नहीं प्राप्त होती, अतएव रिक्त स्थलों की पूर्ति हमें स्वय करनी है। श्रावण पाठ के लिए "श्राव" में "ण" जोड़ देना अत्यन्त सरल है, और यहाँ तक कोई कठिनाई नहीं है, किंतु यह निश्चय करना कठिन है कि "सुद" (शुक्लपक्ष) अथवा "बद" (कृष्णपक्ष) के लिए "द" से पूर्व "सु" जोड़ा जाय या "ब"। इस विषय में गणना के आधार पर हम निम्नांकित परिणाम पाते हैं :[2]

"स० १६६६, श्रावण सुद १२" :

(विगत-सवत्-वर्ष)	= १ अगस्त सन् १६०६,	बुधवार
(वर्त्तमान-सवत्-वर्ष)	= १४ जुलाई सन् १६०८,	बृहस्पतिवार

"स० १६६६ श्रावण बद १२" :

(विगत-सवत्-वर्ष)	= १८ जुलाई सन् १६०६,	मगलवार
(वर्त्तमान-सवत्-वर्ष)	= २६ जून सन् १६०८,	बुधवार

[1] स० १८८१ की एक प्रति (हि० खो० रि० सन् १९२०-२२, नो० १९८ आई), तथा एक अन्य प्रति स० १९०६ की जो प्रस्तुत लेखक के पास है

[2] देखिए परिशिष्ट ३

१३० (२६८)	१३१ (२७०)	१३२ (२७३)
१३३ (२१६)	१३४ (२१७)	१३५ (१५६)
१३६ (२०८)	१३७ (२३५)	१३८ (२३६)
१३९ (२७५)	१४० (२१६)	१४१ (२१२)
१४२ (२३४)	१४३ (२६६)	१४४ (२७४)
१४५ (२३०)	१४६ (२७२)	१४७ (२६३)
१४८ (२१०)	१४९ (२३१)	१५० (२३२)
१५१ (२१८)	१५२ (४२)	१५३ (४१)
१५४ (२२६)	१५५ (२२४)	१५६ (२४१)
१५७ (२३३)	१५८ (२६६)	१५९ (२४०)
१६० (२६४)	१६१ (२३९)	१६२ (२४३)
१६३ (२४२)	१६४ (२३७)	१६५ (२३८)
१६६ (गीता०,अरण्य०५)	१६७ (२६५)	१६८ (२२५)
१६९ (२५५)	१७०-१७१ पद०	१७२ (२२०)
१७३ (२२७)	१७४ (३९)	१७५ (४०)

उपर्युक्त तालिका को देखने पर ज्ञात होगा कि 'राम गीतावली' को 'विनय-पत्रिका' का वर्त्तमान कलेवर देने के लिए पूर्ववर्ती पाठ में न केवल पदों का क्रम बदला गया बल्कि यदि अधिक नहीं तो कम से कम १०८ नए गीत भी जोड़े गए। 'राम गीतावली' पाठ किसी अन्य प्रति में न मिलने का कारण सभव है यह हो कि 'पदावली रामायण' की प्रति की भाँति 'राम गीतावली' की प्रति भी कवि की उसी नाम की स्वहस्त लिखित प्रति की प्रथम प्रतिलिपि हो और इस प्रतिलिपि के तैयार होने के कुछ ही दिनों बाद 'राम गीतावली' रूप को नष्ट कर और उस के गीतों मे और अधिक गीतों को जोड़ कर कवि ने 'विनय-पत्रिका' पाठ तैय्यार कर दिया हो। इन परिस्थितियों में प्रस्तुत लेखक की आशा है कि इस प्रति के महत्व की अत्युक्ति नहीं की जा सकती। प्रति के पाठ के उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद लिया जा सकता है: स्थल-सकेत मुद्रित प्रति से किया गया है:

मेरो भलो कियो राम अपनी भलाई।
हौं तो साईं द्रोही पै सेवक हितु साईं।
राम सो बड़ो है कोनु मोसो कोनु छोटो।

राम सो खरो खसम मोसो खल खोटो।
लोगु कहै राम को गुलामु हौं कहावौं।
एते बड़े अपराध भौ न मन बावौं।
पाथ माथे चढ़ै तिनु तुलसी जो नीचो।
बोरत न बारि ताहि जानि आपु सींचो॥

(विनय० ७२)

४६. राय बहादुर डॉक्टर श्यामसुंदर दास जी ने एक बार 'विनयावली' नाम की सं० १६६६ की एक प्रति का परिचय दिया था, जिस की एक प्रतिलिपि उन्हें कहीं से प्राप्त हुई थी। उक्त परिचय में कुछ भूलें हैं, अन्यथा उल्लिखित प्रतिलिपि की मूल प्रति यही है यह स्वतः ज्ञात होता है, क्योंकि खंडित अंश, और पदक्रम दोनों में एक ही हैं।

५० 'विनय-पत्रिका' पाठ की प्राप्त प्रतियों में सबसे प्राचीन सं० १७६० की है।[1] जहाँ तक पता चलता है इस का पाठ मुद्रित पाठ से अभिन्न है। प्रस्तुत लेखक स्वतः इस प्रति को नहीं देख सका है, इस लिए विशेष रूप से इस के संबंध में वह नहीं लिख सकता है। अन्य प्रतियाँ बहुत पुरानी नहीं हैं, और न उन का पाठ ही महत्वपूर्ण है, इस लिए उन का उल्लेख करना अनावश्यक होगा।

कृष्ण-गीतावली

५१. 'कृष्ण-गीतावली' की प्रतियाँ कई प्राप्त हुई हैं। इन का पाठ जहाँ तक पता चलता है लगभग वैसा ही है जैसा मुद्रित 'कृष्ण गीतावली' का। सब से प्राचीन प्राप्त प्रति सं० १७६७ की है, जो प्रतापगढ़ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में रक्खी हुई है। इसे प्रस्तुत लेखक ने भली भाँति देखा है। प्रति का पाठ मुद्रित पाठ से आकार प्रकार में समान है। इस लिए विस्तार के साथ उस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

बरवै

५२. 'बरवै' की कई हस्त लिखित प्रतियों का उल्लेख खोज-विवरणों में

[1] हि० खो० रि० सन् १९२६-२८, नो० ४८२ जेड् (१)

हुआ है। इन मे से जिन के उद्धरण मिलते हैं, उन के पाठों को मुद्रित पाठ से मिलाते हैं तो उन्हें अधिकतर भिन्न पाते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि स्वर्गीय शिवसिंह सेंगर के पास भी इस की एक प्रति थी जिस का पाठ मुद्रित प्रतियों के पाठ से कुछ भिन्न था, क्यों कि जो उदाहरण उन्हों ने दिए हैं वे मुद्रित पाठ में नहीं मिलते।[1] इन विभिन्न पाठों के अनुकूल एक और बात यह है कि इन मे से कुछ तो बहुत प्राचीन हैं। अतएव इस काव्य के संपादन में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। खेद का विषय है कि अब तक इस ग्रंथ का संपादन सावधानी से नहीं हुआ है।

५३ ज्ञात प्रतियों में सब से प्राचीन कदाचित् सं० १७९७ की है, जो प्रतापगढ़ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में है। प्रस्तुत लेखक को उसे भली भाँति देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मिलाने पर उसे पता चला है कि मुद्रित पाठ के बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुंदर तथा लंकाकांड तक के प्रथम बयालीस बरवै तथा उत्तरकांड के ५६–६९ बरवै इस हस्तलिखित प्रति के पाठ में नहीं मिलते। इन के स्थान पर इस प्रति में पचीस अन्य बरवै मुद्रित पाठ के ४३-५८ बरवै से पूर्व आते हैं। दोनों के उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित को ले सकते हैं, अंतिम मुद्रित पाठ का तैंतालीसवाँ है, शेष उक्त प्रति के पाठ के अपने हैं :

जो पै राम न जानेउ सहज सुभाइ।
सत सुरेस सम राज त जीवन जाइ॥
देखि राम छबि बिबुध गए सब सोक।
रचे परन त्रिन साल गऐ निज लोक॥
सोहत परन कुटी तर सीता राम।
लषन समेत बसहु तुलसी उर धाम॥
चित्रकूट निज तीर सुतरु तर बास।
लषन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥

इस पाठ के जो पचीस बरवै मुद्रित पाठ में नहीं मिलते वे इसी आधार पर गोस्वामी जी की रचनाओं से कदाचित् बहिष्कृत नहीं किए जा सकते, क्यों कि शैली तो उन की प्रमुख रूप से तुलसीदास जी की ही दिखाई देती

[1] शि० सिं० स०, पृ० १२१

है। फलतः इस कृति का भी संपादन सावधानी से किया जाना चाहिए, यह कदाचित् स्पष्ट हो गया होगा।

दोहावली

५४. 'दोहावली' की कई हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख खोज-विवरणों में हुआ है; दो-एक को छोड़ कर शेष सभी से उद्धरण भी दिए गए हैं। उन के पाठों को मुद्रित पाठों से मिलाने पर बड़ा आश्चर्य यह होता है कि उन में से दो-एक का भी पाठ मुद्रित पाठ से पूरा-पूरा नहीं मिलता है। सब से प्राचीन प्रति सं० १७६७ की है, जो प्रतापगढ़ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में है। लेखक को उसे भली भाँति देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मिलाने पर ज्ञात हुआ है कि उस में ४७८ दोहे हैं, जब कि मुद्रित पाठ में ५७३ दोहे मिलते हैं। और इन ४७८ दोहों में से छः दोहे ऐसे हैं जो मुद्रित पाठ में कहीं नहीं मिलते। तब क्या इस प्रति के इन छः दोहों को—या मुद्रित पाठ के एक सौ बारह दोहों को—प्रक्षिप्त कहना न्यायसंगत होगा? इस प्रश्न का उत्तर बिना प्राप्त प्रतियों की पूरी जाँच किए नहीं दिया जा सकता। फलतः इस ग्रंथ का भी पुनर्संपादन आवश्यक है यह कदाचित् स्पष्ट होगा।

कवितावली और बाहुक

५५. 'बाहुक' अधिकतर प्रतियों में केवल 'कवितावली' के परिशिष्ट की भाँति मिलता है, इस कारण दोनों को एक ही कृति मान कर उन पर विचार किया जा सकता है। इस संकलन की अनेक प्रतियों का उल्लेख खोज-विवरणों में हुआ है। इन में से कुछ ही को छोड़ कर सभी से उद्धरण भी दिए गए हैं। इन उद्धरणों के अध्ययन से पता चलता है कि थोड़ी-सी ही प्रतियाँ ऐसी हैं जिन का पाठ मुद्रित पाठ से मिलता है, शेष का पाठ भिन्न है। ज्ञात होता है कि शिवसिंह सेंगर के पास भी दो प्रतियाँ थीं। उन्हों ने 'कवितावली' और 'बाहुक' दोनों से उद्धरण दिए हैं।[1] पहली कृति के उद्धरण तो मुद्रित पाठ से मिलते हैं, किंतु दूसरी कृति के नहीं। प्रस्तुत लेखक को इस कृति की सं० १७६७ की एक प्रति को भली भाँति देखने का अवसर प्राप्त

[1] शि० सिं० स०, पृ० ११२

हुआ है, जो ज्ञात प्रतियों में कदाचित् सब से प्राचीन है और प्रतापगढ़ (अवध) के राजकीय पुस्तकालय में है। मिलाने पर इस में उसे मुद्रित पाठ के कुछ छन्द नहीं मिले, और इस पाठ के अंतिम भाग में जिस क्रम से छंद संकलित किए गए हैं वह क्रम भी मुद्रित पाठ में पूरा-पूरा नहीं मिला।

५६. एक प्रति यद्यपि उपर्युक्त प्रति से बाद की है, किंतु कदाचित् उस से अधिक महत्वपूर्ण है। यह सं० १८२० की है, और काशी के पंडित विजयानंद त्रिपाठी के पास है। मुद्रित पाठ से इस के पाठ में बहुत अंतर है। इस में न केवल दूसरी प्रतियों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम छंद ही हैं वरन् उनका क्रम भी कुछ भिन्न है। यह अंतर 'कवितावली' और 'बाहुक' के अंतिम भागों में है, जिस में कवि के जीवन-संबंधी बड़ी महत्वपूर्ण बातें आती हैं। छूटे हुए प्रसंगों में सब से मुख्य महामारी, बाँह के अतिरिक्त शरीर के अन्य अंगों की पीड़ा, बरतोर के फोड़े तथा कवि की (संभवतः परलोक-) यात्रा के स्थल हैं। यदि इस का कारण यह है कि जिस मूल प्रति की यह प्रतिलिपि है उस का पाठ अन्य पाठों से पूर्व का है, जो कि असंभव नहीं ज्ञात होता, तो इस प्रति के महत्व और मूल्य की अत्युक्ति नहीं की जा सकती।[१] किंतु जब तक कृति की अधिकतर प्राप्त प्रतियों की सावधानी से जाँच न की जाय, तब तक यह विचार कदाचित् केवल एक अनुमान मात्र ही रहेगा। वास्तव में यह कार्य ऐसा है जिस के लिये कुछ कष्ट उठाना भी वांछनीय होगा। यह बड़े दुःख की बात है कि कवि के जीवन-वृत्त के लिए इस सब से महत्वपूर्ण रचना का यथेष्ट यत्नपूर्वक संपादन अभी तक नहीं हुआ है।

५

कृतियों का काल-क्रम

१ कवि की कृतियों का काल-क्रम निर्धारित करने के लिए प्रत्येक कृति-संबंधी विस्तृत अनुसंधान के पूर्व यदि हम पूरे विषय को एक व्यापक दृष्टि से देखने का उद्योग करें तो वह कदाचित् लाभदायक होगा। इस पथ निर्माण के प्रयत्न में हम इस से अधिक कुछ नहीं कर सकते कि समस्त रचनाओं के एक साधारण काल-क्रम का अनुमान लगाने का यत्न करें, और तब तक विषय की विस्तृत परीक्षा स्थगित रक्खें। इस प्रारंभिक अनुमान के आधारों का सम्यक् उल्लेख हम पीछे आने वाले विस्तृत विवेचन के लिए सुरक्षित रख सकते हैं। रचनाएँ हम इस समस्त प्रसंग में अनुसंधान के लिए वही लेंगे जिन को हम ऊपर कवि की कृतियों में स्थान दे चुके हैं।[1]

२. उपर्युक्त तेरह रचनाओं में से चार में ही कहीं न कहीं पर कवि ने तिथि-निर्देश किया है। अपनी तिथियों के साथ यह रचनाएँ इस प्रकार हैं: 'रामाज्ञाप्रश्न' (सं० १६२१), 'रामचरित मानस' (सं० १६३१), 'सतसई' (सं० १६४१) और 'पार्वती' मंगल (सं० १६४३)। इन चार के अतिरिक्त कवि की और कोई भी कृति अपनी रचना-तिथि नहीं बतलाती है, अतएव अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए हमें अन्य युक्तियों का आश्रय लेना पड़ेगा।

३. इन युक्तियों में से एक जिस पर कि हमारा ध्यान सर्वप्रथम जाता है यह है कि आलोच्य रचनाओं में देखा जावे कि उन में से किसी में ऐसे तथ्यों का संकेत पाया जाता है—या नहीं—जो कि ज्योतिष की गणना से या समकालीन ऐतिहासिक वृत्तों से प्रमाणित होने के योग्य हों, और इस प्रकार उस की तिथि के सन्निकट पहुँचा जावे। 'दोहावली' और 'कवितावली' के अंतर्गत ऐसी घटनाओं का उल्लेख है। 'दोहावली' में रुद्रबीसी का उल्लेख है, जो कि ज्योतिष की गणना से सं० १६५६ से ले कर सं० १६७६ तक के बीच पड़ती है। 'दोहावली' एक यथाक्रम रचना नहीं है, उस में केवल दोहों का संकलन है।

[1] देखिए ऊपर पृ० ९७

अतएव यह असंभव नहीं कि उस में कुछ दोहे ऐसे भी हों जो उन दोहों के पश्चात् रचे गए हों जिन में रुद्रबीसी का उल्लेख मिलता है परंतु इस की हमें खोज करना है। अभी तो हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि उस के अंतर्गत कदाचित् कवि की कुछ अंतिम रचनाओं का भी संकलन है। 'कवितावली' में इसी प्रकार उक्त रुद्रबीसी के अतिरिक्त मीन के शनि का उल्लेख है, जो गणना के अनुसार सं० १६६९ और सं० १६७१ के बीच में घटित होता है। एक तीसरी भी घटना है जिस का उल्लेख 'कवितावली' में होता है: वह है महामारी; किंतु महामारी से कवि का आशय नितांत निश्चित नहीं है; यदि महामारी से कवि का आशय ताऊन से हो, जिस ने सं० १६७३ से सं० १६८१ तक देश को पहली बार पादाक्रांत किया था, तो जिन छंदों का संबंध महामारी से है वे इस महामारी के समय के अंतर्गत कभी न कभी रचे गए होंगे; और यदि यह किसी दूसरे संक्रामक रोग से उस का आशय हो, जिस का होना सर्वथा असंभव नहीं है, तो वे छंद किसी भी निश्चयात्मक रूप में हमारी सहायता नहीं करते हैं। इस लिए यदि केवल प्रथम दो संकेतों पर हम भरोसा रखते हैं तो इतना ही कह सकते हैं कि 'कवितावली' में 'दोहावली' की अपेक्षा कदाचित् अधिक निश्चित रूप से कवि की कुछ अंतिम रचनाएँ हैं।

४. दूसरी युक्ति जो हमारे लिए इस अन्वेषण में सहायक हो सकती है, कवि के मृत्युपूर्व की उस की रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियों की खोज है। जिन रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ इस रूप से सहायक होती हैं, वे हैं 'जानकी मंगल', 'रामलला नहछू', 'विनय-पत्रिका' तथा 'गीतावली'। 'जानकी मंगल' की एक हस्तलिखित प्रति में सं० १६३२ की तिथि दी हुई है। यदि उक्त तिथि प्रतिलिपि-तिथि है—रचना-तिथि तो कदापि नहीं हो सकती क्योंकि न केवल वह मूल पाठ में नहीं आती है वरन् मूल पाठ के लेखक की लिखावट में भी नहीं है—तो उस की रचना सं० १६३२ के पूर्व की होनी चाहिए। इसी प्रकार 'रामलला नहछू' की एक प्रति सं० १६६५ की प्राप्त हुई है, जो कवि के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति की लिखी हुई है। स्पष्ट ही इस की रचना-तिथि सं० १६६५ के पूर्व होनी चाहिए। 'विनय-पत्रिका' की एक हस्तलिखित प्रति सं० १६६६ की प्राप्त हुई है। इस की भी लिखावट कवि के अतिरिक्त किसी दूसरे की है, अतएव इस की रचना सं० १६६६ के पूर्व की होनी चाहिए। यद्यपि 'गीतावली' की एक हस्तलिखित प्रति की निश्चित प्रतिलिपि-

तिथि का ज्ञान हमें नहीं है, परंतु कुछ विशेषताएँ उक्त प्रति की ऐसी हैं जिन से यह ज्ञात होता है कि उस की तिथि 'विनय-पत्रिका' की उपर्युक्त हस्तलिखित प्रति की तिथि के कुछ ही इधर-उधर होगी, इस लिये इस ग्रंथ की रचना भी 'विनय-पत्रिका' की भाँति सं० १६६६ के कुछ पूर्व की होनी चाहिए।

५. अंत में जिस युक्ति का आश्रय हमें लेना पड़ता है वह है, कृतियों के विषय निर्वाह तथा उनकी शैली के अध्ययन। विषय-निर्वाह एवं शैली के अध्ययन किस प्रकार कवि की कुछ अन्य रचनाओं के समय-निर्धारण में हमारी सहायता करते हैं, इसे देखने के पहले हमें देखना यह चाहिए कि कैसे इन तीन रचनाओं के समय-निर्धारण में, जिन के समय के संबंध में कवि की जीवन-कालीन प्रतियों के आधार पर अनुमान का प्रयत्न हम ने अभी किया है, यह हमारी सहायता करते हैं। 'जानकी मंगल' के संबंध में हम देखते हैं कि उस का कथानक-विस्तार कुछ प्रमुख स्थलों पर 'रामचरित मानस' (सं० १६३१) से भिन्न है, और इन्हीं स्थलों पर 'रामाज्ञा प्रश्न' (सं० १६२१) से उस का सादृश्य है; अतएव स्पष्ट है कि 'जानकी मंगल' को 'रामचरित मानस' के पूर्व की रचना होना चाहिए। फिर 'जानकी-मंगल' और 'रामाज्ञा-प्रश्न' में से 'जानकी मंगल' ही विषय के अनुसार 'रामचरित मानस' के अधिक समीप जान पड़ता है, 'रामाज्ञा-प्रश्न' की अपेक्षा इस लिए इसे समय के अनुसार 'रामचरित मानस' के अधिक समीप होना चाहिए। 'रामलला नहछू' कवि की उपर्युक्त सभी रचनाओं में सब से अपरिपक्व रचना है, और इस में ऐसी मर्यादाहीन कामुक प्रवृत्ति का प्रदर्शन हुआ है कि कवि की अन्य रचनाओं को पढ़ने के अनंतर जो संस्कार हमारे हृदय में बनता है उसे इस से बड़ा धक्का पहुँचता है। इस लिए या तो यह कवि की रचना नहीं है, और या तो उसकी रचनाओं के काल-क्रम में इसे प्रायः सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिए। 'विनय-पत्रिका' के संबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि उस के एक पद में कवि अपने को जीवनांत के निकट बतलाता है। इस बात से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि इस का संकलन कवि के प्रारंभिक अथवा मध्य रचना काल में नहीं हो सकता, और इसे कवि के उत्तर रचना काल की कृतियों में स्थान मिलना चाहिए। 'गीतावली' के संबंध में विषय-निर्वाह पर ध्यान देने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अंशतः वह 'रामाज्ञा-प्रश्न' से मिलती और 'मानस' से भिन्न है, अंशतः 'मानस' से मिलती और 'रामाज्ञा प्रश्न' से भिन्न है, और अंशतः वह 'मानस'

की अपेक्षा कथानक विस्तार में सुधार उपस्थित करने का प्रयत्न करती है इस लिए सकलन काल उस का 'मानस' के बाद आना चाहिए। 'विनय पत्रिका' और 'गीतावली' की जो प्रतियाँ कवि के जीवन काल की मिलती हैं वे ऐसा परस्पर सापेक्ष्य पाठ प्रस्तुत करती हैं जो बाद वाली प्रतियों के पाठ से बहुत भिन्न हैं, इस से ज्ञात होता है कि इन दोनों का सकलन 'मानस' के बाद किसी समय कवि की वृद्धावस्था में साथ-साथ हुआ होगा। किंतु 'पार्वती मगल' में और इन में यह कहना कदाचित् कठिन होगा कि कौन पहले की रचना है। केवल 'विनय पत्रिका' में जीवनात के निकट होने के आत्मोल्लेख के कारण हम उस का तथा 'गीतावली' का सकलन काल अवश्य इतना पूर्व नहीं रख सकते जितना 'पार्वती मगल' का रचना-काल (स० १६४३) है

६. अन्य रचनाएँ जो शैली तथा विषय निर्वाह से रचना तिथि निर्धारण में सहायता प्राप्त कर सकती हैं, वे हैं 'वैराग्य सदीपनी', 'कृष्ण गीतावली' तथा 'बरवै'। 'वैराग्य सदीपनी' की शैली के विषय में भी यही कहा जा सकता है, जो कि 'रामलला नहछू' के बारे में ऊपर कहा गया है। प्रबंध और विषय-निर्वाह अपरिपक्व हैं तथा छदों का प्रयोग भी बेढग हुआ है, इन कारणों से यह रचना भी कवि की नहीं जान पड़ती है। यदि यह किसी प्रकार उस की रचना है भी तो यह 'रामलला नहछू' की ही भाँति कवि के जीवन के प्रारंभिक काल में ही रची गई होगी। 'कृष्ण-गीतावली' का 'गीतावली' के साथ शैली सादृश्य प्रकट है, किंतु विषय निर्वाह की दृष्टि से वह 'गीतावली' से परिष्कृत जान पड़ती है। 'कृष्ण-गीतावली' का परिष्कार अधिकतर विषय विभाजन में समानुपात, एकरूपता, और कवि की कलात्मक अभिरुचि की परिपक्वता की ओर सकेत करता है। इस लिए यह जान पड़ता है कि कवि के जीवन में 'गीतावली' के कुछ समय के पश्चात् ही इस का समय निर्देश करना पड़ेगा। 'बरवै' में कुछ ऐसे पद हैं जो, वैसी ही अस्पष्टता से सही, किंतु कवि के सन्निकट जीवनात की ओर सकेत करते हैं। अतएव यह रचना 'विनय पत्रिका' की भाँति कवि के जीवन के अतिम काल की ज्ञात होती है। इस का 'दोहावली' और 'कवितावली' के साथ भी सादृश्य है, और यह इस बात से है इस की जो हस्तलिखित प्रतियाँ अन्वेषण में प्राप्त हुई हैं, उन में से अधिकतर परस्पर बहुत ही विभिन्न पाठ प्रस्तुत करती हैं। फलतः यह रचना 'विनय-पत्रिका' के कुछ बाद की और सभवत. 'दोहावली' तथा 'कवितावली'

के आस पास सकलित ज्ञात होती है ।

७ निम्नलिखित सामान्यकाल क्रम आशा है कि उपर्युक्त परिणाम को यथेष्ट रूप मे उपस्थित करेगा .

(१) रामलला नहछू
(२) वैराग्य-सदीपनी
(३) रामाज्ञा-प्रश्न (स० १६२१)
(४) जानकी मगल
(५) रामचरित मानस (स० १६३१)
(६) सतसई (स० १६४१)
(७) पार्वती मगल (स० १६४३)
(८) गीतावली
(९) विनय पत्रिका
(१०) कृष्ण गीतावली
(११) बरवै
(१२) दोहावली
(१३) कवितावली (बाहुक सहित)

इसी क्रम के अनुसार नीचे हम रचनाओं का निरीक्षण उन के काल क्रम निर्णय के लिए करेंगे ।

८ मुख्य विवेचन के आरभ करने के पूर्व मैं केवल एक बात पर और आप का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ : वह यह है कि यद्यपि मैं ने अभिव्यक्ति की स्पष्टता तथा सक्षेप के लिए परिणामों को निश्चयात्मक रूप दिया है परतु आगे वाले पृष्ठों में मेरा उद्देश्य निरतर यही रहा है कि सिद्धात वाद की अपेक्षा अनुमान-वाद को अधिक प्रश्रय दूँ, तथ्य-वाद के स्थान पर विचार वाद को भी प्रधानता दूँ, और आप से प्रस्तुत प्रसग में अतिम शब्द कह देने की चेष्टा न करूँ, वरन् तर्क क्रिया तक ही प्रमुख रूप से अपनी शक्ति का उपयोग करूँ । आशा है कि आप इस क्षेत्र में मेरे परिश्रम का मूल्य—जो इस दिशा में प्रथम प्रयास है—मेरे इस सकल्प के आधार पर ही निर्धारित करेंगे ।

१— रामलला नहछू

९ इस ग्रथ की रचना तिथि का कोई निर्देश कवि ने स्वतः नहीं किया

है, और न ग्रंथ में किसी ऐसे तथ्य या किसी ऐसी घटना का उल्लेख किया है जिस के आधार पर हम उस का समय निर्धारित कर सकते। प्रतियाँ इस ग्रंथ की जो प्राप्त हुई हैं ऐसी कोई भी नहीं हैं जो कवि के जीवन काल की हों। सौभाग्य से प्रस्तुत लेखक का इस की एक प्रति प्राप्त हुई है जो सं० १६६५ की है,[1] और इस प्रकार कवि की निर्वाण तिथि से पंद्रह वर्ष पूर्व की है। यद्यपि इस प्रति का पाठ साधारणतः मुद्रित पाठ से अधिकांश में भिन्न है, फिर भी दोनों में साम्य यथेष्ट है, और कृति का नाम भी उक्त प्रति में 'राम जू का नहछू' दिया हुआ है। इस लिए यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि 'रामलला नहछू' की रचना सं० १६६५ के पूर्व ही किसी समय हुई होगी। प्रश्न केवल पाठांतर का रह जाता है। पर चूँकि यहाँ पर हमारा वह विषय नहीं है इस लिए उस समय तक के लिए पाठ की समस्या को हम स्थगित रख सकते हैं जब तक कि कोई सुसंपादित संस्करण ग्रंथ का हमारे सामने नहीं आ जाता। फलतः हम उस के मुद्रित पाठ को ही ले कर विचार करेंगे।

१० प्रस्तुत प्रसंग में इस परिणाम तक पहुँचने के अनंतर सहायता हमें मिलती है कृति के विषय निर्वाह तथा शैली से। रचना का विषय है राम का नहछू, जिस के विषय में साधारणतः दो मत हैं :

(क) नहछू यज्ञोपवीत के अवसर का है और अयोध्या में हुआ, और

(ख) नहछू विवाह के अवसर का है और मिथिला में हुआ।

किंतु ये दोनों ही मत भ्रांति पूर्ण हैं। तथ्य यह है कि राम का प्रस्तुत नहछू विवाह के अवसर का है और अयोध्या में हुआ है। 'रामलला नहछू' में राम के लिए न केवल 'दूलह' तथा 'वर' शब्दों का प्रयोग हुआ है

गोद लिहे कौसल्या बैठी रामहिं बर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो।

(रा० ल० न० ९)

आनँद हिय न समाइ देखि रामहिं बर हो।

(रा० ल० न० १०)

दूलह कै महतारि देखि मन हरषइ हो।

(रा० ल० न० १९)

[1] देखिए ऊपर पृ० १७३

वरन् ग्रंथ में प्रथम वर्णित लोकाचार मायन विवाह का ही है :

बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो।

(रा० ल० न० ५)

शेष तैयारी[1] भी विवाह संबंधी ही है। जिन्हें वैवाहिक लोकाचारों और यज्ञोपवीत की रीतियों का थोड़ा भी ज्ञान है—जिस के लिए प्रत्येक पाठक से आशा की जाती है—वे इस संबंध में तनिक भी संदेह में नहीं पड़ सकते। फिर भी प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी[2] तथा सर जॉर्ज ग्रियर्सन[3] आदि विद्वानों को प्रथम मत का समर्थन कदाचित् इस लिए करना पड़ा कि रामविवाह के अवसर पर मिथिला में थे। अस्तु, अन्य विद्वानों ने दूसरे मत का समर्थन किया है, किंतु यह भी उतना ही भ्रांतिपूर्ण है, क्यों कि 'रामलला नहछू' में यह स्पष्ट कहा गया है कि यह नहछू अयोध्या में दशरथ के घर हुआ :

कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो।

(रा० ल० न० २)

आजु अवधपुर आनँद नहछू राम क हो।

(रा० ल० न० १३)

अतएव, उपर्युक्त दोनों मत ठीक नहीं हैं। अभी तक राम-कथा के जो उद्गम-स्थान ज्ञात हैं, उन में से किसी से भी यह प्रमाणित नहीं होता कि राम धनुष तोड़ने पर अयोध्या आए, वहाँ कुछ वैवाहिक लोकाचार हुए, और तदुपरांत पुनः मिथिला जा कर उन्हों ने विवाह किया। अतएव, इसे गोस्वामी जी की एक बहुत बड़ी भूल माननी चाहिए—इतनी बड़ी जितनी उन की ग्रंथावली भर में अन्यत्र नहीं है। 'रामलला नहछू' को गोसाईंजी-कृत मान लेने मात्र से यह अनिवार्य नहीं है कि इतनी बड़ी और स्पष्ट भूलों की ओर से आँख मूँद ली जाए।

११. यही एक भूल होती तो कदाचित् उतना बुरा न होता जितना ऐसी ही एक दूसरी भूल के कारण है :

कौसल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन हो।
नहछू जाइ करावहु बैठि सिंहासन हो॥

(रा० ल० न० ९)

[1] रा० ल० न० ६–९

[2] तु० ग्रं०, खंड ३, पृ० ६६

[3] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० १९७

इस प्रकार, 'रामलला नहछू' के अनुसार कौशल्या की कोई जेठि (पति की ज्येष्ठा भ्रातृ वधू) भी थीं जिन के अनुशासन से वे नहछू कराने लगीं। क्या यह भी ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य है? जहाँ तक मेरा अध्ययन है यह उल्लेख कहीं नहीं हुआ है कि कोई ऐसी जेठि थीं। पटरानियों म भी उन का आसन सर्वापरि था, तब यह सौभाग्यवती वयस्का कौन थी जिस का अनुशासन—अनुमति सहमति आदि भी नहीं—कौशल्या को नहछू कराने के लिए हुआ? कदाचित् काइ नहीं।

१२ ऐसी बडी ऐतिहासिक भूलों के अतिरिक्त, 'नहछू' म प्रबध दाप भी साधारण नहीं है। इतने छाटे आकार के प्रबध काव्य म एक प्रबध दाप तो अति स्पष्ट है

नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥

(रा० ल० न० ४)

इतने वर्णन के अनुसार नाउनि पहले से ही वहाँ उपस्थित थी और 'गारी' देती तथा गाती थी किंतु आगे ही चल कर उस के बुलाए जाने का उल्लेख इस प्रकार हाता है

नाउनि अति गुन खानि तौ बेगि बोलाई हो।
करि सिंगार अति लोन तौ बिहँसत आई हो।
कनक चुनिन सों लसित नहरनी लिए कर हो।
आनँद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो॥

(रा० ल० न० १०)

१३ एक दूसरे स्थान पर, बारहवें पद में, कुछ ऐसी ही एक प्रबध त्रुटि है—वहाँ नाउनि का परिहास अत्यत भ्रमपूर्ण है। वह कहती है—

काहे रामजिउ साँवर लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो॥

(रा० ल० न० १२)

उपर्युक्त तक तो परिहास की सर्क-शृखला है यह ठीक है—जो प्रत्येक सहृदय समझ सकता है। किंतु आगे ही वह पुन कहती है—

राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्री रघुनाथ क हो॥

(रा० ल० न० १२

जब एक बार यह माना जाता है कि कौशल्या को ही धोखा हुआ तो उसी के आगे यह कैसे कहा जा रहा है कि राम दशरथ के हैं और लक्ष्मण दूसरे के हैं ? फिर, भरत और शत्रुघ्न दोनों किस प्रकार राम के भाई कहे जा सकते थे ? भरत और राम एक अनुहारि के थे किंतु शत्रुघ्न तो लक्ष्मण की अनुहारि के थे। इस प्रकार की परिहास की भूलें और अधिक स्पष्ट करना कदाचित् शिष्टता के विरुद्ध होगा, अतएव हमें इतने ही से संतुष्ट होना चाहिए।

१४. इतनी बड़ी ऐतिहासिक भूलों तथा ऐसे बड़े प्रबंध दोषों के अतिरिक्त 'रामलला नहछू' में जो एक बड़ी विचित्रता है, और जिस की तुलना के लिए गोस्वामी जी की ग्रंथावली में उदाहरण मिलना असंभव है, वह है उस के ठेठ शृंगार की—परकीया रति भी नहीं छूटने पाई है। दशरथ ऐसा धर्म-भीरु और सत्यनिष्ठ राजा एक साधारण अहिरिनि के यौवन पर मुग्ध हो जाता है :

अहिरिनि हाथ दहेंड़ि सगुन लै आवइ हो।
उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो॥
(रा० ल० न० ५)

तँबोलिनि सुंदरी दूसरों को मुग्ध करती है :

रूप सलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो।
जाकी ओर निहारहि मन लेहि साथहि हो॥
(रा० ल० न० ६)

प्रजावर्ग की दूसरी स्त्रियाँ भी अपने नख शिख तथा हाव-भाव का प्रभाव डाले बिना नहीं रहतीं :

कटि कै छीन बरिनियाँ छाता पानिहि हो।
चंद्रबदनि मृगलोचनि सब रस खानिहि हो॥
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥
(रा० ल० न० ७, ८)

असल में कवि स्वतः इन विविध दशरथादि रूपों में उपस्थित हो और इस यौवन और वासना पूर्ण 'कामिनी' समाज के संपर्क का कल्पित आनंद प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है, और यह प्रवृत्ति 'तुलसी-ग्रंथावली' में अन्यत्र अप्राप्य है।

१५. अतएव, इतनी बड़ी ऐतिहासिक भूलों, प्रबंध दोषों, तथा ठेठ शृंगार-पूर्ण वर्णनों से तो यह कल्पना हो सकती थी कि 'रामलला नहछू' का कर्त्ता 'मानस', 'गीतावली', 'विनय' और 'कवितावली' का स्वनामधन्य रचयिता नहीं है। किन्तु अन्य कारणों के अतिरिक्त कवि के जीवन-काल की ही प्रति प्राप्त होने से यह मानना पड़ेगा कि यह हमारे ही कवि की कृति है। फिर भी, यदि उसी की रचना है तो निस्संदेह उस की प्रारंभिक कृति है, मध्यकालीन रचनाओं में तो सम्मिलित की ही नहीं जा सकती, और अंतिम रचनाओं में इसे स्थान देना कल्पनातीत होगा। यह तो कवि की बाल-चेष्टा सी लगती है, और निश्चय ही इस की रचना 'मानस' से अनुमानतः बीस वर्ष पूर्व अथवा 'रामाज्ञा-प्रश्न' से अनुमानतः दस वर्ष पूर्व हुई होगी।

१६. यह तो मुद्रित पाठ के आधार पर काल-निर्णय हुआ। कुतूहल हो सकता है कि यदि उस के स्थान पर उल्लिखित सं० १६६५ की प्रति के पाठ को प्रामाणिक माना जावे तो क्या परिस्थिति होगी। उस दशा में भी कोई विशेष अंतर न पड़ेगा, क्यों कि प्रस्तुत विवेचन के आधारभूत स्थलों में से उस में न पाए जाने वाले अंश, जैसा मैं ऊपर बता चुका हूँ,[1] केवल वे हैं जिन में प्रजावर्ग की अनेक जाति की स्त्रियों और उन के हाव-भाव का घोर शृंगार पूर्ण वर्णन है, जिन में कौशल्या की 'जेठि' का उल्लेख है, और जिन में नाउनि की विद्यमानता का पहले ही से उल्लेख मिलता है। विवाह के अवसर का इस में स्पष्ट उल्लेख हुआ है और सब से प्रारंभ में :

"आज जनकपुर ब्याह नहछू राम क हो।

नहछू अयोध्या में ही इस में भी होता है :

"जगमग जोति अवधपुर अति छवि छाजिअ।"

और नाइन का परिहास तो इस में भी लगभग ज्यों का त्यों मिलता है।

काहे राम सुग्ह सांवर लछुमन गोर हे।
कीदहुँ रानि कोसिलहि परिगा भोर हे॥
श्रीराम भए दसरथ को लछुमन आन को।
भरथ चतुरगुन भए दोउ चतुर सुजान को॥

अतएव, यह पाठ केवल घोर शृंगार से मुक्त होता है, इतिहास-विरोध

[1] देखिए ऊपर पृ० २७४

और प्रबध दोष—यद्यपि वह माना में आधा ही है—इस म भी है। इस लिए 'मानस' से पूर्व तो इसे भी रखना होगा, यह दूसरी बात है कि हम इसे कदाचित् इतना पूर्व न रख सकेंगे जितना हम ने मुद्रित पाठ को रक्खा है। शैली के ध्यान से अवश्य—जैसा उद्धृत स्थलों से ज्ञात होगा—उपर्युक्त प्रति का पाठ मुद्रित पाठ से कहीं अधिक प्रौढ है, तथापि शैली का साक्ष्य इस प्रकार के अनुसधान में बहुत निश्चयात्मक नहीं हुआ करता है, इसलिए हमें अधिक से अधिक यही देखना चाहिए जब तक कि अतर बहुत अधिक न हो—कि वह अन्य प्रकार से प्राप्त परिणाम का विरोध तो नहीं करता, और यहाँ तक शैली का साक्ष्य उपर्युक्त परिणाम का विरोध नहीं करता।

१७. इस की रचना दोनों 'मगलों' के साथ मानते हुए डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने लिखा था, "गोसाईं जी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गदे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिये बनाया है। उन का मतलब राम विवाह ही से है। कथा प्रसग के पूर्वापर सबध की रक्षा का ध्यान इसी लिये उस मे नहीं किया गया है।"[1] क्या यह समाधान ठीक है? प्रश्न यह है कि क्या 'जानकी मगल' में 'उन का मतलब राम विवाह ही से' नहीं था? किंतु उस में क्यों कथा प्रसग के पूर्वापर सबध की रक्षा का ध्यान रक्खा गया है? इस के अतिरिक्त, दोनों की रचना डॉक्टर साहब 'पार्वती मगल' के साथ की ही मानते हैं, किंतु क्या 'नहछू' अन्य दोनों की सुरुचि के दशमाश का भी परिचय देता है? श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने मेरे कुछ तर्कों से तीव्र मतभेद प्रकट करते हुए भी इसे कवि की सर्वप्रथम और स० १६१६ के लगभग की रचना माना है।[2] प० रामनरेश त्रिपाठी ने बहुत कुछ मेरे तर्कों के आधार पर ही इसे स० १६१५ के लगभग की रचना माना है।[3] डॉक्टर रामकुमार वर्मा दोनों पक्षों के बीच सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हुए कहते हैं "नहछू में न तो कवि का आयास ही है, न प्रयास ही। ऐसी स्थिति म या तो नहछू कवि के काव्य-जीवन के प्रभात की रचना होनी चाहिए ('मानस' से बहुत पहले की), या ऐसी रचना जिसे कवि ने चलते फिरते बना दिया हो, जिसे

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ९६

[2] 'तुलसी के चार दल' पृ० ९९

[3] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ३७९

लोग अश्लील गीतों के स्थान पर गा सकें।"[1] दूसरी संभावना का निराकरण ऊपर मैं अंशतः कर चुका हूँ, पहली संभावना में उन्हों ने भी मेरे ही निष्कर्षों को स्वीकार किया है।

८. वैराग्य-संदीपिनी

१८. अपनी इस कृति में भी कवि ने उस की रचना-तिथि का निर्देश नहीं किया है, और न हमें इस में ही कोई ऐसी घटनाएँ मिलती हैं जिन के आधार पर हम उस का समय निर्धारित कर सकें। हस्तलिखित प्रतियाँ भी कवि की इस रचना की बहुत कम प्राप्त हुई हैं, और जो प्राप्त भी हुई हैं वे कवि के देहात के बहुत बाद की हैं, जैसा ऊपर कहा जा चुका है,[2] इस लिए उन की प्रतिलिपि-तिथियों से प्रस्तुत अन्वेषण में कोई सहायता नहीं मिलती है। फलतः हमारे सामने केवल एक मार्ग रहता है, वह है विषय-निर्वाह और शैली के अध्ययन का।

१९. रचना का उद्देश्य है वैराग्य का प्रतिपादन, और उस के द्वारा शांतिलाभ का मार्ग-निर्देश। किंतु विषय-निर्वाह इतने अस्त-व्यस्त ढंग से हुआ है—जो स्वतः देखा जा सकता है,—जैसा कि कवि के किसी अन्य ग्रंथ में नहीं मिलता है। छंदों का प्रयोग और भी अस्त-व्यस्त ढंग से हुआ है,[3] और शैली में उसी प्रकार की असमर्थता पाई जाती है जिस प्रकार की असमर्थता 'नहछू' में[4], इस लिए यह रचना भी—यदि वस्तुतः तुलसीदास की रचना हो तो भक्त तुलसीदास के कवि-जीवन के प्रारंभ की है।

२०. 'नहछू' और इस रचना में से किस को काल-क्रम में पहले स्थान मिलना चाहिए, यह कहना कठिन ज्ञात होता है। केवल एक बात में अंतर दिखाई पड़ता है, वह है कामिनी विषयक भावना के संबंध में; 'नहछू' में कामिनी के प्रति जैसा आंतरिक झुकाव कवि का है 'वैराग्य-संदीपिनी' में उस का निराकरण मिलता है; कवि के लिए वह काष्ठवत् और पाषाणवत् हो गई है:

> कंचन काँचहि सम गनै कामिनि काठ पखान।
> तुलसी ऐसे संत जन पृथ्वी ब्रह्म समान॥

[1] 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ३९४
[2] देखिए ऊपर पृ० १७५
[3] देखिए ऊपर पृ० १००
[4] देखिए नीचे अध्याय ६

कंचन को मृतिका करि मानत । कामिनी काष्ठ सिला पहिचानत ।
तुलसी भूलि गयो रस एहा । ते जन प्रगट राम की देहा ॥
(वै० सं० २७, २८)

चित्तवृत्ति के इस अंतर के कारण ऐसा जान पड़ता है 'वैराग्य-संदीपिनी' की रचना 'नहछू' के कुछ पीछे की ही होगी।

२१. दोनों कृतियों का यह थोड़ा अंतर हम कदाचित् दोनों की रचना-तिथियों में कुछ वर्षों का अंतर दे कर स्पष्ट कर सकते हैं। अभी ऊपर हमने 'नहछू' की तिथि 'रामाज्ञा-प्रश्न' की तिथि (सं० १६२१) से दस वर्ष पूर्व रक्खी है, और हम ने कहा है कि विषय-निर्वाह और शैली की दृष्टि से 'वैराग्य-संदीपिनी' और 'नहछू' में विशेष अंतर नहीं है, इस लिए यदि हम इसे 'नहछू' से तीन वर्ष बाद और 'रामाज्ञा प्रश्न' से सात वर्ष पूर्व की रचना मानें तो कदाचित् असंगत न होगा। इस प्रकार, हम 'वैराग्य-संदीपिनी' की रचना-तिथि अनुमान से सं० १६१४ के लगभग मान सकते हैं।

२२. 'वैराग्य-संदीपिनी' का निम्नलिखित दोहा अवश्य इस प्रसंग में विचारणीय है :

राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर ।
ध्यान सकल कल्यानमय तुलसी सुरतरु तोर ॥

'वैराग्य-संदीपिनी' का यह प्रथम दोहा है, और 'दोहावली' का भी, और सतसई' का भी दूसरा ही है, केवल 'रामाज्ञा-प्रश्न' में इस का स्थान अंतिम सर्गों में से एक में है। प्रश्न यह है कि वस्तुतः यह किस रचना के लिए पहले-पहल रचा गया होगा। इस दोहे में 'कल्यानमय' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'रामाज्ञा प्रश्न' के लगभग कुल दोहों के तीसरे और चौथे चरणों में शुभाशुभ परिणाम सूचक कोई न कोई शब्दावली अवश्य रहती है, और उक्त ग्रंथ में जिस सप्तक में यह दोहा आता है उसी में और भी दोहे इसी प्रकार के हैं—बल्कि दो में तो लगभग यही शब्दावली भी आती है :

कौसल्या कल्यानमय मूरति करत प्रनामु ।
सगुन सुमंगल काज सुभ कृपा करहिं सिय रामु ॥
दसरथ नाम सुकाम तरु फरइ सकल कल्यान ।
धरनि धाम धन धरम सुख सुत गुन रूप निधान ॥
(रामाज्ञा० ७-३-३ तथा ७-३-५)

फलत यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह दोहा पहले पहल 'रामाज्ञा प्रश्न' के लिए रचा गया होगा और बाद को ही इन अन्य ग्रंथों में लिया गया होगा। 'सतसई' और 'दोहावली' का रचना काल 'रामाज्ञा प्रश्न' के पीछे आता है इस लिए यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि उन में यह 'रामाज्ञा प्रश्न' से भी जा सकता था। प्रश्न यहाँ पर है 'वैराग्य सदीपिनी' के संबंध में। 'वैराग्य सदीपिनी' एक प्रबंध ग्रंथ अवश्य है, किंतु 'रामाज्ञा प्रश्न' भी उसी प्रकार प्रबंध ग्रंथ है। अंतर यह है कि 'वैराग्य-सदीपिनी' में यह दोहा किसी प्रसंग का अनिवार्य अंग नहीं है, और 'रामाज्ञा प्रश्न' में यह एक प्रसंग का अनिवार्य अंग है। स्पष्ट है कि यह इस लिए 'रामाज्ञा प्रश्न' से ही 'वैराग्य सदीपिनी' में गया होगा—इस प्रकार इसे कभी किसी प्रतिलिपिकार ने ले लिया होगा, या स्वतः कवि ने ही 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना के पीछे कभी 'वैराग्य सदीपिनी' में इस का समावेश कर दिया होगा।

२३ डॉक्टर श्यामसुन्दर दास ने 'विनय पत्रिका' का रचना-काल सं० १६३८ और १६३९ के बीच मानते हुए लिखा था कि 'वैराग्य-सदीपिनी' भी इसी समय की रचना जान पड़ती है, क्यों कि इस में भी गोसाईं जी अपने मन को क्रोधादिक से दूर रह कर शांति रखने के लिए प्रयत्न करते हुए दिखाई पड़ते हैं, और दूसरे इस के कई दोहे 'दोहावली' में—जो एक संग्रह-ग्रंथ मात्र है और जिस का संग्रह सं० १६४० में हुआ—संगृहीत हैं।[1] यह दोनों तर्क 'विनय-पत्रिका' तथा 'दोहावली' के रचना काल का आधार ग्रहण करते हुए प्रस्तुत किए गए हैं। आगे इसी अध्याय में हम ने इन दोनों ग्रंथों के रचना काल पर भी विचार किया है, और दोनों ही ग्रंथों के रचना काल के लिए जिस परिणाम पर हम अलग अलग पहुँचे हैं उस से सं० १६३९-४० की तिथि का सामंजस्य नहीं होता है, फलतः अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इसे कवि की सर्वप्रथम रचना मानते हुए सं० १६१५ की रचना माना है।[2] 'नहछू' की तुलना में इस पर विचार करते हुए ऊपर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि 'नहछू' इस के पूर्व की रचना ज्ञात होती है, यद्यपि तिथि-संबंधी निष्कर्ष में विशेष अंतर नहीं है। मेरा अनुमान 'वैराग्य सदीपिनी'

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० ९१

[2] 'तुलसीदास और उन की कविता', पृ० ३५९

को 'मानस' से पूर्व की रचना मानते हुए भी उस की तिथि के संबंध में पहले कुछ भिन्न था।[1] किंतु अब मैं भी त्रिपाठी जी के निकट आ गया हूँ, यद्यपि मेरे कारण दूसरे हैं। डॉक्टर रामकुमार वर्मा भी कोई तिथि न देते हुए यह कहते हैं कि "इतना मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि 'वैराग्य-संदीपिनी' तुलसीदास की प्रारम्भिक रचना होनी चाहिए, क्योंकि काव्य की दृष्टि से वह विशेष प्रौढ़ नहीं है।"[2]

रामाज्ञा-प्रश्न

२४ प्रस्तुत कृति में कवि स्वतः उस की रचना तिथि इस प्रकार देता हुआ दिखाई पड़ता है :

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय बान।
होइ सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान॥

(रामाज्ञा० ७ ७ ३)

"चंद्रमा, नेत्र, गुण, नीति और बाण के आधिक्य की अवधि (समय) में यह सगुन (-माला), जिस का सुयश यह है कि प्रीति प्रतीति के अनुसार ही सुफल होती है, सत्य है।" कविजन प्रयुक्त सांकेतिक शब्दावली में चंद्रमा १,[3] नेत्र २,[4] गुण ६,[5] नीति ४,[6] और बाण ५[7] के लिए प्रयुक्त होते हैं, और नीति (४) और बाण (५) में अंतर १ का है, और कविप्रथा के अनुसार इस प्रकार दी हुई तिथियाँ उलटे क्रम से पढ़ी जाती हैं, इस लिए उपर्युक्त दोहे से हमें कृति के लिए १६२१ की तिथि प्राप्त होती है, यह आसानी से जाना जा सकता है।

२५. इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि कुछ समय पूर्व इस की एक प्रति इस प्रकार की प्राप्त थी जिस पर कम से कम सं० १६५५ में एक तिथि को किया हुआ कवि का हस्ताक्षर था, और अब भी एक प्रति सं० १६५५ की प्राप्त है जो कवि की स्वहस्तलिखित कही जाती है[8] पहले प्रश्न यह हो सकता था

[1] 'हिंदुस्तानी' जनवरी, सन् १९३२, पृ० ६०–६३
[2] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ३९८
[3] केशवदास . 'कविप्रिया' शीर्षक ११, छंद
[4] वही, छंद ७
[5] वही, छंद १६
[6] वही, छंद १०
[7] वही, छंद १२
[8] देखिए ऊपर पृ० १७६

कि क्या यह तिथि इस की रचना-तिथि हो सकती है,[1] किंतु अब, उपर्युक्त दोहा प्राप्त होने के बाद, इस प्रकार की शंका का स्वतः निराकरण हो जाता है।

२८. विषय-निर्वाह की दृष्टि से 'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं० १६२१) और 'मानस' (सं० १६३१) में कुछ स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। दोनो मे परस्पर जो कथा-भेद है वह महत्वपूर्ण है। इसी कथा-भेद के आधार पर प्रस्तुत लेखक ने उपर्युक्त दोहे पर ध्यान जाने से पूर्व कृति की रचना-तिथि निर्धारित करने का प्रयत्न पहले किया था,[2] और उसे हर्ष है कि उस के उस अनुमान की पुष्टि प्रस्तुत दोहे के मिल जाने पर प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हुई है। पूर्वकल्पित तिथि मे और प्रस्तुत प्राप्त-तिथि मे केवल तीन वर्षों का अंतर है। कवि के सत्तर वर्ष के दीर्घ कवि जीवन मे यह अतर न केवल बहुत कुछ नगण्य है वरन् उस युक्ति-प्रणाली की निर्णयात्मकता का समर्थन करता है जिस से पूर्व का परिणाम प्राप्त हुआ था।

२७. डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने सं० १६५५ की उपर्युक्त प्रति के आधार पर 'रामाज्ञा-प्रश्न' को सं० १६५५ की रचना लिखा था।[3] अब कदाचित् इस तिथि के निराकरण की आवश्यकता नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने पहले उपस्थित किए गए मेरे तर्कों के आधार पर 'रामाज्ञा-प्रश्न' को 'मानस' से पूर्व की रचना माना है, और उस की रचना तिथि सं० १६२० के लगभग रक्खा है।[4] डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने ग्रंथ की रचना-तिथि पर जो विचार किया है उस में उन का झुकाव मेरी ही ओर ज्ञात होता है, यद्यपि किसी तिथि के अनुमान का प्रयत्न उन्हों ने नहीं किया है।[5]

३. जानकी मंगल

२८. 'जानकी मंगल' की तिथि का निर्देश कवि ने स्वतः नहीं किया है, और न उस में किसी ऐसी घटना का समावेश हुआ है जिस की सहायता से कृति का काल-निर्धारण किया जा सके। ऊपर हम यह अवश्य देख चुके हैं

[1] हि० ऐं० सन् १८९३, पृ० १७, पाद-टिप्पणी

[2] 'हिंदुस्तानी' जनवरी, सन् १९३२, पृ० ५३–३०

[3] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० ९९

[4] 'तुलसीदास और उन की कविता', पृ० २१६

[5] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ४०६

कि इस कृति की एक अत्यन्त प्राचीन हस्तलिखित प्रति प्राप्त है, जिस पर सं० १८३२ की तिथि दी हुई है,[१] किंतु यह तिथि मूल प्रति के लेखक की लिखावट में नहीं है, इस लिए ग्रंथ के रचना काल के संबंध में इसके आधार पर कोई निश्चय करना ठीक न होगा। देखना अब हमें यह है कि अंतर्साक्ष्य के आधार पर हम इस संबंध में कोई निष्कर्ष निकाल सकते हैं या नहीं।

२६. रचना का विषय-निर्वाह इस प्रसंग में निस्संदेह हमारा सहायक होता है। प्रस्तुत कृति की कथा की तुलना एक ओर 'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं० १६२१) तथा दूसरी ओर 'रामचरित मानस' (सं० १६३१) की कथाओं से करने पर प्रश्न पर निर्णयात्मक प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत कृति की कथा निम्नलिखित प्रकार से 'रामाज्ञा-प्रश्न' की कथा के समान है और 'मानस' को कथा से भिन्न है :

(१) मिथिला की राजवाटिका में राम और सीता के परस्पर दर्शन का उल्लेख नहीं होता है।

(२) परशुराम राम से बारात की वापसी में मिलते हैं।[२]

(३) लक्ष्मण और परशुराम के बीच किसी प्रकार का विवाद नहीं होता है।

(४) जनक अपने पुरोहित सतानंद के द्वारा विवाह का निमंत्रण अयोध्या भेजते हैं।[३]

और प्रस्तुत कृति की कथा निम्नलिखित प्रकार से 'मानस' (सं० १६३१) की कथा के समान है और 'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं० १६२१) की कथा से भिन्न है :

(१) जनक के बंदीगण राजसभा में सीता-विवाह संबंधी जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा करते हैं।[४]

(२) राम जब धनुर्भंग के लिए उठते हैं लक्ष्मण दिक्पालों को अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ पृथ्वी को थाम रखने के लिए सतर्क करते हैं।[५]

फलतः 'जानकी मंगल' में 'रामचरित मानस' की ओर प्रस्थान दृष्टिगोचर होगा।

[१] देखिये ऊपर पृ० १७८

[२] जा० मं० १९९ = रामाज्ञा० १-४-६

[३] जा० मं० १३० = रामाज्ञा० १-६-४

[४] जा० मं० ९८ = मानस, बाल० २५०

[५] जा० मं० ११० = मानस, बाल० २५९

२०. इसी प्रसग मे यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'मानस' औ 'जानकी मगल' के कथा साम्य वाले यह विस्तार 'हनुमन्नाटक'[१] और 'प्रसन्न राघव नाटक'[२] के आधार पर ही उन मे रक्खे गए हैं, और 'रामाज्ञा प्रश्न में इन पिछले ग्रथों का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पडता। इसी प्रकार, कवि के मस्तिष्क पर 'जानकी मगल' की रचना के समय उस 'अध्यात्म रामायण का अविकल प्रभाव लक्षित होता है जिस के दर्शन हम 'रामाज्ञा प्रश्न' मे नहीं होते और जिस का एक परिमार्जित रूप हमें 'मानस' मे दृष्टिगोचर होत है। निम्नलिखित कथा विस्तार मेरे इस कथन के साक्षी होंगे :

(१) 'जानकी मगल' म भी 'अध्यात्म रामायण' की भाँति विश्वा मित्र जनक से राम को शिवधनु दिखाने के लिए आग्रह करते हैं।[3]

(२) जनक द्वारा कन्यादान का वर्णन भी 'जानकी मगल' मे उस प्रकार किया जाता है जिस प्रकार 'अध्यात्म-रामायण में।[४]

२१. फलत. यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'जानकी मगल' की रचना तिथि 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'मानस' की रचना तिथियों के मध्य में कहं पडनी चाहिए, पर कहाँ पड़नी चाहिए इस सबध में हमें कृति की शैली औ शब्द विन्यास से ही सहायता प्राप्त हो सकती है। दोनों रचनाओं मे शैल के साधारण साम्य के अतिरिक्त देखा जा सकता है कि अनेक स्थलों प एक ही शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए इस प्रका के दो स्थलों का उल्लेख ही यहाँ यथेष्ट होगा। 'जानकी मगल' म कह जाता है :

रूप रासि जेहि ओर सुभाय निहारहि।
नील कमल सर स्रेनि मयन जनु डारइ॥

(जा० म० ९२

इसी प्रकार 'मानस' में आता है

जहँ बिलोक मृग सावक नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी।

(मानस, बाल० २३२

१ 'हनुमन्नाटक' अक १ (६) २६

२ 'प्रसन्नराघव' अक ३

३ जा० म० १०१ = अध्यात्म०, बाल० (६) ५४–५५

४ जा० म० १६२ = अध्यात्म०, बाल

'जानकी-मंगल' में कहा जाता है :

भेद कि सिरिस सुमन कन कुलिस कठोरहि।

(जा० मं० १०५)

और इसी प्रकार 'मानस' में आता है

सिरिस सुमन कन बेधिय हीरा।

(मानस, बाल० २५८)

३२ 'रामाज्ञा प्रश्न' (सं० १६२१) तथा 'मानस' (सं० १६३१) से 'जानकी मंगल' के इस अंतर को व्यक्त करने के लिए फलतः यदि प्रस्तुत कृति का रचना काल हम अनुमानतः सं० १६२७ के लगभग—अर्थात् 'रामाज्ञा प्रश्न' से ६ वर्ष बाद तथा 'रामचरित मानस' से ४ वर्ष पूर्व—मानें तो संभवतः हम सत्य से अधिक दूर न होंगे।

३३ डॉक्टर श्यामसुंदर दास बेनीमाधव दास का खंडन करते हुए 'जानकी मंगल' को रचना 'पार्वती मंगल' के समय (सं० १६४३) की मानते हैं, और उस का कारण यह बतलाते हैं कि दोनों की शैली और भाषा एक ही प्रकार की है, और दोनों बिल्कुल एक ही साँचे में ढले से लगते हैं।[1] श्री सद्गुरुशरण अवस्थी भी इसी विचार के पोषक हैं।[2] पं० रामनरेश त्रिपाठी ने भी पहले इसी का समर्थन किया था,[3] यद्यपि अब उन्होंने अपना विचार बदल दिया है और रचना-काल सं० १६२४ के लगभग माना है।[4] डॉक्टर रामकुमार वर्मा अभी तक 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' के संपूर्ण सादृश्य के कारण 'जानकी मंगल' को भी सं० १६४३ की कृति मान रहे हैं।[5] किंतु, कदाचित् एक बहिरंग साम्य के कारण ही दो रचनाओं का परस्पर समकालीन मानना उस दशा में बहुत युक्ति-संगत न होगा जब कि उस से कहीं अधिक महत्वपूर्ण अन्तर्साक्ष्य स्पष्ट रूप से उस परिणाम का विरोध करते हों।

रामचरित मानस

३४ 'मानस' के आरंभ की तिथि कवि ने स्वतः उक्त ग्रंथ में "संवत

१ 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० ८४

२ 'तुलसी के चार दल', पृ० २२९

३ 'रामचरित मानस', भूमिका पृ० २४०

४ 'तुलसीदास और उन की कविता', पृ० ४०३

५ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ४०४

सोरह सै इकतीसा...नौमी भौमवार मधु मासा...जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं..." करके दी है, जिस का अर्थ "सं० १६३१ चैत्र शुक्ल नवमी, मंगलवार" होता है। प्रश्न यह है कि क्या तिथि का यह सारा विस्तार ठीक है। सूर्योदय-व्यापिनी तिथि को ही सारे दिन की तिथि मानने के सर्वमान्य भारतीय सिद्धांत[1] के अनुसार सं० १६३१ के चैत्र शुक्ल में नवमी बुधवार को होनी चाहिए, गणना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है।[2] तब बुधवार के स्थान पर भौमवार (मंगलवार) का उल्लेख कवि ने किस प्रकार किया यह विचारणीय है।

३५. इस शंका का समाधान अधिकतर दो प्रकार से किया जाता है: एक तो, चूँकि तिथि-संबंधी पर्वादि अधिकतर उस के भोग-काल में ही मनाए जाते हैं न कि सूर्योदय-व्यापिनी तिथि के अनुसार सामान्यतः मानी जाने वाली तिथि में, इस लिए यह कल्पना की जा सकती है कि तुलसीदास ने 'मानस' का आरंभ मंगलवार को ही किया जब कि नवमी का भोग-काल समाप्त नहीं हो पाया था।[3] दूसरे चूँ कि तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे और बड़े शिवभक्त थे, उन्हों ने शैव-मतानुसार मंगलवार को ही रामनवमी मानी होगी जब कि मध्याह्न में भी नवमी का भोग-काल चल रहा था।[4] यह दोनों समाधान अपनी आंतरिक त्रुटियों के कारण कदाचित् ही किसी को संतोषजनक ज्ञात होंगे, क्यों कि पहले समाधान में 'अधिकतर' शब्द और दूसरे में कवि के स्मार्त वैष्णव होने की पूर्व-कल्पना तर्कों की क्षमता को बहुत कुछ क्षीण कर देते हैं। और जब हम यह देखते हैं कि कवि ने कोई भी तिथि—विवादग्रस्त प्रस्तुत तिथि के अतिरिक्त—इस प्रकार नहीं दी है,[5] तो इन समाधानों पर संतोष करना और भी कठिन हो जाता है।

३६. एक और समाधान इस व्यतिक्रम का हो सकता है, जिस की ओर विद्वानों का ध्यान अभी तक नहीं गया है। प्रस्तुत लेखक उसे ग्रंथ के रचना-काल से संबद्ध पूरे प्रसंग को उद्धृत कर के स्पष्ट करना चाहता है

[1] स्वामी कन्नु पिलाई: 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी', ५

[2] देखिए इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० ८९–९४, तथा इस ग्रंथ का परिशिष्ट अ

[3] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० ९३

[4] वही, पृ० ९४

[5] देखिए परिशिष्ट अ

केवल विचार-सुविधा के लिए उद्धरण को तीन खंडों में उस ने विभाजित कर दिया है :

(१) एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरु पद पंकज धूरी।
पुनि सबहीं बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहिं लागि न खोरी।
सादर सिवहि नाइ अब माथा। बरनउँ बिसद राम गुन गाथा।
संबत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा।

(२) नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।
असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा।
जन्म महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल कीरति गाना।
मज्जहिं सज्जन बृंद बहु पावन सरजू नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥
दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद पुराना।
नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकइ सारदा बिमल मति।
राम धामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित जग पावनि।
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजें तनु नहिं संसारा।
सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी।
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।

(३) रामचरित मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा।
मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई।
रामचरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन।
त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन।
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।
तातें रामचरित मानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर।
कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।
जस मानस जेहि बिधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु।
अब सोइ कहउँ प्रसंग सब सुमिरि उमा बृषकेतु॥

(मानस, बाल० ३४-३५)

प्रथम खंड की पंक्तियों को ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होगा कि उत्तम पुरुष लुप्त कर्त्ता की तीनों क्रियाएँ 'बिनवउँ', 'बरनउँ' तथा 'करउँ'—विशेष

उल्लेखनीय हैं अंतिम दो जिन के कर्म क्रमशः 'गुनगाथा' तथा 'कथा' हैं—अपूर्ण वर्तमान काल की हैं इसी प्रकार तृतीय खंड की उत्तम पुरुष कर्त्ता की दोनों क्रियाएँ 'करउँ' तथा 'कहउँ'—विशेष उल्लेखनीय हैं पहला कहउँ जिस का कर्म है कथा'—अपूर्ण वर्तमान काल की हैं किंतु द्वितीय खंड की उत्तम पुरुष लुप्त कर्त्ता की दोनों क्रियाएँ 'प्रकासा' तथा 'कीन्ह अरंभा'—जिन के कर्म क्रमशः 'चरित' और 'कथा' हैं—सामान्य भूत-काल की हैं। इस के अतिरिक्त द्वितीय खंड में 'दिन' के लिए संबंधवाचक विशेषण 'जेहिं' और स्थान के लिए अन्य स्थानवाचक अव्यय 'तहाँ' के प्रयोग भी चिंत्य हैं। यदि नवमी तिथि को और अवधपुरी में ही द्वितीय खंड की पंक्तियाँ भी लिखी गई होतीं तो इस प्रकार का अंतर होना असंभव था, क्यों कि आसानी से कवि 'जेहिं' और 'तहाँ' के स्थान पर 'एहिं' और 'इहाँ' लिख सकता था। इस लिए यह अत्यंत स्पष्ट है कि द्वितीय खंड की पंक्तियाँ उस समय नहीं लिखी गई थीं जिस समय प्रथम और तृतीय खंड की पंक्तियाँ लिखी गई थीं वे बाद को ही किसी समय रचना काल के प्रसंग में बढ़ाई गईं, वे रामनवमी को भी नहीं लिखी गईं, और न वे अयोध्या में लिखी गईं। और जब यह निश्चित हो जाता है कि द्वितीय खंड की पंक्तियाँ कभी पीछे बढ़ाई गईं तो क्या यह संभव नहीं कि वह इतने पीछे बढ़ाई गई हों कि उस समय कवि को रचनारंभ के दिन का ठीक ठीक स्मरण न रह गया रहा हो और उस की स्मृति में बुधवार के स्थान पर भौमवार ने जगह कर लिया रहा हो? मैं तो समझता हूँ कि यह समाधान उपर्युक्त दो अन्य समाधानों की अपेक्षा अधिक संतोष जनक है। यह असंभव नहीं कि महाकाव्य की प्रथम पांडुलिपि में कवि ने केवल तिथि का उल्लेख किया रहा हो—और द्वितीय खंड ऐसा नहीं है कि उस के न होने पर पूरे प्रसंग की संगति बैठने में किसी प्रकार की अड़चन होती हो—और पीछे उक्त उल्लेख को अपूर्ण समझ कर उसे और पूर्ण करने के लिए उस ने उन पंक्तियों को बढ़ा दिया हो जिन्हें ऊपर हम ने द्वितीय खंड में स्थान दिया है।

३० ग्रंथ की समाप्ति तिथि के संबंध में कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं है। 'मूल गोसाईं-चरित' में अवश्य समाप्ति तिथि का उल्लेख किया गया है, किन्तु गणना से तिथि का विस्तार शुद्ध नहीं उतरता,[1] और वैसे भी

[1] देखिए परिशिष्ट आ

'चरित' की प्रामाणिकता अत्यंत संदिग्ध है।[3] इस प्रसंग में हम अयोध्या की एक जन-श्रुति पर अवश्य विचार कर सकते हैं, जिस के अनुसार तुलसीदास ने ग्रंथ की समाप्ति सं० १६३३ की राम-विवाह तिथि पर की।[4] तिथि तो 'मूल गोसाईं चरित', में भी यही दी गई है, इस लिए संभवतः यह जन श्रुति किसी समय भली भाँति प्रचलित थी। यद्यपि यह असंभव नहीं कि हमारे महाकवि ने इतने थोड़े समय के अंदर ही महाकाव्य की समाप्ति कर दी हो, फिर भी इतना समय कुछ कम जान पड़ता है। संभव है कि महाकाव्य की प्रथम पाडुलिपि उस ने इतने ही समय में तैयार कर ली हो, किंतु जन श्रुति पर अधिक बल देना उचित न होगा। 'रामचरित मानस' एक बड़ा ग्रन्थ है, उस की प्रथम पाडुलिपि और उस के बाद की उस की पाडुलिपियों का रूप क्या रहा होगा यह एक स्वतन्त्र विवेचन के लिए उपयुक्त विषय है, इस लिए इस संबंध का प्रयास इसी अध्याय के अंत में अलग से किया गया है।

4 सतसई

३८. ग्रन्थ के अंतर्गत एक दोहा है, जिस में उस की तिथि इस प्रकार दी हुई है—

> अहि रसना थनधेनु रस गनपति द्विज गुरुवार।
> माधव सित सिय जनम तिथि सतसइया अवतार।
>
> (सत० प्रथम अध्याय, १)

संख्याओं की सांकेतिक शब्दावली में सर्प की जिह्वा २,[3] गाय के थन ४,[4] रस ६,[5] और गणपति के दाँत १[6], के लिए प्रयुक्त होते हैं। जब इन अंकों को हम उलटे क्रम से पढ़ते हैं—जैसा इस प्रकार दी हुई संख्याओं को पढ़ने का नियम है—हम को ग्रन्थ की तिथि के लिए संवत् १६४२ प्राप्त होता है, और सीता की विवाह तिथि वैशाख शुक्ल ९ है, इस लिए पूरी तिथि "सं० १६४२, वैशाख शुक्ला ९, गुरुवार" प्राप्त होती है।

[1] देखिए ऊपर पृ० ४०

[2] देखिए ऊपर पृ० ७६

[3] केशवदास : 'कविप्रिया', शीर्षक ११, छंद ६

[4] स्वतः स्पष्ट है

[5] केशवदास : 'कविप्रिया', शीर्षक ११, छंद १५

[6] वही, छंद ५

३९ किंतु स्वर्गीय श्री ग्रियर्सन ने लिखा है "यदि यह तिथि शुद्ध है तो तुलसीदास ने 'सतसई' की तिथि लिखने में वर्त्तमान संवत्-वर्ष का व्यवहार किया न कि विगत संवत् वर्ष का। पंडित सुधाकर द्विवेदी इस बात की ओर संकेत करते हैं कि यह उस कवि की प्रणाली के विरुद्ध है और उस दोहे की प्रामाणिकता पर, जिस में वह तिथि आती है सब से अधिक सन्देह उत्पन्न करता है।"[1] श्रीग्रियर्सन का यह कथन सर्वथा उचित है। गणना से ज्ञात होता है कि तिथि विस्तार प्रचलित संवत्-वर्ष प्रणाली पर ही ठीक उतरता है, विगत संवत्-वर्ष प्रणाली पर नहीं, और इस तिथि के अतिरिक्त एक भी ऐसी तिथि नहीं है जो दूसरी प्रणाली पर ठीक उतरती हो,[2] इस लिए दोहे की प्रामाणिकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। ग्रंथ के विषय निर्वाह तथा शैली के आधार पर भी ऊपर विचार करते हुए रचना की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट कर चुके हैं[3]। इस के अनेक दोहे कवि की अन्य रचनाओं में मिलते हैं,[4] इस लिए यह असम्भव नहीं कि कभी कवि के देहावसान के अनन्तर किसी 'सतसई' के अनुकरण पर कवि के किसी भक्त ने उस के कुछ दोहों के साथ-साथ स्वरचित कुछ दोहे मिला कर प्रस्तुत संग्रह तैयार कर दिया हो और उपर्युक्त तिथि-सम्बन्धी दोहा भी रचकर उसमें रख दिया हो।

५ पार्वती मंगल

४० कृति की रचना तिथि का निर्देश उसी में कवि ने निम्नलिखित प्रकार से किया है

> जय सम्बत् फागुन सुदि पाँचइ गुरु दिनु।
> अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु॥
>
> (पा० मं० ५)

'जय' बार्हस्पत्य वर्ष प्रणाली का एक वर्ष है। उक्त वर्ष प्रणाली की गणना दो प्रकार से की जाती है दक्षिणी रीति के अनुसार और उत्तरी रीति के अनुसार। दक्षिणी रीति पर कवि ने कोई तिथि नहीं दी है,[5] इस लिए उस से हमारा कोई प्रयोजन यहाँ नहीं है। उत्तरी रीति के अनुसार कवि के

[1] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० ९५
[2] देखिए परिशिष्ट अ
[3] देखिए ऊपर पृ० १००
[4] इं० ऐं०, सन् १८९३, पृ० १२१२७
[5] देखिए परिशिष्ट अ

जीवन-काल में यह वर्ष एक ही बार उपस्थित होता है, स० १६४२ में,[1] अतएव ग्रंथ की रचना भी इसी वर्ष में हुई माननी चाहिए। किन्तु स० १६४२ में फाल्गुन शुक्ला ५ रविवार को पड़ती है, गुरुवार को नहीं, स० १६४३ में अवश्य यह गुरुवार को पड़ती है, नक्षत्र दोनों में अश्विनी ही रहता है;[2] इस से अनुमान यह होता है कि पिछली ही तिथि कवि ने ऊपर दी है। किन्तु इस असाधारण बात का कारण क्या हो सकता है, इस पर थोड़ा विचार करना कदाचित् अनुचित न होगा। 'जय' वर्ष चाँद्र वर्ष, स० १६४२ में प्रारंभ हो कर सं० १६४३ में समाप्त होता है, यद्यपि सं० १६४३ की फाल्गुन शुक्ला ५ 'जय' वर्ष से बाहर पड़ती है। जान ऐसा पड़ता है स० १६४३ में 'जय' वर्ष की समाप्ति के कारण पूरे स० १६४३ को कवि ने 'जय' सवत् मान लिया था, कदाचित् उसी प्रकार जिस प्रकार पूरे दिन की तिथि वही मान ली जाती है जो उस दिन में समाप्ति पाती है। इस लिए हम समझते हैं कि सं० १६४३, फाल्गुन शुक्ला ५, गुरुवार को ग्रथ की रचना तिथि मानना अनुचित न होगा। अन्यथा हमें मानना पड़ेगा कि या तो कवि ने दिन देने में भूल की है, या हमें शुद्ध पाठ नहीं प्राप्त है, या तिथि-संबंधी उपर्युक्त छद ही प्रक्षिप्त है। किंतु, इन पिछले समाधानों के लिए पर्याप्त कारण न होने से यदि हम उपर्युक्त प्रथम समाधान को ही स्वीकार कर लें तो कदाचित् अनुचित न होगा।

6, गीतावली

४१. 'गीतावली' में स्वतः कवि ने उस की रचना तिथि का कहीं उल्लेख नहीं किया है; और न उस में किसी ऐसी घटना का ही उल्लेख मिलता है जिस के द्वारा कृति के रचना-काल का निर्णय करने में हमें कोई सहायता मिल सकती हो। कृतियों के पाठों का अध्ययन करते हुए हम ने ऊपर देखा है कि 'गीतावली' के मुद्रित सस्करणों तथा प्राप्त प्रतियों का आकार-प्रकार एक ही है, इस लिए यह निश्चित सा जान पड़ता है कि उस का यह सस्करण कवि के जीवन-काल का है। एक और प्रति का भी हम ने ऊपर विशेष रूप से अध्ययन किया है जिस का आकार-प्रकार मुद्रित सस्करणों तथा

[1] देखिए स्वामी कन्नू पिलाई : 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी', चक्र १४

[2] देखिए परिशिष्ट अ

शेप प्रतियों से एक विशेष प्रकार से भिन्न है, और जो कवि के जीवन काल की—स० १६६६ के लगभग की—ज्ञात होती है।[1] इस लिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'गीतावली' के कम से कम दो सस्करण कवि के जीवन काल में हो गए थे . एक, जिसे हम 'पदावली रामायण' सस्करण कह सकते हैं, और दूसरा जिसे हम 'गीतावली' सस्करण कह सकते हैं। 'पदावली रामायण' की प्राप्त प्रति का प्रतिलिपि काल नितात निश्चित नहीं है, अनुमान से वह स० १६६६ के लगभग निर्धारित किया गया है, इस लिए 'पदावली रामायण' सस्करण के लिए उस की अतिम सीमा अनुमान द्वारा हम स० १६६६ के लगभग मान सकते हैं। दूसरा सस्करण कवि के जीवन काल में ही इस प्रथम के सस्करण के बाद किसी समय हुआ होगा, इस से अधिक अभी हम कुछ नहीं कह सकते, क्यों कि इस सस्करण की कोई प्रति हमें ऐसी नहीं प्राप्त है जो कवि के जीवन काल की हो—अथवा जिस के सबंध में इस प्रकार का अनुमान भी किसी हद तक किया जा सकता हो।

४२ विषय निर्वाह अवश्य इस सबध में हमारी सहायता करता है। प्रस्तुत कृति की कथा की तुलना जब हम 'रामाज्ञा प्रश्न' (स० १६२१) और 'मानस' (स० १६३१) की कथाओं से करते हैं तो निम्नांकित बातों में उसे हम 'रामाज्ञा प्रश्न' के समान और 'मानस' से भिन्न पाते हैं;

(१) जनक विवाह का निमंत्रण दशरथ के पास अपने पुरोहित सतानद के द्वारा भेजते हैं।[2]

(२) परशुराम और राम की भेंट बारात की वापसी में होती है।[3]

(३) वन यात्रा के समय गगा पार करने के पूर्व राम और केवट में कोई बातचीत नहीं होती।

(४) भरत के द्वारा राम के अनिष्ट की कल्पना कर के शृगवेरपुर का निषाद मडल उन से मोर्चा लेने के लिए तैयारी नहीं करता।

(५) चित्रकूट-निवास के समय राम के पास जनक का आगमन नहीं होता।

[1] देखिए ऊपर पृ० १९५

[2] गीता०, बाल० १००–१०१ = रामाज्ञा० १-४-६

[3] गीता०, उत्तर० ३८ = रामाज्ञा० १-६-४

(६) मायाल करने के लिए त्रिजटा से सीता अग्नि-याचना नहीं करती।

(७) सेतुबंध के अवसर पर राम शिवलिंग की स्थापना नहीं करते।

(८) सीता निर्वासन तथा लवकुश-जन्म आदि की कथा भी आती है।[1]

यहाँ हम देख सकते हैं कि 'रामाज्ञा प्रश्न' से 'गीतावली' का साम्य कहीं पर इस प्रकार का है कि 'मानस' की कोई विशेष घटना घटती नहीं, और कहीं पर इस प्रकार का है कि कोई घटना उस प्रकार नहीं घटती जैसी वह 'मानस' में घटती है, अथवा 'मानस' में वह बिल्कुल ही नहीं मिलती है। पहले प्रकार के साम्य के संबंध में यह शंका की जा सकती है कि प्रस्तुत कृति कोई प्रबंध काव्य नहीं है, इस लिए कथांश विशेष का छूट जाना कुछ महत्वपूर्ण नहीं है, किंतु दूसरे प्रकार के साम्यों के विषय में ऐसी कोई बात नहीं कही जा सकती।

४३ फिर, प्रस्तुत कृति की कथा की तुलना हम जब 'रामाज्ञा प्रश्न' (सं० १६२१) तथा 'मानस' (सं० १६३१) की कथाओं से करते हैं तो उसे निम्नांकित बातों में 'रामाज्ञा प्रश्न' से भिन्न और 'मानस' के समान पाते हैं :

(१) जनक की वाटिका में धनुर्भंग के पूर्व राम और सीता का परस्पर दर्शन करते हैं।[2]

(२) बंदीजन सीता विवाह संबंधी जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा करते हैं।[3]

(३) एकत्रित राजकुमारों की धनुर्भंग विषयक असफलता देख कर जनक एक नैराश्यपूर्ण व्याख्यान देते हैं, जिस का उत्तर लक्ष्मण किंचित कठोर शब्दों में देते हैं।[4]

(४) राम जब धनुष तोड़ने के लिए खड़े होते हैं, तब लक्ष्मण पृथ्वी को धारण करने वाले दिक्कुंजरादि को उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ रखने के लिए सावधान करते हैं।[5]

(५) रावण की सभा में अंगद दूत बन कर जाते हैं।[6]

[1] गीता०, उत्तर० २४–३६ = रामाज्ञा० ६-६ संपूर्ण तथा ६ ७ संपूर्ण

[2] गीता० बाल० ६९–७० = मानस, बाल० २२८–२३६

[3] गीता० बाल० ८७ = मानस, बाल० २४९–२५०

[4] गीता०, बाल० ८२, ८३ = मानस, बाल० २५१–२५३

[5] गीता०, बाल० ८८ = मानस, बाल० २६०

[6] गीता०, लंका० २–४ = मानस, लंका० २०–३५

यहाँ हम देख सकते हैं कि 'मानस' के साथ 'गीतावली' का कथा विषयक साम्य विशेष घटनाओं के विशेष प्रकार से घटित होने पर निर्भर है, घटना विशेष के न घटित होने पर बिल्कुल नहीं, इस लिए 'मानस' के साथ 'गीतावली' का यह साम्य 'रामाज्ञा प्रश्न' के साथ उस के साम्य की अपेक्षा अधिक निर्विवाद है।

४४ परतु 'गीतावली' यहाँ पहुँच कर रुक नहीं जाती, कथानक सबधी निम्नलिखित बातों में वह 'रामचरित मानस' के आगे भी बढी हुई ज्ञात होती है

(१) राम जब चित्रकूट छाड कर अपनी वन यात्रा में दण्डकारण्य की ओर बढते हैं तब निषादराज इस समाचार की सूचना अयाध्या भेजता है।[१]

(२) सीताहरण के कारण राम को व्यथित देख कर देवता चिंतित होते हैं, और लक्ष्मण जब उन्हें इस का कारण बताते हैं वे राम को सीता का पता बताते हैं।[२]

(३) हनुमान जब सीता के सामने रामनामाकित मुद्रिका डाल देते हैं, तब सीता भावावेश मे उस मुद्रिका से राम का कुशल प्रश्नादि करती है,[३] मुद्रिका उस का उत्तर देती है,[४] और हनुमान इस सीता मुद्रिका सवाद सुन कर बालक के समान रोने लग जाते हैं।[५]

(४) रावण से निरादृत हो कर विभीषण सीधे राम की शरण में नहीं जाते। पहले वह अपनी माता से उस के लिए अनुमति प्राप्त करते हैं[६]—जो उन्हें एक बार अपने बडे भाई के अपराध को क्षमा कर के वहीं बने रहने के लिए समझाती भी है। फिर वे कुवेर से इस सबध में परामर्श करते हैं,[७] क्यों कि कुवेर भी उन का भाई है, और यहाँ पर शकर की प्रेरणा पाकर अपने सकल्प मे वह दृढ हो जाते हैं, और उसके अनतर हम उन का राम की शरण में जाते हुए पाते हैं।

(५) सजीवनी ले कर आते समय जब हनुमान भरत के बाण से आहत हो कर गिरते हैं, और उनसे माताएँ लक्ष्मण-मूर्छा का समाचार पाती

[१] गीता०, अयोध्या० ८९

[२] वही, अरण्य १०–११

[३] वही, सुंदर० ३

[४] वही, ४

[५] वही, ५

[६] वही, २६

[७] वही, २७

हैं। उस अवसर पर वीर माता सुमित्रा अपने एक पुत्र की मूर्छा की चिंता न कर राम की सहायता के लिए अपने दूसरे पुत्र को भी जाने का आदेश करती हुई दिखाई पड़ती है।[1]

(६) उत्तरकांड में राज्याभिषेक के अनंतर दोलोत्सव, दीपमालिकोत्सव तथा वसंतोत्सव आदि के वर्णन आते हैं, जिन में राम सीता के साथ अयोध्या का सारा नर और नारी समाज निस्संकोच भाव से और निर्भयतापूर्वक एक धरातल पर सम्मिलित होता है।[2]

४५. इस तुलनात्मक अध्ययन में एक वस्तु हमारी सहायता विशेष रूप से कर सकती थी: 'पदावली रामायण' यदि संपूर्ण प्राप्त होती तो हमारा यह अध्ययन और भी पूर्ण होता। किंतु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं[3] हमें इस समय उस के सुंदर और उत्तर कांड मात्र प्राप्त हैं—यद्यपि वे भी पूरे-पूरे प्राप्त नहीं हैं। फिर भी, जितना भी अंश उसका हमें प्राप्त है, प्रस्तुत तुलना के लिए वह भी कम नहीं है। जिन बातों में 'गीतावली' और 'रामाज्ञा प्रश्न' में साम्य और 'मानस' से उन का वैषम्य हम ने ऊपर पाया है, उन बातों में से उन के संबंध में 'पदावली रामायण' को देखने की हमें आवश्यकता नहीं है जो 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'गीतावली' में नहीं पाई जाती है, क्यों कि प्राप्त 'पदावली रामायण' के समस्त कथा परक पद प्रस्तुत 'गीतावली' में आ जाते हैं और उन के अतिरिक्त और भी बहुत से दूसरे पद आते हैं। शेष में से केवल एक कथा ऐसी है जो 'पदावली रामायण' पाठ के प्राप्त अंशों से संबंध रखती है, वह है सीता निर्वासन तथा लवकुश-जन्म की कथा, और यह प्राप्त 'पदावली रामायण'-पाठ में मिलती ही है। जिन बातों में 'गीतावली' और 'मानस' में साम्य और 'रामाज्ञा प्रश्न' से उन का वैषम्य है, खेद है कि वह अंश 'पदावली रामायण' की प्राप्त प्रति में नहीं है। परंतु कथानक-संबंधी जिन बातों में 'गीतावली' 'मानस' से भी बढ़ी हुई ज्ञात होती है, उन के संबंध में अवश्य 'पदावली रामायण' की प्राप्त प्रति भी एक महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। इस प्रकार के छः कथा-भेदों में है तीन—तृतीय, चतुर्थ तथा षष्ठ—ही ऐसे हैं जो 'पदावली रामायण' के प्राप्त अंशों से संबंध रखते हैं, और इन में से चतुर्थ

[1] गीता०, लंका० १३ [2] वही, उत्तर० १८—२२

[3] देखिए ऊपर पृ० १९५ १९९

तथा षष्ठ—अर्थात् विभीषण व माता तथा कुबेर से परामर्श-संबंधी तथा उत्सव संबंधी—कथा भेद उस में मिलते हैं। फलत ज्ञात यह होता है कि 'गीतावली' के पदों की रचना एक विस्तृत काल-क्षेत्र म हुई, किंतु न केवल प्रस्तुत 'गीतावली' रूप ही 'मानस' के बाद की वस्तु है, बल्कि 'पदावली रामायण' रूप भी और 'गीतावली' का वह अंश जो 'पदावली रामायण' में नहीं है कदाचित् उस के भी बाद की रचना है, क्योंकि हनुमान सीता मिलन प्रसंग के समस्त पद उपलब्ध होते हुए भी तृतीय कथा भेद अर्थात् सीता-मुद्रिका-संवाद के तीन पद वहाँ नहीं आते हैं।[1] अब प्रश्न यह है कि इन दो संस्करणों का समय क्या होगा।

४६ यहाँ पर अनुमान के अतिरिक्त हमारे पास और कोई साधन नहीं है। साधारणत हमें 'पदावली रामायण' का संकलन-काल 'मानस' से काफी दूर इस लिए रखना चाहिए कि उपर्युक्त प्रकार के कथा भेदों को 'मानस' रचना के बहुत बाद ही कवि ने रामकथा म रखने का निश्चय किया होगा, क्यों कि बहुत दिनों तक निरंतर उस में लगे रह कर उस ने 'मानस' की कथा का ही अंतिम रूप निश्चित किया होगा, और 'मानस' का वह रूप भी कथा-भेद वाले पदों की रचना तक इतना पर्याप्त प्रचार पा चुका रहा होगा कि उस म उपर्युक्त प्रकार के संशोधन करना उस ने ठीक न समझा होगा—'मानस' की प्राप्त प्रतियों म पाठ की सामान्य एकरूपता स्पष्टत इन अनुमानों का समर्थन करती है। फिर, ऊपर 'पदावली रामायण' तथा 'राम गीतावली' पाठों पर विचार करते हुए हम ने देखा है कि वे परस्पर सापेक्ष्य हैं,[2] इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने 'पदावली रामायण' तथा 'राम गीतावली' का संपादन एक साथ ही किया होगा, क्यों कि अन्यथा यह असंभव था कि राम-कथा-संबंधी पद विनय संबंधी पदों के साथ मिल न जाते, और—जैसा हम आगे ही देखेंगे—'राम गीतावली' के अनेक पदों में कवि ने जीवनावधि के अति निकट होने का उल्लेख किया है, इस लिए दोनों का संपादन वृद्धावस्था में ही कवि ने किया होगा, और चूँ कि उपर्युक्त अंतिम प्रकार के कथा भेद वाले 'पदावली रामायण' के पदों की रचना 'मानस' के बहुत पीछे हुई होगी, इस लिए यदि हम 'पदावली रामायण' के संपादन का समय अनुमानत कवि की ६४ ६५ वर्ष की अवस्था म, और 'मानस' की कथित समाप्ति तिथि

[1] देखिए ऊपर पृ० १९८ [2] वही, पृ० १९६

(सं० १६३३) के लगभग बीस वर्ष बाद अर्थात् सं० १६५३ के लगभग मानें तो हम कदाचित् सत्य के निकट ही होंगे।

४७. 'पदावली रामायण' को 'गीतावली' रूप कब मिला, यह कहना कठिन है; उस का कारण यह है कि न तो कवि ने स्वतः इस विषय का कोई उल्लेख किया है, और न 'गीतावली' रूप की कवि के जीवन-काल की कोई प्रति ही प्राप्त है; 'पदावली रामायण' का अखंडित पाठ अप्राप्य होने के कारण निश्चय-पूर्वक यह कहना कठिन है कि 'गीतावली' का कौन सा अंश 'पदावली रामायण' के अतिरिक्त है, केवल सीता-मुद्रिका संवाद के पद इन अंशों में—जैसा हम ऊपर देख चुके हैं निश्चित रूप से 'पदावली रामायण' रूप के बाद के कहे जा सकते हैं। केशवदास की 'रामचंद्रिका' (सं० १६५८) में भी सीता-मुद्रिका संवाद है। यदि तुलसीदास को यह कल्पना 'रामचंद्रिका' से ही मिली हो, तो इस अंश का रचना-काल सं० १६५८ के बाद होना चाहिए। किंतु यह भी एक कल्पना मात्र कही जा सकती है। इस लिए संकेतात्मक उल्लेख और विषय-निर्वाह तथा शैली वाले साधन भी हमारी पर्याप्त सहायता नहीं कर सकते, और खोज की इस स्थिति में इस प्रश्न पर विचार करना युक्ति-संगत न होगा।

४८. डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर 'गीतावली' का रचना-काल सं० १६१६-२८ माना है।[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'गीतावली' को 'मानस' से पूर्व सं० १६१५ और १६२० के बीच की रचना मानते हुए[2] कारण यह बताए हैं—एक तो यह कि 'गीतावली' में कवि ने 'मानस' से भी अधिक कथा का विस्तार किया है, और यह विस्तार अधिक काव्योचित है; दूसरे जहाँ पर 'मानस' और 'गीतावली' में भाव-साम्य है, वहाँ पर 'मानस' में वे भाव 'गीतावली' की अपेक्षा परिष्कृत रूप में हैं। उन के दूसरे तर्क की यथार्थता स्वीकार किए बिना ही यह कहा जा सकता है कि दोनों तर्क परस्पर विरोधी हैं, और एक दूसरे के बल को क्षीण कर देते हैं। उन का कथन यह भी है कि 'गीतावली' में उन्हें भक्त तुलसीदास के दर्शन नहीं होते, केवल कवि तुलसीदास के दर्शन होते हैं, और फिर 'गीतावली'

किंतु यह पद किसी प्रति में प्रस्तुत लेखक को देखने को नहीं मिला और न वह योग ही—स्वाती का ज्येष्ठ शुक्ल या ज्येष्ठ कृष्णा ६ के साथ —सं० १६६१ विगत-संवत् वर्ष अथवा वर्त्तमान संवत्-वर्ष में पड़ता है।[1] इस लिए उपर्युक्त पूरा पद—अथवा कम से कम उस का वह अंश जिस में रचना-तिथि आती है और जिस से हमारा निकट प्रयोजन है—हमारे कवि का नहीं हो सकता। 'विनय-पत्रिका' के पदों में ऐसी किसी घटना का भी उल्लेख नहीं होता जिस को संबंध ज्योतिष की गणना अथवा ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर किसी तिथि के साथ स्थापित किया जा सके।

५०. उस की एक प्रति अवश्य कवि के जीवन-काल की प्राप्त है; वह है सं० १६६६ की लिखी हुई '*राम गीतावली*' नाम की प्रति, जिस का परिचय ऊपर दिया जा चुका है।[2] हम ने देखा है कि वह कवि-हस्तलिखित नहीं है; न केवल इस अर्थ में कि कवि उस का लिपिकार नहीं है, वरन् इस अर्थ में भी कि उस का संशोधन भी कवि द्वारा किया हुआ नहीं है; फलतः 'राम गीतावली' पाठ सं० १६६६ के पहले की रचना होगी, यह निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया जा सकता है। किंतु, इस से आगे बढ़ने पर प्रस्तुत प्रसंग में विषय-निर्वाह तथा शैली के साक्ष्य के अतिरिक्त हमारे पास कोई और साधन नहीं रहता।

५१. 'राम गीतावली' में एक पद है जो इस समय 'गीतावली' के निरे अंत में मिलता है। उसके अनुसार परशुराम-राम मिलन विवाहानंतर अयोध्या के लिए बारात के प्रस्थान करने पर होता है :

सब भूपन को गरब हर्‌यो हरि भंज्यो संभुचाप भारी।
जनकसुता समेत आवत गृह परसुराम अति मद हारी॥
(रा० गी० ८०=गीता०, उत्तर० ३८)

यह पद निश्चय ही 'मानस' से पहले रचा गया होगा : संभव है रामाज्ञा-प्रश्न (सं० १६२१) अथवा 'जानकी-मंगल' (सं० १६२७ ?) की रचना के लगभग किसी समय रचा गया हो।

५२. दूसरी ओर 'राम गीतावली' में ऐसे पद भी आते हैं जो वृद्धावस्था की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित को ले सकते हैं :

[1] देखिए परिशिष्ट अ

[2] देखिए ऊपर पृ० १९९

तुम्ह तजि हौं कासों कहौं और को हितु मेरें ।
दीनबंधु सेवक सखा आरत अनाथ पर सहज छोहु केहि केरें ।
बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरें ।
कृपा क्रोध सति भाय हूं धोखेहुं तिरीछेहु राम तिहारेहि हेरें ।
जौं चितवनि सौंधी लगै चितइयै सबेरें ।
तुलसिदास अपनाइयै कीजे न ढील अब जीवन अवधि अति नेरें ॥
(रा० गी० १३२ = विनय० २७:

फलतः यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'पदावली रामायण' के गीतों क
भाँति 'राम गीतावली' के पदों की रचना भी एक विस्तृत काल-क्षेत्र में हुई

५३. प्रश्न यह है कि 'राम गीतावली'-पाठ का संपादन कब हुआ। जैस
हमने 'गीतावली' के रचना-काल पर विचार करते हुए ऊपर कहा है, जा
ऐसा पड़ता है कि कवि ने 'राम गीतावली' का संपादन भी उसी समय कि
जब उसने 'पदावली रामायण' का किया, क्यों कि अन्यथा 'राम गीतावली'
विनय-संबंधी पदों को 'पदावली रामायण' के उत्तरकांड में उसी प्रकार स्था
मिल सकता था जिस प्रकार 'बरवै' और 'कवितावली' में हुआ है। और ऊ
हम देख ही चुके हैं कि 'रामगीतावली' के पदों की रचना विस्तृत काल-क्षे
में हुई। फलतः यदि "जीवन अवधि अति नेरे" से—जो उपर्युक्त पद में आ
है—हम यह परिणाम निकालें कि उक्त कथन कवि ने कम से कम ६० व
की अवस्था के पूर्व न किया होगा, और संपादन 'राम गीतावली' का उस
बाद ही किसी समय, अनुमानतः ६४-६५ वर्ष की अवस्था में अर्थात् सं० १६५
के लगभग किया होगा, तो कदाचित् हम वास्तविकता से दूर न होंगे।

५४. 'राम गीतावली' को 'विनय-पत्रिका' रूप कब मिला, यह कह
कठिन है। कारण यह है कि न तो कवि ने कहीं इस विषय का उल्लेख कि
है, और न कवि के जीवन-काल की कोई प्रति 'विनय-पत्रिका'-पाठ की प्र
है। और 'राम गीतावली' की संपूर्ण प्रति प्राप्त न होने से यह अनिश्चित
कि कौन से पद 'विनय-पत्रिका'-पाठ में ऐसे हैं जो पहले से 'राम गीताव
की संपत्ति नहीं थे; इस लिए प्राप्त 'राम गीतावली' के अतिरिक्त 'विनय-पत्रि
का जो अंश है उस में ऐसे उल्लेखों को ढूढ़ना जिन का संबंध किन्हीं तिथि
के साथ स्थापित किया जा सके, अथवा उस के विषय-निर्वाह और शैली
साक्ष्य पर भी कोई अनुमान करना ठीक न होगा। फिर भी यह प्रायः निश्चि

माना जा सकता है कि 'विनय-पत्रिका' पाठ का संकलन कवि ने स्वत. अपने जीवन काल में किया होगा, क्योंकि 'राम गीतावली' पाठ के अतिरिक्त जितनी भी प्रतियाँ उसकी मिलती हैं उनमें आकार प्रकार विषयक कोई भी अंतर आपस में नहीं है जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है।[1]

५५. डॉक्टर श्यामसुन्दर दास ने 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर लिखा था कि 'विनय पत्रिका' की रचना सं० १६३६ और १६३९ के बीच किसी समय हुई होगी।[2] उपर्युक्त आत्मोल्लेखों से इस तिथि का स्पष्ट विरोध ज्ञात होता है, इस लिए इस तिथि के संबंध में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी का अनुमान है कि गोस्वामी जी सं० १६४५ के आस-पास ब्रज गए होंगे, और वहाँ से लौटने के बाद ही अपने अंतिम ग्रंथ 'विनय पत्रिका' के पद उन्हों ने प्रारंभ किए होंगे, और सं० १६६८ तक उस में पद रचे जाते रहे।[3] त्रिपाठी जी ने कदाचित् केवल 'विनय पत्रिका'-पाठ को ले कर विचार किया है, 'पदावली रामायण' पाठ पर यदि उन्हों ने ध्यान दिया होता तो इस प्रकार की कल्पनाएँ वे न करते, वैसे भी, ब्रज यात्रा गोस्वामी जी ने सं० १६४५ के ही आस पास की, और उस यात्रा का कोई संबंध 'विनय पत्रिका' से है, यह प्रमाणित नहीं हो सकता। डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने सं० १६६६ की उपर्युक्त प्राप्त प्रति के आधार पर 'विनय-पत्रिका' की रचना तिथि सं० १६६६ मानी है। यदि प्रति कवि की स्वहस्तलिखित प्रति होती तो इस प्रकार की संभावना हो सकती थी—यद्यपि फिर भी प्रति की तिथि केवल प्रतिलिपि की तिथि भी हो सकती थी। किंतु, जैसा हम ऊपर अभी देख चुके हैं, प्रति कवि हस्तलिखित नहीं है, इसलिए सं० १६६६ ग्रन्थ की केवल एक प्रतिलिपि-तिथि है, रचना तिथि नहीं है।

7 कृष्ण-गीतावली

५६ 'कृष्ण-गीतावली' भी एक संग्रह-ग्रंथ है। उस की तिथि कवि ने स्वत नहीं दी है, और न कृति में किसी ऐसी घटना का उल्लेख होता है जिस का संबंध ज्योतिष की गणना द्वारा अथवा ऐतिहासिक साक्ष्यों के द्वारा

[1] देखिए ऊपर पृ० २०२ [2] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० ९९

[3] 'तुलसीदास और उनकी कविता', पृ० ४०५

तुम्ह तजि हौं कासौं कहौं औरु को हितु मेरें ।
दीनबंधु सेवक सखा आरत अनाथ पर सहज छोहु केहि केरें ।
बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरें ।
कृपा क्रोध सति भाय हू धोखेहु तिरीछेहुँ राम तिहारेहि हेरें ।
जौं चितवनि सौंधी लगै चितइयै सबेरें ।
तुलसिदास अपनाइऐ कीजै न ढील अब जीवन अवधि अति नेरें ॥
(रा० गी० १३२ = विनय० २७३)

फलत. यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'पदावली रामायण' के गीतों की भाँति 'राम गीतावली' के पदों की रचना भी एक विस्तृत काल-क्षेत्र में हुई।

५.३ प्रश्न यह है कि 'राम गीतावली' पाठ का सपादन कब हुआ। जैसा हमने 'गीतावली' के रचना काल पर विचार करते हुए ऊपर कहा है, जान ऐसा पड़ता है कि कवि ने 'राम गीतावली' का सपादन भी उसी समय किया जब उसने 'पदावली रामायण' का किया, क्यो कि अन्यथा 'राम गीतावली' के विनय सबधी पदों को 'पदावली रामायण' के उत्तरकाड म उसी प्रकार स्थान मिल सकता था जिस प्रकार 'बरवै' और 'कवितावली' में हुआ है। और ऊपर हम देख ही चुके हैं कि 'रामगीतावली' के पदों की रचना विस्तृत काल क्षेत्र में हुई। फलत यदि "जीवन अवधि अति नेरे" से—जो उपर्युक्त पद में आया है—हम यह परिणाम निकालें कि उक्त कथन कवि ने कम से कम ६० वर्ष की अवस्था क पूर्व न किया होगा, और सपादन 'राम गीतावली' का उस के बाद ही किसी समय, अनुमानत ६४ ६५ वर्ष की अवस्था में अर्थात् स० १६५३ के लगभग किया होगा, तो कदाचित् हम वास्तविकता से दूर न होंगे।

५.४ 'राम गीतावली' को 'विनय पत्रिका' रूप कब मिला, यह कहना कठिन है। कारण यह है कि न तो कवि ने कहीं इस विषय का उल्लेख किया है, और न कवि के जीवन-काल की कोई प्रति 'विनय पत्रिका' पाठ की प्राप्त है। और 'राम गीतावली' की सपूर्ण प्रति प्राप्त न होने से यह अनिश्चित है कि कौन से पद 'विनय पत्रिका' पाठ म ऐसे हैं जो पहले से 'राम गीतावली' की सपत्ति नहीं थे, इस लिए मात्र 'राम गीतावली' के अतिरिक्त 'विनय पत्रिका का जो अंश है उस में ऐसे उल्लेखों को ढूढना जिन का सबध किन्हीं तिथियों के साथ स्थापित किया जा सके, अथवा उस के विषय निर्वाह और शैली के साक्ष्य पर भी कोई अनुमान करना ठीक न होगा। फिर भी यह प्राय निश्चि

माना जा सकता है कि 'विनय-पत्रिका' पाठ-का संकलन कवि ने स्वत: अपने जीवन-काल में किया होगा, क्योंकि 'राम गीतावली' पाठ के अतिरिक्त जितनी भी प्रतियाँ उसकी मिलती हैं उनमें आकार-प्रकार विषयक कोई भी अंतर आपस में नहीं है जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है।[1]

५५. डॉक्टर श्यामसुन्दर दास ने 'मूल गोसाईं-चरित'के आधार पर लिखा था कि 'विनय-पत्रिका' की रचना सं० १६३६ और १६३६ के बीच किसी समय हुई होगी।[2] उपर्युक्त आत्मोल्लेखों से इस तिथि का स्पष्ट विरोध ज्ञात होता है, इस लिए इस तिथि के संबंध में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी का अनुमान है कि गोस्वामी जी सं० १६४५ के आस-पास ब्रज गए होंगे, और वहाँ से लौटने के बाद ही अपने अंतिम ग्रंथ 'विनय-पत्रिका' के पद उन्हों ने प्रारंभ किए होंगे, और सं० १६६८ तक उस में पद रचे जाते रहे।[3] त्रिपाठी जी ने कदाचित् केवल 'विनय-पत्रिका'-पाठ को ले कर विचार किया है; 'पदावली रामायण'-पाठ पर यदि उन्हों ने ध्यान दिया होता तो इस प्रकार की कल्पनाएँ वे न करते; वैसे भी, ब्रज-यात्रा गोस्वामी जी ने सं० १६४५ के ही आस-पास की, और उस यात्रा का कोई संबंध 'विनय-पत्रिका' से है, यह प्रमाणित नहीं हो सकता। डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने सं० १६६६ की उपर्युक्त प्राप्त प्रति के आधार पर 'विनय-पत्रिका' की रचना-तिथि सं० १६६६ मानी है। यदि प्रति कवि की स्वहस्तलिखित प्रति होती तो इस प्रकार की संभावना हो सकती थी—यद्यपि फिर भी प्रति की तिथि केवल प्रतिलिपि की तिथि भी हो सकती थी। किंतु, जैसा हम ऊपर अभी देख चुके हैं, प्रति कवि-हस्तलिखित नहीं है, इसलिए सं० १६६६ ग्रन्थ की केवल एक प्रतिलिपि-तिथि है, रचना तिथि नहीं है।

किसी तिथि के साथ स्थापित किया जा सके। उस की हस्तलिखित प्रतियाँ भी जो प्राप्त हुई हैं उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है जो कवि के जीवन काल की हो— अथवा वैसी मानी जा सके। फलतः हमारे सामने एक ही मार्ग शेष रहता है वह है उस के विषय निर्वाह तथा शैली के अध्ययन का।

५७. 'कृष्ण-गीतावली' विषय निर्वाह में 'गीतावली' से निस्सदेह भिन्न है, और इस वैभिन्य में उत्कृष्टता 'कृष्ण गीतावली' के पक्ष में है। 'गीतावली' में अनेक ऐसे प्रसङ्ग मिलेंगे जो अनावश्यक रूप से विस्तार पाते हैं : उदाहरण के लिए राम वन पथिक प्रसग,[1] और इसी प्रकार कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी मिलेंगे जो बिलकुल छूट गए हैं जैसे सुग्रीव मैत्री, रावण-वध, तथा उस के अनतर सीता मिलन के प्रसग, किन्तु 'कृष्ण गीतावली' में एक भी ऐसा प्रसग नहीं है जिसे अनावश्यक विस्तार मिला हो, और न ग्रन्थ के आकार के ध्यान से कोई ऐसा प्रमुख प्रसग है जो छूट गया हो—६० गीतों में कवि ने पूरी कृष्ण कथा सुन्दर ढग से उपस्थित की है। फिर, यद्यपि गीतात्मकता में 'गीतावली' 'कृष्ण गीतावली' से कहीं कहीं पर अधिक तीव्र प्रभाव डालती है, किंतु कथात्मक विस्तारों ने जिस प्रकार 'गीतावली' में अनेक स्थलों पर गीतात्मक प्रभाव की सृष्टि में बाधा पहुँचाई है उस प्रकार की बाधा 'कृष्ण गीतावली' में उन्हों ने कहीं भी नहीं उपस्थित की है। शैली में 'कृष्ण गीतावली', 'गीतावली' की अपेक्षा अधिक एकरूपता उपस्थित करती है, साथ ही 'कृष्ण गीतावली' में शैली के द्वारा व्रज का जो वातावरण उपस्थित करने का यत्न किया गया है—विशेष कर के वहाँ के स्थानीय प्रयोगों को स्थान-स्थान पर ला कर—वह उस की एक अन्य विशेषता है।[2]

५८ फलत हम देखते हैं कि 'कृष्ण-गीतावली' में कलापक्ष 'गीतावली' से अधिक सफल है। यह सफलता दो कारणों से मिली हुई ज्ञात होती है एक तो 'कृष्ण गीतावली' बहुत कुछ सीमित काल क्षेत्र में रची गई जान पड़ती है—उस की रचना उतने स्फुट ढग पर नहीं हुई जितनी 'गीतावली' की, और दूसरे उस की रचना उस समय कवि ने की जब गीत रचना में उस का हाथ मँज गया था। फलत ऐसा जान पड़ता है कि 'कृष्ण-गीतावली' के पदों का रचना काल 'पदावली रामायण' से कुछ पीछे मानना पड़ेगा। इस

[1] गीता०, अयोध्या० १५–४५

[2] देखिए नीचे अध्याय ६

अतर को व्यक्त करने के लिए यदि हम अनुमान से 'कृष्ण गीतावली' का रचनाकाल 'पदावली रामायण' के सपादन काल से पाँच वर्ष पीछे रक्खें, और स० १६५८ के लगभग मानें, तो कदाचित् हम सत्य से अधिक दूर न होंगे।

५६ डॉक्टर श्यामसु दर दास ने 'मूल गासाई चरित' के आधार पर लिखा था कि 'कृष्ण-गीतावली' के पदों की रचना 'गीतावली' के साथ-साथ स० १६१६ से स० १६२८ तक हुई थी, और उन का सग्रह स० १६२८ म किया गया था।[1] 'कृष्ण गीतावली की तिथि निर्धारण के सबध में, जैसा हम ऊपर कह आए हैं, विषय निर्वाह तथा शैली के अतिरिक्त दूसरा साक्ष्य नहीं है, और उस के आधार पर हम ने ऊपर ग्रथ की रचना तिथि पर विचार किया ही है, फलत पुन. कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। प० रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं "मेरा अनुमान है कि इस की रचना स०१६२८ और १६३० के बीच में हुई होगी। उन दिनों वे काशी में प्रायः अधिक रहते थे और वल्लभ कुल के गोसाइयों के सपर्क में रहते थे, सभवत उन को प्रसन्न करने के लिए यह 'गीतावली' उन्हीं के अनुरोध से लिखी गई।"[2] इस प्रकार की निराधार कल्पनाओं पर विचार करना कदाचित् व्यर्थ ही होगा। डॉक्टर रामकुमार वर्मा 'गीतावली' 'कृष्ण गीतावली' का युग्म मानते हुए कदाचित् दोनों का एक साथ साथ की ही रचना मानते हैं।[3] 'गीतावली' की तिथि के सबध म उन का जो मत है उस पर अभी हम विचार कर चुके हैं 'गीतावली' और 'कृष्ण-गीतावली' का कुछ तुलनात्मक अध्ययन भी ऊपर हम ने किया है, इसलिए यहाँ पुनर्विचार की आवश्यकता नहीं है।

8 बरवै

६० 'बरवै' भी एक सग्रह ग्रथ है। स्वत कवि ने 'बरवै' की रचना तिथि नहीं दी है, और न ग्रथ में उस ने किसी ऐसी घटना का उल्लेख किया है जिस का समय ज्योतिष की गणना से अथवा किसी ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर निर्धारित किया जा सके, और 'बरवै' की प्राचीन प्रतियों में भी

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० ७७ ७८

[2] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ४०५

[3] 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ४१२ १३

ऐसी कोई नहीं है जो कवि के जीवन काल की हो।

६१ विषय निर्वाह का अध्ययन ही प्रस्तुत प्रश्न पर प्रकाश डालता है। 'बरवै' में कुछ ऐसे छंद आते हैं जिन में निकट आती हुई मृत्यु की धुँधली प्रतिच्छाया से कवि प्रभावित दिखाई पड़ता है। इस प्रकार के कुछ छंद निम्न-लिखित हैं :

मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परनाम॥
तुलसी राम नाम सम मित्र न आन।
जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान॥
नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहिं देहु॥
जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहिं देहु।
तहँ तहँ राम निबाहब नाम सनेहु॥

(क्रमशः बरवै० ६५, ६७, ६८ ६९)

फलत. यह जान पड़ता है कि 'बरवै' में कवि की कुछ न कुछ अंतिम कविताकाल के छंद भी होंगे।

६२. संकलन तो 'बरवै' का कदाचित् कवि स्वतः नहीं कर पाया था, क्यों कि इस ग्रंथ की जितनी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उन में से अधिकतर ऐसी हैं जो आकार-प्रकार में मुद्रित प्रति से बहुत भिन्न हैं, और यह भिन्न प्रतियाँ भी परस्पर एक सी नहीं हैं,[१] और इस विशेषता में 'बरवै' उन्हीं संग्रहों के समान है जिन में निश्चित रूप से कवि की अंतिम रचनाएँ भी संगृहीत हैं, अर्थात् 'दोहावली' और 'कवितावली' और 'बाहुक'[२] के जिन के रचना-काल पर हम अभी विचार करेंगे।

६३ 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर डॉक्टर श्यामसुन्दर दासने लिखा था कि 'बरवै' की रचना गोस्वामी जी ने रहीम के बरवै देख कर सं० १६६९ में की थी।[३] रहीम ने सं० १६६९ में कोई बरवै हमारे कवि के पास भेजे होंगे इस बात की असंभावना पर हम ऊपर पहले विचार कर चुके हैं।[४] किंतु

[१] देखिए ऊपर पृ० २०५
[२] देखिए ऊपर क्रमशः पृ० २०६, २०७
[३] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १००
[४] देखिए ऊपर पृ० ४९-५१

यदि कवि ने इस संवत् के आस-पास कोई बरवै रचे हों तो कुछ आश्चर्य नहीं, जैसा ऊपर उद्धृत बरवों से ज्ञात होगा, फिर भी किसी निश्चित तिथि के साथ उन का संबंध स्थापित करना कठिन है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी कहते हैं कि यह ग्रंथ तुलसीदास जी ने 'रामलला नहछू' के अनंतर अथवा उस के लेखन समय के आस पास ही लिखा है, क्योंकि इस में जो शृंगार प्रियता तथा अलंकार प्रियता मिलती है वह कवि के प्रारंभिक युग की ही हो सकती है।[1] फिर तुलसीदास के 'मानस' तथा रहीम की कुछ रचनाओं में साम्य दिखाते हुए अवस्थी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों में से तुलसीदास जी की रचना बाद की है, और उस का समय सं० १६३१ है, इस लिए रहीम और तुलसीदास की भेंट सं० १६३१ के पूर्व किसी समय हुई होगी।[2] अवस्थी जी के पहले अनुमान का निराकरण ऊपर उद्धृत छंद से हो जाता है, शृंगार पूर्ण छंद—जो अलंकार पूर्ण भी हैं—संभव हैं, यदि वह वस्तुतः कवि की रचना हैं[3], कवि की वृद्धावस्था के न हों, किंतु ऊपर उद्धृत छंद किसी दूसरी अवस्था के कदाचित् नहीं हो सकते। रहीम की रचनाएँ और तुलसीदास से उन की भेंट भी सं० १६३१ या उस के पूर्व हो सकती थीं यह कल्पना करने के पहले अवस्थी जी ने कदाचित् रहीम का जन्म कब हुआ था यह जानने का प्रयत्न नहीं किया, अन्यथा ऐसी कल्पना वे कभी न करते। रहीम का जन्म सं० १६१३ में हुआ था।[4] पं० रामनरेश त्रिपाठी 'बरवै' के छंदों का रचना काल सं० १६१० से १६४० तक मानते हैं, किंतु कहते हैं कि संग्रह स्वतः कवि का किया हुआ नहीं ज्ञात होता।[5] डॉक्टर रामकुमार वर्मा स्वतंत्र रूप से तिथि निर्धारण का प्रयत्न नहीं करते, और 'मूल गोसाईं-चरित' की दी हुई सं० १६६९ की तिथि पर विचार करते हुए कहते हैं कि संभव है वह 'बरवै' की संग्रह तिथि ही हो, रचना-काल कुछ वर्षों का होना चाहिए।[6] सं० १६१०-४० की तिथि का सामंजस्य उन छंदों से करना कठिन ज्ञात होता है जिन को ऊपर उद्धृत किया गया है, और यदि रचना इतने पूर्व ही समाप्त हो चुकी थी, और उस के बाद कवि के ४० वर्षों

[1] 'तुलसी के चार दल', पृ० १०२

[2] वही १२२-२३

[3] देखिए ऊपर पृ० १००

[4] ब्लॉचमैन : 'आईन ए अकबरी' जिल्द १, पृ० ३३४

[5] 'तुलसीदास और उनकी कविता', पृ० ३७८

[6] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ३९९

के जीवन में यदि उस में कुछ वृद्धि नहीं हुई, तो कवि ने उस का संग्रह और संपादन क्यों अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ रक्खा था, यह बात ज़रा समझ में नहीं आ सकती। इसी प्रकार, यह भी बहुत कम संभव ज्ञात होता है कि कवि ने ग्रंथ का संपादन स्वतः किया हो और फिर भी ग्रंथ में कथा-क्रम की सर्वथा उपेक्षा की गई, जो कि आसानी से देखी जा सकती है।

९ - दोहावली

६४ 'दोहावली' का रचना काल कवि ने नहीं दिया है, और न उस की कोई ऐसी प्रति हमें प्राप्त है जो कवि के जीवन-काल की हो, किंतु उस में कुछ इस प्रकार की घटनाओं के उल्लेख आते हैं जिन की सहायता से उक्त उल्लेखयुक्त छंदों का रचना-काल जाना जा सकता है। इस प्रकार का सर्व प्रमुख उल्लेख रुद्र-बीसी विषयक है, जो 'दोहावली' के एक दोहे में स्पष्ट रूप से हुआ है।[1] किंतु, रुद्र-बीसी के समय के संबंध में विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि वह कवि के जीवन काल में दो बार उपस्थित होती है: पहले सं० १५६६ से १६१६ तक, और फिर सं० १६५६ से १६७६ तक।[2] प्रश्न यह है कि 'दोहावली' के दोहों में उल्लिखित संबंधी इन दो में से कौन सी है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें ज्ञात होगा कि 'दोहावली' के कुछ दोहे ऐसे हैं जिन में वृद्धावस्था और मृत्यु की एक धुँधली प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उत्कर्ष क्रम से इस प्रकार के तीन दोहे निम्नलिखित हैं :

रोग निकर तनु जरठपनु तुलसी संग कुलोग।
राम कृपा लै पालिए दीन पालिबे जोग॥
सकन घटइ पुनि इग घटइ घटइ सकल बल देह।
इते घटे घटिहै कहा जौ न घटै हरि नेह॥
नीच मीच लै जाइ जो राम रजायसु पाइ।
तो तुलसी तेरो भलो न तु अनभलो अघाइ॥

(क्रमशः दोहा० १७८, ५६३, २५५)

यह दोहे निश्चय ही कवि की जरा जर्जर अवस्था की रचनाएँ होंगी, फलतः रुद्र-बीसी संबंधी दोहा सं० १५६६ और १६१६ के बीच का नहीं हो सकता,

[1] दोहा० २४०

[2] देखिए ऊपर पृ० १५२

उसे हमें स० १६५६ से १६७६ के बीच का ही मानना होगा, और साथ ही यह स्वीकृत करना होगा कि 'दोहावली' में बहुत सी ऐसी रचना होगी जो कवि के जीवन के अंतिम अंश से संबंध रखती है।

६५. इस अनुमान की पुष्टि एक तथ्य से और होती है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इस ग्रंथ की प्रतियाँ बहुतेरी मिलती हैं, किंतु मुद्रित पाठ की तुलना में—तथा परस्पर भी जहाँ तक उन के पाठ का पता लगता है—उनमें आकार-प्रकार संबंधी विचारणीय विभिन्नता है। जान ऐसा पड़ता है कि कवि स्वतः इस रचना को अंतिम रूप नहीं दे पाया था, और उस के देहावसान के कारण संग्रह असंपादित रह गया था।

६६. डॉक्टर श्यामसुंदर दास ने 'मूल गोसाईं-चरित' के आधार पर लिखा था कि 'दोहावली' का संग्रह कवि ने स० १६४० में किया।[1] इस तिथि का स्पष्ट विरोध ऊपर उद्धृत दोहों से होता है। फिर, 'सतसई' को भी डॉक्टर साहब कवि की रचना मानते हैं, और उस का रचना काल स० १६४२ मानते हैं, किंतु यह लिखते हुए भी कि एक सौ से अधिक दोहे दोनों में एक ही हैं,[2] वे इस समस्या पर विचार नहीं करते कि वे सामान्य दोहे किस रचना से किस दूसरी रचना में लिए गए होंगे। मैं समझता हूँ कि 'दोहावली'-संग्रह के लिए स० १६४० की तिथि के पक्ष में 'मूल गोसाईं-चरित' से अधिक विश्वसनीय और कोई साक्ष्य उन के पास नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है, "मेरी राय में 'दोहावली' में स० १६१० से १६७१ तक के दोहे सम्मिलित हैं।"[3] पहली तिथि से हमें विशेष प्रयोजन नहीं है, यद्यपि वह भी ठीक नहीं जँचती, दूसरी तिथि के विपक्ष में ऊपर जो तिथि-निर्धारण का प्रयत्न किया गया है वही यथेष्ट होगा। डॉक्टर रामकुमार वर्मा का झुकाव मेरी ही ओर है।[4]

१० कवितावली और बाहुक

६७. 'बरवै' और 'दोहावली' की भाँति 'कवितावली' और 'बाहुक' भी संग्रह ग्रंथ हैं। 'कवितावली' और 'बाहुक' का रचना-काल कवि ने स्वतः

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास पृ० ९२

[2] वही, पृ० ९३

[3] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ३७१

[4] 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ०

महामारी के सबध में हम उन की वही तिथियाँ कदाचित् माननी चाहिएँ जो कवि की वृद्धावस्था में पडती हों। और इस प्रकार मीन व शनि के लिए स० १६६६-७१ तथा रुद्र बीसी के लिए स० १६५६-१६७६ और महामारी के लिए स० १६७३ ८० की तिथियाँ लेना ही अधिक उचित होगा। फलत यह स्पष्ट है कि 'कवितावली' म कवि की निरी अतिम अवस्था की भी रचनाएँ सग्रहीत हैं।

६६ सकलन के सबध म अनुमान का ही आश्रय लेना पडता है। जैसा ऊपर हम कह चुके हैं, इस ग्रथ की प्रतियाँ बहुतेरी मिलती हैं, किन्तु मुद्रित पाठ की तुलना में तथा परस्पर भी जहाँ तक उन के पाठ का पता लगता है आकार प्रकार सबधी विभिन्नता यथेष्ट है।[1] जान ऐसा पडता है कि पूर्व ल्लिखित दो रचनाओं की भाँति कवि इस रचना को भी अतिम रूप नहीं पाया था और सग्रह उस के देहावसान के कारण असपादित ही रह गया था

७० 'बाहुक' 'कवितावली' की प्रतियों म अधिकतर एक परिशिष्ट की भाँति मिलता है, और वैसे भी वह प्रकृत्या 'कवितावली' के अतिम अश से किसी प्रकार भिन्न नहीं है, इस लिए उस पर अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी प्रश्न यह हो सकता है कि 'बाहुक' को हम यदि स्वतन रचना माने तो उस का समय क्या होगा। आगे 'बाहुक' के सबध में वस्तुत एक बात को छोड कर कोई ऐसी बात नहा मिलती जिस से हम उस के सपादन-काल का अनुमान करने म सहायता प्राप्त होती हो, और वह बात है कि 'बरवै' 'दोहावली' और शेप 'कवितावली' की भाँति 'बाहुक' की प्रतियाँ भी यद्यपि सख्या में बहुत सी मिलती हैं पर ठीक ठीक एक सी एक ही आकार प्रकार की प्रतियाँ बहुत कम मिलती हैं।[2] और, 'बरवै', 'दोहावली' और 'कवितावली' के सबध में ऊपर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि व ऐसे सग्रह हैं जिनमें कवि की बहुत सी निरी अतिम रचनाएँ भी सग्रहीत होनी चाहिएँ, इस लिए कदाचित् उन्हीं की भाँति इस रचना के सबध म भी मानना पड़ेगा कि इस में कवि की कुछ लिपी अतिम रचनाएँ सग्रहीत हैं, जिनको कवि अतिम रूप न दे पाया था, और यही कारण है कि 'बाहुक' की प्रतियों के पाठ में भी परस्पर इतना अतर मिलता है।

[1] देखिए ऊपर पृ० २०७ [2] वही

७१. 'मूल गोसाईं-चरित' में दी हुई 'कवितावली' की तिथि पर विचार करते हुए डॉक्टर श्यामसुन्दर दास ने लिखा था : "यदि जिस क्रम से उत्तरकांड के अंत में कवित्तों का संग्रह है उस से 'कवितावली' के रचना-काल का कुछ पता चल सकता है तो वह यही की कवितावली का कथा-भाग और सीतावट-विषयक कवित्त १६२८ और १६३१ के बीच में बनाए गए हैं और शेषांश १६६६ के पीछे।"[1] किंतु, 'बाहुक' की जो तिथि 'मूल गोसाईं-चरित' में दी हुई है वह उन्होंने ठीक मान ली थी।[2] 'कवितावली' के कथा-भाग और सीतावट-संबंधी कवित्तों को हम सं० १६२८-३१ की रचना और 'बाहुक' के छंदों को सं० १६६६ की ही रचना क्यों मानें इस के लिए 'मूल गोसाईं-चरित' के साक्ष्य के अतिरिक्त कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता; शेष कथन के संबंध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पं० रामनरेश त्रिपाठी 'बाहुक' को 'कवितावली' का ही एक अंश मानते हुए लिखते हैं कि इस संग्रह के छंदों की रचना सं० १६१० से कम से कम १६७१ तक हुई, और यदि क्षेमकरी वाला छंद सर्वथा तुलसीदास के अंतिम दिन का माना जाय तो इस का निर्माण-काल सं० १६८० पहुँच जाता है।[3] त्रिपाठी जी जिन छंदों को सं० १६१० की रचना मानते हैं, उनमें कोई ऐसी बात नहीं है कि वे सं० १६१०—या उस के आस पास—के अतिरिक्त किसी और तिथि—कदाचित् बहुत बाद की भी तिथि—के न हो सकें; शेष के संबंध में जो कुछ ऊपर हम लोग देख चुके हैं उस से अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। डॉक्टर रामकुमार वर्मा का कहना है कि 'कवितावली' के कुछ कवित्तों का रचना-काल मीन के शनि के उल्लेख के कारण कम से कम सं० १६६९ ठहरता है, पर शेष के संबंध में वे कुछ नहीं कहते।[4] 'बाहुक' के संबंध में वे 'मूल गोसाईं-चरित' से उद्धरण देते हुए कहते हैं कि यदि 'बाहुक' में वर्णित बाहु पीड़ा से कवि की मृत्यु मानें तो यह उस की अंतिम रचना है, और इस का रचना-काल सं० १६८० है; और यदि उपर्युक्त घटना सही न भी हो तो यह रचना सं० १६६९ के लगभग की तो माननी ही

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ८३
[2] वही, पृ० १०२
[3] 'तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० ३६८
[4] 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ४४७

चाहिए।[1] 'कवितावली' के विषय में जहाँ तक उन का कथन है उस से किसी को मतभेद नहीं हो सकता, किंतु 'बाहुक' के संबंध में सं० १६६९ की तिथि के लिए 'मूल गोसाईं चरित' के अतिरिक्त कदाचित् और कोई आधार न होगा।

सिंहावलोकन

७२ रचना काल संबंधी उपर्युक्त विवेचन का सिंहावलोकन करने पर विदित होगा कि काल क्रम और अवस्था क्रम (जन्म सं० १५८९)[2] के अनुसार कवि की कृतियाँ स्वतः निर्मित चार समूहों में विभाजित की जा सकती हैं, तिथियाँ सभी विगत-संवत् वर्ष में दी जा रही हैं, और जैसा हम ऊपर देख चुके हैं 'रामाज्ञा प्रश्न', 'रामचरित मानस', 'सतसई' तथा 'पार्वती मंगल' के अतिरिक्त सभी ग्रंथों की तिथियाँ केवल अनुमान सिद्ध हैं :

अ प्रारंभिक	(सं० १६११–२५)		
(१) रामलला नहछू	सं० १६११	अवस्था लगभग	२२ वर्ष
(२) वैराग्य संदीपिनी	सं० १६१४	,, ,,	२५ वर्ष
(३) रामाज्ञा प्रश्न	सं० १६२१	,, ,,	३२ वर्ष
मध्यकालीन	(सं० १६२६–४५)		
(१) जानकी मंगल	सं० १६२७	,, ,,	३८ वर्ष
(२) रामचरित मानस	सं० १६३१	,, ,,	४२ वर्ष
(३) सतसई	सं० १६४१	,, ,,	५२ वर्ष
(४) पार्वती मंगल	सं० १६४३	,, ,,	५४ वर्ष
उत्तरकालीन	(सं० १६४६–६०)		
(१) गीतावली	सं० १६५३	,, ,,	६४ वर्ष
(२) विनय पत्रिका	सं० १६५३	,, ,,	६४ वर्ष
(३) कृष्ण-गीतावली	सं० १६५८	,, ,,	६९ वर्ष
अंतिम और अपूर्ण	(सं० १६६१ ८०)		
(१) बरवै			
(२) दोहावली			
(३) कवितावली (और बाहुक)			

[1] 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ४१४-१५

[2] देखिए ऊपर पृ० १११

१८— रामचरित मानस का रचना-क्रम

७३. 'रामचरित मानस' के विभिन्न अंशों के रचना-क्रम विषयक अनुसंधान की उपयोगिता बतलाने की आवश्यकता नहीं है। प्रस्तुत कदाचित् इस समस्या की वैज्ञानिक जाँच का प्रथम प्रयास है, इस लिए निःसन्देह इस में पूर्णता की आशा नहीं करनी चाहिए, फिर भी विश्वास है कि अध्ययन लाभदायक सिद्ध होगा। यह अध्ययन काव्य के विभिन्न भागों के विश्लेषण पर निर्भर है, और उक्त विश्लेषण में विषय-निर्वाह सबधी तीन साक्ष्यों की सहायता ली गई है: (१) छंद-योजना, (२) कथा-वस्तु का मूलाधार तथा (३) वक्ता-श्रोता-परंपरा। सहायता साधारणतः प्रथम और तृतीय की ही ली गई है; द्वितीय की सहायता वहीं ली गई है जहाँ उस से इस समस्या पर विशेष प्रकाश पड़ा है। ऐसे अध्ययनों में प्रायः एक साक्ष्य की सहायता और ली जाया करती है, वह है शैली की; किंतु शैली का साक्ष्य प्रायः बहुत निर्बल हुआ करता है, और कभी-कभी भ्रमात्मक भी ठहरता है, जब तक कि किन्हीं दो अवतरणों में इतनी खटकती हुई भिन्नता न हो जो सिद्ध कर सके कि उन का संबंध कवि के जीवन के विभिन्न समयों से है: प्रस्तुत काव्य के भिन्न-भिन्न अंशों में शैली की इस कोटि की विभिन्नता की आशा करना कम युक्ति-संगत होगा; अतः उपर्युक्त तीन विषय-निर्वाह संबंधी साक्ष्यों तक ही विश्लेषण को सीमित रक्खा गया है।

७४. विश्लेषण करने पर हमें ग्रंथ के विभिन्न अंशों के संबंध में जो परिस्थिति दिखाई पड़ती है वह निम्नलिखित है, पहली संख्याएँ जो कोष्ठकों में हैं वे विभिन्न अंशों की संकेत-संख्याएँ हैं; तदनंतर क्रमशः वर्णित विषय, अर्द्धाली-समूहों में आई हुई अर्द्धालियों की संख्याएँ, विषय-निर्वाह के मूलाधार, तथा वक्ता-श्रोता संबंधी उल्लेख हैं:

बालकांड:

अ. (१–१८): वंदना तथा प्रस्तावना; अर्द्धाली-समूह क्रमशः ८, १३, १२, ११, ६, ६, १२, १४, ११, १०, ६, १२, १०, ११, ११, ८, १०, १० के; अपूर्व; वक्ता कवि।

आ. (१६–२७): राम नाम-वंदना; अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का; अपूर्व; वक्ता कवि।

इ (२८ ३५) शेष वंदना तथा प्रस्तावना, अर्द्धाली समूह क्रमश ११, ८, ८, १४, १४, ८, ८, १३ के अपूर्व, वक्ता कवि।

ई (३६ ४३) रामचरित मानस रूपक अर्द्धाली-समूह क्रमश ६, १५, ६, १३, ८, ८, ८, ८ के, अपूर्व, वक्ता कवि।

उ (४४–४७) याज्ञवल्क्य भरद्वाज सवाद की प्रस्तावना, अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का, आधार अज्ञात, वक्ता याज्ञवल्क्य,[1] जो उमा शंभु सवाद सुनाने का सकल्प करते हैं

> कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संवाद।
> भयउ समय जेहि हेतु जेहि सुनि मुनि मिटिहि बिषाद॥
>
> (मानस, बाल० ४७)

किंतु यह सवाद यहाँ नहीं, वरन् बाल० १०४ म उठाया जाता है।

ऊ (४८ १०३) शिव-चरित अर्द्धाली समूह एक के अतिरिक्त[2] प्रत्येक ८ का आधार 'शिवपुराण', वक्ता कवि शिव वक्ता नहीं हैं और न याज्ञवल्क्य ही है, यह स्पष्ट है शिव के लिए उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग इतने न[?] प्रसग में एक बार भी नहीं होता, और न याज्ञवल्क्य और भारद्वाज ही हम दिखाई पड़ते हैं, दिखाई पड़ता है केवल कवि, जो कहता है

> देखत रूपु सकल सुर मोहे। बरनै छबि अस जग कबि को है।
>
> (मानस, बाल० १००)
>
> सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मदमति तुलसी कहा।
>
> (मानस, बाल० १००)
>
> चरित सिंधु गिरिजारमन बेद न पावहिं पारु।
> बरनै तुलसीदास किमि अति मति मद गँवारु॥
>
> (मानस, बा० १०३)

ए (१०४ १०६) उमा शभु सवाद की भूमिका अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का, अपूर्व, वक्ता याज्ञवल्क्य।[3]

[1] मानस, बाल० ४५, ४७ [2] वही, ७८

[3] मानस, बाल० १०४,

ए (१०७-१२२) मूल कथा की भूमिका अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का, आधार 'अध्यात्म रामायण', वक्ता शिव, उमा शम्भु-संवाद का प्रारंभ। बीच में दो सोरठों में आने वाले काग-गरुड संवाद की भूमिका भी रख दी गई है

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित मानस विमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़॥
सो संवाद उदार जेहि बिधि भा आगें कहब।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ॥
(मानस बाल० १२०)

किंतु संवाद के रूप में काग गरुड संवाद बाल और अयोध्या कांडों में कहीं नहीं आता।

ओ (१२३-१२४) अवतार हेतु अर्द्धाली समूह क्रमशः ७, ८, के आधार अज्ञात, वक्ता पहले शिव नहीं, याज्ञवल्क्य,[1] शिव का तो नाम से प्रसंग आता है

संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा।
परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी।
(मानस, बाल० १२३)

तदनंतर शिव,[2] तदनंतर पुनः याज्ञवल्क्य।[3]

औ (१२५-१३६). नारद-मोह, अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का आधार 'शिवपुराण', वक्ता शिव नहीं, याज्ञवल्क्य [4]

संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥
(मानस बाल० १२७)

अं (१४०-४१) प्रसंग पूर्वार्ध, अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का, अपूर्व पहले वक्ता शिव,[5] तदनंतर याज्ञवल्क्य।[6] शिव चरित वाला उपर्युक्त अंश इस के पूर्व की रचना ज्ञात होता है, क्यों कि शिव उक्त कथा

[1] मानस, बाल० १२४
[2] वही १३५, १३९
[3] वही, सोरठा
[4] वही, १२७, १२८, १३३, १३४,
[5] वही १४०, १४१
[6] वही, १४१

की एक घटना का उल्लेख यहाँ करते हैं :

जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बंधु समेत धरे मुनि बेषा।
जासु चरित अवलोकि भवानी। सती सरीर रहिहु बौरानी।

(मानस, बाल० १४१)

ञ. (१४२–१५२ अंशतः) : मनु सतरूपा-चरित, प्रत्येक अर्द्धाली-समूह ८ का, आधार अज्ञात; वक्ता शिव नहीं हैं, वह तो प्रसंग में नाम से आते हैं :

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा।

(मानस, बाल० १४५)

और न याज्ञवल्क्य ही, फलतः वक्ता कवि।

क. (१५२ शेष–१५३ अंशतः) : प्रसंग-पूर्त्यर्थ, आधार अज्ञात; वक्ता याज्ञवल्क्य।

ख. (१५३ शेष–१७५ अंशतः) : प्रतापभानु-चरित : अर्द्धाली समूह प्रत्येक ८ का; आधार अज्ञात; वक्ता कवि :

तुलसी जसि भवितव्यता तैसी मिलइ सहाइ।
आपुनु आवहि ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥
तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि॥

(क्रमशः मानस, बाल० १५९, १६१)

ग. (१७५ शेष–१७६) : रावणावतार, अर्द्धाली समूह ८ का; आधार अज्ञात; वक्ता याज्ञवल्क्य।

घ (१७७–२००) : रावण चरित, रामावतार, शिशुलीला, अर्द्धाली-समूह तीन के अतिरिक्त[1] प्रत्येक ८ का, आधार 'अध्यात्म रामायण' तथा अन्य कुछ ग्रंथ, वक्ता शिव।[2]

ङ (२०१–३६१) : राम-चरित (शेष बालकांड), अर्द्धाली समूह नौ के अतिरिक्त[3] प्रत्येक ८ का, आधार 'अध्यात्म रामायण' तथा अन्य कुछ ग्रंथ; वक्ता कवि :

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल ।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जजाल ॥

(मानस, बाल० २११)

सीय बरनि तेइ उपमा देई । कुकवि कहाइ अजसु को लेई ।

(मानस, बाल० २४७)

एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल ।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल ॥

(मानस, बाल० २४७)

जेहिं मंडप दुलहिनि बैदेही । सो बरनै असि मति कबि केही ।

(मानस, बाल० २८९)

उपमा न कोउ कह दासतुलसी कतहुँ कबि कोबिद कहैं ।

(मानस, बाल० ३११)

सिय राम अवलोकनि परसपर प्रेम काहु न लखि परै ।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै ॥

(मानस, बाल० ३२३)

कबिकुल जीवनु पावन जानी । रामसीय जसु मंगल खानी ।
तेहि ते मैं कछु कहा बखानी । करन पुनीत हेतु निज बानी ।
निज गिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो ।
रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कबि कौनें लह्यो ॥

(मानस, बाल० ३६१)

शिव-उमा-संवाद अथवा याज्ञवल्क्य भारद्वाज-संवाद का समावेश कहीं नहीं होता । शिव का उल्लेख प्रसगों में नाम से होता है, और कहीं भी उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग उन के लिए नहीं होता ।

अयोध्याकांड

सर्वत्र एकरूपता होने के कारण इस कांड को प्रसंगों के अनुसार देखने की आवश्यकता नहीं है, अर्द्धाली-समूह नौ स्थानों के अतिरिक्त[1] सर्वत्र ८ के हैं, और एक स्थान के अतिरिक्त[2] सर्वत्र प्रत्येक २५ दोहे

[1] मानस, अयोध्या० ५, ८, २०, २९, ६४, १७३, १९५, २०२, २१८

[2] वही, १२६

के बाद हरिगीतिका छंद आता है; आधार 'अध्यात्म रामायण' तथा अन्य ग्रंथ; वक्ता न शिव हैं, जिन का उल्लेख सभी प्रसंगों में नाम से ही हुआ है,[१] और न याज्ञवल्क्य, क्यों कि जहाँ कहीं भी भारद्वाज-मिलन का प्रसंग आता है उनके लिए मध्यम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता,[२] वक्ता स्वतः कवि है :

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अहमम मलिन जनेषु॥
(मानस, अयोध्या० २२५)

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी।
परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई।
कहहु सु पेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई।
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा।
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को।
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती।
(मानस, अयोध्या० २४१)

तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कबि कहै मूक जिमि स्वादू।
(मानस, अयोध्या० २४५)

महिमा तासु कहै किमि तुलसी। भगति सुभायँ सुमति हिय हुलसी।
आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कबि कुल कानि मानि सकुचानी।
(मानस, अयोध्या० ३०३)

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघुमति चापलता कबि छमहूँ।
(मानस, अयोध्या० ३०४)

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥
(मानस, अयोध्या० ३०६)

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहि।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भवरस बिरति॥
(मानस, अयोध्या० ३२६)

[१] वही, १, ४४, ८५, १०४, २०६, १५७, १६८, २२६, २४१, २७२, २८५
[२] वही, १०६–१०९, २०६–२१६, २८५

यह काड वस्तुत जितना सुगठित है उतना कोई अन्य काड ही नहीं, कोई अन्य अश भी नहीं।

अरण्यकाड :

अ रामकथा, अर्द्धाली-समूह क्रमश ८, १४, ८, १६, १०, ८, ८, ८, २४, २७, १३, १८, ८, ८, १२, २०, १३, १४, ११, १२, ८, ८, ८, ८, १७, १६, २६, १८, १०, २, ८, १०, ८, १३, १०, १२, ८, ६, ११, ८, १०, ८, ६, ६ के, आधार अधिकतर 'अध्यात्म रामायण', प्रमुख वक्ता शिव हैं,[१] यद्यपि काग भी आ जाता है[२], किंतु जिन अर्द्धाली समूहों में वह आता है वह ८ से अधिक अर्द्धालियों वाले हैं—जिनके विषय में अन्यों की अपेक्षा इस लिए इस बात की सभावना अधिक है कि काग का समावेश पीछे से कर दिया गया हो। याज्ञवल्क्य कहीं वक्ता नहीं हैं, और न कवि ही है।

किष्किधाकाड :

अ. रामकथा, इस काड की भी परिस्थिति लगभग वही है जो उपर्युक्त की है। अर्द्धाली-समूह क्रमशः १०, ६, ८, ८, ८, १४, २६, ८, १०, ५, १०, १०, ८, ८, १२, १०, ८, ८, ८, ६, ८, ८, १३, ८, ८, १३, ११, १२, ८, १२ के, आधार अधिकतर 'अध्यात्म-रामायण', शिव ही प्रमुख वक्ता हैं,[३] काग का वक्ता रूप मे उल्लेख एक बार अवश्य होता है किंतु वह २६ के अर्द्धाली-समूह में होता है,[४] जिसके विषय मे अन्यों की अपेक्षा इस बात की इसीलिए सँभावना अधिक है कि कागविषयक उल्लेख पीछे से रक्खा गया हो। याज्ञवल्क्य या तुलसीदास वक्ता रूप में कहीं नहीं दिखाई पड़ते।

सुंदरकाड :

अ. रामकथा, इस काड में उपर्युक्त दो काडों की अपेक्षा विषमता कम है अर्द्धाली-समूह क्रमश ६, १२, ११, ८, ८, ८, ८, ८, ६, ६, ८, १२,

[१] मानस, अरण्य० १, २, ३, १०, ३३, ३९
[२] वही, २, १७ ८
[३] वही किष्किधा० २, ११, १२, १८, २२, २९
[४] वही, ७

११, १०, १०, ६, ६, ८, ६, ८, ६, १०, ८, ६, ६, ८, ८, ८, ८, ८, ६, ८, ६, ८, १०, १०, ६, ८, ८, ८, ६, ८, ६, ८, ८, ८, ८, ८, १०, ८, ८, ८, ८, ८, ८, १०, १२, ८, ८, ८, के, शिव ही प्रमुख रूप से वक्ता हैं,[1] यद्यपि काग एक बार अवश्य आता है;[2] कथा के आधार तो कई हैं, किंतु उन का संबंध अर्द्धाली-समूह या वक्ता के साथ कोई नहीं दिखाई पड़ता, इस लिए उन का उल्लेख अनावश्यक होगा।

लंकाकांड

अ रामकथा, यह भी उपर्युक्त कांड के समान ही है, अर्द्धाली-समूह क्रमशः १०, ८, ६, ६, १०, ६, ८, ६, १०, ६, ८, १०, ८, ८, ८, ८, ८, १०, ८, ८, १०, ८, १०, १६, ८, ८, ८, ८, १०, ८, ८, १०, ६, १४, १३, १३, ८, १०, १०, १०, ८, १०, ८, ८, ८, ११, ८, ८, १०, ८, ८, ८, ८, ८, ८, ८, ८, ८, ८, ८, १८, १२, ८, ६, १०, १०, ८, ८, ८, १२, १२, ११, १३, १०, १४, १६, ८, ६, १३, ११, ८, ८, ८, ८, ८, १०, १०, १०, ८, १०, ८, १४, ८, ८, ८, ८, ८, १५, १३, ११, १०, ११, १३, ८, ८, ८, १४, ८, १२, ८, १०, ८, ८, १०, ११, ६, १२, के, प्रमुख वक्ता शिव हैं[3], काग नहीं है, क्यों कि गरुड़ का उल्लेख प्रसंगों में नाम से अथवा अन्य पुरुष में ही होता है:

इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो। राम समीप सपदि सो आयो।
खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ।
माया बिगत भए सब हरषे बानर जूथ॥
(मानस, लंका० ७४)

कहीं-कहीं पर वक्ता शिव भी नहीं हैं, क्यों कि शिव का उल्लेख उन प्रसंगों में नाम से ही होता है:

[1] मानस, सुंदर १, २०, २६, ३३, ३४, ४१, ४२, ५७
[2] वही, ५८
[3] वही, लंका ३, ३५, ४०, ४३, ४५, ५५, ६१, ६६, ७०, ७१, ७३, ७४, ८१, १०२, ११२, ११७

रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी । जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी ।
(मानस, लंका० ९६)

अज महेस नारद सनकादी । जे मुनिवर परमारथबादी ।
(मानस, लंका० १०५)

जय कोसलेस महेस बंदित चरन रज अति निर्मली ।
(मानस, लंका० १०९)

देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयउ संभु सुजान ।
(मानस, लंका० ११४)

पुलकित तन गदगद गिरौं बिनय करत त्रिपुरारि ।
(मानस, लंका० ११४)

करि बिनती जब संभु सिधाए । तब प्रभु निकट बिभीषनु आए ।
(मानस, लंका० ११६)

काग तीन स्थानों पर वक्ता के रूप में अवश्य आता है, किंतु क्रमशः १४, ११, और १० अर्द्धालियों के समूहों में आता है,[1] फलतः इस बात की संभावना यथेष्ट है कि ये उल्लेख पीछे समाविष्ट किए गए हों। कथा के आधारों का अध्ययन अर्द्धाली समूह या वक्ता के साथ कोई संबंध रखता हुआ नहीं दिखाई पड़ता, इस लिए उन का उल्लेख अनावश्यक होगा।

उत्तरकांड :

अ. (१–२१ अंशतः) : राम-चरित; अर्द्धाली-समूह क्रमशः ८, १६, १०, ८, ८, ६, ८, ६, ६, ८, ८, १०, ८, ८, १०, ८, ८, ८, १०, ८, ८, के; आधार 'अध्यात्म रामायण'; शिव ही प्रमुख वक्ता है[2]; काग का उल्लेख यद्यपि पाँच स्थलों पर होता है,[3] किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वे उल्लेख आते हैं, साधारणतः दो दोहों के स्थान पर तीन दोहे चौपाई के अंत में देखे जाते हैं, जिस से संभावना यह ज्ञात होती है कि सभी पीछे ही यह मिलाए गए।

आ. *(२१ शेष–२२ अंशतः) : राम-राज्य वर्णन; अपूर्ण; वक्ता काग।*

[1] मानस, लंका० ३४, ७२, ११४

[2] वही, उत्तर० ५, ६, ९, १०

[3] वही, ११, १२, १३, १५, १९

इ. (२२ शेष-५१) : शेष राम-चरित; अर्द्धाली-समूह सात के अतिरिक्त[1] प्रत्येक ८ का; आधार अधिकांश अज्ञात; वक्ता शिव[2] तथा काग।[3]

ई. (५२ ६३) : गरुड़-मोह तथा भुशुंडि-मोह; अर्द्धाली-समूह १० के अतिरिक्त[4] प्रत्येक ८ का; आधार भुशुंडि रामायण' ?; वक्ता सम्यक् रूप से शिव तथा काग।

उ. (६४-१२५) : शेष भुशुंडि-चरित तथा अध्यात्म-निरूपण; अर्द्धाली-समूह क्रमशः ८, ८, १०, ८, ८, ८, १०, ८, ८, ८, १६, ८, १६, १६, १६, १६, १६, १६, १६, १६, ८, १६, १६, १०, १६, ३७, १६, ८, ८, १०, के; आधार 'भुशुंडि रामायण' ?; वक्ता सम्यक् रूप से शिव तथा काग।

ऊ. (१२६-१२६) : शिव-पार्वती संवाद की समाप्ति; अर्द्धाली-समूह प्रत्येक ८ का; अपूर्व; वक्ता शिव।[5]

ए. (१३०) रचना की समाप्ति; अर्द्धाली-समूह ८ का; अपूर्व; वक्ता कवि।

७५. उपर्युक्त विश्लेषण को ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट ज्ञात होगा कि ग्रंथ के कुछ अंश ऐसे हैं जिन में परस्पर घनिष्ट संबंध है, और वे अन्य अंशों से इतनी भिन्नता रखते हैं कि जान पड़ता है कि काव्य का जो स्वरूप अब हमारे सामने है वह कम से कम तीन विभिन्न प्रयासों का परिणाम है। अतः प्रस्तुत लेखक ने "पाडुलिपि" शब्द का प्रयोग नीचे ऐसे ही अंशों की पारस्परिक घनिष्ठता तथा अन्य अंशों से विभिन्नता प्रदर्शित करने के लिए किया है, और इस प्रकार तीन पाडुलिपियों को दृष्टि में रखते हुए उसने ग्रंथ के रचना-क्रम पर विचार किया है।

७६. मालूम होता है कि काव्य की प्रथम पांडुलिपि में बालकांड का उत्तरार्द्ध तथा संपूर्ण अयोध्याकांड मात्र था। जब हम बालकांड २०१-३१६ तथा संपूर्ण अयोध्याकांड का भली भाँति निरीक्षण करते हैं तो हमें छंद-योजना तथा श्रोता-वक्ता-परंपरा में एक विशेष साम्य दिखाई पड़ता है। काव्य के इस

[1] मानस, उत्तर० २३, २४, ३०, ३५, ५०, ५१, ५२,

[2] वही, २२, ४७, ५०, ५१

[3] वही, २४, ३०

[4] वही, ५२, ५५, ५६, ५७, ७३, ७५, ७७, ८६

[5] वही, १२६, १२७, १२९

भाग की प्रत्येक चौपाई[1] एक उपेक्षणीय अपवाद के साथ आठ अर्द्धालियों की है, और कवि स्वय वक्ता है। ये दोनों विशेषताएँ साथ साथ बालकाड के थोडे और स्थलों को छोड कर अन्यत्र नहीं मिलतीं—और इन पर हम अभी विचार करेंगे। इससे यह पता चलता है कि बालकाड २०१ ३६१ और अयोध्याकाड कदाचित् एक ही समय और एक ही ढग से लिखे गए होंगे। परतु रचना काल के दृष्टि-कोण से काव्य के इस अश को अन्य अशों के पहले हम क्यों रक्खें? इसका उत्तर, उस समय कवि के मस्तिष्क में कथा कहने के लिए किसी पौराणिक वक्ता को लाने के विचार की अनुपस्थिति मे निहित है। फिर भी, बालकाड २०१ से कथारभ बहुत भद्दा होगा. उक्त चौपाई का सबध केवल राम के शिशु-काल की एक घटना से है, जिसमें माता बालक को सोता हुआ छोड जाती है और थोडी ही देर बाद उसे कुल के इष्टदेव के लिए तैयार पकवान को खाता हुआ पाती है। अतः काव्य की प्रथम पाडुलिपि में कवि ने कथा का जिस स्थल से आरभ किया है उसकी खोज काव्य के किंचित् और पूर्व के अशों में करनी होगी। 'अध्यात्म रामायण' के आदि की भाँति, जो काव्य के इस अश का प्रधान आधार है, भूमिका रूप में अवतार का कारण बतलाने के पश्चात् रामजन्म सबधी चौपाइयों से कदाचित् एक सामान्यत. सुदर आरभ होगा। काव्यारभ इसलिए अनुमानत. हम बाल काड १८४ के आसपास निर्धारित करेंगे, जहाँ पृथ्वी राक्षसों—विशेषत. रावण—के अत्याचारों से त्रस्त हो जाने के कारण गाय का रूप धारण कर ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं से सहायता की याचना करती है, और जिसके बाद सभी देवता पृथ्वी को लेकर परमेश्वर से दु ख निवारणार्थ प्रार्थना करते हैं। काव्य का यह अंश भी, अर्थात् बालकाड १८४ २००, दो उपेक्षणीय अपवादों को छोड़कर आठ अर्द्धालियों वाली चौपाइयों में लिखा गया है। इस अश में कुछ स्थलों पर शिव वक्ता के रूप में अवश्य आते हैं, परतु यह बाधा केवल तभी तक है जब तक हम निश्चित रूप से यह मानते हैं कि काव्य का यह अश इस के बाद किसी भी समय पीछे आने वाले अशों के साथ वक्ता-श्रोता परपरा-सबधी एकरूपता लाने के लिए दुहराया नहीं गया, अन्यथा यह बाधा

[1] इन पक्तियों में "चौपाई" का अर्थ उस अर्द्धाली समूह से है जिस के अंत में दोहा या सोरठा या कोई और छद दे कर क्रम सख्या दी होती है

महत्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः जैसा हम अभी देखेंगे, ज्ञात यह होता है कि जब कवि ने द्वितीय पांडुलिपि में शिव को वक्ता के रूप में स्थान देने के कारण एकरूपता लाने के लिए काव्य के इस अंश को दुहराया, या तो उसने इन चौपाइयों को नया-नया मिलाया, अथवा उस ने प्रथम पांडुलिपि की कुछ चौपाइयों के स्थान पर यह चौपाइयाँ नई रख दीं। फलतः कदाचित् प्रथम पांडुलिपि में लगभग बालकांड १८४ से अयोध्याकांड के अंत तक की चौपाइयाँ रही होंगी, जो कुल मिला कर ५०४ होती हैं। यदि हम इन में मान लीजिए दो[1] और जोड़ दें, जो इस पांडुलिपि की प्रस्तावना की रही होंगी, तब चौपाइयों की कुल संख्या ५०६ पहुँचती है।

७७ इस अनुमान की पुष्टि कदाचित् कवि द्वारा किए गए निम्नलिखित उल्लेख से भी होती है, जिस में उस ने ग्रंथ के अंत में छंद-संख्या देने का प्रयत्न किया है :

> रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
> कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं।
> सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरैं।
> दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्री रघुबर हरैं।
>
> (मानस, उत्तर० १३०)

'सत' के संबंध में साधारणतः निम्नांकित धारणाएँ हैं : (१) इस का अर्थ है "७ या ५",[2] (२) इस का अर्थ है "५००१" जो इस विषय की कवि-प्रथा के अनुसार १०० तथा ५ की संख्याओं को उल्टा पढ़ कर के निर्धारित किया जाता है,[3] और (३) इस का अर्थ है "अच्छे पंच"।[4] प्रथम के विषय में यह कहा जा सकता है कि ७ या ५, नौ हजार पंक्तियों के काव्य का बहुत छोटा अंश मालूम होता है। इस के अतिरिक्त "सत" का अर्थ ७ कभी नहीं होता। दूसरे के विषय में, इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि किसी गणना-विधि से योग ५००१ नहीं आता। और तृतीय अर्थात् "अच्छेपंच" का अर्थ प्रसंग से नहीं सिद्ध होता।

[1] उदाहरणार्थ : मानस, बाल० ३४, पूर्वार्द्ध तथा ३५ उत्तरार्द्ध (देखिए ऊपर पृ० २२८–३०)

[2] ग्राउस 'दि रामायन आव् तुलसी-दास', पृ० ६३५

[3] रामदास गौड़, 'रामचरित मानस की भूमिका', द्वितीय खंड, पृ० १२०

[4] वही।

एक चौथा अर्थ भी सभव है : "सत पच" अथवा "पच सत" का साधारण अर्थ ५०० होता है; क्या यह सभव नहीं कि प्रस्तुत छद काव्य की प्रथम पाडुलिपि के आकार को सूचित करने के लिए लिखा गया रहा हो और उस का अतिम छंद रहा हो ? कम से कम जिस आकार पर हम लोग पहुँचे हैं वह इस से ६ ही सख्या आगे है।

७८. काव्य की द्वितीय पाडुलिपि में ऐसा जान पडता है कि बालकाड की प्रथम पैंतीस चौपाइयों को छोड कर लगभग शेष सभी ग्रथ था। परतु यह सोचना कदाचित् भ्राति होगी कि यह द्वितीय पाडुलिपि एक ही बार में निर्मित हुई होगी। मालूम होता है यह छः बार में निम्नाकित ढग से लिखी गई :

(१) यह अंश प्रस्तुत पाडुलिपि के अन्य अशों से पूर्व के लिखे हुए मालूम होते हैं : बालकाड ३६-४३, ४८-१०३; १४२-१५२ अशतः; १५३ अशतः—१७५ अंशतः। इन में और प्रथम पाडुलिपि की चौपाइयों में बड़ी समानता है। एक को छोड कर इन अशों की सभी चौपाइयों में आठ-आठ अर्द्धालियाँ हैं, और इन सभी में कवि स्वय वक्ता है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यह प्रथम पांडुलिपि के थोड़े ही समय उपरात लिखे गए होंगे। इस के अतिरिक्त एक दूसरी बात भी सभव है। चूँकि इन चारो अशों की चौपाइयों मे चार ऐसे स्वतत्र विषय हैं—मानस-रूपक, शिव चरित, मनु-सतरूपा चरित और *प्रतापभानु-चरित—जो मूल कथा के अनिवार्य अंग* नहीं हैं, यह प्रायः प्रथम पाडुलिपि के कुछ ही आगे-पीछे लिखे गए होंगे और प्रथम पाडुलिपि के बाद ही मूल कथा में सम्मिलित कर लिए गए होंगे।

(२) दूसरी बार मे बालकाड के वह अश लिखे गए होंगे जिन में याज्ञवल्क्य वक्ता के रूप में आते हैं। यह सभी चौपाइयाँ जिन मे याज्ञवल्क्य का उल्लेख है, आठ-आठ अर्द्धालियों की हैं। चूँ कि इन अशों के आगे पुनः याज्ञवल्क्य का उल्लेख वक्ता के रूप मे नहीं होता, मालूम होता है कि यह अश बाद मे आने वाले अशों मे पहले लिखे गए। याज्ञवल्क्य-वक्ता वाले प्रकरण क्यों शिव-वक्ता वाले प्रकरणों के पूर्व आते हैं, इस सबंध मे नारद मोह प्रकरण को हम ले सकते हैं[1]: उस मे याज्ञवल्क्य-भरद्वाज वक्ता-श्रोता हैं, किंतु अनेक उल्लेख इस प्रकार के आते हैं जिन से शिव-उमा वक्ता-श्रोता उस प्रकरण में

[1] देखिए ऊपर पृ० २००

नहीं हैं यह स्पष्ट ध्वनित होता है।

(३) मालूम होता है कि तीसरी बार मे काव्य के निम्नाकित अश लिखे गए होंगे : बालकाड १०७–१२२, १४०–१४१, १७७–१८३। इन में से केवल प्रथम अश के दो सोरठे इस पाडुलिपि के तैयार हो जाने के बाद के मिलाए हुए मालूम होते हैं, क्यो कि इन में कहा गया है कि शिव ने यह कथा काग से सुनी थी, जब कि बालकाड मे अन्यत्र कहीं भी काग स्वतः वक्ता के रूप मे नहीं आता है। इन अशों में एक को छोड़ कर सभी चौपाइयाँ आठ अर्द्धालियों की हैं, और उन मे शिव वक्ता के रूप में अत तक हैं। अतः मालूम होता है कि यह अश आने वाले अशों के पहले और पूर्वोक्त अशों के बाद में लिखे गए होंगे।

(४) चौथी बार में अरण्यकाड तथा किष्किधाकाड लिखे हुए मालूम होते हैं। यद्यपि इन काडों में भी शिव वक्ता के रूप में हैं, तो भी चौपाइयों में अर्द्धालियों की सख्या इतनी बेढग है कि वे अवश्य ही ऊपर वालों से भिन्न समय पर लिखी गई होंगी।

(५) सुदरकाड, लकाकाड, और उत्तरकाड १–२१ अंशतः, पाँचवीं बार मे लिखे गए जान पडते हैं, अर्द्धाली समूहों के सबध में इस अश में अन्य अशों की अपेक्षा कम विभिन्नता है, यद्यपि काव्य के इस अश मे भी शिव वक्ता के रूप मे विद्यमान हैं।

(६) इस पाडुलिपि का अतिम अश उत्तरकाड २१ शेषाश-१३० मालूम होता है। पूर्वोक्त अशों की भाँति ही इस अंश की चौपाइयों में भी विभिन्नता है। काव्य के इस अश का मूलाधार 'अध्यात्म रामायण' न हो कर कदाचित् 'भुशुंडि रामायण' है, और कदाचित् इसी लिए कवि ने इस अश में भुशुंडि को प्रमुख वक्ता के रूप से रखना उचित समझा, परतु चूँ कि अभी तक उस ने कहीं भी उन को वक्ता नहीं बनाया था, उस ने आवश्यक समझा कि वक्ता रूप में उन की चर्चा एकाध बार प्रत्येक काड मे कर दी जाए। सभवतः यही कारण है कि इस अश के अतिरिक्त जहाँ कहीं भुशुंडि का उल्लेख वक्ता के रूप में है वहीं वह उल्लेख या तो दोहे मे है या सोरठे में, अथवा ऐसी चौपाइयों में है जिन में आठ से अधिक अर्द्धालियाँ हैं। कवि प्रथम पाडुलिपि के अंशों में इन्हें वक्ता के रूप में कदाचित् इस कारण न ला सका कि कुछ को छोड़ कर सभी चौपाइयाँ आठ चरणों की थीं। फिर भी उस ने बालकाड में उप-

युक्त दा सारठे, जिन म भुशुंडि को मूल वक्ता कहा गया है, इस ध्यान से ही कदाचित् रख दिए कि जिस से आगे बढने पर भुशुंडि-गरुड-संवाद पाठक क सामने कहीं आकस्मिक रूप में न आ जावे।

७९. अब हम अत की हरिगीतिका पर फिर विचार करना और देखना है कि क्या वह अब भी ग्रथ का आकार सूचित करने क लिए रक्खी जा सकती है। "सत पच" के शाब्दिक अर्थ १०० और ५ होते हैं, यदि दोनों को मिला कर लिखा जावे तो सख्या १००५ हाती है। क्या यह सभव नहीं है कि १००५ सूचित करने के लिए यह हरिगीतिका पड़ी रहने दी गई हो, यद्यपि प्रथा अकों को उलटे क्रम म पढने की है? द्वितीय पाडुलिपि के समय ग्रथ का आकार १०४१ चौपाइयां के आस पास रहा होगा[1], अत यह कदाचित् असभव भी नहीं कहा जा सकता।

८०. अब हमारे सामने बालकाड १–३५ है, जिस की प्रत्येक चौपाई में १६ २७ छोड़ कर अर्द्धाली सख्या विभिन्न है। इन में से केवल थोडी सी चौपाइयों को छोड़ कर, जो कि प्रथम और द्वितीय पाडुलिपियों की प्रस्तावना में रही होंगी, ये केवल तभी जोडी जा सकती थीं जब कि द्वितीय पाडुलिपि तैयार होती, क्यों कि ये केवल एक बड़े काव्य की प्रस्तावना के लिए ही उपयुक्त थीं। इस विषय में सदेह अवश्य किया जा सकता था कि ये काव्य की द्वितीय पाडुलिपि में ही रक्खी गई होंगी या किसी बाद की पाडुलिपि में। किन्तु एक बात से इस समस्या पर निश्चयात्मक प्रकाश पड़ता है। काव्य के इस अश म कवि कहता है कि पहले पहल शिव ने इस चरित की रचना की, और इसे उन्हों ने उमा को सुनाया, और फिर उन्हीं शिव ने इसे भुशुंडि को दिया

सभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।
सोइ सिव काग भुसुडिहि दीन्हा। राम रामभगत अधिकारी चीन्हा।

(मानस, बा० ३०)

परतु द्वितीय पाडुलिपि में एक स्थान पर भुशुडि कहते हैं कि उन्हें यह कथा लोमस से मिली थी ,

[1] बाल० में प्रथम पैंतीस चौपाइयाँ न लेने पर ३२६ अयोध्या० में ३२६, अरण्य० में ४७, किष्किधा० में ३१, सुन्दर० में ६० लका० में १२१ और उत्तर० में १३० कुल १०४१

नहीं हैं यह स्पष्ट ध्वनित होता है।

(३) मालूम होता है कि तीसरी वार मे काव्य के निम्नांकित अंश लिखे गए होंगे : वालकांड १०७–१२२; १४०–१४'; १७७–१८३। इन में से केवल प्रथम अंश के दो सोरठे इस पांडुलिपि के तैयार हो जाने के बाद के मिलाए हुए मालूम होते हैं, क्यों कि इन में कहा गया है कि शिव ने यह कथा काग से सुनी थी, जब कि वालकांड मे अन्यत्र कहीं भी काग स्वतः वक्ता के रूप में नहीं आता है। इन अंशों में एक को छोड़ कर सभी चौपाइयाँ आठ अर्द्धालियों की हैं, और उन मे शिव वक्ता के रूप मे अंत तक हैं। अतः मालूम होता है कि यह अंश आने वाले अंशों के पहले और पूर्वोक्त अंशों के बाद में लिखे गए होंगे।

(४) चौथी वार मे अरण्यकांड तथा किष्किंधाकांड लिखे हुए मालूम होते हैं। यद्यपि इन कांडों मे भी शिव वक्ता के रूप में हैं, तो भी चौपाइयों में अर्द्धालियों की संख्या इतनी बेढंग है कि वे अवश्य ही ऊपर वालों से भिन्न समय पर लिखी गई होंगी।

(५) सुंदरकांड, लंकाकांड, और उत्तरकांड १–२१ अंशतः, पाँचवीं वार में लिखे गए जान पड़ते हैं; अर्द्धाली-समूहों के संबंध में इस अंश में अन्य अंशों की अपेक्षा कम विभिन्नता है, यद्यपि काव्य के इस अंश में भी शिव वक्ता के रूप में विद्यमान हैं।

(६) इस पांडुलिपि का अंतिम अंश उत्तरकांड २१ शेषांश-१३० मालूम होता है। पूर्वोक्त अंशों की भाँति ही इस अंश की चौपाइयों में भी विभिन्नता है। काव्य के इस अंश का मूलाधार 'अध्यात्म रामायण' न हो कर कदाचित् 'भुशुंडि रामायण' है, और कदाचित् इसी लिए कवि ने इस अंश में भुशुंडि को प्रमुख वक्ता के रूप से रखना उचित समझा; परंतु चूँ कि अभी तक उस ने कहीं भी उन को वक्ता नहीं बनाया था, उस ने आवश्यक समझा कि वक्ता रूप में उन की चर्चा एकाध वार प्रत्येक कांड में कर दी जाए। संभवतः यही कारण है कि इस अंश के अतिरिक्त जहाँ कहीं भुशुंडि का उल्लेख वक्ता के रूप में है वहीं वह उल्लेख या तो दोहे मे है या सोरठे में, अथवा ऐसी चौपाइयों में हैं जिन में आठ से अधिक अर्द्धालियाँ हैं। कवि प्रथम पांडुलिपि के अंशों में इन्हें वक्ता के रूप में कदाचित् इस कारण न ला सका कि कुछ को छोड़ कर सभी चौपाइयाँ आठ चरणों की थीं। फिर भी उस ने वालकांड में उप-

युक्त दो सोरठे, जिन में भुशुंडि को मूल वक्ता कहा गया है, इस ध्यान से ही कदाचित् रख दिए कि जिस से आगे बढ़ने पर भुशुंडि गरुड़-संवाद पाठक के सामने कहीं आकस्मिक रूप में न आ जावे।

७९. अब हमें अंत की हरिगीतिका पर फिर विचार करना और देखना है कि क्या वह अब भी ग्रंथ का आकार सूचित करने के लिए रक्खी जा सकती है। "सत पंच" के शाब्दिक अर्थ १०० और ५ होते हैं; यदि दोनों को मिला कर लिखा जावे तो संख्या १००५ होती है। क्या यह संभव नहीं है कि १००५ सूचित करने के लिए यह हरिगीतिका पड़ी रहने दी गई हो, यद्यपि प्रथा अंकों को उलटे क्रम में पढ़ने की है? द्वितीय पाडुलिपि के समय ग्रंथ का आकार १०४१ चौपाइयों के आस-पास रहा होगा[1], अतः यह कदाचित् असंभव भी नहीं कहा जा सकता।

८०. अब हमारे सामने बालकांड १–३५ है, जिस की प्रत्येक चौपाई में १६-२७ छोड़ कर अर्द्धाली संख्या विभिन्न है। इन में से केवल थोड़ी-सी चौपाइयों को छोड़ कर, जो कि प्रथम और द्वितीय पाडुलिपियों की प्रस्तावना में रही होंगी, ये केवल तभी जोड़ी जा सकती थीं जब कि द्वितीय पाडुलिपि तैयार होती, क्यों कि ये केवल एक बड़े काव्य की प्रस्तावना के लिए ही उपयुक्त थीं। इस विषय में संदेह अवश्य किया जा सकता था कि ये काव्य की द्वितीय पाडुलिपि में ही रक्खी गई होंगी या किसी बाद की पांडुलिपि में। किन्तु एक बात से इस समस्या पर निश्चयात्मक प्रकाश पड़ता है। काव्य के इस अंश में कवि कहता है कि पहले पहल शिव ने इस चरित की रचना की, और इसे उन्हों ने उमा को सुनाया, और फिर उन्हीं शिव ने इसे भुशुंडि को दिया :

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। राम रामभगत अधिकारी चीन्हा।

(मानस, बाल० ३०)

परंतु द्वितीय पाडुलिपि मे एक स्थान पर भुशुंडि कहते हैं कि उन्हे यह कथा लोमस से मिली थी :

[1] बाल० में प्रथम पैंतीस चौपाइयाँ न लेने पर ३२६; अयोध्या० में ३२६; अरण्य० में ४७, किष्किंधा० में ३१; सुंदर० में ६०; लंका० में १२१ और उत्तर० में १३० : कुल १०४१

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाखा।
(मानस, उत्तर० ११३)

और शिव स्वय द्वितीय पाडुलिपि म कहते हैं कि इस कथा को उन्हों ने काग से सुना था जब कि वह गरुड से कह रहा था

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित मानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥
(मानस, बाल० १२०)

उमा कहेउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई।
(मानस, उत्तर० ५२)

मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि। सो प्रसग सुनु सुमुखि सुलोचनि।
रामचरित विचित्र विधि नाना। प्रेम सहित कर सादर गाना।
तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुननि पुनि आएउँ कैलास॥
(मानस, उत्तर० ५७)

वास्तव मे कवि ने इसी बाद की बात का कथा भर में निर्वाह किया है, और इसी के साथ उस ने कथा का अत भी किया है।[1] अत इस में कम सदेह रह जाता है कि वह अश जिस मे पहला कथन है काव्य में द्वितीय पाडुलिपि के बाद किसी समय जोड़ा गया होगा।

८१ नि सदेह इस पाडुलिपि में द्वितीय पाडुलिपि से अधिक चौपाइयाँ रही होंगी, किंतु फिर भी वह हरिगीतिका, जो कि प्रथम और द्वितीय पाडुलिपियों के अत म रक्खी हुई हम ने माना है, इस के भी अत में क्यों रहने दी गई होगी यह प्रश्न किया जा सकता है। यह समस्या इस प्रकार हल हो सकती है कि इस पाडुलिपि म भी कुल चौपाई सख्या द्वितीय पाडुलिपि की अपेक्षा थोड़ी ही बढ़ी थी, इस लिए उसी हरिगीतिका को रखने न रखने अथवा सशोधित करके रखने की कोई नई समस्या कवि के सम्मुख नहीं आई।[2]

---

[1] मानस, उत्तर० १२५

[2] इस प्रसंग में 'राम गीतावली, की फल श्रुति के श्लोक का उदाहरण भी रक्खा जा सकता है, जो पद संग्रह के बदल जाने और उसका नाम 'विनय पत्रिका' हो जाने पर भी बना रहने दिया गया है (देखिए ऊपर पृ० २००–२०५)

कला

१. महाकवि की कला का अध्ययन एक ऐसा विषय है जो उस के अध्ययन के समस्त पक्षों में सर्व-प्रमुख रहा है, किंतु इस अध्ययन में अधिकतर यह बात सर्वथा भुला दी गई है कि उस के पूर्ववर्ती साहित्य में भी एक संपन्न राम-साहित्य था। इस लिए जैसा मैं पहले कह चुका हूँ "इस से पूर्व कि हम महाकवि की कृतियों को कला की दृष्टि से देखने बैठें, यह नितांत आवश्यक है कि हम इस भारी भ्रम से अपने को मुक्त कर लें कि जो कुछ भी हमारे महाकवि ने लिखा है वह सर्वथा उस की मौलिक कृति है। उस का स्मरणीय ग्रंथ 'रामचरित मानस' ही ऐसे अनेक संस्कृत ग्रंथों से सामग्री प्राप्त करता है जो निश्चित रूप से उस से पूर्व की रचनाएँ हैं। यह विशेषता कथा के ढाँचे तक ही सीमित नहीं है, बल्कि बहुत कुछ उस ढाँचे की पूर्ति में भी देखी जा सकती है; और कभी-कभी तो देखा जाता है कि स्थल-विशेष पर प्रयुक्त काव्योक्ति भी पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में अभिन्न रूप में मिलती है। फिर भी हमारे महाकवि में मौलिकता की कमी नहीं है, और यह अच्छा ही होगा कि अब भी हम केवल उस के मौलिक योग पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, और अपने महाकवि की महानता का अनुभव केवल उसी के आधार पर करें, और उस की स्तुति या निंदा उस सामग्री के आधार पर न करें जो उस ने उत्तराधिकार में प्राप्त की है।"[1] अध्ययन उन अनेक शीर्षकों के नीचे किया गया है जो सामान्यतः कवि की समालोचनाओं में मिला करते हैं, इस लिए उन के संबंध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

चरित्र-चित्रण

२. तुलसीदास कथानक के प्रत्येक पात्र के चरित्र का अलग-अलग किस भाँति विकास करते हैं इस पर विचार करने के पूर्व यदि हम यह देखने का

[1] देखिए ऊपर पृ० ३२

प्रयत्न करें कि प्राय सभी पात्रों के संबंध में उन्हों ने किस प्रकार का एक व्यापक सुधार करने का प्रयत्न किया है, तो हमें चरित्र चित्रण के क्षेत्र में उन की कला का यथेष्ट परिचय प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

२ इस प्रकार का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होगा कि आधार ग्रंथों में कथानक के पात्र जिस आवेश, अविचार, और अधीरता का परिचय देते हैं उन्हें उस से रहित कर देने में ही हमारे कवि की प्रमुख विशेषता दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए हम 'अध्यात्म रामायण' तथा 'वाल्मीकि रामायण' को लेकर कवि के चरित्र चित्रण के इस पक्ष पर विचार कर सकते हैं। 'अध्यात्म रामायण' में कौशल्या राम को भय दिखलाती हैं कि यदि राम उन की आज्ञा का उल्लंघन कर वन चले जावेंगे, तो वह अपने जीवन का अंत कर यमपुर को चली जावेंगी।[1] आगे बढ़ने पर लक्ष्मण,[2] सीता,[3] और निषाद राज[4] भी उन्हें भय दिखलाते हैं कि यदि राम उन्हें अपने साथ नहीं ले जायँगे तो वे लोग अपने जीवन का मोह न कर तत्काल प्राणत्याग करेंगे। भरत अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठने के लिए अपनी माता के आग्रह पर कहते हैं कि वे अग्निप्रवेश, विषभक्षण, अथवा खड्ग द्वारा आत्मघात कर यमलोक को चले जावेंगे।[5] चित्रकूट में वह राम से कहते हैं कि अन्न जल छोड़ कर प्राण त्याग कर देंगे यदि राम उन्हें अपने साथ में रहने की आज्ञा नहीं देंगे, और तदनंतर अपने इस निश्चय की पूर्ति के लिए धूप में कुशा बिछा कर पूर्व की ओर मुख कर के बैठ जाते हैं।[6] चित्रकूट से विदा होते समय फिर भरत कहते हैं कि यदि अवधि के समाप्त होते ही राम अयोध्या नहीं लौटेंगे तो वह अग्निसमाधि ले लेवेंगे।[7] शूर्पणखा खर को भय दिखलाती है कि वह अपना प्राणांत कर लेगी यदि राम लक्ष्मण का वध कर उसे उन के रुधिर पान का अवसर प्रदान नहीं करेगा।[8] स्वर्ण-मृग के पीछे गए हुए राम को विपत्ति में समझ कर सीता लक्ष्मण को धमकी देती है कि वह आत्महत्या कर लेगी यदि राम को सहायता देने के लिए लक्ष्मण तुरत प्रस्थान नहीं

[1] अध्यात्म०, अयोध्या० (४) ६२–६३
[2] वही ५१–५२
[3] वही ७९
[4] वही (६) २४
[5] वही (७) ८०–८१
[6] वही (९) ४०
[7] वही (९) ५३
[8] वही अरण्य० (५) २५

करेंगे।[1] और अंगद अपने जीवन का अंत करने का निश्चय कर लेते हैं जब कि उन के साथ के बंदर सीता की खोज में अपने आप को अकृतकार्य पाते हैं।[2] इस प्रकार कम से कम दस विभिन्न अवसरों पर 'अध्यात्म रामायण' के सात विभिन्न पात्र अपने जीवन का अंत कर देने का निश्चय प्रकट करते हैं यदि कोई कार्यविशेष उन की इच्छा के अनुकूल नहीं किया जाता है, अथवा नहीं होता है। उपर्युक्त परिस्थितियों में वाल्मीकि के पात्र भी उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं: कौशल्या,[3] सीता,[4] भरत,[5] और अंगद[6] 'वाल्मीकि रामायण' में भी प्रायः उतने ही आवेश, अविचार, और अधीरता-पूर्ण दिखाई पड़ते हैं जितना हम उन्हें 'अध्यात्म रामायण' में पाते हैं।

४. दोनों आधार ग्रंथ इस से कुछ उतरी हुई कला के उदाहरणों से भी रहित नहीं हैं। उदाहरण स्वरूप 'अध्यात्म रामायण' में राम स्वयं अपने बाल्यकाल में एक दिन उत्तेजित हो जाते हैं और लकड़ी से घर के बर्तन फोड़ डालते हैं।[7] असत्य-स्पर्श से बचने के लिए दुःखातुर दशरथ राम से कहते हैं कि वे उन स्त्री-परवश, भ्रांतचित्त, कुमार्गगामी और पापात्मा को बाँध कर राज्य ले लेवें; इस से उन्हें (राम को) कोई पाप न लगेगा, और ऐसा होने पर उन्हें (दशरथ को) भी असत्य स्पर्श न करेगा।[8] कौशल्या-राम-संवाद सुन कर लक्ष्मण राम से कहते हैं कि वे उन्मत्त, भ्रांतचित्त और कैकेयी के वशवर्ती राजा दशरथ को बाँध कर भरत को उन के सहायक मामा आदि के सहित मार डालेंगे और अभिषेक में विघ्न उपस्थित करने वालों का हाथ में धनुष-बाण ले कर प्राणांत कर डालेंगे।[9] भरत वशिष्ठ से कहते हैं कि वे अपनी नाममात्र की माता कैकेयी का तत्काल वध कर डालते यदि उन्हें यह भय न होता कि राम मातृवध के लिए उन्हें क्षमा न करेंगे।[10] राम से अयोध्या लौट चलने के लिए आग्रह करते हुए चित्रकूट में भरत कहते हैं कि यदि उन के पिता

[1] अध्यात्म०, अरण्य० (७) ३२–३३
[2] वही, किष्किंधा० (७) ६–७
[3] वा० रा०, अयोध्या० (२१) २७–२८
[4] वही, (२९) २१, तथा वही, अरण्य० (१४) २६
[5] वही, अरण्य०(१११) १४–१५ तथा २५–२६
[6] वही, किष्किंधा० (५३) १५
[7] अध्यात्म०, बाल० (३) ५२–५४
[8] वही, अयोध्या० (३) ६९–७०
[9] वही (४) १५–१६
[10] वही (८) ७–८

ने कामी, मूढबुद्धि, स्त्री के वशीभूत और उन्मत्त होने के कारण कोई आदेश किया भी रहा हो तो उसे सत्य न मानना चाहिए।[1] 'वाल्मीकि रामायण' भी अपने पात्रों से उपर्युक्त परिस्थितियों में समान आचरण ही कराता है उस में भी *लक्ष्मण*[3] *और भरत*[4] *प्राय उसी आवेश, अविचार तथा अधीरता* का प्रदर्शन करते हैं जिस का प्रदर्शन ऊपर हम 'अध्यात्म रामायण' में देख चुके हैं, बल्कि इस प्रसंग में लक्ष्मण राम को सिंहासनारूढ कराने में पितृवध की स्वकल्पित संभावना से भी विचलित नहीं होते। हमारे चरित्र में आवेश का होना बुरा नहीं है, उस का भी अपना एक महत्त्व है, और एक दो चरित्रों में एक दो अवसरों पर इस प्रकार का आवेश कदाचित् स्वाभाविक भी होता, किंतु 'आवेशवाद' अवश्य बुरा है, और कलात्मक प्रभाव का विरोधी भी हो सकता है जैसा वह कदाचित् यहाँ हुआ है।

५. चरित्र चित्रण विषयक तुलसीदास की इस व्यापक विशेषता में ऊपर यथेष्ट बल देने के अनंतर हम चरित्रों के वैयक्तिक विकास की ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। इस रूप में कथानक के सभी चरित्रों का अध्ययन करना प्रस्तुत परिधि में न संभव है और न कदाचित् आवश्यक ही, इस लिए अत्यधिक प्रधान पात्रों तक ही अध्ययन को सीमित रखना होगा। साथ ही यह अध्ययन प्रमुख रूप में 'मानस' पर ही आधारित रक्खा गया है। 'मानस' के अतिरिक्त कवि के केवल दो अन्य ग्रंथों 'कवितावली' और 'गीतावली' का ही उल्लेख किया गया है, और यह उल्लेख विशेष कर उन स्थलों पर किया गया है जहाँ पर वे *ग्रंथ* चरित्रों के वास्तविक *अध्ययन की यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत* करते हैं।

६. राम किसी भी जाति की काव्य प्रतिभा ने कभी भी जिन उदात्त गुणों की कल्पना की होगी कदाचित् उन का एक आदर्शमय रूप हमें राम के चरित्र में समाहित मिलता है। उन्हें भव्य शारीरिक गठन की देन प्राप्त है, किंतु इस से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है उन का चरित्र, उन की सत्यप्रियता, उन की दृढ़ता, उन की लोभहीनता, उन की कृतज्ञता, उन की निष्कलुष हृदयता, उन का दृढ़ निश्चय, उन का अदम्य उत्साह, उन की

[1] अयोध्या०, अध्या० (९) ३३ [2] वही (२१) १०–११

[3] वही (१०६) ९–१०, तथा १२–१६

अत करण की पवित्रता, उन की सुशीलता, उन की गंभीरता, उन की धीरता वीरता, उन की क्षमाशीलता, उन [illegible]
एक निष्ठावान् व्यक्तित्व; अव्यवस्था [illegible]
के स्थान पर व्यवस्था, नैतिकता, [illegible]
करने के लिए एक ऐसे ही पूर्ण चरित्र की ईश्वर रूप में दिव्य कल्पना कीजिए, और यही तुलसीदास के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य के राम हैं। इसी पूर्ण चरित्र में जैसे और भी पूर्णता भरने में उन की प्रतिभा लीन होती है, और आगे की पंक्तियों में हम देखेंगे कि वह इस स्तुत्य प्रयास में किस कक्षा तक सफल होती है।

७. 'मानस' के राम में हमारा कवि विश्वास करता है एक बालक की सरलता का: राम सीता के प्रति अंकुरित अपने प्रेम को न केवल भाई लक्ष्मण[1] पर वरन् अपने गुरु विश्वामित्र[2] पर भी प्रकट कर देते हैं, अतुलनीय नम्रता और दीनता का: शिव धनुष के तोड़ने वाले को जानने के लिए परशुराम द्वारा किए गए प्रश्न पर राम द्वारा दिए गए उत्तर[3] तथा आगे के उनके अन्य कथन भी[4] सभी एक महान् चरित्र की इस विशेषता से ओत प्रोत हैं, छोटों पर स्नेह का, जो अन्यत्र कदाचित् ही कहीं इतना निखरा हो: राज्याभिषेक के पूर्व शुभ अंगों के फड़कने पर राम कल्पना करते हैं कि वे भरत के ननिहाल से लौटने के ही सूचक हैं,[5] गुरुजनों के प्रति समादर की भावना का: राज्याभिषेक के पूर्व दशरथ के अनुरोध पर वशिष्ठ जब राम को संयम का उपदेश करने जाते हैं, उस समय जिस प्रकार राम उन का स्वागत करते हैं वही एक इस का ज्वलंत उदाहरण है,[6] उदारता और नि:स्वार्थता का, जो जैसे उन के ही गुण हैं: उपर्युक्त अवसर पर जब वशिष्ठ राम से मिल कर राजा के पास लौट आते हैं तब राम का सूर्यवंश की इस रीति पर खेद होता है कि अन्य भाइयों की उपेक्षा कर बड़े भाई का राज्याभिषेक किया जाता है,[7] कर्तव्य पालन का: राम पिता के सचेत होने तक नहीं रुकते और उन्हें अचेत ही छोड़ कर वन-गमन

आगे आकर उस शक्ति को अपने वक्षस्थल पर झेल लेते हैं, और विभीषण को पीछे ढकेल देते हैं;[1] और अपनी जन्म-भूमि से अनुपम स्नेह का : जिस को वे आकाश-मार्ग से बंदरों को अयोध्या दिखलाते समय प्रदर्शित करते हैं।[2] इतना सब होते हुए भी तुलसीदास राम को मानवीय तल पर ही रखते हैं, और संभवतः इसी उद्देश्य से वे राम को इस प्रकार का विलाप करते हुए चित्रित करते हैं कि उन्हों ने पिता के वचनों का भी उल्लंघन किया होता, और पत्नी का विछोह भी सह लिया होता, यदि उन्हें इस का भय होता कि इन का मूल्य एक सच्चे भाई और सहायक के जीवन से चुकाना पड़ेगा।[3]

८. इस उच्च चरित्र के जीवन में केवल दो प्रसंग ऐसे हैं जिन की ओर इस विचार से कभी-कभी संकेत किया जाता है कि वे चरित्र की महानता के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं : (१) शूर्पणखा का विरूप करना तथा (२) बालि का छल-पूर्वक वध करना। इन दोनों को न्यायोचित सिद्ध करने के प्रयत्न किए जाते हैं : पहले को इस तर्क के साथ कि शूर्पणखा स्वैरिणी है, जिस का उपयुक्त प्रमाण वह स्वतः क्रम से राम और लक्ष्मण से प्रणय-प्रस्ताव कर के देती है, और इसी सामाजिक नियम की अवहेलना के लिए दंडित करने की दृष्टि से उसे राम ने कुरूप कर दिया; दूसरे को इस तर्क के साथ कि बालि ने अपने अनुज सुग्रीव की पत्नी का अपहरण कर लिया था, और राम ने उसे इसी घोर सामाजिक अपराध के लिए प्राण दंड दिया। इन दोनों प्रसंगों से संबंध रखने वाले विवादों के विषय में यह निर्देश कर देना कदाचित् आवश्यक होगा कि वे आचार-नीति के दृष्टि-कोण से किए जाते हैं; हमारा संबंध कथा-नायक के जीवन की इन घटनाओं से वहीं तक है जहाँ तक वे काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक होती हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की त्रुटियाँ ही अन्यथा दिव्य चरित्रों को मानवता के साधारण धरातल पर ले आती हैं, और इस लिए औचित्य इसी बात में है कि वे जैसी हैं अपने उसी रूप में कथा में बनी रहें।

९. यही हमारे कवि का वह मौलिक योग है जिस के द्वारा वह अपने पूर्ववर्तियों से प्राप्त राम के पूर्ण चरित्र को जैसे और भी पूर्ण बनाने का

[1] मानस, लंका० ९४

[2] वही, उत्तर० ४

[3] वही, लंका० ६१

प्रयत्न करता है। इन 'मानस' के राम की अपेक्षा 'गीतावली'[1] और 'कवितावली'[2] के राम अधिक उदारचेता दिखाई पड़ते हैं। लक्ष्मण शक्ति लगने पर युद्ध स्थल में अचेत पड़े हैं, राम उस समय विभीषण के भविष्य के लिए उपस्थित हानि से कहीं अधिक चिन्तित दिखलाई देते हैं। यह सुधार अत्युक्ति की एक शोचनीय मात्रा के कारण कदाचित् कलात्मक नहीं कहा जा सकता है।

१० भरत यदि आधार ग्रंथों में कोई ऐसा चरित्र है जिसे आदर्श रूप में स्वीकार किया जा सकता है तो वह भरत का ही चरित्र है। राम का चरित्र पूर्ण रूप से दोष-रहित नहीं है : शूर्पणखा का कुरूप करना और बालि का वध करना नैतिक दृष्टिकोण से कदाचित् ही उचित ठहराए जा सकते हैं। सीता का चरित्र भी आदर्श नहीं है : मारीच की बनावटी कातर ध्वनि सुनते ही राम की सहायता के लिये लक्ष्मण को भेजते समय उन के प्रति अपमान जनक शब्द ही इसे प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। लक्ष्मण के विभिन्न अवसरों पर आवेश में किए गए कथन चरित्र की महत्ता को घटा देते हैं। आधार ग्रंथों में मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए राजा के प्रति कौशल्या के दोषारोपण के वचन भी क्षम्य नहीं हैं। किंतु भरत के संबंध में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो उन के द्वारा ग्रहण किए गए आदर्श से उन्हें नीचे उतार लावे। इस के सिवा भरत के चरित्र में कोशल का राज्य त्याग—जिसे उन के लिए प्राप्त करने में कैकेयी का पति खोना पड़ा और मानव-सृष्टि के तीन परमोत्कृष्ट रत्नों का निर्वासन की यातना भुगतनी पड़ी – तथा अपनी माता के अनौचित्यपूर्ण आचरण के लिए प्रायश्चित रूप में अंगीकृत उनका विरक्त जीवन मानव जाति के इतिहास में एक अनूठा उदाहरण है। तुलसीदास भरत के इस चरित्र को उठाते हैं, और ऐसा प्रतीत होता है कि अयोध्याकांड के उत्तरार्द्ध में उन्हें कथा नायक के रूप में चित्रित करते हैं : अयोध्या-कांड के अंत तथा अरण्यकांड के प्रारंभ की चौपाइयों में इस लक्ष्य की ओर कुछ

दिया गया है। अन्य स्थलों के अतिरिक्त निम्नलिखित उस की पुष्टि करेंगे :

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही।
(मानस, अयोध्या० १८४)

सोहत दिएँ निषादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू।
(मानस, अयोध्या० १९७)

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू।
(मानस, अयोध्या० २०८)

रामसखा कर दीन्हें लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू।
नहिं पद त्रान सीस नहिं छाया। पेमु नेमु ब्रतु धरमु अमाया।
(मानस, अयोध्या० २१६)

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही।
(मानस, अयोध्या० २१८)

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥
(मानस, अयोध्या० २३८)

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं।
(मानस, अयोध्या० २८४)

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू।
(मानस, अयोध्या० २८९)

प्रभु मिलत अनुजहिं सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥
(मानस, उत्तर० ५)

और इस स्नेह के विषय में, कवि इतना तक कह देता है कि वह प्राकृत नहीं अलौकिक है, और वह विधि, हरि, हर की भी चिन्ता के परे है :

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकै न सेषु।
कबिहिं अगम जिमि ब्रह्म सुखु अहमम मलिन जनेषु॥
(मानस, अयोध्या० २२५)

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को।
(मानस, अयोध्या० २४०)

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी।
(मानस, अयोध्या० २४१)

भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई।
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे।
(मानस, अयोध्या० २८३)

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी।...
देखि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी।
(मानस, अयोध्या० २८९)

जे बिरंचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जग जल जाए।
तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार।
भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार॥
(मानस, अयोध्या० ३१७)

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी।
(मानस, अयोध्या० ३१८)

और भरत समस्त पुरुषार्थ, यहाँ तक कि निर्वाण के स्थान पर भी इसी प्रेम की ओर लक्ष्य करते पाए जाते हैं :

भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू।
जोरि पानि बर माँगहु एहू। सीय राम पद सहज सनेहू।
(मानस, अयोध्या० १९७)

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निर्बान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
(मानस, अयोध्या० २०४)

तीरथ मुनि आश्रम सुरधामा। निरखि निमज्जहिं करहिं प्रनामा।
मनहीं मन माँगहिं बरु एहू। सीयराम पद पदुम सनेहू।
(मानस, अयोध्या० २२४)

इन सदर्भों मे से एक में भरत अपने इस प्रेम के आदर्श को व्यक्त भी करते हैं—स्पष्ट रूप से यह एक पक्षीय प्रेम है जो कि बदले में कोई स्नेहपूर्ण सकेत भी नहीं चाहता :

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाँचत जलु पबि पाहन डारउ।
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेम सब भाँति भलाई।
कनकहि बान चढ़ै जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेह निबाहें।
(मानस, अयोध्या० २०५)

चित्रकूट के संवाद भरत तथा राम के चरित्रों की विशेषताओं को बहुत ही उपयुक्त रीति से प्रकट कर देते हैं। तुलसीदास की कला इन संवादों में अत्यधिक चमत्कृत हो उठी है। इन्हीं के आधार पर वे दोनों चरित्रों का एक सुन्दर विश्लेषणात्मक अध्ययन उपस्थित करते हैं जब जनक के शब्दों में वे कहते हैं :

भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सींव समता की।

(मानस, अयोध्या० २८९)

और यदि कोई यह जानना चाहता है कि महाकवि इन दो अमर चरित्रों के संबंध में तुलनात्मक दृष्टिकोण से किस प्रकार सोचता है तो उसे ध्यान देना होगा साधारण जनता के उन कथनों पर जो भरत के नंदीग्राम के जीवन की व्याख्या करते समय वह उन के मुख में रखता है :

लषन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तपु तनु कसहीं।
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू।

(मानस, अयोध्या० ३२६

संक्षेप में आधार अर्थात् प्राप्त भरत के आदर्श चरित्र में हमारा कवि इस प्रकार चमक उपस्थित करता है। उस का यह चित्र कितना हृदयग्राही है यह कहने की कदाचित् आवश्यकता नहीं है, 'मानस' के इस भरत में वह वस्तुत. एक भव्य चरित्र की सृष्टि करता है।

१२ लक्ष्मण : लक्ष्मण में ऊपर वर्णित दोनों चरित्रों से कुछ मौलिक अंतर है। यद्यपि वे उन की ही भाँति दृढ और निर्भय, निश्चयनिष्ट और उत्साही सरल और निष्कपट हैं, किन्तु उन चरित्रों की विनम्रता, गंभीरता, शांति, संतोष संकोच शीलता, दृष्टि-कोण की व्यापकता तथा क्षमाशीलता आदि कुछ भी उन चरित्रों के समान नहीं है। वे हैं निडर, उत्साही, साहसी, स्पष्ट-वादी और अक्षमाशील, वे चुप-चाप कार्य करने वालों में से हैं, और कथनी की अपेक्षा करनी में विश्वास रखते हैं, इस प्रकार का नवयुवक अपने बड़े भाई राम के लिए सच्चे मित्र और सेवक का, और अपने लिए अत्यधिक आत्म-त्याग का जीवन चुन लेता है, और यही इस चरित्र की सुन्दरता है। महत्वाकांक्षाओं से हीन, यह चरित्र राम में अपने व्यक्तित्व की भावना को इस प्रकार परिसमाप्त किए हुए है कि इस की जोड़ का चरित्र अन्यत्र कहीं कठिनाई से मिलेगा। उसका यह कोमल पक्ष उस के कठोर पक्ष को एक

उल्लेख-योग्य स्निग्धता प्रदान करता है। तुलसीदास ने इस चरित्र को लेकर बड़ी स्वाभाविकता से चित्रित करने का प्रयत्न किया है, और वहाँ उन्हें प्रशंसनीय सफलता भी मिली है। केवल दो प्रसंग ऐसे हैं जो उन के इस चित्रण में खटक जाते हैं: एक परशुराम से की हुई कहा-सुनी का,[१] तथा दूसरा निषाद से किए हुए दार्शनिक तत्व-निरूपण का;[२] और हम यहाँ इन दोनों पर विचार सकते हैं।

१३. अनेक दृष्टि-कोणों से परशुराम और उन के संवाद की परीक्षा की गई है; उन तर्कों को दुहराने से कोई लाभ नहीं। यहाँ पर एक नवीन दृष्टिकोण से हम उसकी परीक्षा कर सकते हैं: लक्ष्मण का यह व्यवहार उन के वास्तविक चरित्र से कहाँ तक सामंजस्य रखता है; हम देखते हैं कि संपूर्ण कथा में अन्य कोई ऐसा अवसर नहीं है जब कि लेश मात्र भी आवेशोत्पादक परिस्थिति हो और उस में लक्ष्मण अपने मस्तिष्क को शांत रख सकते हों। कुछ ही पूर्व मिथिला की राजसभा में जनक के अनुचित कथन पर हमें लक्ष्मण की तीव्र भावनाओं का ज्ञान हो जाता है।[३] आगे बढ़ने पर हम देखते हैं कि वे सुमंत्र से पिता के कार्यों की निंदा ऐसी भाषा में करते हैं जिसे कवि अपनी रचना में रखना उचित नहीं समझता।[४] केवल कुछ और अंतर पर वे अपने भाई भरत और शत्रुघ्न पर क्रुद्ध हो जाते हैं और अपने कथन में उन के प्राणों तक का कोई मोह नहीं करते।[५] और आगे, राम के कार्य की उपेक्षा पर सुग्रीव पर किए गए उन के क्रोध[६] की ओर संकेत करने की आवश्यकता ही नहीं है। मार्ग देने के लिए समुद्र की प्रार्थना करने की अपेक्षा बाणों से उसे सोख लेने की उन की सम्मति उन के स्वभाव की इस विशेषता का एक अन्य उदाहरण है।[७] किंतु इतना शीघ्र ही आवेश में आ जाने वाला और बहुत कुछ उद्धत चरित्र अपमानजनक शब्दों के संमुख भी अपने मस्तिष्क को शांत रख सके यह असंभव जान पड़ता है; परशुराम द्वारा स्वामी राम तथा अपने लिए 'शठ' शब्द का प्रयोग किए जाने पर[८] भी हास्ययुक्त तथा व्यङ्ग्य-काव्य पूर्ण भाषा

मे परशुराम की एक एक उक्ति का उत्तर, और वह भी लगभग १००० शब्दों के संवाद में, शेष-भगवान के इन अवतार ने—जैसे वह कवि के द्वारा बार-बार कहे जाते हैं[१]—दिया, यह बात लक्ष्मण के शेष चरित्र के साथ सामंजस्य रखती हुई नहीं दिखाई पड़ती।

१४. उन के और निषाद के बीच के उस संवाद में तो और भी अधिक असंगति दिखलाई पड़ती है जिसमें हमारा कवि इन लक्ष्मण के मुख से अपने दार्शनिक विचारों का निरूपण कराता है। उक्त अवसर पर उन के द्वारा कराया गया 'परमार्थ' का स्पष्टीकरण[२] वास्तव में इतना विद्वतापूर्ण है कि कोई भी उसे पढ़ कर आश्चर्यान्वित हो सकता है। अन्यत्र कहीं भी लक्ष्मण दार्शनिक विचारशीलता का प्रमाण नहीं देते हैं, फलतः राम के परमेश्वर-तत्व और उन के अवतार-तत्व का यह निरूपण[३] भी कदाचित् लक्ष्मण के चरित्र के सर्वथा बाहर की वस्तुएँ हैं।

इन परिस्थितियों में उपर्युक्त दोनों संवाद, विनोद और विद्वतापूर्ण कथन में वे भले ही उत्कृष्ट हों, लक्ष्मण के चरित्र के अनिवार्य गुणों से सामंजस्य नहीं रखते, और इसी लिए वे जहाँ तक कलात्मक प्रभाव का प्रश्न है, उस की उत्पत्ति के लिए अनुकूल नहीं है। किंतु अन्यथा लक्ष्मण का चरित्र 'मानस' में बहुत ही रोचक है इसमें संदेह नहीं।

१५. दशरथ : दशरथ वस्तुतः एक दु:खपर्यवसायी चरित्र हैं, और वे उस की आवश्यकताओं को पूर्णतः प्रस्तुत करते हैं। पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों के अनुसार दुःखपर्यवसायी नायक को समाज में इतनी उच्च प्रतिष्ठा वाला होना चाहिए कि उसका पतन समग्र राष्ट्र के भाग्य को प्रभावित कर सके, पुनः उस का पतन उसी की किसी चरित्रगत विशेषता सापेक्ष होना चाहिए; और यह विशेषता या तो उस के चरित्र में कोई अभाव हो या किसी सद्भाव की अत्यधिकता। दुःखपर्यवसायी नायक की यह सभी विशेषताएँ दशरथ में पाई जाती हैं। वह एक राष्ट्र के अधिपति हैं, इस से उन का पतन उक्त राष्ट्र के भाग्य को प्रभावित करता है; और यह पतन उन के चरित्र की दो विशेषताओं

जाती है तो राम के पिता के चरित्र की कालिमा पर सफेदी पोतने की कवि की चेष्टा निष्फल हो जाती है और यहीं पर कवि की कला में त्रुटि आ जाती है।

१७ रावण रावण के चरित्र में एक 'प्रवृत्तिप्रमुख चरित्र' ('टाइप') उपस्थित किया गया है, और यह 'प्रवृत्तिप्रमुख चरित्र' आदर्शवादी नहीं वरन् वस्तुवादी, कल्पनावादी नहीं वरन् प्रत्यक्षवादी, निराशावादी नहीं वरन् आशावादी, अदृष्टवादी नहीं वरन् सकल्पवादी, संशयवादी नहीं वरन् निश्चयवादी और धार्मिक नहीं वरन् अधार्मिक का है। इस 'प्रवृत्तिप्रमुख चरित्र' में यदि दश शिर और बीस बाहु वाले दैत्य की भयानकता और एक दानव का व्यक्तित्व और उसकी शक्ति सम्मिलित कर दीजिए तो संक्षेप में आदि काव्य के रावण का परिचय आपको प्राप्त हो जाता है। दक्षिण के ऋषियों के दुःख से द्रवित होकर राम राक्षस-समूह का नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, और संभवतः इसी कारण इस सुरारि के सम्मुख होने के लिए वे उस की भगिनी शूर्पणखा को विरूप करते हैं। राम के इस कार्य से यह रावण क्रुद्ध हो जाता है, और राजकुमार से उन की पत्नी चुराकर इस का बदला लेता है। अध्यात्म प्रिय भारतीय मस्तिष्क राम में देवत्व की स्थापना करते हुए प्रतिशोध की इस साधारण कथा से संतुष्ट न होकर सीता हरण में एक आध्यात्मिक अभिप्राय की कल्पना करता है यह कहता है कि रावण को राम के अवतार का पता था, और वह यह जानता था कि राक्षस के तमोगुणी शरीर से मोक्षप्राप्ति के लिए कोई भी विहित साधन असंभव था, फलतः उस के लिए राम के हाथों से प्राण-त्याग करने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं था, अतः राम के हाथों से प्राण-त्याग करने के प्रयोजन से ही उस ने उन की भार्या का हरण[1] एवं मृत्युपूर्व तक के समस्त कार्य किए। तुलसीदास रावण के इस दूसरे ही रूप को लेकर अपनी भावना के अनुसार उस का चित्रण करते हैं।

१८ उन का रावण अत्यधिक अभिमानी—कम से कम वे ऐसा कहते हैं[2]—और हठी है। वह मारीच, शुक, विभीषण, माल्यवंत, प्रहस्त, और कुंभकर्ण के परामर्शों एवं अपनी पत्नी मंदोदरी की बार-बार की गई प्रार्थनाओं पर किंचित् भी ध्यान नहीं देता। निस्संदेह इस समस्त

[1] अध्यात्म०, अरण्य०, (५) ५८—६१, वही (६) २०—३२,

[2] मानस, सुंदर० २४, लंका० २३, ३७, ३८, ४०, ६२, ६३, ९३

अवमानना का एक दुःखपूर्ण कारण यह प्रतीत होता है कि यह सभी मंचकार एक विशिष्ट दार्शनिक राग अलापते हैं : वे उसे राम से शत्रुता न करने के लिए इस लिए कहते हैं कि राम परमात्मा हैं। वह अपने भावों को छिपाने और विषम परिस्थितियों में भी चित्त को स्थिर रखने का गुण प्रदर्शित करता है, यहाँ तक कि जब वास्तव में शत्रु के आक्रमण से वह घबड़ाया हुआ भी होता है। परन्तु इस समस्त अभिमान, दुराग्रह और दंभ के होते हुए भी इस रावण में एक बात आश्चर्यजनक है : वह है उस की चतुरता और वाक्-पटुता, आत्म-विश्वास और विनोद प्रियता : उस के समस्त प्रश्नोत्तर इन गुणों का यथेष्ट परिचय देते हैं। किंतु खेद है कि हमारा कवि अपने नायक के प्रति उत्कट भक्ति के कारण इस वीर चरित्र के साथ पर्याप्त न्याय नहीं करता है। अंगद रावण-संवाद में बहुत सी अपमानपूर्ण शब्दावली का प्रयोग वह अंगद के द्वारा कराता है, और स्वयं उसकी पत्नी मंदोदरी के मुख से रावण की मृत्यु को न्यायोचित कहलाते हुए ऐसे पापमय जीवन का अंत करने के लिए राम की प्रशंसा कराता है जब उस के स्वामी का मृत शरीर उस के संमुख पड़ा होता है।[२] स्पष्ट ही इन स्थलों पर भक्त तुलसीदास के आगे कलाकार तुलसीदास भाग खड़े हुए हैं।

१६. विभीषण : मूलतः विभीषण अपने भ्राता, राजा और देश को उन की महान् विपत्ति के समय त्यागने वाला एक स्वार्थपूर्ण चरित्र है। सीता-हरण के विषय में उस का रावण से मतभेद मान, अथवा रावण द्वारा उस के प्रति प्रयुक्त दुर्वचन भी उसे उस के विश्वासघात-पूर्ण आचरण से दोषमुक्त नहीं कर सकते हैं। किंतु भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति ने राम सर्वेश्वर के इस मित्र का इतना कालिमापूर्ण चित्र चित्रित न कर सकने के कारण उस को उन का भक्त बना दिया है, और तुलसीदास इसी विभीषण को ले कर उसमें अपने मनोनुकूल सुधार करते हैं!

२०. उन का विभीषण पूर्ववर्ती साहित्य के विभीषणों की अपेक्षा राम का अधिक भक्त है। लंका में उस का घर रामायत संप्रदाय के चिन्हों से अंकित है, और उस के समीप उस ने तुलसी के पौधे भी लगाए हैं;[३] वह

[१] मानस, लंका० २०—३५

[२] वही, १०४

[३] मानस, सुंदर० ५

राम-नाम रटता रहता है;[१] जब हनुमान उसे राम की तथा स्वयं अपनी कथा सुनाते हैं, वह हर्ष से गद्‌गद् हो जाता है और अपने "दुष्ट संग" पर ग्लानि प्रदर्शित करते हनुमान से वह राम के दर्शन की अपनी उत्कट अभिलाषा प्रकट करता है, और कहता है कि संत हनुमान के दर्शन से अब उसे राम-दर्शन की प्राप्ति में भी पूर्ण विश्वास हो गया है।[२] राम के समीप जाते समय जो विचार उस के मन में उदित होते हैं, वे पुनः उस की राम-भक्ति के द्योतक हैं।[३] तथापि वह निरा भक्त ही नहीं है, सामाजिक और नैतिक नियम उसे आध्यात्मिक नियमों के समान ही पवित्र प्रतीत होते हैं; सीता को लौटा देने की उस की सलाह का आधार केवल यह नहीं है कि राम स्वयं ईश्वर हैं, या वे उस से अधिक शक्तिशाली हैं, बल्कि उस का एक शुद्ध नैतिक आधार है, और वास्तव में यही उसका प्रथम आधार है।[४] वह एक अत्यन्त नम्र स्वभाव वाला भी है, जैसा की वास्तविक रामभक्त को होना ही चाहिए था: रावण को अपनी सम्मति देते हुए संबोधित करने का उसका ढंग[५] तथा उस के द्वारा चरण-प्रहार पाने पर भी उस का उत्तर[६] भली भाँति इस के द्योतक हैं।

२१. 'गीतावली' का विभीषण उपर्युक्त विभीषण से भी बड़ा राम-भक्त है। उस के चरित्र के इस पक्ष को प्राधान्य देने के लिए 'गीतावली' में अनेक गीत लिखे गए हैं, और उन्हें पढ़ने पर यह प्रतीत होता है कि 'गीतावली' में अन्य सभी चरित्रों की अपेक्षा—भरत और हनुमान की अपेक्षा भी—भक्त तुलसी दास को यही चरित्र अधिक प्रस्तुत करता है। कवि की अन्य रचनाओं में किसी को शायद ही 'दास्य' का ऐसा सजीव चित्र मिलेगा, जैसा कि 'गीतावली' के विभीषण-शरणागति संबंधी गीतों में है।[७]

२२. हनुमान : महाकाव्य के हनुमान बलवान तथा समर्थ, साहसी तथा वीर, दृढ़ तथा निर्भीक, कलाओं एवं विद्याओं में दक्ष, बुद्धिमान् तथा विवेकशील, विनम्र तथा विनयशील, जितेन्द्रिय तथा संयमशील, सरल तथा

[१] मानस, सुंदर० ६
[२] वही ७
[३] वही ४२
[४] वही ३८
[५] वही
[६] वही, ४१
[७] गीता०, सुंदर० २८-४६

मात्सर्यहीन, धार्मिक, आशावान् एवं चरित्रगुण संयुक्त एक अत्यंत स्वार्थ-हीन और कर्त्तव्य-परायण सेवक हैं, और सदैव स्वामी के कल्याण तथा स्वामी के कार्य के साथ तादात्म्य स्थापित किए हुए दिखाई पड़ते हैं। यह स्वार्थहीन सेवा भारत की आध्यात्मिक मनोवृत्ति के प्रकाश में 'भक्ति' का एक तेज अर्जित कर लेती है, और हमारा कवि अपने कथानक के पात्रों की माला में उन का समावेश करते समय इसी परिवर्तन के साथ उन्हें स्वीकार करता है। अपने महान् काव्य में सर्वत्र समान रूप से वह उन्हें 'दास्य भक्ति' की मूर्ति के रूप में, यद्यपि आदि-काव्य के हनुमान में पाए जाने वाले समस्त गुणों के साथ, उपस्थित करता है।

२३. अंगद : यद्यपि आदि-काव्य के अंगद में हनुमान के चरित्र के अनेक गुण हैं—वह उन के समान ही बलवान और समर्थ, साहसी तथा वीर, बुद्धिमान् तथा विवेकशील है, परंतु उस में हृदय की उस सरलता, मत्सर हीनता तथा उस धार्मिकता का अभाव है जिन से उस काव्य के कपिश्रेष्ठ हनुमान का चरित्र सुशोभित होता है। जब सीता-अन्वेषण के लिए निकले वानरयूथ में असफलता तथा तत्परिणाम-स्वरूप प्राणदंड की आशंका के कारण जीवन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है, और तार राजा सुग्रीव तथा राम के भी प्रति विद्रोह का स्वर ऊँचा करता है, अंगद भी पथभ्रष्ट होते हुए दिखाई पड़ते हैं;[1] उन्हों ने स्वयंप्रभा द्वारा छोड़ी हुई सुंदर गुफा में अपना शासन-केन्द्र बना लिया होता, और अपना संपूर्ण जीवन वहीं पर व्यतीत किया होता, यदि हनुमान की ओर से इस के तीव्र विरोध की उन्हें आशंका न हुई होती।[2] महाकाव्य के अंदर से 'अध्यात्म रामायण' के अंगद में इस के अतिरिक्त कि वह किंचित् अधिक धार्मिक हैं वस्तुतः और कोई अंतर नहीं है।[3]

२४. हमारा कवि इस दूसरे अंगद को लेता है, और कुछ परिवर्तन कर के यथातथ्य रूप में इसे ही चित्रित करने का प्रयास करता है। केवल यही नहीं कि वह अंगद के जीवन से विद्रोह की घटना को अलग कर देता है, वह उस को काफ़ी सरल-हृदय, निरभिमान और धार्मिक भी चित्रित करता है।

[1] उदाहरणार्थ वा० रा०, सुंदर २८, ३०   [2] वही, किष्किंधा० (५३) २५—२६

[3] वही (५४)

यह अंगद राम का अत्यधिक भक्त हो जाता है। राम से उस की विदा की घटना हमारे कवि ने यथेष्ट विस्तार और मनोनियोगपूर्वक वर्णित की है। जब समस्त कपि भालु चलते समय राम से विदा लेते हैं, अंगद उन के समीप जाता है और उन से विनम्र निवेदन करता है कि वे उसे अपनी सेवा में ही रक्खें, यद्यपि उस की प्रार्थना स्वीकृत नहीं की जाती है।[1] उन सब में से जो राम के साथ दक्षिण से आए थे—सुग्रीव और विभीषण भी इस के अपवाद नहीं हैं—केवल अंगद ही ऐसा है जिस को विदा करते समय राम कुछ दूर तक पहुँचाने जाते हैं, और यहाँ भी अंगद बारबार उन से सवनत करता है कि उन्हें अपनी सेवा में रख लें, किंतु इतने पर भी उस की यह पवित्र आकांक्षा अपूर्ण ही रह जाती है।[2] अंतिम सांत्वना के रूप में वह हनुमान से प्रभु को बार बार अपनी सुधि कराने के लिए प्रार्थना करता है और इस के पश्चात् अपनी जन्म भूमि को वापस जाता है।[3]

२५. दूसरी ओर रावण से उस का संवाद[4] एक ऐसा विषय है जो उस के चरित्र की इस उत्कृष्टता को बहुत कुछ कम कर देता है। रावण की राजसभा में राम द्वारा भेजे जाते समय शत्रु के साथ उसे ऐसा ही वार्तालाप करने का आदेश किया जाता है जो लक्ष्य-पूर्ति में सहायक होने के अतिरिक्त शत्रु का भला भी कर सके :

काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥

(मानस, लंका० १७)

किंतु वह लंका की राजसभा में हमें इस आदेश की भरपूर अवहेलना करता हुआ दिखाई पड़ता है। रावण के साथ वार्तालाप में वह रावण को 'खल', 'शठ', 'अधम', और 'मलराशि' ऐसे शब्दों द्वारा कम से कम अठारह बार संबोधित करता है, जब कि राक्षस राज ऐसे शब्दों का प्रयोग केवल दस बार ही करता है, और भी, हम देखते हैं कि इस प्रकार की शब्दावली के प्रहार का प्रारंभ अंगद की ओर से होता है, जो इन में से एक अशिष्ट शब्द का प्रयोग राक्षस राज द्वारा उसी शब्द के प्रयोग के पूर्व करता है। इस विचार को अलग छोड़कर कि यह "बतकही" राजनीति अनुमोदित है अथवा नहीं,

[1] मानस, उत्तर० १७-१८

[2] वही १९

[3] वही

[4] वही, लंका० २०-३५

क्या कोई यह कह सकता है कि इन शब्दों से किसी अंश तक भी राम के अभीष्ट की पूर्ति या राक्षस-राज की कोई भलाई किसी प्रकार हो सकती थी? राम के समान प्रभु के दूत द्वारा ऐसे शब्दों के प्रयोग के लिए कोई भी उचित कारण नहीं प्रतीत होता, अतः यह प्रसंग अंगद के चरित्र के सुंदर विकास में एक अत्यंत कला विरुद्ध योग सिद्ध हुआ है।

२६. कौशल्या: आधार-ग्रंथों की कौशल्या में हम अपने पति द्वारा उचित सम्मान से वंचिता और इसी लिए क्षीणकाया, खिन्नमना, उपवासादिपरा, पर क्षमाशीला, त्यागशीला, सौम्य, विनीत, गंभीर, प्रशांत, विशालहृदया तथा पतिसेवापरायणा आदर्श महिला का चित्र पाते हैं जो अपने निरपराध पुत्र के निर्वासित होने पर इन सद्गुणों का और भी विकास करती हुई देखी जाती है। हमारा कवि इस चरित्र को अपना कर एक विशेष ढंग से उस को उत्कर्ष प्रदान करता है।

२७. तुलसीदास की कौशल्या कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय की, जिस का दूसरा नाम 'विवेक' है, सूक्ष्म भावना प्रदर्शित करती हैं: जब उन से उन के पुत्र के निर्वासन का कारण बताया जाता है, वे एक विषम अंतर्द्वंद में पड़ जाती हैं, एक ओर कर्त्तव्य और दूसरी ओर मातृ-स्नेह उन्हें व्यथित करने लगता है, परंतु अविलंब ही वे कर्त्तव्य के पक्ष में निर्णय कर पाती हैं: राम को वन जाने की आज्ञा देने के लिए प्रार्थना के उत्तर में दिया हुआ उन का व्याख्यान[1] विवेक, समत्व-बुद्धि, कर्त्तव्य-बुद्धि और धर्म-बुद्धि का उत्कृष्ट उदाहरण है। उन के चरित्र में एक महानता है जो अन्यत्र बहुत ही कम देखी जाती है: भरत को राज-मुकुट धारण करने के लिए उन का उपदेश[2] इस का एक पर्याप्त प्रमाण होगा। वह एक अत्यंत दयालु हृदय का परिचय देती हैं: चित्रकूट-यात्रा में जब वह पुरजनों को पैदल चलता देखती हैं, क्यों कि भरत भी पैदल चल रहे हैं, तो वह अपनी पालकी दोनों भाइयों के समीप ठहरा कर उन से रथ पर चढ़ने का अनुरोध यह कह कर करती हैं कि अन्यथा साथ के सब नर-नारी भी जो कि राम-विरह-जनित शोक के कारण दुःखित और कृश-शरीर हो रहे हैं, और पैदल यात्रा के योग्य नहीं हैं, उसी प्रकार चलेंगे।[3]

[1] मानस, अयोध्या० ४–५७ [2] वही, १७६

[3] वही, १८८

चित्रकूट में वे एक अत्यंत विलक्षण आध्यात्मिक जागृत प्रदर्शित करती हैं; कथा का कोई भी पात्र इतनी बुद्धिमत्ता पर आतरिक अनुभूति के साथ नहीं बोलता जितना कौशल्या, जब वह सीता की माता से कहती हैं :

देबि मोहवस सोचिय बादी। बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।
भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिय सखि लखि निज हित हानी।

(मानस, अयोध्या० २८२)

२८ 'गीतावली' में उपर्युक्त कोटि के उदाहरणों का काफी अभाव है। पर उस में इस की पूर्ति एक अन्य प्रकार से हुई है: उस में चरित्र के मातृ-पक्ष का एक बड़ा मौलिक और स्वाभाविक विकास हुआ है: वहाँ पर कौशल्या का चित्रण एक अत्यंत स्नेहमयी माता के रूप में हुआ है। जब राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ चले जाते हैं तो उन के कुशल की चिंता में कौशल्या अत्यंत व्याकुल पाई जाती हैं;[1] और जब वे निर्वासित होकर वन को जाते हैं तो वह अपने चित्त की समस्त शांति खो देती है—माता की यह दशा वास्तव में बड़ी ही करुण है;[2] चित्रकूट से लौटने के पश्चात् वे पुत्र-वियोग में पुनः अत्यंत व्यथित होती हैं;[3] और, अंत में वनवास की अवधि समाप्त होने के पूर्व अपनी दयनीय दशा में अत्यंत दुःखित दिखाई पड़ती हैं।[4] 'रामचरित मानस' में चरित्र के इस पक्ष का विकास नहीं किया गया है, इस लिए 'गीतावली' का यह चित्र हमारे कवि की रचनाओं में निश्चय ही एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

२९. कैकेयी : आदि काव्य की कैकेयी में एक प्रकार से हम रावण का प्रति-रूप-सा पाते हैं : उसी के समान यह भी एक आदर्शवादी नहीं वरन् वस्तुवादी, कल्पनावादी नहीं वरन् प्रत्यक्षवादी, निराशावादी नहीं वरन् आशावादी अदृष्टवादी नहीं वरन् संकल्पवादी, संशयवादी नहीं वरन् निश्चयवादी और धार्मिक से भिन्न अधार्मिक 'प्रवृत्तिप्रमुख चरित्र' पाते हैं। पुनः हम उस में कौशल्या के विपरीत अपने पतिद्वारा उचित से अधिक मात्रा में सम्मानित, और इसी कारण शरीर एवं मन में विचित्र रूप से उत्फुल्ल, अपनी सपत्नियों के प्रति अनुदार, असहिष्णु, स्वेच्छापरायण, निःशंक, मानाभिमानिनी, महत्वाकांक्षिणी

[1] मानस, बाल० १७, १८, १९
[2] वही, अयोध्या० ५१—५५
[3] वही, ८४-८७
[4] वही, लंका० १७-२।

तथा उद्धत स्वभाव की महिला का चित्र पाते हैं। 'रामायण' की शोकपर्यवसायिनी घटना के लिए संपूर्ण रूप से—या मुख्य अंशों में भी—मंथरा का दोष देना अनुचित है, उस का बीज पहले ही से कैकेयी में दिखाई पड़ता है, मंथरा केवल उसे उपयुक्त जल से सींचती है, और भरत की अनुपस्थिति और राजा की अपने अभीष्ट पूर्ति की आतुरता में एक उचित परिस्थिति पाकर वह बीज अंकुरित होता है। परंतु उस की अंतिम झलक अनुताप, आत्मग्लानि तथा घोर आंतरिक व्यथा से ओतप्रोत है: उस की निष्ठुर महात्वाकांक्षा, जो अपने पति की मृत्यु से भी किसी विशेष मात्रा में प्रभावित नहीं होती, पुत्र के द्वारा राजमुकुट के ठुकराए जाने पर चूर्णित हो जाती है। भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति ने इस प्रकृतिगत महात्वाकांक्षा की सरल कथा से संतुष्ट न हो कर चरित्र के इस व्यापार को देवताओं की उन के दुर्विजेय शत्रु रावण के विरुद्ध कूट युक्तियों से संबद्ध किया है। यह योजना जब कि एक ओर महात्मा भरत की माता को एक किंचित् निंदनीय महात्वाकांक्षा से शोकपर्यवसायी प्रभाव को बिना कोई गहरी क्षति पहुँचाए भी मुक्त करने का श्रेय प्राप्त करती है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि चरित्र चित्रण के सौंदर्य का बहुत-कुछ कम कर देती है। हमारा कवि इस पिछली कैकेयी को ग्रहण करता है और इसी को एक सच्चे शोकपर्यवसायी चरित्र की भाँति विकसित करने का प्रयत्न करता है।

३० किन्तु इस प्रशस्त प्रयत्न में वह उस को अनावश्यक रूप से निर्दय चित्रित करता हुआ उस में अकारण भयानकता का समावेश कर देता है जब राजा के लिए उस से वह यह कहलाता है:

कहहु करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया।

(मानस, अयोध्या० ३३)

अथवा यह कहलाता है:

दुइ कि होइ इक संग भुआलू। हँसब ठठाइ फुलाउब गालू।
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई।

(मानस, अयोध्या० ३५)

अथवा पुन यह कहलाता है:

तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी।

(मानस, अयोध्या० ३५)

यही बात अपने पिता का सत्य पालन के लिए प्रोत्साहित करने के लिए राम को दिए उस के उपदेश में भी लक्षित होती है :

पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई । चौथे पन अघ अजसु न होई ।
तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हें । उचित न तासु निरादर कीन्हें ।

(मानस अयोध्या० ४३)

फिर भी इस बात से अंतरजन से हमारे कवि का कैकेयी के चरित्र में एक किंचित् भयानक तथा जुगुप्सामय चित्र उपस्थित करने में सफलता मिली है यह मानना पड़ेगा।

३१ सुमित्रा आधार ग्रंथों की सुमित्रा कथा में एक अत्यंत उपेक्षित और दीन जीवन व्यतीत करती हैं । वे अपने पुत्र को सपत्नी के पुत्र के साथ उस के निर्वासित होने पर भेजती हैं, किन्तु हमारा कवि उन के चरित्र की इस उदारता मात्र से संतुष्ट न होकर उस में एक आध्यात्मिक चेतना का विकास करता है ।

३२ अपने पुत्र को राम के साथ वन गमन की आज्ञा देते समय का सुमित्रा का व्याख्यान स्पष्टतः इतना आध्यात्मिक है कि शुद्ध कला की दृष्टि से यदि उसे देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वह वास्तव में कथा में सुसंगत नहीं है । उस व्याख्यान में वे राम के परमेश्वरत्व विषयक ज्ञान की अभिव्यक्ति करती हैं, और अपने पुत्र का राम सेवा के दृढ़ संकल्प के लिए बधाई देती हैं । इस संबंध में उस के अंतिम शब्द, जिन में वह उस का एक आध्यात्मिक शुद्धि का उपदेश करती हैं, कदाचित् ही भुलाए जा सकते हैं :

राग रोष इरिषा मद मोहू । जनि सपनेहु इनके बस होहू ।
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ।

(मानस अयोध्या० ७५)

इसी प्रकार, फिर जब लक्ष्मण वन से वापस आते हैं, वे उन्हें इसी कारण भेंटती भी हैं कि उन्होंने राम चरणों की भक्ति प्राप्त कर ली है :

भेंटेउ तनय सुमित्रा रामचरन रति जानि ।

(मानस, उत्तर० ६)

३३. 'गीतावली' में कवि उसे एक अत्यंत वीर माता के रूप में चित्रित करता है, जो अपने दूसरे पुत्र शत्रुघ्न को भी रणक्षेत्र में जाने का आदेश करती हुई दिखाई पड़ती है, जब वह यह सुनती है कि लक्ष्मण युद्ध

में आहत हो कर मूर्छित पड़े हैं।[1] दो परस्पर विरोधी भावों के अनुभावों का ऐसा सुंदर सामंजस्य कवि की समस्त कृतियों में अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिलेगा। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जावे तो 'रामचरित मानस' में माता की भक्तिमयी प्रवृत्ति कुछ अस्वाभाविक सी लगती है: वहाँ कवि अपनी रामभक्ति को बिना किसी अवसर के प्रकट करता हुआ प्रतीत होता है; 'गीतावली' में वीर माता का जो विकास वह करता है उस के लिए हमारा कवि सब प्रकार से सराहना का पात्र है।

३४ सीता : आधार ग्रंथों की सीता में हम एक निश्चयात्मक बुद्धि-वाली, निष्कपट, सरल हृदया, और आत्म-सम्मान के भाव से संपन्न तथापि अतिशय स्नेहमयी, निरीह, महात्वाकांक्षा-रहित, विनीत, नियमशीला, संयमशीला, मुखमंडल पर पातिव्रत की आभायुक्त, और अपने स्वामी से वियुक्त होने पर क्षीणकाया कुलवधू का चित्र पाते हैं। हमारा कवि इसी सीता को ग्रहण करता है और अपने ढंग से उसे उपस्थित करता है।

३५ तुलसीदास की सीता एक लज्जाशीला तथा विनयशीला कुलवधू है। जब वह राम के वन गमन की तैयारी सुनती है, वह व्याकुल हो उठती है। वह अपनी सास के समीप जाती है, और उन के चरणों में प्रणाम कर के सिर नीचा कर के बैठ जाती है, वह एक शब्द भी नहीं बोलती, और अश्रुपात करती हुई अपने पैर की उँगलियों के नखों से पृथ्वी पर कुछ लिखने-सी लगती है,[2] राम की माता ही राम पर यह प्रकट करती है कि सीता की इच्छा उन के साथ वन जाने की है।[3] फिर जब वह अपने पति द्वारा घर ही पर रहने के लिए दी गई शिक्षा का उत्तर देने के लिए प्रस्तुत होती है, वह माता के चरणस्पर्श करती है, और उत्तर देने की अशिष्टता के लिए क्षमा-याचना करती है।[4] यही लज्जाशीलता तथा सुशीलता उस में हमें फिर उस समय दिखाई पड़ती है जब वह सुमन्त्र द्वारा लाए गए दशरथ के संदेश का उत्तर देने को प्रस्तुत होती है। उस समय उन से वह कहती है कि अत्यंत शोक के कारण ही वह उन के सम्मुख उपस्थित हुई है, अतः वे उसे बुरा नहीं मानेंगे।[5] उस के

[1] गीता० लंका० १३

[2] मानस, अयोध्या० ५७ ५८

[3] वही, ५८–६०

[4] वही, ६४

[5] वही, ९७

चरित्र की यह लज्जाशीलता तथा विनयशीलता उसे 'रामचरित मानस' में एक अत्यंत प्रिय रूप प्रदान करती है। वन जाने के लिए माता से विदा लेते समय के उस के शब्द 'पितृसेवा' की उस की आंतरिक लालसा के व्यंजक हैं :

तब जानकी सासु पद लागी। सुनिय मातु मैं परम अभागी।
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा।
तजब छोभ जनि छाँड़िय छोहू। करम कठिन कछु दोष न मोहू।

(मानस, अयोध्या० ६९)

चित्रकूट में वह माताओं की सराहनीय सेवा करती हुई दिखाई पड़ती है।[1] जब वह वन से लौट कर आती है तो वह घर के समस्त कार्यों का भार अपने ऊपर ले लेती है और एक आदर्श भारतीय वधू के समान वह सासुओं की सेवा करती है, और अपने पति की आज्ञाकारिणी है; और यद्यपि राज भवन में अपने-अपने कर्त्तव्यों में कुशल अनेक सेवक हैं, वह सब गृह-कार्य स्वयं करती है।[2] 'मानस' की सीता के इन अद्भुत गुणों से यह कदाचित् सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि कवि की दृष्टि में पूर्ण स्त्रीत्व का आदर्श क्या है। उस की स्वाभाविक सलज्जता एवं विनम्रता, विनयशीलता और गुरुजनों के प्रति सेवा-भावना, गृहस्थी के छोटे से छोटे कार्य को करने की चेष्टा एक पाश्चात्य समालोचक को हिंदू स्त्रीत्व की अधोगति के द्योतक हो सकते हैं, परंतु एक सामान्य भारतीय मस्तिष्क के लिए इन का संबंध हिंदू परिवार के वास्तविक सुख और शांति से है।

२६. 'गीतावली' की सीता के चरित्र में 'मानस' की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, केवल एक स्थान पर देखा जाता है कि वह अपने और अपने स्वामी की अपेक्षा विभीषण के लिए अधिक चिंतित दिखाई पड़ती है, जो बहुत स्वाभाविक नहीं जान पड़ता :

कबहूँ कपि रावन आवहिंगे।
यह अभिलाष रैन दिन मेरे राज विभीषन कब पावहिंगे।

(गीता० सुंदर० १०)

सीता के चरित्र का एक और प्रसंग 'गीतावली' में ध्यान देने योग्य है : वह है उसके निर्वासन का प्रसंग, जो 'मानस' में नहीं आता। उस में एक

[1] मानस, अयोध्या० २५२ [2] वही, उत्तर० २४

निराश और भग्न हृदय हमें दिखलाई पड़ता है जो बड़ा ही दयनीय है, सीता वन में पहुँच कर लक्ष्मण को विदा देते हुए केवल यही प्रार्थना करती है

> लखनलाल कृपाल निपटहिं डारिबी न बिसारि।
> पालयी सब तापसनि ज्यों राज धरम बिचारि।
>
> (गीत० उत्तर० २९)

३७. मथरा आदि काव्य में मथरा कैकेयी की एक परम विश्वास पात्र परिचारिका है, जो अपनी स्वामिनी के समान कुछ नि शंक भी है, इस के अतिरिक्त वह अत्यत चतुर और स्वामिभक्त है, यह उस की अटल स्वामिभक्ति के ही कारण है कि वह अपनी स्वामिनी को इस की अपेक्षा कि राज-मुकुट उस के सौत के पुत्र को दिया जाए उसे अपने पुत्र के लिए लेने की सलाह देती है, यद्यपि यह सत्य है कि अपनी स्वामिनी को सफलतापूर्वक इस कार्य म प्रवृत्त करा पाने के कारण तत्परिणाम-स्वरूप दु खमय पर्यवसान के लिए अशतः वह भी उत्तरदायिनी होती है, फिर भी, जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, केवल – या मुख्य रूप से भी—इस कार्य के लिए उस को दोष देना अनुचित है, वास्तविक बात यह है कि शोकपर्यवसायी कार्य का मूल कैकेयी के चरित्र में पहिले ही से विद्यमान था, मथरा ने केवल उस के अकुरित होने में योग दिया। भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति एक विश्वासपात्र परिचारिका के इस यथातथ्य चित्र से सतुष्ट न होकर उस को राम वन-गमन के षड्यन्त्र में देवताओं द्वारा प्रेरित एक यन्त्र का रूप देती है, और वह यही मथरा है जिस को हमारा कवि अपने काव्य के लिए ग्रहण करता है।

३८. वह इस में अपनी कला का ऐसा उत्कर्ष दिखाता है कि मथरा एक अमर चरित्र बन जाती है—जिस मनोवैज्ञानिक और व्यजना प्रचुर तर्क प्रणाली[1] का कवि उस के हवाले करता है उस के कारण मथरा का चित्र *किसी भी कलापूर्ण चित्रावली में एक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता है।* फिर भी, तुलसीदास उस के लिए "मदमति"[2], "कुबुद्धि"[3], "कुजाति"[4], "कुटिल"[5], "पापिनी"[6], "अवध-साढ़साती"[7], तथा "पातकिनि"[8] आदि

[1] मानस, अयोध्या० १३-२२
[2] वही, १२
[3] वही, १३
[4] वही
[5] वही
[6] वही
[7] वही, १७
[8] वही, २२

चरित्र की यह लज्जाशीलता तथा विनयशीलता उसे 'रामचरित मानस' में एक अत्यंत प्रिय रूप प्रदान करती है। वन जाने के लिए माता से विदा लेते समय के उस के शब्द 'पितृसेवा' की उस की आतंरिक लालसा के व्यंजक हैं :

तब जानकी सासु पद लागी। सुनिय मातु मैं परम अभागी।
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा।
तजब छोभ जनि छाँड़िय छोहू। करम कठिन कछु दोष न मोहू।
(मानस, अयोध्या० ६९

चित्रकूट में वह माताओं की सराहनीय सेवा करती हुई दिखाई पड़ती है।[1] जब वह वन से लौट कर आती है तो वह घर के समस्त कार्यों का भार अपने ऊपर ले लेती है और एक आदर्श भारतीय वधू के समान वह सासुओं की सेवा करती है, और अपने पति की आज्ञाकारिणी है; और यद्यपि राज भवन में अपने-अपने कर्त्तव्यों में कुशल अनेक सेवक हैं, वह सब गृह-कार्य स्वयं करती है।[2] 'मानस' की सीता के इन अद्भुत गुणों से यह कदाचित् सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि कवि की दृष्टि में पूर्ण स्त्रीत्व का आदर्श क्या है। उस की स्वाभाविक सलज्जता एवं विनम्रता, विनयशीलता और गुरुजनों के प्रति सेवा-भावना, गृहस्थी के छोटे से छोटे कार्य को करने की चेष्टा एक पाश्चात्य समालोचक को हिंदू स्त्रीत्व की अधोगति के द्योतक हो सकते हैं, परंतु एक सामान्य भारतीय मस्तिष्क के लिए इन का संबंध हिंदू परिवार के वास्तविक सुख और शांति से है।

२६. 'गीतावली' की सीता के चरित्र में 'मानस' की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, केवल एक स्थान पर देखा जाता है कि वह अपने और अपने स्वामी की अपेक्षा विभीषण के लिए अधिक चिंतित दिखाई पड़ती है जो बहुत स्वाभाविक नहीं जान पड़ता :

कबहुँ कपि राघव आवहिंगे।
यह अभिलाष रैन दिन मेरे राज विभीषन कब पावहिंगे।
(गीता० सुंदर० १०

सीता के चरित्र का एक और प्रसंग 'गीतावली' में ध्यान देने योग्य है : वह है उसके निर्वासन का प्रसंग, जो 'मानस' में नहीं आता। उस में ए

[1] मानस, अयोध्या० २५२ [2] वही, उत्तर० २४

निराश और भग्न हृदय हमें दिखलाई पड़ता है जो बड़ा ही दयनीय है, सीता वन में पहुँच कर लक्ष्मण को विदा देते हुए केवल यही प्रार्थना करती है :

लखनलाल कृपाल निपटहिं डारिबी न बिसारि।
पालवी सब तापसनि ज्यों राज धरम बिचारि।
(गीता० उत्तर० २९)

३७. मथरा : आदि काव्य में मथरा कैकेयी की एक परम विश्वास पात्र परिचारिका है, जो अपनी स्वामिनी के समान कुछ निःशंक भी है, इस के अतिरिक्त वह अत्यत चतुर और स्वामिभक्त है, यह उस की अटल स्वामिभक्ति के ही कारण है कि वह अपनी स्वामिनी को इस की अपेक्षा कि राज मुकुट उस के सौत के पुत्र को दिया जाए उसे अपने पुत्र के लिए लेने की सलाह देती है, यद्यपि यह सत्य है कि अपनी स्वामिनी को सफलतापूर्वक इस कार्य में प्रवृत्त करा पाने के कारण तत्परिणाम-स्वरूप दुःखमय पर्यवसान के लिए अशतः वह भी उत्तरदायिनी होती है, फिर भी, जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, केवल — या मुख्य रूप से भी—इस कार्य के लिए उस को दोष देना अनुचित है, वास्तविक बात यह है कि शोकपर्यवसायी कार्य का मूल कैकेयी के चरित्र में पहिले ही से विद्यमान था, मथरा ने केवल उस के अकुरित होने में योग दिया। भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति एक विश्वासपात्र परिचारिका के इस यथातथ्य चित्र से सतुष्ट न होकर उस को राम वन गमन के षड्यन्त्र में देवताओं द्वारा प्रेरित एक यत्र का रूप देती है, और वह यही मथरा है जिस को हमारा कवि अपने काव्य के लिए ग्रहण करता है।

३८. वह इस में अपनी कला का ऐसा उत्कर्ष दिखाता है कि मथरा एक अमर चरित्र बन जाती है—जिस मनोवैज्ञानिक और व्यजना प्रचुर तर्क प्रणाली[1] को कवि उस के हवाले करता है उस के कारण मथरा का चित्र किसी भी कलापूर्ण चित्रावली में एक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता है। फिर भी, तुलसीदास उस के लिए "मदमति"[2], "कुबुद्धि"[3], "कुजाति"[4], "कुटिल"[5], "पापिनी"[6], "अवध साढ़साती"[7], तथा "पातकिनि"[8] आदि

[1] मानस, अयोध्या० १३-२२
[2] वही, १२
[3] वही, १३
[4] वही
[5] वही
[6] वही
[7] वही, १७
[8] वही, २२

चरित्र की यह लज्जाशीलता तथा विनयशीलता उसे 'रामचरित मानस' में एक अत्यंत प्रिय रूप प्रदान करती है। वन जाने के लिए माता से विदा लेते समय के उस के शब्द 'पितृसेवा' की उस की आतरिक लालसा के व्यंजक हैं

तब जानकी सासु पद लागी। सुनिय मातु मैं परम अभागी।
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा।
तजब छोभ जनि छाँड़िय छोहू। करम कठिन कछु दोष न मोहू।

(मानस, अयोध्या० ६९)

चित्रकूट में वह माताओं की सराहनीय सेवा करती हुई दिखाई पड़ती है।[1] जब वह वन से लौट कर आती है तो वह घर के समस्त कार्यों का भार अपने ऊपर ले लेती है और एक आदर्श भारतीय वधू के समान वह सासुओं की सेवा करती है, और अपने पति की आज्ञाकारिणी है, और यद्यपि राज भवन में अपने अपने कर्त्तव्यों में कुशल अनेक सेवक हैं, वह सब गृह-कार्य स्वयं करती है।[2] 'मानस' की सीता के इन अद्भुत गुणों से यह कदाचित् सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि कवि की दृष्टि में पूर्ण स्त्रीत्व का आदर्श क्या है। उस की स्वाभाविक सलज्जता एवं विनम्रता, विनयशीलता और गुरुजनों के प्रति सेवा भावना गृहस्थी के छोटे से छोटे कार्य को करने की चेष्टा एक पाश्चात्य समालोचक को हिंदू स्त्रीत्व की अधोगति के द्योतक हो सकते हैं, परंतु एक सामान्य भारतीय मस्तिष्क के लिए इन का संबंध हिंदू परिवार के वास्तविक सुख और शांति से है।

२६ 'गीतावली' की सीता के चरित्र में 'मानस' की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, केवल एक स्थान पर देखा जाता है कि वह अपने और अपने स्वामी की अपेक्षा विभीषण के लिए अधिक चिंतित दिखाई पड़ती है जो बहुत स्वाभाविक नहीं जान पड़ता .

कबहूँ कपि राघव आवहिंगे।
यह अभिलाष रैन दिन मेरे राज विभीषन कब पावहिंगे।

(गीता० सुंदर० १०

सीता के चरित्र का एक और प्रसंग 'गीतावली' में ध्यान देने योग्य है यह है उसके निर्वासन का प्रसंग, जो 'मानस' में नहीं आता। उस में एक

[1] मानस, अयोध्या० २५०

[2] वही, उत्तर० २४

उदार दृष्टि, हृदय की विशालता, सरलता, मात्सर्यहीनता, विनम्रता, स्निग्धता, धार्मिकता और भक्ति प्रदान करने में मिलता है। किंतु यह सब गुण उस की कथा के चरित्रों में बिना किसी प्रयास के आए जान पड़ते हैं। यह विशेषताएँ हमारे कवि के चरित्र की ही विशेषताएँ हैं, फलतः जिन चरित्रों के साथ भी उस की सहानुभूति रही है—और कथा के प्रायः समस्त चरित्रों के साथ रही है—उन के विकास में यह स्वतः आ गई हैं, ऐसा प्रतीत होता है; और कलात्मक परिणाम में इस प्रकार की प्रतीति का होना कदाचित् किसी भी कलाकार की सफलता का ज्वलंत प्रमाण हो सकता है।

४२ अपने कवि की चरित्र-चित्रण संबंधी प्रवृत्तियों का अध्ययन समाप्त करने के पूर्व हम कदाचित् एक विषय पर और विचार कर सकते हैं: वह है उस की नारी-संबंधी भावना। प्रत्येक युग के कलाकार नारी-चित्रण में प्रायः उदार पाए जाते हैं, किंतु नारी-चित्रण में तुलसीदास बेहद अनुदार हैं। यद्यपि उन की इस अनुदारता का कारण अभी तक रहस्य के गर्भ में छिपा हुआ है, पर नारी-विषयक उन की अनुदारता एक ऐसा तथ्य है जिस को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। कुछ समालोचक कवि की इस अनुदारता पर सफेदी करना चाहते हैं, और प्रमाण-स्वरूप सीता और कौशल्या के दिव्य चरित्रों की दुहाई देते हैं, किंतु उन्हें यह भी सोच लेना चाहिए कि अपने आराध्य की प्रेयसी और माता को कदाचित् दूसरे प्रकार से वह चित्रित भी नहीं कर सकता था। यदि किसी को कवि की नारी-जाति विषयक भावनाओं का यथार्थ परिचय प्राप्त करना हो तो उसे वे स्थल देखने चाहिएँ जहाँ पर किसी भी बहाने वह संपूर्ण नारी जाति के चरित्र के संबंध में टिप्पणी करता है। किसी भी नारी-पात्र से यदि कहीं कोई भूल हो जाती है तो हमारे कवि के अनुसार सारी नारी-जाति उस के लिए भर्त्सना का पात्र है, और पुरुष-पात्र चाहे कितने भी अपराध करें पुरुष-जाति की भर्त्सना हमारा कवि कभी नहीं करता। कवि की इस प्रवृत्ति का बोध कराने के लिए निम्नलिखित उदाहरण ही पर्याप्त होंगे; ये उदाहरण 'मानस' से न केवल विभिन्न कोटि के पुरुष पात्रों द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में किए गए कथनों से वरन् विभिन्न कोटि के स्त्री-पात्रों, जड़ पात्रों, और स्वतः राम द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में किए गए कथनों से लिए गए हैं; और हम देखेंगे कि कवि स्वतः भी जब नारी-चरित्र पर वक्तव्य देने के लिए आगे आता है, अथवा अपनी कथा के किसी वक्ता द्वारा उस के संबंध में वक्तव्य

दिलाता है, तो वह भी—यदि अधिक नहीं तो—उतना ही क्रूर पाया जाता है। दशरथ इस प्रकार कहते हैं :

कवनें अवसर का भयउ गएउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास॥
(मानस, अयोध्या० २९)

अयोध्यानिवासी इस प्रकार कहते हैं :

सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई।
काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल केहि जगु कालु न खाइ॥
(मानस, अयोध्या० ४७)

भरत इस प्रकार कहते हैं :

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।
सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ।
(मानस, अयोध्या० १६२)

और रावण इस प्रकार कहता है :

नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया।
(मानस, लंका० १६)

कैकेयी स्वतः नारी होते हुए कहती है :

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि॥
(मानस, अयोध्या० १४)

तपस्विनी अनुसूया नारी होते हुए भी कहती है :

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
(मानस, अरण्य० ५)

और, तपस्विनी शबरी भी नारी होते हुए कहती है :

अधम ते अधम अधम अति नारी।
(मानस, अरण्य० ३५)

समुद्र तो नारी-जाति को ढोल और पशुओं की कोटि में स्थान देता है, और उसे ताड़ना की अधिकारिणी बताता है :

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।

(मानस, सुंदर० ५९)

राम स्वतः लक्ष्मण से कहते हैं :

लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।
एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी।

(मानस, अरण्य० ३८)

और नारद से कहते हैं :

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥
अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि॥

(मानस, अरण्य० ४३, ४४)

और पुनः लक्ष्मण से कहते हैं :

सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं॥

(मानस, अरण्य० ३७)

मथरा के भावनाट्य के लिए कवि स्वतः 'तिय माया' शब्द का प्रयोग करता है :

दीन बचन कह बहु बिधि रानी। तब कुबरीं तियमाया ठानी।

(मानस, अयोध्या० २१)

और इसी प्रकार कैकेयी के प्रणयकोपाभिनय के लिए 'नारि चरित' शब्द का प्रयोग करता है :

जद्यपि नीति निपुन नर नाहू। नारिचरित जलनिधि अवगाहू।

(मानस, अयोध्या० २७)

किंतु अभी तक उद्धृत शब्दावली शूर्पणखा के प्रणय-प्रस्ताव के संबंध में प्रयुक्त शब्दावली के सामने कुछ भी नहीं है। कितना अन्यायपूर्ण और अशोभन है निम्नलिखित विचार :

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी।

(मानस, अरण्य० १७)

आशा है कि नारी के प्रति हमारी कवि की अनुदारता का परिचय उपर्युक्त उद्धरणों से भली भाँति प्राप्त हो गया होगा। इस में संदेह नहीं कि तुलसीदास नारी भर्त्सना में अकेले न थे, किंतु यह बात उन के पक्ष को किसी प्रकार न्यायोचित नहीं बना सकती। सब से अधिक दुःख होता है उनके उपर्युक्त अंतिम वक्तव्य पर, जिसका प्रतिस्पर्धी कदाचित् किसी अन्य कवि या संत की रचना में नहीं मिलेगा।

भाव चित्रण

४३ हमारे महाकवि का कौशल एक और क्षेत्र में भी असाधारण रूप में प्रस्फुटित हुआ है, वह क्षेत्र है भावों और मनोवेगों का। जितनी सफलता पूर्वक हमारे कवि ने विभिन्न कक्षा, तीव्रता और वेग के भावों और मनोवेगों का चित्रण किया है वह एक महाकवि के अनुरूप ही है। अत आने वाले कतिपय पृष्ठों में हम इसी महत्वपूर्ण विषय का अध्ययन करेंगे। इस प्रसंग में हम महाकवि की समस्त रचनाओं में से सब से अधिक सफल चित्रों को ले कर उन के विश्लेषण का प्रयत्न करेंगे और सुविधा के लिए उन भाव चित्रों को उनकी सजातीयता के आधार पर विभिन्न समूहों में रक्खेंगे।

४४ 'रति' तथा सजातीय भाव नायक तथा नायिका के प्रणय का सूत्र पात वाटिका विहार प्रकरण में होता है। 'मानस' में नायक के 'गुण-श्रवण' पर नायिका के चित्त में उस के दर्शन की 'लालसा' उत्पन्न होती है। इस 'लालसा, का कवि ने 'आकुलता' द्वारा उत्कट बना दिया है

तासु बचन अति सियहि सुहाने। दरस लागि लोचन 'अकुलाने'।

(मानस, बाल० २२९)

निरे 'औत्सुक्य' से कदाचित् यह एक भिन्न कक्षा का भाव है। इस के पीछे संभवत 'पूर्वानुराग' की कुछ और स्थितियाँ छिपी हुई हैं।

इस से किंचित कोमल 'औत्सुक्य' नायक में भी नायिका के बजने वाले आभूषणों की ध्वनि से उत्पन्न किया जाता है, यद्यपि भारतीय काव्यों का नायक 'धीर' हुआ करता है, कदाचित् इस लिए 'आकुलता' का 'समावेश' उस के संबंध में नहीं किया जाता है

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। 'मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं'।

(मानस, बाल० २३०)

इस 'औत्सुक्य' में 'रति' का भाव अप्रस्तुत में लाई गई ध्वनि द्वारा कितनी विचित्रता के साथ उपस्थित किया गया है यह ध्यान देने योग्य है।

एक प्रकार की 'जड़ता' का भाव इस कल्पना के अनन्तर ही राम में सीता के दर्शन द्वारा उपस्थित होता है :

भए बिलोचन चारु 'अचंचल'। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।

(मानस, बाल० २३०)

सीता में भी इसी प्रकार की 'जड़ता' का भाव राम के प्रथम दर्शन के समय उपस्थित किया जाता है :

थके नयन रघुपति छबि देखें। 'पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें'।

(मानस, बाल० २३२)

और तदनतर—

'अधिक सनेह' 'देह भइ भोरी'। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।

(मानस, बाल० २३२)

—के द्वारा उस 'जड़ता' के मूल में 'रति' की व्यापकता का निर्देश किया जाता है।

भावों की इस स्थिति के अनन्तर नायिका में 'अवहित्था' का संचार दिखाया जाता है :

देखन मिस मृग बिहँग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

(मानस, बाल० २३४)

और इस प्रकार की 'अवहित्था' के दर्शन नायिका में कदाचित् हमें पुनः धनुर्यज्ञ प्रकरण में होते हैं :

मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई।
गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥

(मानस बाल० २४८)

धनुष तोड़ने के लिए रंगमंच पर नायक के आने के क्षण से ले कर धनुर्भंग तक नायिका के हृदय में उठने वाले भावों और मनोवेगों को कवि ने धनुर्यज्ञ प्रकरण में वर्णन का प्रधान लक्ष्य बनाया है, और इन 'रति'-जनित भावों और मनोवेगों में व्याप्त 'अधीरता' का उत्तरोत्तर विकास कवि ने कौशलपूर्वक किया है।

परीक्षा में नायक की असफलता की शंका और परिणाम-स्वरूप इष्ट की प्राप्ति में असभावना की 'आशंका' के कारण नायिका में 'चपलता' के लक्षण दिखाई पड़ते हैं :

तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदयँ बिनवति 'जेहि तेही'।
(मानस, बाल० २५७)

'आकुलता' भी उस की स्पष्ट है :

मन ही मन मनाव 'अकुलानी'। होउ प्रसन्न महेस भवानी।
(मानस, बाल० २५७)

नायक के सौंदर्य की अनुभूति से—क्यों कि सौंदर्य और 'रति' का बहुत-कुछ अन्योन्याश्र संबध है—नायिका कभी अपने पिता पर खीजती है, और कभी उन के परामर्शदाताओं पर, और परीक्षा की कठोरता पर, विचार करते हुए 'अधीरता' का पर्याप्त कारण पाती है :

नीकें निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि 'बहुरि मनु छोभा'।
अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानी।
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई।
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा।
बिधि 'केहि भाँति धरौं उर धीरा'। सिरस सुमन कत बेधिय हीरा।
(मानस, बाल० २५८)

नायिका की यह 'अधीरता' धीरे धीरे उस को इतना व्यथित कर देती है कि यदि समाज का सकोच न होता तो वह सस्वर रुदन करने लगती; किंतु, दूसरे ही क्षण उसे अपनी इस 'व्याकुलता' पर लज्जा आती है, और वह सँभल जाती है :

'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी'। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसें परम कृपन कर सोना।
सकुची 'व्याकुलता बड़ि' जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी।
(मानस, बाल० २५९

अब उस में 'मति' का आगमन होता है और वह इस प्रकार 'निश्चय करती है :

तन मन बचन मोर पनु साँचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा।
तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहहिं मोहिं रघुबर कै दासी।

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ 'न कछु संदेहू'।
(मानस, बाल० २५९)

किंतु फिर भी 'रति'-जनित यह 'व्याकुलता' उस का पीछा नहीं छोड़ती, क्यों कि नायक जब उस को देखता है, तो उस को उसी मानसिक स्थिति में पाता है :

देखी 'विपुल बिकल' बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही।
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करइ का सुधा तड़ागा।
का बरषा जब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें।
अस जियँ जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी।
(मानस, बाल० २६१)

इस स्थिति का अंत धनुर्भंग द्वारा होता है, और तब नायिका 'सुख' की स्थिति को प्राप्त होती है :

सीय 'सुखहिं' बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।
(मानस, बाल० २६३)

अभीष्ट वर की प्राप्ति पर 'हर्षातिरेक' के साथ जयमाल पहनाने के लिए नायक के सन्निकर्ष को प्राप्त नायिका अपने गूढ़ 'रति' के कारण जिस प्रकार नायक के अलौकिक सौंदर्य से प्रभावित होती है, उस का परिचय कवि पुनः 'जड़ता' के आविर्भाव द्वारा करता है :

तन सकोचु मन 'परम उछाहू'। 'गूढ़ प्रेम' लखि परइ न काहू।
जाइ समीप राम छबि देखी। 'रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी'।
(मानस, बाल० २६४)

विरह-जनित 'उन्माद' का जो चित्रण कवि ने सीता-हरण के अनन्तर राम के आश्रम लौटने पर किया है वह बहुत यथातथ्य हुआ है। फलतः इस में आश्चर्य ही क्या है यदि उस 'उन्माद' के कारण अपनी संकटपूर्ण परिस्थिति में हमारे नायक को प्रकृति कभी उस का क्रूर उपहास करती हुई दिखाई पड़ती है :

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना।
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी।
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।

श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू।
(मानस, अरण्य० ३०)

. री कोई व्यङ्ग्यपूर्ण कथन करती हुई ज्ञात होती है :
नारि सहित सब खग मृग बृंदा। मानहु मोरि करत हहिं निंदा।
हमहिं देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं।
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ये आए।
(मानस, अरण्य० ३७)

अथवा कभी कोई नीतिपूर्ण उपदेश करती हुई दिखाई पड़ती है :
संग लाइ करिनीं करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं।
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं।
(मानस, अरण्य० ३८)

हनुमान ने लंका से लौटने पर राम को विरहातुरा सीता का जो 'प्रणय-संदेश' सुनाया है, उसे 'दैन्य' और 'विषाद' के भावों ने मर्मस्पर्शी बना दिया है :

नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनककुमारी।
अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। 'दीनबंधु' 'प्रनतारतिहरना'।
मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।
अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा।
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी।
(मानस, सुंदर० ३१)

कवि की अन्य कृतियों में 'रति' तथा उस के सहकारी भावों का जिन स्थलों पर विशेष रूप से चित्रण हुआ है, उन में से एक 'जानकी-मंगल' में जानकी द्वारा जयमाल पहनाए जाने का स्थल है। उस स्थान पर 'रति' के आकर्षण और 'व्रीड़ा' की बाधा का चित्रण एक कल्पना की सहायता से सुंदर ढंग पर हुआ है :

सीय 'सनेह' 'सकुच' बस पिय तन हेरइ ।
सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ ॥
लसत ललित कर कमल माल पहिरावत ।
काम फंद जनु चंदहिं बनज फँदावत ॥

(जा० म० १२१–२२)

दांपत्य 'रति' का एक उत्कृष्ट और पूर्ण चित्र कवि ने 'गीतावली' में निर्वासित दंपति के चित्रकूट की एक 'झाँकी' में उपस्थित किया है; भावना की कोमलता उसमें दर्शनीय है,

'फटिक सिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल
ललित लता जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनि तटिनि तीर मंजुल मृग बिहग भीर
धीर मुनिगिरा गभीर सामगान की।
मधुकर पिक बरहि मुखर सुंदर गिरि निर्झर झर
जलकन घन छाँह छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ संतत बहै त्रिबिध बाउ
जनु बिहारबाटिका नृप पंचबान की।
बिरचित तहँ पर्नसाल अति बिचित्र लखन लाल
निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी।
निज कर राजीवनयन पल्लवदल रचित सयन
प्यास परसपर पियूष प्रेम पान की।
सिय अँग लिखैं धातुराग सुमननि भूषन बिभाग
तिलक करनि का कहौं कृपानिधान की।
माधुरी बिलास हास गावत जस तुलसिदास
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥

(गीता०, अयो० ४४)

आपत्ति से सरस 'स्नेह' का एक चित्र 'कवितावली' में बड़ा सफल हुआ है :

जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।

तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े ।
जानकी नाह को 'नेह' लख्यौ पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े ।
(कविता०, अयोध्या० १

'रामलला नहछू'[1] तथा 'बरवै' की[2] अमर्यादित शृंगारिकता कु
भिन्न कोटि का है, विशेष रूप से 'रामलला नहछू' की, जिसके सबंध
विश्वास नहीं होता कि वह हमारे ही कवि की कल्पना से प्रसूत है, उन
चित्रित 'रति' तथा सजातीय भावों का विवेचन करने की आवश्यकता यहाँ
नहीं है।

४५. 'हास' तथा सजातीय भाव : हमारे कवि ने नारद-मोह प्रकर
में श्लेष की सहायता से एक मार्मिक 'हास' प्रस्तुत किया है। परिहास "हित
शब्द में निहित है, जिसका प्रयोग नारद एक अर्थ में करते हैं और विष
उससे कुछ भिन्न अर्थ में करते हैं। जब नारद कहते हैं :

जेहि बिधि नाथ होइ 'हित' मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा ॥
(मानस बाल० १३

वे "हित" शब्द का प्रयोग 'उद्देश्य पूर्ति' के अभिप्राय से करते हैं। पर
उसी शब्द का प्रयोग जब विष्णु अपने उत्तर में करते हैं :

जेहि बिधि होइहि परम 'हित' नारद सुनहु तुम्हार ।
सोइ हम करब न आन कछु मृषा न बचन हमार ॥
(मानस, बाल० १३

वे उसका प्रयोग 'चरम कल्याण' के आशय में करते हैं। यह कह
की आवश्यकता नहीं है कि यह अभिप्राय भेद ही हास्यास्पद स्थिति का मुख
कारण है। दुःख यही है कि कवि यहीं नहीं रुक जाता, वह "हित" शब्द
दूसरे प्रयोग को स्पष्ट करने के लिये अग्रसर होता है :

कुपथ माँग रुजब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी।
एहि बिधि 'हित' तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ।
(मानस बाल० १३३)

यह स्पष्टीकरण विदग्ध परिहास का सब सौंदर्य दूर कर देता है, क्योंकि
यदि नारद मूर्ख या विक्षिप्त न होते तो अब तक उन्होंने समझ लिया होता

[1] उदाहरणार्थ रा० ल० न० ५-८ [2] उदाहरणार्थ ; बरवै० ४, १६, १८

कि विष्णु 'हित' शब्द का प्रयोग उनके अर्थ से एक बिल्कुल भिन्न अर्थ में कर रहे हैं।

एक ऐसी ही उक्ति का प्रयोग कवि और करता है जब उसी प्रकरण में शिव के गणों को वह मुनि का उपहास करने के लिये उपस्थित करता है। व्यंग्य "हरि" शब्द के प्रयोग में निहित है जो उसके इस वाक्य में व्यवहृत होता है :

रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी। इन्हहि बरिहि 'हरि' जानि बिसेषी।

(मानस, बाल० १३४)

रुद्रगण "हरि" शब्द का प्रयोग 'बंदर' के अर्थ में करते हैं, पर नारद उसे 'विष्णु' के अर्थ में लेते हैं।

एक सफल 'परिहास' का उदाहरण हमें शिव-विवाह प्रकरण में मिलता है जब कवि केवल व्यंग्य के द्वारा उसे उपस्थित करता है; यह भी संयोग से विष्णु की विनोद-प्रियता का आश्रय लेकर उपस्थित किया गया है :

बिष्नु कहा अस बिहसि तब बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब निज निज सहित समाज॥
'बर अनुहारि' बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई।

(मानस बाल० ९२-९३)

"बर अनुहारि" में शिष्टता की पूरी रक्षा की गई है, क्योंकि "बर अनुहारि" का आशय यह तो हो ही सकता है कि "बरात उतनी सुन्दर नहीं है जितना दूलह है", साथ ही यह भी हो सकता है "वह इतनी असुन्दर नहीं जितना कि दूलह"; फलतः यहाँ पर एक कलापूर्ण 'परिहास' का निर्वाह कवि ने किया है।

वन-यात्रा के समय गंगा पार कराते हुए केवट और राम के संवाद में कवि ने जिस 'हास' को स्थान दिया है वह भी उच्च कोटि का है, और कवि ने कलात्मक ढंग से उस का निर्वाह भी किया है :

माँगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना।
चरन कमल रज कहुँ सब कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई।
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई।
तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई।
एहिं प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहिं जानउँ कछु और कबारू।
जौं प्रभु अवसि पार गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू।

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब सांची कहौं।
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं।

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
'बिहसे' करनाऐन चितइ जानकी लखन तन॥

(मानस, अयोध्या १००)

हमारे कवि ने हास्य का वहाँ प्रयोग परशुराम गर्व हरण प्रकरण में भी किया है[1] परंतु जिस हास्य का वहाँ प्रयाग हुआ है वह बहुत ही निम्न कोटि का है और उस की भी ध्वनि होगई है। वहाँ पर कवि ने 'परिहास' का आयोजन परशुराम का अपमान करने के लिए किया है -

सुनि मुनि बचन लखन मुस्काने। बोले परसु धरहि 'अपमाने'।

(मानस, बाल० २७१)

कवि की अनुदारता ने यहाँ कला का आदर्श उपस्थित होने में स्वत बाधा पहुँचाई है इसके अतिरिक्त उसने परशुराम को एक अत्यंत चिड़चिडे स्वभाव के, कर्कश, वृद्ध ब्राह्मण के रूप में और लक्ष्मण को एक नितांत नटखट लड़के के रूप में, जो दूसरे का अपमान और मानहानि करने पर तुला हुआ है, चित्रित किया है। यह समस्त आयाजन औचित्य और शालीनता के प्रतिकूल है। इस लिए वह नैसर्गिक आनंद भी प्रदान नहीं कर सकता है जो प्रत्येक सुन्दर परिहास शिष्ट लागों का प्रदान करता है।

अंगद रावण संवाद में ध्वनिकाव्य का आश्रय लेकर कवि ने हास्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु रावण पक्ष में कवि की अनुदारता, के कारण उत्पन्न उसको अपमानित करने वाले संबोधनों की अधिकता कलात्मक प्रभाव की सृष्टि में एक विशेष परिमाण में बाधा पहुँचाई है। इस लिए उस के संबंध में। यहाँ पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है

[1] मानस, बाल० २६८—२८४

कवि के अन्य ग्रंथों में से केवल कवितावली 'हास' का एक उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करती है; और वह वन-यात्रा के समय गंगा पार कराते हुए, केवट और राम के संवाद में। 'भक्ति' और 'हास' ऐसे दो साधारणतः परस्पर किंचित विरोधी भावों का सामंजस्य कवि ने इन छंदों में सुन्दर ढंग पर किया है यथा :

एहि घाट तें थोरिक दूर ग्रहै कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू।
परसे पग धूरि तरै तरनी घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू।
तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिए मोहिं बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥

पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे
केवट की जाति कछू वेद ना पढ़ाइहौं।
सब परिवार मेरो याही लागि राजा जू
हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं।
गोतम की घरनी ज्यों तरनी तरेगी मेरी
प्रभु सों निषाद ह्वै के बाद ना बढ़ाइहौं।
तुलसी के ईस राम रावरे सों साँची कहौं
बिना पग धोए नाथ नाव ना चढ़ाइहौं॥

(क्रमशः कविता०, अयोध्या० ६, ८)

४६. 'शोक' तथा सजातीय भाव : कवि एक करुण चित्र उस समय अंकित करता है जब वह कैकयी द्वारा उस के दोनों वरदानों के प्रकट किए जाने पर राजा की दशा का वर्णन करता है; सहवर्ती सात्विक अनुभावों 'स्तंभ', 'स्वरभंग', और 'वैवर्ण्य' के समावेश से यह चित्र और भी पूर्ण बन जाता है :

सुनि मृदु बचन भूप हियँ 'सोकू'। ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू।
'गयउ सहमि' 'नहिं कछु कहि आवा'। जनु सचान बन झपटेउ लावा।
'बिबरन भयउ' निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन।

(मानस, अयोध्या० २९)

एक ऐसा ही चित्र पुनः कवि द्वारा उस समय प्रस्तुत किया जाता है जब उस वरदान को वापस करने की प्रार्थना पर जिस का संबंध राम के वनवास से था वह राजा की असफलता का वर्णन करता है, यह भी 'प्रलय' और 'स्वर भंग' जैसे सात्विक अनुभावों के समावेश द्वारा पूर्णता को प्राप्त हुआ है :

ब्याकुल राउ 'सिथिल सब गाता'। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता।
'कंठ सूख' 'मुख आव न बानी'। जनु पाठीनु दीन बिनु पानी।

(मानस, अयोध्या० ३५)

फिर, एक ऐसे ही चित्र का उद्घाटन कवि द्वारा उस समय होता है जब वह राजा की उस दयनीय दशा का चित्रण करता है जिस में राम उन्हें पाते हैं, यह चित्र 'प्रलय', 'सज्वर', और 'मरण' के समावेश से पूर्ण बन गया है :

जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाजु।
'सहमि परेउ' लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु॥
सूखहिं अधर 'जरइ सबु अंगू'। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू।
सरुष समीप दीखि कैकेई। मानहु 'मीचु' घरीं गनि लेई।

(मानस, अयोध्या० ३९-४०

अपने पुत्र द्वारा उस के निर्वासन का समाचार सुन कर कौशल्या के मातृ हृदय को जो आघात पहुँचता है उस का भी चित्रण सुंदर हुआ है, वह 'स्तंभ', 'प्रलय', 'अश्रु', और 'वेपथु' के समावेश से पूर्ण बन गया है :

बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु उर करके।
'सहमि सूखि' सुनि सीतल बानी। जिमि जवास परें पावस पानी।
कहि न जाइ कछु हृदय 'बिषादू'। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू।
'नयन सजल' 'तन थर थर काँपी'। माँजहिं खाइ मीन जनु माँपी।

(मानस, अयोध्या० ५४

फिर, उस के वे शब्द भी जिन में वह अपने पुत्र को बन जाने की आज्ञा देती हैं अत्यंत करुण हैं :

जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ।
सब कर आजु सुकृतफल बीता। भयउ कराल कालु बिपरीता।
बहु बिधि 'बिलपि' चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी।
दारुन 'दुसह दाहु' उर ब्यापा। बरनि न जाहिं बिलाप कलापा।

(मानस, अयोध्या० ५५

और भी करुण तो उस का जानकी को रखने का प्रयत्न है :

जौं सिय भवन रहइ कहि अंबा। मोहिं कहँ होइ बहुत अवलंबा।

(मानस, अयोध्या० ६०)

इसी प्रकार करुण हैं उस के वे शब्द जिन के द्वारा वह राम को विदा देती है :

बेगि प्रजादुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई।
फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहौं नयन मनोहर जोरी।
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जिअत बदन बिधु जोइहि।
बहुरि बच्छ कहि लाल कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हियँ हरषि निरखिहौं गात॥

(मानस, अयोध्या० ६८)

परंतु उस चित्र से अधिक यथातथ्य और करुण कदाचित् ही कोई होगा जो अपने दौत्य में असफल अयोध्या को वापस आते हुए सुमंत्र के 'शोकोद्वेग' का चित्रण करता है :

'लोचन सजल' 'डीठि भइ थोरी'। 'सुनइ न श्रवन' 'बिकल मति भोरी'।
'सूखहिं अधर' लागि मुँह लाटी'। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी।
'बिबरन भयउ न जाइ निहारी'। मारेसि मनहुँ पिता महतारी।
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जमपुर पन्थ सोच जिमि पापी।
बचनु न आव हृदयँ पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई।...
'हृदय न बिदरेउ' पंक जिमि बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहिं दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥

(मानस, अयोध्या० १४५–४६)

इस संबंध में हम यदि 'शोक' के अनुवर्ती सात्विक अनुभावों के उस वर्णन को भी देखें, जो प्रायः वैज्ञानिकों द्वारा दिया जाता है, तो कवि के चित्र की पूर्णता का अनुभव भली भाँति कर सकते हैं। वे कहते हैं कि 'शोक' में चित्त में स्थित विषय समस्त दैहिक शक्तियों का शोषण कर लेता है, शरीर की सुध-बुध नहीं रहती, जैसे वह प्राण-विहीन हो गया हो, वह झुक जाता है, अंग-प्रत्यंग विलंबित हो जाते हैं, वे शक्तिहीन और ढीले हो जाते हैं, शोकाक्रांत व्यक्ति श्वास कष्टपूर्वक ले पाता है, थोड़ी-थोड़ी देर पर दीर्घ निःश्वास आता है और ग्रीवा और कंठ आक्षिप्त हो जाते हैं, ओष्ठ फूल जाते हैं और काँपने लगते हैं, और मुखाकृति अत्यंत पीली हो जाती है, और बीच-बीच में जब

व्यथा लौटती है, समस्त शरीर में आक्षेप दम घुटने के आवेग के समान व्याप्त हो जाता है। 'शोक' के इन लक्षणों का हमारे कवि ने सुमंत्र की व्यथा के चित्र में कैसे स्वाभाविक रूप से समाविष्ट किया है।

दशरथ की उस दशा का चित्रण भी जिसमें वापस आने पर सुमंत्र उन्हें पाते हैं, उसी प्रकार, यद्यपि उससे कुछ कम विशद रूप में कवि द्वारा इस प्रकार किया गया है

जाइ सुमन्त्र दीख कस राजा। 'अमिअ रहित जनु चंदु बिराजा'।
आसन सयन बिभूषन हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना।
'लेइ उसासु' सोच एहि भाँती। सुरपुर तें जनु खँसेउ जजाती।
लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पङ्ख परेउ संपाती।

(मानस, अयोध्या० १४८)

सुमंत्र द्वारा लाए गए सदेश का प्रभाव, किंतु, बड़ा ही करुण चित्रित हुआ है.

सूत बचन सुनतहि नरनाहू। परेउ धरनि उर 'दारुन दाहू'।
'तलफत' बिषम मोह मन मापा। माँजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा।
'प्रान कंठगत भयेउ' भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू।
'इंद्री सकल बिकल भईं भारी'। जनु सर सरसिज बनु बिनु बारी।
कौसल्याँ नृपु दीख 'मलाना'। रबिकुल रबि अँथएउ जियँ जाना।

(मानस, अयोध्या० १५३–१५४)

अपने पुत्र के वनवास और पति की मृत्यु पर कौशल्या की 'व्यथा' जो भरत से, जब वह अपने मामा के घर से लौट कर आते हैं, मिलते समय फूट पड़ी है, वह अपने ढंग की अकेली ही है। उसमें जितना अभिव्यंजन गांभीर्य है उतना ही भाव गुरुत्व भी है

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी 'झइँ आई'।

मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति 'बारि'॥

भेंटेउ बहुरि लखन लघु भाई। 'सोकु' 'सनेहु' न हृदय समाई।
मातौं भरतु गोद बैठारे। आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे।
राम लखन सिय बनहि सिधाए। गइउँ न संग 'न प्रान पठाए'।
यहु सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगें। तउ 'न तजा तनु जीव अभागें'।

मोहिं न लाज निज 'नेहु' निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी।
जिअइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना।

(मानस, अयोध्या० १६४–६६)

चित्रकूट के आश्रम में जनक-समाज के प्रवेश-समय की विषाद-निमग्न भाव-दशा को भी कवि ने सुंदर ढंग से उपस्थित किया है, यद्यपि रूपक के विस्तार के कारण प्रभाव की तीव्रता में कदाचित् कुछ कमी आ गई है :

आस्रम सागर सांत रस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ 'करुना' सरित लिएँ जाहिं रघुनाथु॥

बोरति ग्यान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नद नारे।
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुबर कर भंगा।
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा।
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहि आवा।
बनचर कोल किरात बेचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे।
आस्रम उदधि मिली जब जाई। मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई।

जननी निरखति बान धनुहियाँ ।
बार बार उर नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ ।
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सवारे ।
उठहु तात बलि मातु बदन पर अनुज सखा सब द्वारे ।
कबहुँ कहति यों बड़ी बार भइ जाहु भूप पहँ भैया ।
बधु बोलि जेंइय जो भावै गई निछावरि मैया ।
कबहुँ समुझि बन गवन राम को रहि चकि चित्र लिखी सी ।
तुलसीदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी सी ॥
(गीत० अयोध्या० ५२)

लक्ष्मण की मूर्छा पर राम का विलाप 'गीतावली' म भी कवि द्वारा पर्याप्त तन्मयता के साथ लिखा गया है

मो पै तौ न कछू ह्वै आई ।
ओर निबाहि भली बिध भायप चल्यो लखन सो भाई ।
पुर पितु मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई ।
ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यौं न प्रान पठाई ।
जानत हौं या उर कठोर तें कुलिस कठिनता पाई ।
सुमिरि सनेह सुमित्रासुत को दरकि दरार न जाई ।
तातमरन तियहरन गीधबध भुज दाहिनी गँवाई ।
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई ॥
(गीता०, लका० ६)

अत में फिर 'गीतावली' म करुण रस की एक सफल व्यजना उस समय हुई है जब कवि सीता निर्वासन का वर्णन करता है[1] वन में छोड कर वापस होते हुए लक्ष्मण का सबोधित निर्वासिता माता के दैन्यपूर्ण निवेदन का कवि ने इतना करुण बना दिया है कि उसे सुनकर प्रत्येक हृदय एक बार पसीज जायेगा । किंतु उस पर 'रघुवश' की छाया स्पष्ट है,[2] इस लिए और अधिक उस के सबध म कहने की आवश्यकता नहीं है ।

४७ 'क्रोध' तथा सजातीय भाव क्रोध का एक चित्ताकर्षक चित्र कवि परशुराम में चित्रित करता है, जब वे वीर वेप में जनकपुर की राज सभा में

[1] गीता०, उत्तर० २८–३२ [2] रघुवंश, सर्ग १४

उपस्थित होते हैं।[1] लक्ष्मण-परशुराम-संवाद में[2] कवि ने 'क्रोध' की कई कोटियों-'कोप', 'संताप', 'अमर्ष', 'प्रतिहिंसा' आदि—का विकास किया है। परंतु चित्रण में, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं,[3] अस्वाभाविकता की मात्रा लक्षित होती है, क्यों कि यह बिल्कुल असंगत प्रतीत होता है कि परशुराम और लक्ष्मण के समान दो उग्र 'स्वभाव' के व्यक्ति इतने समय तक बिना द्वंद-युद्ध किए केवल शब्दों के युद्ध में ही लगे रहें। इस लिए उस पर पुनः विचार करना ठीक न होगा।

'क्रोध' का दूसरा ध्यान देने योग्य चित्र कवि द्वारा कैकेयी के 'कोप' में उपस्थित हुआ है, जब दशरथ उसे उस के दोनों वर प्रदान करने में कुछ पिछड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं।[4] वर्णन दो उत्कृष्ट रूपकों द्वारा पूर्ण बनाया गया है, किंतु अलंकार-प्राधान्य से भाव की तीव्रता कुछ मंद हो गई है, इस लिए यहाँ पर उस के संबंध में भी विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

४८. 'उत्साह' तथा सजातीय भाव : 'अमर्ष'—अर्थात् असत के प्रति रोष—के उत्कृष्ट उदाहरण 'मानस' में लक्ष्मण के अनेक भाषणों के द्वारा प्रस्तुत हुए हैं, विशेष करके उस भाषण-द्वारा जो भरत के चित्रकूट-आगमन का समाचार पाने पर वह देते हैं।[5] दूसरे के उस आचरण के प्रति जिसको कि कोई अनुचित समझता है अविकार प्रकट करना एक दुर्बलता है जो उस व्यक्ति को भी उस अपराध का भागी बना देती है। अतएव 'अमर्ष' एक ऐसा सद्भाव है जो कि समाज की केवल अधर्म से रक्षा ही नहीं करता है वरन् उसको धर्माचरण की ओर प्रवृत्त करने में भी सहायक होता है :

एतना कहत नीति रस भूला। 'रन रस' बिटपु पुलक मिस फूला।
प्रभु पद बंदि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बलु भाखी।
अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहिं उपचारा न थोरा।
कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारें। नाथ साथ धनु हाथ हमारें।
छत्रि जाति रघुकुल जनमु राम अनुग जग जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर नीच को धूरि समान॥

[1] मानस, बाल० २६८
[2] वही, २६९—८३

उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ 'बीर रस' सोवत जागा।
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासन सायकु हाथा।
आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहिं समर सिखावन देऊँ।
राम निरादर कर फलु पाईं। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई।
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू।
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेहिं भरतहिं सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता।
जौं सहाय कर संकर आई। तौ 'मारउँ रन' राम दोहाई।
(मानस, अयोध्या० २३०)

इसी प्रकार, भरतागमन के समाचार पर निषादराज के व्याख्यान में भी उसी भव्य भाव की व्यंजना हुई है।[1] उसमें ऐसा 'शौर्य' प्रकट होता है जिसकी उदात्तता के विषय में अत्युक्ति करना कठिन है :

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। 'ठाटहु सकल मरइ के ठाटा'।
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। 'जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ'।
'समर मरनु' पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा।
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग असि पाइअ 'मीचू'।
स्वामि काज करिहउँ रन रारी। 'जस धवलिहउँ' भुवन दस चारी।
'तजउँ प्रान' रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें।
भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहिं।
सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहिं॥
राम प्रताप नाथ बल तारे। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरे।
'जीवत पाउ न पाछे धरहीं'। रुंड मुंड मय मेदिनि करहीं।
दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू।
(मानस, अयोध्या० १९०—९२)

'उत्साह' का जो भाव बधा मृत्यु के गीत जाने पर किष्किंधा में राम उत्तेजित करता है, उसमें सन्निहित पुरुषार्थ की भावना दर्शनीय है :

एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महुँ आनौं।
कतहुँ रहउ जौं जीवति होई। तात जतन करि आनउँ सोई।
(मानस, किष्किंधा० १

[1] वही, १८९—९१

पूरा अंगद-रावण संवाद[1] वीररस के वाक्यों से भरा हुआ है। औदार्य या भाषण की शिष्टता के प्रश्न को अलग छोड़ देने पर, वह आत्म-प्रदर्शन और आत्म प्रतिपादन का, जो वीरता की मूल प्रवृत्तियाँ हैं, सुंदर दृष्टांत है।

युद्ध के दूसरे दिन रणक्षेत्र में प्रवेश करते समय जिन शब्दों में मेघनाद अपने शत्रु को संबोधित करता है[2] वे वीर दर्प से गर्भित हैं; और उनसे भी अधिक हैं रावण के निम्नलिखित क्रोधपूर्ण शब्द जिनके द्वारा वह अपने वीर पुत्र मेघनाद के वध के उपरांत युद्ध भूमि में प्रवेश करते समय राम को ललकारता है :

तब लंकेस क्रोध उर छावा। गर्जत तर्जत सन्मुख आवा।
जीतेहु जे भट संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं।
रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाकें बंदीखाना।
खर दूषन बिराध तुम्ह मारा। बधेहु ब्याध इव बालि बिचारा।
निसिचर निकर सुभट संघारेहु। कुंभकरन घननादहिं मारेहु।
आजु बयरु सबु लेउँ निबाही। जौं रन भूप भाजि नहिं जाही।
आजु करौं खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले।

(मानस, लंका० ९..)

रावण की सभा में अंगद का पादारोपण 'कवितावली' में 'उत्साह' का अच्छा परिचय देता है :

रोप्यो पाँव पैज कै बिचारि रघुबीर बल
लागे भट सिमिटि न नेकु टसकतु है।
तज्यो धीर धरनि धरनिधर धसकत
धराधर धरि भार सहि न सकतु है।
महाबली बालि को दबत दलकतु भूमि
तुलसी उछरि सिंधु मेरु मसकतु है।
कमठ कठिन पीठि घट्ठा परो मंदर को
आयो सोई काम पै करेजो कसकतु है॥

(कवित्त०, लंका० २६)

[1] मानस, लंका० २०—३५

'कवितावली' के अंतर्गत हनुमान का युद्ध भी वीरता प्रदर्शन का एक उत्कृष्ट वर्णन उपस्थित करता है, उदाहरणार्थ

मत्तभट मुकुट दसकंध साहस सइल
　　सृंग बिद्दरनि जनु बज्र टाँकी।
दसनि धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ
　　सेष संकुचित संकित पिनाकी।
चलित महि मेरु उच्छलित सायर सकल
　　बिकल बिधि बधिर दिसि बिदिसि झाँकी।
रजनिचर घरनि घर गर्भ अर्भक स्रवत
　　सुनत हनुमान की हाँक बाँकी॥

कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत।
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत।
लँगूर लपेटत पटकि भट जयति राम जय उच्चरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥

। भी मुख और कपोल विवर्ण रहते हैं, त्वचा से प्रस्वेद निस्सृत होता है, रोम खड़े हो जाते हैं, स्नायुमंडल दहल जाता है, मुख सूख जाता है और प्राय. स्वरभंग हो जाता है। यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि हमारे कवि ने अपने चित्र इन में से अनेक अनुभावों का समावेश किया है।

कवि द्वारा 'कवितावली' के लंका-दाह के वर्णन में 'आकस्मिक भय' का दृश्य भी बड़ी ही सफलता पूर्वक चित्रित हुआ है। उदाहरणार्थ :

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानौं
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है।
तुलसी सुरेस चाप कैधौं दामिनी कलाप
कैधौं चली मेरु तें कृसानु सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं
कानन उजार्यौ अब नगर प्रजारी है॥
बीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति
पवँरि पगार प्रति बानर बिलोकिए।
अधं ऊर्द्ध बानर बिदिसि दिसि बानर है
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए।
मूंदे आँखि हीय में उघारे आँखि आगे ठाढ़ो
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को किए।
लेहु अब लेहु तब कोऊ न सिखायो मानो
सोई सतराइ जाइ जाहि जाहि रोकिए॥

(क्रमशः- कविता०, सु १०, ९, १७)

५०. 'जुगुप्सा' तथा सजातीय भाव- 'जुगुप्सा' का एक प्रकार का भाव अपने मामा के यहाँ से लौटने के पश्चात् भरत द्वारा की हुई अपनी माँ की भर्त्सना में देखा जा सकता है :

जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ।
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।
भूँप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही।

तो भी मुख और कपोल विवर्ण रहते हैं, त्वचा से प्रस्वेद निकलता है, रोम खड़े हो जाते हैं, स्नायुमंडल दहल जाता है, मुख सूख जाता है और प्रायः स्वरभंग हो जाता है। यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि हमारे कवि ने अपने चित्त में इन में से अनेक अनुभावों का समावेश किया है।

कवि द्वारा 'कवितावली' के लंका-दाह के वर्णन में 'आकस्मिक भय' का दृश्य भी बड़ी ही सफलता पूर्वक चित्रित हुआ है। उदाहरणार्थ :

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानौं
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है।
तुलसी सुरेस चाप कैधौं दामिनी कलाप
कैधौं चली मेरु तें कृसानु सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं
कानन उजार्यौ अब नगर प्रजारी है॥
बीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति
पवँरि पगार प्रति बानर बिलोकिए।
अधं ऊर्ध्व बानर बिदिसि दिसि बानर है
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए।
मूँदे आँखि हीय में उघारे आँखि आगे ठाढ़ो
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को किए।
लेहु अब लेहु तब कोऊ न सिखाओ मानो
सोई सतराइ जाइ जाहि जाहि रोकिए॥

(क्रमशः कवित्त०, सु:१०, ५, १०)

५०. 'जुगुप्सा' तथा सजातीय भावः 'जुगुप्सा' का एक प्रकार का भाव अपने मामा के यहाँ से लौटने के पश्चात् भरत द्वारा की हुई अपनी माँ की भर्त्सना में देखा जा सकता है :

जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ।
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।
भूँप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही।

बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।
जो हसि सो हसि मह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई।

(मानस, अयोध्या० १६२)

युद्ध वर्णन म भी एकाध स्थल पर 'जुगुप्सा' का भाव देखा जा सकता है :

धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
प्रह्लादपति जनु बिबिध तनु धरि समर अंगन खेलहीं।
धरु मारु काटु पछारु घोर गिरा गगन महि भरि रही।
जय राम जो तृन तें कुलिस कर कुलिस तें तृन कर सही।

(मानस, लंका० ८१)

५.१ 'निर्वेद' तथा सजातीय भाव. कवि अयोध्यावासियों में, जब राम का वनवास दिया जाता है, उन के विरह से उत्पन्न उत्कट 'आकुलता' से पुष्ट *'निर्वेद' का चित्रण कवि इस प्रकार करता है :*

लागति अवध 'भयावनि भारी'। मानहु कालराति अँधियारी।
घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहि एकहि एक निहारी।
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता।
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर 'देखि न जाहीं'।
हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुरपसु चातक मोर।
पिक रथाग सुक सारिका सारस हंस चकोर॥
राम वियोग 'बिकल' सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥
नगरु सफल बनु गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी।
बिधि कैकेई किरातिनि कीन्ही। जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही।
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब 'ब्याकुल' 'भागी'।
सबहिं बिचार कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु 'सुखु नाहीं'।

(मानस, अयोध्या० ८३-८४)

एक अत्यंत विशद 'निर्वेद' का दृश्य कवि ने सुमंत्र में उपस्थित किया जब वे राम को वन पहुँचा कर लौटते हैं :

सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। 'धिग जीवन रघुबिर बिहीना'।
'रहिहि न अन्तहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू।
'भए अजस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना'।
'अहह मंद मनु अवसर चूका। अजहु न हृदय होत दुइ टूका'।

मींजि हाथ सिरु धुनि पछताई । मनहुँ कृपन धन रासि गँवाई ।
बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई । चलेउ समर जनु सुभट पराई ।
बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति ।
जिमि धोखें मदपान कर सचिव सोच तेहि भांति ॥
जिमि कुलीन तिय साधु सयानी । पतिदेवता करम मन बानी ।
रहइ करम बस परिहरि नाहू । सचिव हृदयँ तिमि दारुन दाहू ।
(मानस, अयोध्या० १४४-४५)

'निर्वेद' का एक उदाहरण कवि ने दशरथ में अंकित किया है जब वे अपने निरपराध पुत्र राम को युवराज-पद देने के निर्णय की घोषणा करने के पश्चात् स्वतः उसे वनवास देने की बात का स्मरण करते हैं :

राज सुनाइ दीन्ह बनवासू । सुनि मन भयउ न हरषु हरासू ।
सो सुत बिछुरत 'गए न प्राना', को पापी बड़ मोहि समाना ।
(मानस, अयोध्या० १४९)

'आत्म-भर्त्सना' की एक हलकी भावना भरत में लक्षित होती है जब वे अपनी माँ के कार्यों पर तीव्र 'क्षोभ' और 'ग्लानि' के भाव प्रकट कर चुकते हैं।[1] कौशल्या से मिलने के पश्चात् वे तो उन के वाक्य 'आत्म-दूषण', 'आत्म-निंदा' तथा 'आत्म-ग्लानि' से भर जाते हैं :

कैकइ कत जनमी जग माँझा । जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा ।
कुल कलंकु जेहिं 'जनमेउ' मोही । अपजस भाजन प्रियजन द्रोही ।
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी । गति असि तोरि मातु जेहि लागी ।
पितु सुरपुर बन रघुकुल केतू । मैं केवल सब अनरथ हेतू ।
'धिग मोहि' भयउँ बेनु बन आगी । दुसह दाह दुख दूषन भागी ।
(मानस, अयोध्या० १६४)

इसी प्रकार, अयोध्या की सभा में वशिष्ठ और कौशल्या के, विशेषकर कौशल्या के, उन्हें राज-मुकुट धारण करने के लिए दिए गए उपदेश के उत्तर में दिया गया उन का भाषण 'आत्म-अवमानना', 'आत्म-भर्त्सना' एवं 'पश्चात्ताप' की उत्कट भावनाओं से व्यंजित है :

[1] (मानस, अयोध्या० १६२)

मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीय राम बनबासू।
रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा। बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा।
मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू।
बिनु रघुबिर बिलोकि अबासू। 'रहे प्रान सहि जग उपहासू।
राम पुनीत बिषय रस रूखे। लोलुप भूमि भोग के भूखे।
कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई। निदरि कुलिसु जेहिं लही बड़ाई।
कारन तें कारज कठिन होइ दोसु नहिं मोर।
कुलिसि अस्थि तें लोह कराल कठोर॥
कैकेई भव तनु अनुरागे। 'पाँवर प्रान अघाइ अभागे'।
जौं पिय बिरह प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे।

(मानस, अयोध्या० १७९-८०)

यही सब भाव फिर चित्रकूट में अत्यंत मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त हुए हैं वहाँ उन के सभी भाषणों के प्रेरक भाव यही हैं।

पापमय जीवन से 'ग्लानि' के निकट पहुँचते हुए 'पश्चात्ताप' भाव का विकास कवि ने कैकेयी में दिखाया है जब वह चित्रकूट जाती और दोनों भाइयों और सीता की मत्सर हीनता देखकर प्रभावित होती है:

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।
अवनि जमहि जाचति कैकेई। 'महि न बीचु बिधि मीचु न देई'।
लोकहुँ बेद बिदित कबि कहहीं। राम बिमुख थलु नरक न लहहीं।

[मानस, अयोध्या० २५

'गीतावली' में कवि ने कौशल्या में चित्रकूट से लौट आने के पश्च 'निर्वेद' का एक उत्कट विकास किया है।

हाय मींजिबो हाय रह्यो :
लगी न संग चित्रकूटहु तें ह्यौं कहा जात बह्यौ।
पति सुरपुर सिय राम लखन बन मुनिब्रत भरत गह्यौ।
'हौं रहि घर मसान पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यौ।
मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यौ।
तुलसी बन पहुँचाइ फिरी सुत क्यों कछु परत कह्यौ॥

(गीता० अयोध्या० ८

पुन उसी रचना में कवि ने लक्ष्मण में निरपराधा सीता को।

पहुँचा कर लौटते हुए 'अनुताप' और 'पश्चात्ताप' का एक अत्यंत सुन्दर विकास किया है।

> गौने मौन ही बारहि बार परि परि पाय।
> जात जनु रथ चोर कर लछिमन मगन 'पछिताय'।
> असन बिनु बन बरम बिनु रन बच्यो कठिन कुघाय।
> दुसह सॉसति सहन को हनुमान ज्यायो जाय।
> हेतु हौं सिय हरन को तब अबहुँ भयौं सहाय।
> होत हठि मोहि दाहिनो दिन दैव दारुन दाय।
> तज्यो तनु संग्राम जेहि लगि गीध जसी जटाय।
> ताहि हौं पहुँचाइ कानन चल्यौं अवध सुभाय।
> घोर हृदय कठोर करतब सृज्यो हौं बिधि बाय।
> दास तुलसी जानि राख्यो कृपानिधि रघुराय॥
>
> (गीता० उत्तर० ३१)

५०. 'वात्सल्य' तथा सजातीय भाव : जब कवि सीता के अपने पिता के गृह से पति-गृह के लिए प्रस्थान का वर्णन करता है, जनक का घर एक उमड़ते हुए 'वात्सल्य' का सागर हो जाता है। केवल राज माताएँ, सखियाँ, नगरनिवासी और जनक ही इस प्रयाण से द्रवीभूत नहीं होते, किंतु वे पशु-पक्षी भी, जो उस के विनोद के लिए पाले पोंसे थे दुखित दिखलाई पड़ते हैं :

> पुनि धीरजु धरि कुअँरि हकारीं। बार बार भेटहिं महतारीं।
> पहुँचावहिं फिर मिलहिं बहोरी। बढ़ी परसपर 'प्रीति' न थोरी।
> पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई। 'बाल बच्छ जनु धेनु लवाई'।
> 'प्रेम' बिबस नर नारि सब सखिन्ह सहित रनिवासु।
> मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुनाँ बिरहँ निवासु॥
> सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए।
> ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही।
> भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती।
>
> (मानस, बाल० ३३७-३८)

'वात्सल्य' का भाव अन्यत्र चित्रकूट में जनक-सीता भेंट में भी व्यक्त हुआ है[1] किंतु कल्पना-चमत्कार प्रधान हो जाने के कारण भाव चमत्कार

[1] मानस, अयोध्या० २८६

कुछ दब गया है, और चित्रण बहुत सफल नहीं हुआ है।

अयोध्याकांड के पूर्वार्द्ध में जो दशरथ की मृत्यु पर समाप्त होता है, इस भव्य प्रेम के अनेक उदाहरण हैं। यहाँ उन स्थलों की ओर संकेत करना अनावश्यक है। किंतु अयोध्याकांड के उत्तरार्द्ध में 'मातृ स्नेह' का एक उत्कृष्ट भाव कौशल्या और भरत की भेंट में, जब वह अपने मामा के गृह से लौटकर आते हैं, व्यंजित हुआ है।[1] 'वात्सल्य' का उत्कर्ष यहाँ भी उमड़ते हुए 'विषाद' के कारण है, और ऊपर हम इस का निरीक्षण कर चुके हैं।[2]

इस मृदु भाव का एक अत्यंत मंजुल दृश्य निर्वासित मंडली की चित्रकूट की दिनचर्या के वर्णन में मिलता है। भरत एवं अन्य ऐसे स्नेहियों की स्मृति जो अयोध्या में रह गए थे राम को एक दिन व्यथित करती है, और राम के व्यथित होने पर सहानुभूति से प्रेरित लक्ष्मण और सीता अधीर हो जाते हैं, इस प्रसंग में राम के अपने आप को सँभालने तथा इन स्नेहियों के चित्त को प्रफुल्लित करने के प्रयास में इस कोमल भाव की अत्यंत सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है -

सीय लखन जेहि बिधि 'सुखु लहहीं'। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखनु सिय 'अति सुखु मानी'।
जब जब रामु अवध सुधि करहीं। तब तब 'बारि बिलोचन' भरहीं।
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत सनेहु सीलु सेवकाई।
कृपासिंधु प्रभु होंहि दुखारी। धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी।
लखि सिय लखनु बिकल'होइ जाहीं। जिमि पुरुषहि अनुसर परछाहीं।
प्रिया बंधु गति लखि रघुनंदनु। धीर कृपालु भगत उर चंदनु।
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुखु लहहिं लखन अरु सीता।

(मानस, अयोध्या० १४१)

परंतु हमारे कवि की साहित्य में जो अनुपम देन है, वह है वह 'भ्रातृ प्रेम' जिस का विकास उस ने भरत और राम में किया है। भरत का इस 'प्रेम' की प्रतिमूर्ति बनाकर, जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके हैं,[3] वह उस को एक अलौकिक आभा से युक्त कर देता है। शुद्ध 'भ्रातृ प्रेम' की दृष्टि से भी इस से अधिक गहन और अधिक भव्य उदाहरण की कल्पना करना कठिन है।

[1] वही १६४–६९ [2] देखिए ऊपर पृ० ३१४

[3] देखिए ऊपर पृ० २७९

किंतु एक बात स्वीकार करनी पड़ेगी, राम और भरत के प्रेम के विस्तार की इस अलौकिकता ने लक्ष्मण और राम के प्रेम का प्रच्छन्न रूप से अपेक्षाकृत कम गहन और कम भव्य कर दिया है, यद्यपि वह वस्तुतः उस से कदाचित् ही कम गहन और भव्य था।

कवि की किसी भी कृति में मातृ हृदय का जो विकास हुआ है वह कदाचित् ही उस तीव्रता या पूर्णता की कोटि का हो जो 'गीतावली' में हमें मिलता है।

अपने शिशुओं के प्रति 'मातृ स्नेह' की झलक कुछ गीतों में से जो उन के पुत्रों की शिशुता का वर्णन करते हैं[1] लगभग प्रत्येक में मिल सकती है। यथा :

किलकनि नटनि चलनि चितवनि भजि मिलनि मनोहरतैया।
मनि खंभन प्रतिबिंब झलक छबि छलकि है भरि अँगनैया।
(गीता० बाल० ९)

बदउ छबीलो छगन मगन मेरे कहति मल्हाइ मल्हाई।
(गीता० बाल० १६)

कहत मल्हाइ लाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया।
(गीता० बाल० १७)

वे गीत जो अपने पुत्रों के सुख और मंगल के लिए माता की 'उत्कंठा' का चित्रण करते हैं, जब वे विश्वामित्र के साथ घर से बाहर जाते हैं,[2] पुनः भाव और कल्पना की कोमलता से प्रेरित होकर लिखे गए हैं। उदाहरणार्थः

ऋषि नृप सीस ठगौरी सी डारी।
कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी।
सिरिस सुमन सुकुमार कुवर दोउ सूर सरोष सुरारी।
पठए बिनहिं सहाय पयादेहि केलि बान धनु धारी।
'अति सनेह कातिर' माता कहै सुनि सखि बचन दुखारी।
बादि बीर जननी जीवन जग छत्रि जाति गति भारी।
जो कहिहै फिरे राम लखन घर करि मुनि मख रखवारी।
सो तुलसी प्रिय मोहिं लागिहै ज्यों सुभाय सुत चारी॥
(गीता०, बाल० ९७)

[1] गीता० बाल० १-३७

[2] गीता०, बाल० ९७ ९९

वन जाने की आज्ञा के लिए राम की प्रार्थना[1] पर 'गीतावली' में कौशल्या का उत्तर पुनः इसी प्रकार का 'मातृ स्नेह' प्रकट करता है, जो 'रामचरित मानस' के आदर्शवाद के कारण उसकी कौशल्या में बहुत कुछ अप्राप्य हो गया है।

निर्वासित समाज का राजा से विदा लेते समय का दृश्य तो बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। उस गीत का प्रत्येक शब्द जो इसका वर्णन करता है, 'वात्सल्य स्नेह' और साथ ही एक बड़े तीव्र कोटि के 'शोक' से पूरित है :

मोको बिधु बदन बिलोकन दीजे।
राम लखन मेरी यहै भेट बलि जाउँ जहाँ मोहिं मिलि लीजे।
सुनि पितु बचन चरन गहे रघुपति भूप अंक भरि लीन्हें।
अजहुँ अवनि बिदरत दरार मिस सो अवसर सुधि कीन्हे।
पुनि सिर नाइ गवन कियो प्रभु मुरछित भयो भूप न जाग्यो।
करम चोर नृप पथिक मारि मानो राम रतन लै भाग्यो।
तुलसी रबिकुल रबि रथ चढ़ि चले तकि दिसि दखिन सुहाई।
लोग नलिन भए मलिन अवधसर बिरह बिषम हिम आई॥

(गीता०, अयोध्या० १२)

वे गीत भी जो कौशल्या के अपने निरपराध और निरीह पुत्र और पुत्रवधू के वियोग मे विरहाद्‌गारों का वर्णन करते हैं,[2] बड़े ही प्रबल प्रकार के 'पुत्र प्रेम' की व्यजना करते हैं। 'शोक' का अध्ययन करते हुए इनमें से एक का विस्तृत उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं,[3] इसलिए पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

'गीतावली' में अयोध्या लौट चलने के लिए भरत के किए गए आग्रह पर दिए गए राम के उत्तर में 'पितृभक्ति' की सुदर व्यजना के दर्शन होते हैं, इस उत्तर का प्रत्येक शब्द एक भाव-गरिमा से आप्लावित है जो 'रामचरित मानस' मे अज्ञात है :

तात बिचारो धौं हौं क्यों आवौं।
तुम्ह सुचि सुहृद सुजान सकल बिधि बहुत कहा कहि कहि समुझावौं।

[1] वही, अयोध्या २-४

[2] गीता, अयोध्या० ५१—५५, ८४—८७, लंका० १७—१९

[3] देखिए ऊपर पृ० ३१५

निज कर खाल खेंचि या तनु तें जौं पितु पग पानही करावौं।
होउँ न उरिन पिता दसरथ तें कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं।
तुलसिदास जाको सुजस तिहूँ पुर क्यों तेहि कुलहि कालिमा लावौं।
प्रभु रुख निरखि निराम भरत भए जान्यो है सबहि भाँति बिधि बावौं॥
(गीता०, अयोध्या० ७२)

'गीतावली' में मृतप्राय जटायू के प्रति राम का सम्भाषण 'पितृप्रेम' की विचित्र विपुलता से प्रेरित है :

मेरे जान तात कछू दिन जीजै।
देखिय आपु सुवन सेवा सुख मोहिं पितु को सुख दीजै।
दिव्य देह इच्छा जीवन जग बिधि मनाइ माँगि लीजै।
हरि हर सुजस सुनाइ दरस दै लोग कृतारथ कीजै।
देखि बदन सुनि बचन अमिय तन राम नयन जल भीजै।
बोल्यो बिहग बिहँसि रघुबर बलि कहौं सुभाय पतीजै।
मेरे मरिबे सम न चारि फल होहिं तौ क्यों न कहीजै।
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौन ही परी मानो प्रेम सहीजै॥
(गीता०, अरण्य० १५)

५१ फलतः यह प्रकट हो गया होगा कि हमारे कवि की कृतियाँ मनुष्य के भावों और मनोवेगों के सुंदर चित्रों से बड़ी सपन्न हैं, और उस पर भी विचित्रता यह है कि इन चित्रों में प्रायः किसी प्रकार का प्रयास परिलक्षित नहीं होता। हमारे साहित्य में अन्यत्र इतनी विविध परिस्थितियों में प्रस्फुटित इतनी विभिन्न कक्षा, और तीव्रता के भावों और मनोवेगों का ऐसा यथातथ्य चित्रण कम मिलता है, और यह हमारे कवि और कलाकार की महानता का एक अन्य प्रमुख कारण है।

वस्तु-विन्यास

५२. हमारा कवि मूल कथानक 'अध्यात्म रामायण' और 'वाल्मीकि रामायण' से लेकर उस की रूपरेखा का अनुगमन करते हुए उस से बहुत कम हटता है। फिर भी, जब कभी और जहाँ कहीं वह हटता है, वहाँ वह प्रायः कलात्मकता प्रदर्शित करता है। हम नीचे कतिपय विशिष्ट स्थलों की परीक्षा करेंगे, और देखेंगे कि कवि वहाँ पर किस रूप में कथा-परिवर्तन करता है और उस से कथानक में क्या विशेषता आ जाती है।

(१) 'प्रसन्नराघव नाटक' का अनुकरण करते हुए[१] हमारे कवि ने राम-सीता-दर्शन विवाह के पहले करवा दिया है।[२] इस से कवि को पूर्वानुराग के चित्रण का अवसर मिल गया है। तो भी यह राम-सीता-मिलन कवि ने एकांत में नहीं करवाया है। प्रसंग भर में राम के साथ लक्ष्मण हैं और सीता के साथ उस की सखियाँ।

(२) 'अध्यात्म रामायण' से थोड़ा-सा संकेत पाकर[३] हमारे कवि ने 'प्रसन्नराघव'[४] एवं 'हनुमन्नाटक' के आधार पर[५] धनुर्भंग राजसभा में करवाया है।[६] इस से उसे विवेचनीय स्थल पर नाटकीय प्रभाव लाने में विशेष सहायता मिली है, जैसा हम नीचे देखेंगे।

(३) 'प्रसन्न राघव' के आधार पर[७] कवि ने धनुर्भंग के बाद शीघ्र ही परशुराम को राजसभा में बुलवा कर राम परशुराम संवाद के अतिरिक्त एक लक्ष्मण-परशुराम-संवाद भी करवाया है।[८] परशुराम को राजसभा में लाने से हमारे कवि को अपने पाठकों के सामने एक अति मनोवैज्ञानिक तथा नाटकीय परिस्थिति उपस्थित करने का अवसर मिला है। परशुराम के आते ही असफल राजाओं के मुख पर कैसे-कैसे भाव क्रमशः व्यक्त होते हैं: अजेय शत्रु को देख भय एवं विस्मय से भरी आतुरता, विजेता प्रतिस्पर्धी से उसे प्रतीकार तत्पर देख कर एक मात्सर्यपूर्ण प्रसन्नता, और अंत में इस दर्पपूर्ण आगंतुक को भी विजित देख कर लज्जापूर्ण पराजय की स्वीकृति ने उत्तरोत्तर किस प्रकार एक दूसरे को दबा कर उन की भाव-प्रणाली पर अधिकार प्राप्त किया है!

(४) चित्रकूट के मार्ग पर अग्रसर भरत से मोर्चा लेने के लिए निषादराज की वीरता पूर्ण तैयारी[९] तुलसीदास की एक मौलिक और उपयुक्त उद्भावना है, और इस का निर्वाह भी उन्हों ने अत्यंत स्वाभाविक ढंग से किया है।

(५) चित्रकूट में जनक का आगमन और तदनंतर उन का वहाँ की सभाओं में भाग लेना[१०] एक अत्यंत सुन्दर आयोजना है। हमारा कवि कदाचित्

यह नहीं देख सकता था कि निर्वासित जामाता एक विषम परिस्थिति में पड़ा हुआ किसी अदूर देश में अपने दिन काट रहा हो, और श्वसुर अपने जामाता एवं पुत्री को देखने का यत्न तक न करे।

(६) हमारे कवि ने हनुमान की लंका-यात्रा में हनुमान-विभीषण-मिलन का भी आयोजन किया है।[1] यह भेंट पर्याप्त तन्मयता के साथ वर्णित है, क्यों कि इस में हमारे कवि को विभीषण के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त होता है। कथावस्तु की आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से भी यह भेंट महत्वपूर्ण है, क्यों कि इस भेंट में ही विभीषण अपने को राम की शरणागति एवं राम के विश्वास के योग्य प्रमाणित करते हैं।

(७) 'प्रसन्नराघव' का अनुकरण करते हुए[2] हमारे कवि ने छद्मवेषी हनुमान के समुख एक सीता-त्रिजटा-संवाद कराया है।[3] इस से हनुमान को सीता के हृदय में सुलगती रामप्रेम की आग का अक्षुण्ण परिचय कराने और उन्हें इस का साक्षी बताने में कवि को यथेष्ट सहायता मिली है। अतएव यह कथा-विस्तार भी सुन्दर हुआ है।

(८) शांति और सुख के दृश्य अशांति और अधड़ के दृश्यों के पूर्व आकर इस लिए बहुधा हमारी कलात्मक भावना को आनंद पहुँचाते हैं कि उन के द्वारा हमारे दो परस्पर विरोधी भावों को संघर्ष का अवसर मिल जाता है। कदाचित् इसी विचार से प्रेरित हो कर हमारा कवि महायुद्ध से पूर्व सुबेल पर की झाकी,[4] चंद्रोदय,[5] तथा रावण के अखाड़े के सुन्दर दृश्य[6] चित्रित करता है, और यह भी वह इतनी सफलता के साथ करता है कि 'मानस' के सर्वाधिक मनोमोहक चित्रों में इन को स्थान मिल जाता है।

(९) हमारा कवि युद्ध में लक्ष्मण को रावण के द्वारा प्रेरित शक्ति-द्वारा नहीं वरन् मेघनाद के द्वारा प्रेरित शक्ति से मूर्छित कराता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रु-पक्ष में वीरता का प्रदर्शन हमारे कवि ने रावण तक सीमित न रख कर बाँटने की चेष्टा की है, और इस कथा-भेद को प्रस्तुत कर अपने उद्देश्य में वह कुछ सफल भी हुआ है।

(१०) रावण के द्वारा अपने विद्वेषी भाई विभीषण की ओर प्रेरित शक्ति को हमारे कवि के अनुसार लक्ष्मण के स्थान पर राम अपनी छाती पर रोकते हैं।[1] इस से 'मानस' के कथा-नायक का चरित्र पूर्ववती राम-साहित्य के नायकों की अपेक्षा और भी ऊँचा हो गया है, और इस में फलतः कवि के काव्य की श्रीवृद्धि हुई है।

(११) हमारा कवि 'मानस' के उत्तरकांड में अपने मुख्य आधार ग्रंथों को बिलकुल छोड़ देता है। सीता निर्वासन की कहानी रामचरित्र के कालिमापूर्ण पक्ष की कहानी है, और संभवतः उक्त आधार ग्रंथों में प्रक्षिप्त भी है; फलतः 'मानस' में उस को स्थान न दे कर आदर्श-चरित्र के सर्वथा अयोग्य इस घटना से कवि ने बड़ी चतुरता से अपने कथा नायक को बचा लिया है।

५.३. किंतु, हमारे कवि ने इस प्रकार के घटनाओं के परिवर्तन तक ही अपने को सीमित नहीं रक्खा है, उस ने कथावस्तु के विकास और वर्णन-विस्तार में भी असाधारण प्रतिभा एवं कला का प्रदर्शन किया है। प्रतापभानु की कथा को ले कर मिश्रबंधुओं ने इस बात की विशद व्याख्या की है।[2] प्रतापभानु-चरित में कथात्मकता प्रमुख है। हम एक ऐसी कथा को ले कर इसका विश्लेषण कर सकते हैं जिस में वर्णनात्मकता प्रमुख हो। यहाँ हम केवल विश्लेषण मात्र करेंगे, विस्तारों की उपयुक्तता के संबंध में विचार करने की चेष्टा नहीं करेंगे, और कदाचित् इतना ही पर्याप्त होगा। प्रसंग धनुर्यज्ञ का है, और कोष्ठकों के भीतर दी हुई संख्याएँ बालकांड के उक्त प्रसंग की चौपाइयों की हैं :

कवि विश्वामित्र के साथ राजकुमारों का रंगभूमि में प्रवेश कराता है (२४१)। वह राम-दर्शन से प्रभावित वीर राजाओं, भीरु राजाओं, कुटिल नृपों, 'छल छोनिप वेषा' असुरों, पुरवासियों, स्त्रियों, जनक, जनक के परिवार की रानियों, योगियों, हरिभक्तों और सीता की भावनाओं का उल्लेख करता है (२४१-२४२)। वह इन राजकुमारों का नखशिख-वर्णन करता है (२४२-२४३)। यहाँ कवि उन का परिचय जनक से करवाता है जो उन्हें रंगभूमि के चारों ओर ले जाते हैं, और फिर वह एक सुन्दर विशाल मंच पर मुनि समेत दोनों भाइयों को बैठाता है (२४४)। अब कवि

[1] मानस, लंका० ६४

[2] मि० बं० वि०, भाग १, भूमिका

अविवेकी और अभिमानी एव 'धरमसील और हरिभगत सयाने' नृपो मे राम के विषय मे एक वाद विवाद उपस्थित करता है (२४५-२४६)।

इस समय कवि सीता का प्रवेश करवाता है, और सीता के सौन्दर्य का कवित्वपूर्ण वर्णन करता है (२४७ ४८)। सारे उपस्थित राजा सीता का सौन्दर्य देख मोहित हो जाते हैं, परतु सीता पर उन की दृष्टि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। कवि इस स्थल पर सीता को राम के दर्शन के लिए आकुल दिखलाता है (२४८), और फिर सब लोगों को इस भावना मे निमग्न कर देता है कि राम सर्वथा ही सीता के योग्य हैं (२४६)।

इस के पश्चात् कवि बदीजनों को बुलवाता है, जो सीता-स्वयवर सबधी जनक की प्रतिज्ञा घोषित करते हैं (२४६ ५०)। अब वह दिखलाता है कि कई राजा सामूहिक प्रयत्न तक में असफल होते हैं (२५० ५१), और इस पर वह जनक से एक नैराश्यपूर्ण कथन कराता है (२५१ ५२), जिस का वीरोचित उत्तर लक्ष्मण देते हैं (२५२ ५३), और इस उत्तर का प्रभाव वहाँ पूरी सभा पर दिखलाकर कवि विश्वामित्र से राम को धनुर्भंग के लिए आज्ञा दिलवाता है (२५४)।

राम को मच पर भेज कर कवि अन्य उपस्थित राजाओं की निराशा एव दैन्य का, देवताओं और साधु पुरुषों की प्रसन्नता का, रामकी सफलता के लिए सीता की चिंता का, धनुष को हल्का करने के लिए देवताओं तथा उस धनुष से ही उस की प्रार्थना का, दैव में सीता के विश्वास का, सच्चे प्रेम की विजय का, और फिर सीता के प्रेम प्रण का वर्णन करता है (२५४ ५६)।

इस के बाद कवि राम का ध्यान सीता की आकुलता की ओर ले जाता है, जिससे प्रभावित हो राम अपना पूरा ध्यान धनुष पर लगाते हैं (२५६)। वह लक्ष्मण के द्वारा दसों दिशाओं के दिग्गजों, शेषनाग, कच्छप और वाराह का पृथ्वी धारण-सबधी अपने अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत करवाता है, क्यों कि राम शकर का धनुष तोड़ना चाहते हैं (२६०)।

कवि धनुष टूटने से उत्पन्न हुए घोर रव का वर्णन करता है (२६१), और फिर अन्य लोगों पर धनुर्भंग का प्रभाव दिखलाते हुए अत्यत काव्यात्मक शब्दों में सीता के राम को जयमाल पहिनाने का और पृथ्वी पर और देवलोक में इस से उत्पन्न हर्पातिरेक का वर्णन करता है, और फिर सीता से राम का चरण स्पर्श कराता है (२६२ ६५)। अब वह कायर राजाओं

में परस्पर सीता का राम से छीन लेने का विचार एवं मंत्रणा कराता (२६६ २७), और तदनन्तर सीता का अपनी माता के पास जाने, राम व अपने गुरु के पास जाने और उन पराजित राजाओं के कायर शब्दों का उत्त देने की लक्ष्मण की तैयारी का वर्णन कर कवि परशुराम को प्रवेश कराता (२६७ ६८)। यहाँ पर कथानक का एक दूसरा विकास प्रारंभ होता है, इ कारण हम अपने विश्लेषण का यहीं पर छोड़ सकते हैं।

सक्षेप में 'धनुर्भंग' की घटना का यह विस्तार है। तुलसीदास से पू रामाख्यान में इस का वर्णन अपेक्षाकृत अपर्याप्त ढंग से मिलता है। इस कोई संदेह नहीं कि कवि ने यहाँ पर सहायता 'प्रसन्नराघव' एवं 'हनुमन्नाट' से ली है, परंतु वह उस की मौलिकता के आगे कदाचित् नगण्य है।

५४ किंतु हमारे कवि ने अपने कथानक का किस प्रकार विशद ए सुन्दर बनाया है इस बात का कितना भी विवेचन करें तो भी कवि की ए विशेषता बच रहती है जो वर्णन के परे है, और जो 'मानस' भर में दिखल पड़ती है : यह कथानक के 'सम विभक्तांग' होने की है जो कि महाकाव्यों प्राय कम दिखलाई पड़ती है। स्पष्टतया हमारे कवि की यह बड़ी भ विशेषता है।

५५ विषय को छोड़ने के पहले यदि हम वस्तु विन्यास विषयक कति त्रुटियों की भी विवेचना कर लें तो कदाचित् अधिक न्याय-संगत होगा

(१) 'मानस' के प्रारंभ में कवि शिव पार्वती संवाद करवाता है, पर पार्वती शिव से राम राज्याभिषेक के बाद की कथाएँ और प्रजासहित वंशमणि के स्वर्गारोहण की कथा कहने का कहती है[1], किन्तु कथानक में दोनों प्रार्थनाओं में एक भी पूरी नहीं होती और न इस का कोई कारण दिया जाता है।

(२) 'मानस' के प्रारंभ में ही कवि विभिन्न कल्पों में रामावता मूल में विभिन्न कथाएँ बतलाता है। नारद मोह की कथा के अनुसार विष्णु को दिया गया था जिस से एक कल्प में विष्णु का अवतार हुआ थ जय विजय की कथा विष्णु का ही एक दूसरे कल्प में अवतार करवाती है

[1] मानस, बाल० ११० [2] वही, १२४–३९

[3] वही, १२२–२३

'एक और अवतार'[1] में जलधर-वध विष्णु के अवतार का कारण है। मनु सतरूपा की कथा में परब्रह्म[2] के अवतार लेने की बात आती है—परब्रह्म विष्णु से भिन्न हैं, क्यों कि जब मनु सतरूपा के पास विष्णु वर देने के लिए जाते हैं वे उन से वर-याचना नहीं करते[3], और परब्रह्म का अवतार ही 'मानस' की प्रमुख घटना भी है, किन्तु आकाश-वाणी में[4] मनु-सतरूपा वाले वरदान और होने वाले अवतार से कोई संबंध नहीं दिखलाया जाता है। उस में अवतार का संबंध नारद-मोह से, और किसी कश्यप अदिति की तपस्या से बतलाया जाता है, किंतु पिछली का कोई भी वर्णन 'मानस' में नहीं होता है।

(३) राम सीता से अपनी विदाई वाली बातें जब सुमंत दशरथ को बतलाते हैं तो वे यह भी कहते हैं कि सीता का उस समय गला भर आया जिस से वे बोल न सकीं, और राम की आज्ञा से वह नाव जिस पर वे बैठे थे पार जाने के लिए तट से खोल दी गई।[5] किंतु वास्तविकता यह नहीं है। कथानक में सीता सुमंत की घर लौटने की प्रार्थना पर सुंदर उत्तर देती हैं, और यह समस्त प्रसंग चौबीस अर्द्धालियों और तीन दोहों में समाप्त हुआ है।[6]

(४) जब कपट ऊँचे चढ़कर चित्रकूट को देखता है तो कहता है कि उसे लक्ष्मण का लगाया हुआ तुलसी का पौधा और बरगद की छाया में सीता की बनाई वेदिका दिखलाई पड़ते हैं, जहाँ पर राम मुनि-गण सहित बैठकर "आगम निगम पुरान" की कथा सुनते हैं[8]। किंतु, सत्य यह है कि राम निषाद राज को अपने साथ चित्रकूट नहीं ले जाते, वे उसे चित्रकूट पहुँचने से बहुत पहले ही लौटा देते हैं। निषादराज के मुँह से यह सब तुलसी पेड़ आदि का वर्णन ऐसी दशा में इसलिए उचित नहीं जान पड़ता।

(५) चित्रकूट पर वशिष्ठ निषाद मिलन प्रकरण में[9] ऐसा प्रतीत होता है मानो निषाद वहाँ पर भरत आदि के आगमन के पहले से है।

[1] मानस, बाल० १२३ २१
[2] वही, १४१ -१२
[3] वही, १४५
[4] वही, १४१
[5] वही, १८७
[6] वही, अयोध्या० १५२
[7] मानस, अयोध्या० ९६–९८
[8] वही, २३७
[9] वही, २४३

किंतु कथानक में यह बात नहीं पाई जाती। वह भरत आदि के साथ शृंगवेरपुर से चित्रकूट तक आता है। शृंगवेरपुर में वसिष्ठ ही भरत से उसका परिचय करवाते हैं।[१] फलतः द्वितीय वशिष्ठ-निषाद मिलन एक भूल सी मालूम होती है।

यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त और इस प्रकार के अन्य दोष बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं, इससे उनका प्रभाव कथानक की सुंदरता पर अधिक नहीं पड़ता है।

नख-शिख-वर्णन

५६. हमारे कवि को अपने नायक की विग्रह-माधुरी का परिचय कराने में विशेष आनंद आता है, इससे नख-शिख हमारे कवि के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय है। नीचे हम उसके कुछ चुने हुए नख-शिखों का ही विवरण देंगे।

मनु-सतरुपा-प्रकरण में हमारे कवि ने दिव्य राम का एक नख-शिख दिया है।[२] इसमें कवि को पर्याप्त सफलता मिली है, क्योंकि इसके वर्णन में उसकी भावनाएँ घनीभूत-सी हो उठती हैं।

बाल-लीला-प्रकरण में शिशु राम का एक नख-शिख-वर्णन है।[३] दशरथ के आँगन में घूमते हुए बालक राम का यह चित्र है। वर्णन की किंचित् पूर्णता ही इस नख-शिख की विशेषता है।

नगर दर्शन-प्रकरण में किशोर राम का नख-शिख है।[४] यह छोटा और अनलंकृत है। इसमें अन्य कोई विशेषता नहीं है।

वाटिका-विहार-प्रकरण में किशोर राम का नख-शिख फिर है।[५] निस्संदेह यह कवि का एक उत्कृष्ट प्रयत्न है। इसमें कुछ अपनी विशेषता है। मयूर-पंख और बालों में अधखिले पुष्प वाटिका-विहार की ओर संकेत करते हैं, और हलके श्रम-बिंदु नायक के सौकुमार्य के परिचायक हैं।

धनुर्यज्ञ-प्रकरण में किशोर राम का एक और नख-शिख है।[६] कवि वाटिका-विहार वाले वर्णन की भाँति इसमें भी एक प्रकार की विचित्रता लाने

[१] मानस, अयोध्या० १९३
[२] वही, बाल० १४६–१४७
[३] वही, १९९
[४] वही, २१९
[५] वही, २३३
[६] वही, २४३

का प्रयत्न करता है, परंतु इस में उसे उतनी सफलता कदाचित् नहीं मिलती है जितना उस नख शिख में उसे मिली है।

विवाह प्रकरण में किशोर राम का नख शिख एक और है।[1] यहाँ पर राम दूलह के रूप में वर्णित हैं। इसमें कोई विशेषता नहीं है।

शेष कथानक में हमें कोई भी उल्लेख योग्य नख शिख नहीं मिलता। केवल काग-भुशुंडि जब अपनी आत्मकथा[2] कहते हैं तो वे राम का एक नख शिख-वर्णन करते हैं। यह नख-शिख शिशु राम का है, और तल्लीनता के साथ लिखा गया जान पड़ता है।

'गीतावली' में सुंदर नख शिख बहुत से मिलते हैं, और उनकी एक विशेषता यह है उनमें कवि कुछ बड़े सुंदर रूपक बाँधता है। शिशु राम के वर्णन में एक स्थल पर राम पालने में खेल रहे हैं, और वे एक खिलौना देखकर किलकते हैं।[3] दूसरे स्थल पर भी वे पालने में हैं, पर यहाँ पर खिलौना दिखाया जाने पर वे उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हैं, और वे अपने पैर का अँगूठा अपने मुँह तक ले जाते हैं।[4] तीसरे स्थल पर वे फिर इसी तरह से चित्रित किए जाते हैं।[5] और आगे वे घुटनों के बल राजा के आँगन में खेलते हुए दिखलाए जाते हैं।[6] उस से आगे के दो पदों में फिर वे वैसे ही चित्रित हैं।[7] और आगे चलकर एक पद में वे पैरों पर खड़े होने का असफल प्रयत्न करते हुए दिखलाए जाते हैं।[8] उस से अगले पद में वे अपनी माँ की उँगली पकड़ कर चलते चित्रित होते हैं।[9] फिर अगले में वे माँ के संकेत पर नाचते हुए देखे जाते हैं।[10] और, इस माला के अंतिम पद में वे अपने पिता की गोद में खेलते हुए दिखाई पड़ते हैं।[11] इन सभी में बालोचित लीला के साथ उन के नख शिख का भी वर्णन हुआ है।

दूलह के रूप में किशोर राम का भी एक नख शिख 'गीतावली' में है[1], और रूपकों की सहायता से यह पूर्ण एवं सुंदर हो गया है।

'गीतावली' के एक पद में युवा राम का भी चित्र है वे कंचन मृग के पीछे बाण साधे दौड़ते दिखाए गए हैं।[2] यह एक सुंदर वर्णन है, और कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का पर्याप्त परिचय देता है।

किंतु कवि के सारे ग्रंथों में से 'गीतावली' में राजा राम के नख शिख का वर्णन विशेष है। राम के राज्याभिषेक संबंधी पहले गीत को छोड़ कर उत्तर कांड के अगले सोलह गीतों में कवि इसी का वर्णन करता है। दूसरे गीत में राम के सोकर जागने का चित्र है। तीसरे चौथे और पाँचवें में सरयू स्नान के बाद का राम का चित्र है। छठे में सिंहासनस्थ राम का चित्र है। सातवें में उन के साधारण शरीर का वर्णन है। आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें में उन के मुख के सौन्दर्य का वर्णन है। बारहवें में उन की प्रात कालीन मुख छवि का वर्णन किया गया है। तेरहवें छंद में उन की भुजाओं का वर्णन है। चौदहवें में उन की सुंदर हथेलियों का। पंद्रहवें में उन के सुंदर चरणों का वर्णन है, इस पिछले गीत में रूपक और उपमाएँ प्रयाग तीर्थ से ली गई हैं। सोलहवें सत्रहवें गीतों में जो, इस माला के अंतिम हैं, उन के पूरे शरीर के नख शिख का वर्णन है। 'गीतावली' के ये गीत अधिकतर लंबे हैं। कवि इन में एक विस्तृत क्षेत्र से उपमान चुन कर लाता है और उनके उपयोग में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करता है।

'कवितावली' में राम का एक ही नख शिख कवि ने दिया है[3] और वह शिशु राम का है, किंतु इस वर्णन में अनुकूल नाद तालानुबंध मूर्तिमत कल्पनाओं से मिल कर कवि की रचना को ऊँचा उठा देता है।

'विनय पत्रिका' में केवल विष्णु के एक स्वरूप बिंदुमाधव का नख शिख[4] है, और कवि ने पर्याप्त विशदता के साथ इस का वर्णन किया है। यह 'गीतावली' के राजा राम संबंधी नख शिखों की कोटि का है।

'कृष्ण गीतावली' में कृष्ण के नख शिख संबंधी तीन अत्यंत सुंदर

[1] गीता०, बाल० १०६
[2] वही, अरण्य० २
[3] कविता०, बाल० १–७
[4] विनय० ६२, ६३

पद आते हैं। एक में दही चुराने के कारण यशोदा के द्वारा डाँटे गए और भयभीत कृष्ण का वर्णन है।[1] इस में एक डरे हुए बालक का बड़ा सुंदर चित्र है। दूसरे में उन की मुख छवि का वर्णन है,[2] जो 'गीतावली' के राजा राम के चित्र से मिलता है। तीसरे में कृष्ण की नींद भरी आँखों का वर्णन है।[3] कवि आँखों की समता खंजन पक्षियों से करता है : और पूरे पद में, जो दस चरणों का है, वह उसी के रूपक का कलापूर्ण विस्तार करता है। नख-शिख मध्यकालीन कविता का एक प्रिय विषय रहा है। हमारे कवि ने हमें जो जो नख शिख दिए हैं उन की तुलना कदाचित् मध्ययुग के श्रेष्ठतम उदाहरणों से की जा सकती है।

कल्पना-सृष्टि

५७. हमारे कवि में अपने उद्गारों को अभीष्ट कक्षा तक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से कल्पनाओं का सहारा लेने की तीव्र प्रवृत्ति है। इस लिए, *आगे के कतिपय पृष्ठों में उस की इस कल्पना सृष्टि के सुंदरतम स्थलों पर* विचार करने का प्रयास किया जाता है। यह देखा गया है कि कल्पनाएँ प्रायः उसे नीचे लिखी किसी न किसी दिशा में सहायता प्रदान करती हैं: (१) गुण तथा स्वभाव-चित्रण में, (२) भाव चित्रण में, (३) कार्य व्यापार-चित्रण में, (४) घटना-चित्रण में, (५) वस्तु चित्रण में, और अंत में (६) ऊँची कल्पना के प्रदर्शन में। इसी के अनुसार हमारा अध्ययन छः शीर्षकों में विभाजित होगा। प्रसंगवश इस चित्रावली में व्यवहृत 'अलंकारों' की ओर भी ध्यान दिया गया है। *'अलंकार', हमें यह ध्यान में रखना चाहिए, हमारे कवि के मुख्य विषय नहीं* हैं। निस्संदेह हमारे कवि की रचनाओं में वे सभी दिखाए जा सकते हैं, और इस प्रकार के प्रयत्न किए भी गए हैं,[4] तथापि इस प्रकार के स्थल बहुत ही कम मिलेंगे जहाँ हमारे कुशल कवि ने उन का प्रयोग मूलतः अलंकार प्रदर्शन के लिए ही किया हो। अतएव हमारे इस अध्ययन के मुख्य विषय 'अलंकार' नहीं होंगे। किंतु तो भी इस बात के देखने का प्रयास किया गया है कि कौन

[1] कृ० गी० १४

[2] वही, २१

[3] वही, २२

[4] उदाहरणार्थ : रसरूप-कृत 'तुलसी-भूषण' (रचना-काल सं० १८११) जो कदाचित् इस प्रकार की सब से पहली रचना है (देखिए हिं० खो० रि०, सन् १९०४, नो० ११)

पद आते हैं। एक में दही चुराने के कारण यशोदा के द्वारा डाँटे गए और भयभीत कृष्ण का वर्णन है।[1] इस में एक डरे हुए बालक का बड़ा सुंदर चित्र है। दूसरे में उन की मुख छवि का वर्णन है,[2] जो 'गीतावली' के राजा राम के चित्र से मिलता है। तीसरे में कृष्ण की नींद भरी आँखों का वर्णन है।[3] कवि आँखों की समता खञ्जन पक्षियों से करता है : और पूरे पद में, जो दस चरणों का है, यह उसी के रूपक का कलापूर्ण विस्तार करता है। नख शिख मध्यकालीन कविता का एक प्रिय विषय रहा है। हमारे कवि ने हमें जो नख शिख दिए हैं उन की तुलना कदाचित् मध्ययुग के श्रेष्ठतम उदाहरणों से की जा सकती है।

कल्पना-सृष्टि

५७ हमारे कवि में अपने उद्गारों को अभीष्ट कक्षा तक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से कल्पनाओं का सहारा लेने की तीव्र प्रवृत्ति है। इस लिए, *आगे के कतिपय पृष्ठों में उस की इस कल्पना सृष्टि के सुंदरतम स्थलों पर* विचार करने का प्रयास किया जाता है। यह देखा गया है कि कल्पनाएँ प्राय उसे नीचे लिखी किसी न किसी दिशा में सहायता प्रदान करती हैं. (१) गुण तथा स्वभाव चित्रण में, (२) भाव चित्रण में, (३) कार्य व्यापार चित्रण में, (४) घटना चित्रण में, (५) वस्तु चित्रण में, और अंत में (६) ऊँची कल्पना के प्रदर्शन में। इसी के अनुसार हमारा अध्ययन छ शीर्षकों में विभाजित होगा। प्रसंगवश इस चित्रावली में व्यवहृत 'अलंकारों' की ओर भी ध्यान दिया गया है। 'अलंकार', हमें यह ध्यान में रखना चाहिए, हमारे कवि के मुख्य विषय नहीं हैं। निस्संदेह हमारे कवि की रचनाओं में वे सभी दिखाए जा सकते हैं, और *इस प्रकार के प्रयत्न किए भी गए हैं,*[4] *तथापि इस प्रकार के स्थल बहुत ही कम* मिलेंगे जहाँ हमारे कुशल कवि ने उन का प्रयोग मूलत अलंकार प्रदर्शन के लिए ही किया हो। अतएव हमारे इस अध्ययन के मुख्य विषय 'अलंकार' नहीं होंगे। किंतु तो भी इस बात के देखने का प्रयास किया गया है कि कौन

[1] कृ० गी० १४

[2] वही, २१

[3] वही, २२

[4] उदाहरणार्थ, रसरूप-कृत 'तुलसी—भूषण' (रचना-काल सं० १८११) जो कदाचित् इस प्रकार की सब से पहली रचना है (देखिए हिं० खो० रि०, सन् १९०४, नं० ११)

से अलंकार हमारे कवि की कल्पना को एक अभीष्ट रूप प्रदान करने में अधिक सफल सिद्ध हुआ करते हैं, और इसी अभिप्राय से उपर्युक्त शीर्षकों के नीचे ऐसे स्थलों का निरूपण जिन में एक विशेष अलंकार का प्रयोग हुआ है स्थान-स्थान पर करने की अपेक्षा यथासंभव एक ही स्थान पर किया गया है।

५८ (१) गुण तथा स्वभाव चित्रण में :

गुण तथा स्वभाव संबंधी कवि के सर्वाधिक सफल कल्पनापूर्ण चित्रों पर विचार करते समय हमारा ध्यान तीन अलंकारों पर लगभग समान रूप से जाता है. वे हैं 'उत्प्रेक्षा', 'दृष्टांत' तथा 'उदाहरण'।

कभी कभी अपने पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं का परिचय देने में हमारे कवि ने उत्कृष्ट काल्पनिक चित्रों का निर्माण 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में किया है। भरत के संबंध में इस प्रकार के कथन उस ने सर्वाधिक किए हैं, और उन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहाँ पर निम्नलिखित उदाहरण उस की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा :

लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यान सभाँ जनु तनु धरें भगति सच्चिदानंदु॥
(मानस, अयोध्या० २३९)

'दृष्टांत' का एक सुन्दर प्रयोग वह एक स्थान पर महान् पुरुषों की एक साधारण प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए करता है :

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं।
(मानस, अयोध्या० २८४)

और अन्यत्र जब वह अच्छे भ्राताओं की एक विशेषता की ओर संकेत करता है :

होहि कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहि हाथ असनि के घाए।
(मानस, अयोध्या० ३०६)

और पुनः अन्यत्र जब वह नीच मनुष्यों के हठी स्वभाव की ओर संकेत करता है :

काटेंहि पै कदरी फरइ कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेंहि पै नव नीच॥
(मानस० सुंदर० ५८)

१ देखिए ऊपर पृ० २७९

और पुनः अन्यत्र जब वह अपने एक पात्र के कुटिल स्वभावगत एक दुर्गुण की ओर संकेत करता है :

सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्रगति जद्यपि सलिलु समान॥
(मानस, अयोध्या० ४२)

'उदाहरण' के रूप में एक सुन्दर कल्पना का प्रयोग वह उस समय करता है जब अन्यत्र वह अर्थ-गांभीर्य के गुण की ओर संकेत करते हुए कहता है :

ज्यों मुखु मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी।
(मानस, अयोध्या० २९४)

अथवा जब वह नीच चरित्रों की प्रत्यक्ष आवभगत के पीछे छिपी हुई भीषणता की ओर संकेत करता है :

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई।
भयदायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी।
(मानस, अरण्य० २४)

कवि जब अपने नायक एवं स्वामी का रंगभूमि में पदार्पण कराते समय दर्शकों की विविध भावनाओं के अनुरूप उसके अनेक रूपों में दिखाई पड़ने का वर्णन करता है 'उल्लेख' के रूप में वह एक सुंदर कल्पना का आश्रय लेता है।[1] पर इस में एक प्रकार की हीनता इस कारण आ जाती है कि अधिकांश में यह 'भागवत' पर आधारित है।

कवि 'व्याघात' के रूप में एक सुंदर कल्पना का प्रयोग 'संतों' तथा 'असंतों' की व्याख्या करते हुये करता है :

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं।
(मानस, बाल० ५)

'अर्थान्तरन्यास' के रूप में निम्नलिखित काल्पनिक चित्र में नारी की रहस्यपूर्ण प्रवृत्ति के प्रति कवि की धारणा को प्रभावशाली अभिव्यक्ति हुई है :

निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई।
(मानस, अयोध्या० ४७)

[1] मानस, बाल० २४१—४३

'प्रश्नोत्तर' तथा 'विरोधाभास' के रूप में, इसी प्रकार, नारी की कुटिलता के प्रति अपनी धारणा का प्रकाशन कवि निम्नलिखित प्रकार से करता है :

> काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
> का न करै अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ।
> (मानस, अयोध्या० ४७)

'उदाहरण-माला' के रूप में 'विनय-पत्रिका' के एक पद में कवि मन के हठ का वर्णन करते समय अत्यंत सहृदयता के साथ कल्पनाओं का प्रयोग करता है :

> मेरो मन हरि ! हठ न तजै।
> निसि दिन नाथ ! देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै।
> ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
> ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै।
> लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
> तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै।
> हौं हार्यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।
> तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥
> (विनय० ८९)

५६. (२) भाव-चित्रण में :

जब हम भावों तथा मनोवेगों के क्षेत्र में कवि की सर्वाधिक सफल कल्पनाओं पर विचार करते हैं, तो 'उत्प्रेक्षा' प्रधान लक्षित होती है, यद्यपि अन्य अलंकार भी, विशेष रूप से 'रूपक', उस के सहायक के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

हमारा कवि 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में वर्णित चित्रों की सहायता से एक प्रकार 'आनंद' को बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त करता है, जब वह कहता है :

> सुख हियँ लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।
> (मानस, बाल० २०८)

> पावा परम तत्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी।
> जनम रंक जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभु सुहावा।
> मूक बदन जनु सारद छाई। मानहुँ समर सूर जय पाई।
> (मानस, बाल० ३५०)

वह 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में तीन काल्पनिक चित्रों की सहायता से 'हर्षातिरेक' के तीन विभिन्न रूपों का कुशलता से चित्रण करता है, जब वह कहता है :

मलिन्ह सहित हरषी अति रानी । सूखत धान परा जनु पानी ।
जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई । पैरत थकें थाह जनु पाई ।
सीय सुखहिं बरनिअ केहि भाँती । जनु चातकी पाइ जलु स्वाती ।

(मानस, बाल० २६३)

उस की सुन्दर कल्पना 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में पुनः व्यक्त होती है, जब वह एक विषम 'वेदना' प्रकट करने के लिये निम्नलिखित पंक्तियों में अग्रसर होता है :

दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू । जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू ।

(मानस, अयोध्या० २७)

अथवा 'साग रूपक' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में निम्नांकित पंक्तियों में वह 'रोष' का भाव व्यक्त करने को प्रस्तुत होता है :

आगें दीखि जरत रिस भारी । मनहुँ रोष तरवारि उघारी ।
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई । धरी कूबरीं सान बनाई ।
लखी महीप कराल कठोरा । सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा ।

(मानस, अयोध्या० ३१)

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी । मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी ।
पाप पहार प्रगट भइ सोई । भरी क्रोध जल जाइ न जोई ।
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा । भँवर कूबरी बचन प्रचारा ।
ढाहत भूपरूप तरु मूला । चली बिपति बारिधि अनुकूला ।

(मानस, अयोध्या० ३४)

'साग रूपक' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक उक्ति पुनः हमारे सामने आती है जब कवि जनक के ससैन्य चित्रकूटागमन में 'शोक' का एक चित्र अंकित करने का प्रयास करता है। कवि के भाव चित्रण पर विचार करते हुए 'शोक' के इस चित्र पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं,[1] इस लिए पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

[1] देखिए ऊपर पृ० ३१४

'प्रश्नोत्तर' तथा 'विरोधाभास' के रूप में, इसी प्रकार, नारी की कुटिलता के प्रति अपनी धारणा का प्रकाशन कवि निम्नलिखित प्रकार से करता है

काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल केहि जग काल न खाइ।
(मानस, अयोध्या० ४७)

'उदाहरण माला' के रूप म 'विनय पत्रिका' के एक पद में कवि मन . हठ का वर्णन करते समय अत्यंत सहृदयता के साथ कल्पनाओं का प्रयोग करता है

मेरो मन हरि ! हठ न तजै।
निसि दिन नाथ ! देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाय निजै।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै।
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै।
हौं हारयो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥
(विनय० ८९)

५६ (२) भाव चित्रण में

जब हम भावों तथा मनावेगों के क्षेत्र में कवि की सर्वाधिक सफल कल्पनाओं पर विचार करते हैं, तो 'उत्प्रेक्षा' प्रधान लक्षित होती है, यद्यपि अन्य अलंकार भी, विशेष रूप से 'रूपक', उस के सहायक के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

हमारा कवि 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में कल्पित चित्रों की सहायता से एक अपार 'आनंद' को बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त करता है, जब वह कहता है

सुत हियँ लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।
(मानस, बाल० ३०८

पावा परम तत्त्व जनु जोगीं। अमृत लहेउ जनु संतत रोगीं।
जनम रंकु जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभु सुहावा।
मूक बदन जनु सारद छाई। मानहुँ समर सूर जय पाई।
(मानस बाल० ३५०

वह 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप मे तीन काल्पनिक चित्रो की सहायता से 'हर्षातिरेक' के तीन विभिन्न रूपों का कुशलता से चित्रण करता है, जब वह कहता है :

मखिन्ह सहित हरषी अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी।
जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई।
सीय सुखहिं बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।

(मानस, बाल० २६३

उस की सुन्दर कल्पना 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में पुनः व्यक्त होती है, जब वह एक विषम 'वेदना' प्रकट करने के लिये निम्नलिखित पंक्तियों में अग्रसर होता है :

ढ्रलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू।

(मानस, अयोध्या० २७)

अथवा 'साग रूपक' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में निम्नाङ्कित पंक्तियों में वह 'रोष' का भाव व्यक्त करने को प्रस्तुत होता है :

आगें दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी।
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरीं सान बनाई।
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा।

(मानस, अयोध्या० ३१)

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी।
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई।
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा।
ढाहत भूपरूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला।

(मानस, अयोध्या० ३४)

'साग रूपक' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप मे एक उक्ति पुनः हमारे सामने आती है जब कवि जनक के ससैन्य चित्रकूटागमन में 'शोक' का एक चित्र अंकित करने का प्रयास करता है। कवि के भाव चित्रण पर विचार करते हुए 'शोक' के इस चित्र पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं,[1] इस लिए पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

[1] देखिए ऊपर पृ० ३१४

'वस्तूत्प्रेक्षा' के सहारे 'साग रूपक' के रूप में एक चित्र कवि तब अंकित करता है जब वह तीव्र 'स्नेह' का भाव नीचे लिखी पंक्तियों में व्यक्त करने का प्रयत्न करता है

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू । भयउ भूप मनु मनहुँ पयागू ।
सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा । तापर राम पेम सिसु सोहा ।
चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु । बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु ।

(मा० स०, अयोध्या० २८६)

'वस्तूत्प्रेक्षा माला' तथा 'उदाहरण माला' के रूप म कवि ने एक कठिन 'व्यथा' का एक हृदयस्पर्शी चित्र रामादि को वन पहुँचा कर सुमंत्र की वापसी में उपस्थित किया है किंतु ऊपर भाव चित्रण संबंधी कवि की प्रतिभा पर विचार करते हुए हम उस पर विचार कर चुके हैं,[1] इस लिए पुनरुक्ति अनावश्यक होगी ।

'ममता' और 'दुरासक्ति' का एक अत्यंत व्यंजनापूर्ण चित्र कवि 'उदाहरण' के रूप म प्रस्तुत करता है, जब वह कहता है

सुनासीर मन महुँ अति त्रासा । चहत देवरिषि मम पुर बासा ।
जे कामी लोलुप जग माहीं । कुटिल काक इव सबहि डेराहीं ।
सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज ।
छीन लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज ॥

(मानस, बाल० १२५)

द्वेष का एक सुंदर चित्र 'उदाहरण' के रूप म वह तब चित्रित करता है जब वह कहता है

करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती । होइ अकाजु कवनि बिधि राती ।
देखि लागि मधु कुटिल किराती । जिमि गँव तकइ लेउँ केहि भाँती ।

(मानस, अयोध्या० १३)

'स्मृति' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' से पुष्ट 'कैतवापन्हुति' के रूप में 'गीतावली' म एक सरस अभिव्यक्ति उस अवसर पर हुई है जब कवि निम्नलिखित पंक्तियों में 'शोक' प्रकट करने का यत्न करता है

[1] देखिए ऊपर पृ० २१२ १३

सुनि पितु बचन चरन गहे रघुपति भूप अंक भरि लीन्हें।
अजहुँ अवनि बिदरत दरार मिस सो अवसर सुधि कीन्हें॥

(गीता० अयोध्या० १२)

६० (३) कार्य-व्यापार चित्रण में :

कार्य-व्यापार के चित्रण क्षेत्र में सर्वाधिक सफल काल्पनिक प्रयोगों पर विचार करते समय हमारा ध्यान प्रधानतः जिस अलंकार पर जाता है वह है 'उत्प्रेक्षा'।

'हेतूत्प्रेक्षा' के रूप में एक सरस कल्पना का प्रयोग कवि ने नायिका द्वारा नायक के गले में जयमाल डाले जाने का वर्णन करते हुए किया है :

सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई।
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला।

(मानस, बाल० २६४)

'फलोत्प्रेक्षा' गर्भित 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में कवि आतुर पदों का चित्रण करते समय पुनः इसी प्रकार के काल्पनिक प्रयोग करता है :

चले जहाँ दसरथु जनवासे। मनहु सरोवर तकेउ पिआसे।

(मानस, बाल० ३०७)

राम दरस बस सब नरनारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी।

(मानस, अयोध्या० १८८)

कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं।
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहँ चरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं।

(मानस, उत्तर० ६)

कवि 'वस्तूत्प्रेक्षा' की सहायता से अपने एक पात्र के भीषण मौन में त्रास की ध्वनि लाने के लिए एक सुंदर कल्पना का प्रयोग इस प्रकार करता है :

कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहुँ मसानु।

(मानस, अयोध्या० ३६)

'वस्तूत्प्रेक्षा' के एक अन्य चित्र द्वारा वह अपने एक पात्र के आसन ग्रहण करने में दीनता की व्यंजना इस प्रकार करता है :

आसनु दीन्ह नाइ सिरु बैठे। चहत सकुच गृहँ जनु भजि पैठे।

(मानस, अयोध्या० २०६)

और 'वस्तूत्प्रेक्षा' के एक प्रयोग द्वारा वह अपने एक पात्र के उठ की क्रिया में वीरता का सन्केत इस प्रकार करता है :०

उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहु बीररस सोवत जागा।
(मानस, अयाध्या० २८

'फलोत्प्रेक्षा' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' के रूप में एक उत्कृष्ट काल्पनि प्रयोग द्वारा कवि वैवाहिक प्रागण म अपने नायक तथा नायिका के प्रतिवि के अगणित मणियों में प्रकट हाने एव अदृश्य होने का चित्रण इस प्रक करता है

राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं। जगमगात मनि खमन माहीं।
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत राम बिम्राहु अनूपा।
दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी।
(मानस, बाल० ३

'उदाहरण' के रूप में सुदर कल्पनाओ की सहायता पुन. वह समय लेता है जब भावी अमगल की आशका से उत्पन्न भय की व्यजना नीचे लिखी पक्तियों में करता है

मंगल सकल सोहाहिं न कैसें। सहगामिनिहि बिभूषण जैसें।
(मानस, अयाध्या०

लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगहँ गयादिक तीरथ जैसे।
(मानस, अयाध्या०

'उदाहरण' के रुप म ऐसे ही दा काल्पनिक चित्रों का प्रयोग अपने कुछ पात्रों में पारस्परिक समवेदना का सकेत करते हुए करता है

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें। पलक बिलोचन गोलक कैसें।
सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहिं। जिमि अविबेकी पुरुप सरीरहिं।
(मानस, अयध्या० १

कथा के एक पात्र द्वारा राम के चरणों में भक्ति से उत्पन्न २ विषयक अनासक्ति की व्यजना वह इसी प्रकार एक अन्य उक्ति की सहा से 'उदाहरण' के रुप म करता है .

रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥
(मानस, किंष्किधा०

'जानकी मंगल' में भी एक सुंदर कल्पना उस स्थल पर दिखाई पड़ती है, जहाँ नायिका की प्रेममयी किंतु लज्जापूर्ण दृष्टि का चित्रण कवि 'वस्तूत्प्रेक्षा' द्वारा करता है :

सीय सनेह सकुच बस पिय तन हेरइ ।
सुरतर रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ ॥

(जा० मं० १२१)

'गीतावली' में एक स्थान पर कवि जन-समूह को राजकुमारों के दर्शनार्थ रंगभूमि की ओर दौड़ते हुए चित्रित करते हुए 'हेतूत्प्रेक्षा' द्वारा एक सुंदर काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करता है :

नगर लोग सुधि पाइ मुदित सबही सब काज बिसारे ।
मनहुँ मघा जल उमगि उदधि रुख चले नदी नद नारे ।

(गीता०, बाल० ३६)

'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियों में कवि सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट करता है जब वह पहाड़ लेकर उड़ते हुए हनुमान की द्रुतगति को 'वस्तूत्प्रेक्षा' द्वारा सूचित करता है :

तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो ।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो ।

(कविता०, लंका० ५४)

कार्य-व्यापारों का चित्रण करते समय हमें कभी-कभी ऐसे प्रसंग मिलते हैं जब कवि अपनी सहानुभूतिपूर्ण कल्पना द्वारा पशु-पक्षी-वृंद और प्रकृति के निर्जीव पदार्थों में भी किसी अभिप्राय या आशय की ध्वनि करता है।

इस प्रकार का एक सुंदर उदाहरण 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में हमें उस समय मिलता है जब कवि नायिका के नूपुरों की झनकार का, जो उसके चरणनखों द्वारा पृथ्वी पर कुछ चिह्न बनाते समय उत्पन्न होती है, वर्णन करता है :

चारु चरन नख लेखति धरनी । नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी ।
मनहुँ प्रेम बस बिनती करहीं । हमहिं सीय पद जनि परिहरहीं ।

(मानस, अयोध्या० ५८)

इसी प्रकार का एक दूसरा प्रभावशाली उदाहरण अन्यत्र हमें वहाँ मिलता है जहाँ कवि अपने एकाकी नायक में 'विरहोन्माद' का चित्रण करते हुए वन के पशु-पक्षियों के स्वाभाविक कार्य-व्यापार में 'वस्तूत्प्रेक्षा और

एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावकु धरेऊ।
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिषु चाहत चीखा।
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनु बन आगी।
पालव बैठि पेड़ु एहि काटा। सुख महुँ सोक ठाटु धरि ठाटा।

(मानस, अयोध्या० ४७)

नायक को जयमाल पहनाते समय 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक काल्पनिक चित्र का प्रयोग कवि 'गीतावली' में इस प्रकार करता है

सतानंद सिष सुनि पाँय परि पहिराई
माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है।
मानस तें निकसि बिसाल सु तमाल पर
मानहुँ मरालपाँति बैठी बनि गई है।

(गीता०, बाल० ९४)

'दोहावली' में उस आत्मा के संबंध में जो परमार्थ ज्ञान के पश्चात् भी विषय की वस्तुओं को नहीं छोड़ती, 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक उत्कृष्ट कल्पना वह इस प्रकार प्रस्तुत करता है

परमारथ पहिचानि मति लसति विषय लपटानि।
निकसि चिता तें अधजरति मानहुँ सती परानि॥

(दोहा० २५३)

.२ (५) वस्तु चित्रण में .

जब हम कवि के वस्तु चित्रण संबंधी सर्वाधिक सफल कल्पनापूर्ण चित्रों की ओर ध्यान देते हैं, तो अन्य अलंकारों से पुष्ट 'उत्प्रेक्षा' प्रमुख रूप से हमारे सम्मुख आती है।

'हेतूत्प्रेक्षा' से युक्त 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में कल्पना का एक सुंदर उदाहरण हमें उस समय प्राप्त होता है जब कवि एक बनैले सुअर के दाँतों का वर्णन करने के लिए अग्रसर होता है

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू।
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीं।

(मानस, बाल० १५६)

दूसरी मधुर कल्पना हमें 'फलोत्प्रेक्षा' से युक्त तथा 'सांग रूपक' और 'भ्रांतिमान' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में तब मिलती है जब

कवि धूप धूम से आच्छादित अवधपुरी का वर्णन करने के लिए प्रस्तुत होता है :

अवधपुरी सोहइ एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती।
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी।
अगर धूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी।
मंदिर मनि समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इंदु उदारा।
भवन बेद धुनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समयँ जनु सानी।
कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइँ जात न जाना।

(मानस, बाल० १९५)

जब कवि सोते हुए सुकुमार राजकुमारों के सौंदर्य का वर्णन करता है, तो वह 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक सुंदर कल्पना का प्रयोग इस प्रकार करता है :

नीदउँ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना।

(मानस, बाल० ३५८)

कुपित रानी के वेष वर्णन में 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में भावी अमंगल की व्यंजना कवि इस प्रकार करता है

कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी। अन अहिवातु सूच जनु भाबी।

(मानस, अयोध्या० २५)

'वस्तूत्प्रेक्षा' का इसी तरह का एक अन्य प्रयोग उस समय भी देखा जा सकता है जब वह अपने उसी पात्र के विषय में कहता है

सरुष समीप दीखि कैकेई। मानहुँ मीचु घरीं गनि लेई।

(मानस, अयोध्या० ४०)

वह 'सांग रूपक' से पुष्ट 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में एक सुन्दर कल्पना का प्रयोग तब करता है जब वह राम विहीन अवध का वर्णन करता है

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी।
घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी।
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता।

(मानस, अयोध्या० ८३)

अथवा जब वह पयस्विनी के तट पर स्थित एक रमणीय भूखंड का वर्णन करता है

लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुप जिमि नारा।
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना।
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी।
(मानस, अयोध्या० १३९)

महायुद्ध का वर्णन करते समय वह पुनः 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में दो अच्छे काल्पनिक चित्रों का प्रयोग करता है, जब वह कहता है:

सबल जुगल दल समबल जोधा। कौतुक करत लरत करि क्रोधा।
प्राबिट सरद पयोद घनेरे। लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे।
(मानस, लंका० ४६)

रुधिर गाड़ भरि भरि जम्यो ऊपर धूरि उड़ाइ।
जनु अँगार रासिन्ह पर मृतक धूम रह्यो छाइ॥
(मानस, लंका० ५२)

'वस्तूत्प्रेक्षा' रूप में एक कल्पना की सहायता वह विजेता नायक के सौंदर्य का चित्र अंकित करने में इस प्रकार लेता है .

सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नील गिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं।
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥
(मानस, लंका० १०१)

'वस्तूत्प्रेक्षा' से पुष्ट 'साग रूपक' के रूप में एक सुंदर कल्पना का प्रयोग कवि तब करता है, जब वह एक उत्साहपूर्ण स्वागत के वर्णन में कहता है:

धूप धूम नभु मेचक भयऊ। सावन घन घमंडु जनु ठयऊ।
सुरतरु सुमन माल सुर बरषहिं। मनहुँ बलाक अवलि मनु करषहिं।
मंजुल मनिमय बंदनवारे। मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे।
प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि।
दुंदुभि धुनि घन गरजनि घोरा। जाचक चातक दादुर मोरा।
सुर सुगंध सुचि बरषहिं बारी। सुखी सकल ससि पुर नर नारी।
(मानस, बाल० ३४७)

एक रम्य वनस्थली का वर्णन करते हुए भी कवि इसी प्रकार का एक प्रयत्न करता है, जब वह कहता है :

बन प्रदेस मुनि बास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे।
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना। प्रजा समाज न जाइ बखाना।
खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष बृष साजु सराहा।
बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा।
झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं। मनहुँ निसान बिबिध बिधि बाजहिं।
चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन।
अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा।
(मानस, अयोध्या० २३६)

और पुनः इसी प्रकार का एक प्रयास कवि करता है जब वह वन से राजधानी को लौटते हुए राजकुमारों के स्वागत का वर्णन करता है :

राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान।
बढ़यो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥
(मानस, उत्तर० ३)

कवि 'भ्रान्त्यापह्नुति' और 'निश्चय' के रूप में एक सुंदर कल्पना का प्रयोग तब करता है जब वह लंका पर्वत शिखर पर की मल्लभूमि का वर्णन करने को प्रस्तुत होता है :

देखु बिभीषण दच्छिन आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा।
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा। होइ बृष्टि जनि उपल कठोरा।
कहइ बिभीषण सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न बारिद माला।
लंका सिखर उपर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा।
छत्र मेघडंबर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अति कारी।
मंदोदरी श्रवन ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका।
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुरभूपा।
(मानस, लंका० १३)

'संभावना' के रूप में कवि एक सुंदर कल्पना का प्रयोग उस समय करता है जब वह एक स्थान पर अपनी नायिका का सौंदर्य-वर्णन करने को प्रस्तुत होता है :

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू।
एहि विधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल॥
(मानस, बाल० २४७)

एक दूसरी उत्कृष्ट कल्पना 'वितर्क', 'सदेह', 'सामान्य' अ
'विशेषकोन्मीलित' के रूप में राम और भरत की आकृति प्रकृति की तुल
में वह व्यवहृत करता है

> वरहिं सपेम एक एक पाही। रामु लखनु सखि होहिं कि नाहीं।
> बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली।
> बेपु न सो सखि सीय न संगा। आगें अनी चली चतुरंगा।
> नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ एहिं भेदा।
>
> (मानस, अयोध्या० २२

पपासर का वर्णन भी कवि को 'वस्तूत्प्रेक्षा' और 'उदाहरण' के
में कुछ सुदर कल्पनाओ के प्रयोग के लिए अवसर प्रदान करता है .

> पुनि प्रभु गए सरोवर तीरा। पंपा नाम सुभग गभीरा।
> संत हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी।
> जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा।
>
> पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म।
> मायाछन्न न देखिऐ जैसें निर्गुन ब्रह्म॥
> सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माहिं।
> जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुखसंजुत जाहिं॥
>
> (मानस, अरण्य० ३

'जानकी मगल' मे एक सुदर कल्पना को 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप मे
स्थान मिलता है, जब कवि विश्वामित्र को राम लक्ष्मण को ले जाते ह
चित्रित करता है

> दुहुँ दिसि राजकुमार बिराजत मुनिवर।
> नील पीत पाथोज बीच जनु दिनकर॥
>
> (जा० मं० ७

अथवा जब वह उन्हें राजकुमारों के बालों का स्पर्श करते हुए चित्रि
करता है :

> काकपच्छ ऋषि परसत पानि सरोजनि।
> लाल कमल जनु लालत बाल मनोजनि॥

अथवा फिर, जब वह नायिका का नायक के गले में जयमाल डालते हुए चित्रित करता है

लसत ललित कर कमल माल पहिरावत ।
काम फंद जनु चंदहि वनज फँदावत ॥

(जा० म० १२४)

अथवा, फिर भी जब वह वर की 'प्रदक्षिणा' करने का प्रस्तुत नारी वेश धारिणी देवांगनाओं का वर्णन करता है

मंगल आरति साजि वरहि परिछन चलीं ।
जनु विगसीं रवि उदय कनक पंकज कलीं ॥

(जा० म० १४८)

इसी प्रकार की एक कल्पना 'गीतावली' में 'फलोत्प्रेक्षा' के रूप में आती है जब कवि अपने शिशु नायक की अलकावली में बँधे हुए मोतियों के गुच्छे का वर्णन करता है

गभुआरी अलकावली लसै लटकन ललित ललाट ।
जनु उडुगन बिधु मिलन को चले तम बिदारि करि बाट ॥

(गीता०, बाल० १९)

जब वह अपने नायक की बाल-लीला के दृश्यों का वर्णन करने लगता है तब तो 'वस्तूत्प्रेक्षा' तथा हेतूत्प्रेक्षा' के रूप में अनेक सुन्दर कल्पना चित्र उस के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं

सिसु सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पदपल्लव लाए ।
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों मधु पाए ।
उपर अनूप बिलोकि खेलौना किलकत पुनि पुनि पानि पसारत ।
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधु भय बिनय करत अति आरत ॥

(गीता०, बाल० २०)

चलत पद प्रतिबिंब राजत अजिर सुखमा पुंज ।
प्रेमबस प्रति चरन महि मानो देति आसन कंज ।

(गीता०, बाल० ३८)

एक स्थान पर सूर्योदय के समय के आकाश का वर्णन करते समय 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में वह एक सुन्दर कल्पना चित्र उपस्थित करता है

अरुन मय गगन राजत रुचिर तारे ।

मनहुं रमि बाल मृगराज समनिकर करि
दलित अति ललित मनिगन बिथारे ।

(गीता०, बाल० ३४)

चित्रकूट की निरुपम सुषमा, जो वर्षा के आगमन से और भी बढ़ जाती है, एक सुन्दर गीत-रचना के लिए कवि को उमंग प्रदान करती है, और वहाँ भी कवि की कल्पना 'वस्तूत्प्रेक्षा' का रूप ग्रहण करती है :

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमँगे सृंगनि ।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृंगनि ।
सिखर परसि घन घटहि मिलत बग पाँति सो छबि कबि बरनी ।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ।
जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग ।
मानहुँ जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अंग ।

(गीता०, अयोध्या० ५०)

'गीतावली' उत्तरकाड के प्रारंभिक कुछ गीतों में भी जब कवि अपने नायक का नख-शिख-वर्णन करता है, अप्रस्तुत के लिए वह विशेष करके 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में ही कल्पनाओं का आश्रय लेता है।[1]

'बरवै' में वह एक सुंदर कल्पना का प्रयोग तब करता है जब नायिका के केशों में लगे हुए मोतियों का 'पूर्वरूप' और तद्रूप' के रूप में वर्णन करता है :

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत ।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥

(बरवै०, बाल० १)

अथवा, जब वह उस के अंग पर की एक माला का वर्णन करता है, और गौण रूप से 'विशेष' के रूप में उस के शरीर के सौंदर्य का वर्णन करता है :

सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत ।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत ॥

(बरवै, बाल० ६)

अथवा पुनः जब वह 'मीलित' के रूप में उस के अंग के रंग का वर्णन करता है :

[1] उदाहरणार्थ: गीता०, उत्तर० २–१७

चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँम्हिलाइ॥
(बरवै०, बाल० ५)

'विनय-पत्रिका' में 'साग रूपक' से पुष्ट 'फलोत्प्रेक्षा' के रूप में एक उत्कृष्ट कल्पना के दर्शन होते हैं जब एक गीत में कवि वसंत-सुषमा का गान करता है,[1] अथवा जब विभिन्न प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में एक दूसरे गीत में वह 'विन्दु माधव' का नख-शिख-वर्णन करता है।[2]

'कवितावली' में 'वस्तूत्प्रेक्षा' के रूप में कवि एक सुन्दर चित्र तब उपस्थित करता है जब वह जनकनगर में रानियों के नायक को स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखने का वर्णन करता है :

तुलसी मुदित मन जनक नगर जन
झाँकती झरोखे लागीं सोभा रानी पावतीं।
मनहुँ चकोरी चारु बैठीं निज निज नीड़
चंद की किरन पीवैं पलकैं न लावतीं।
(कविता०, बाल० १३)

अथवा जब वह वन-पथ पर अपने नायक की ओर देखती हुई ग्राम-वधुओं का वर्णन करता है :

तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अलीं।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मनो मंजुल कंज कलीं।
(कविता०, अयोध्या० २२)

अथवा फिर, जब वह विजयी नायक के सुंदर रूप का वर्णन करता है :

सोभित छींटि छटानि जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछबि छूटी।
मानो मरकत सैल बिसाल में फैलि चली बर बीर बहूटी।
(कविता० लंका० ५१)

६३. (६) उच्च कल्पना-चित्रण में :

जब हम कवि के मुख्य रूप से उच्च कल्पना-प्रदर्शन के प्रयत्नों पर ध्यान देते हैं, तो 'प्रतीप' प्रधान रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

[1] विनय० १४ [2] वही, ६२.

इस प्रकार की एक कल्पना का प्रयोग कवि तब करता है जब 'च प्रतीप' के रूप म वह अपने नायक के सौंदर्य का परिचय कराना चाहता

सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं।
बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी।
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिअ जाही।
(मानस, बाल० २:

नायिका के मुख क सौंदर्य का परिचय कराते समय भी वह 'च प्रतीप' के रूप म कल्पना का प्रयोग करता है:

प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा।
बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं।
जनम सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक॥
घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई।
कोक सोक प्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही।
बैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोषु बड़ अनुचित कीन्हे।
(मानस, बाल० २३७ २.

नायिका के सौंदर्य का वर्णन करते हुए पुन: 'चतुर्थ प्रतीप' में वह अपनी कल्पना प्रस्तुत करता है:

जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही।
(मानस, बाल० २.

इसी प्रकार की एक कल्पना का प्रयोग वह 'कैतवापह्नुति' के रूप करता है जब शत्रु के मुकुटों की प्राप्ति पर विवेचन करते हुए वह कहलाता

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी।
साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।
नीति धर्म के चरन सुहाए। अस जियँ जानि नाथ पहिं आए।
(मानस, लंका० ३

समुद्र की खारता पर विचार करते समय अन्यत्र वह 'हेत्वापह्नु और 'काव्यलिंग' के रूप में एक प्रशस्त कल्पना का प्रयोग इस प्रकार करता

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी।
तव रिपुनारि रदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा। •
(मानस, लं० १

. इसी प्रकार की एक उत्कृष्ट कल्पना 'बरवै' में भी व्यक्त हुई है ज कवि 'व्यतिरेक' के रूप में नायिका के मुख के सौंदर्य पर विचार प्रकट करता है

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसि दिन यह बिगसाइ॥
(बरवै०, बाल० ३)

६४. उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि कवि की कृतियाँ सुंदर चित्रों से भरी हुई हैं; यह आरोपित चित्र उसकी उर्वरा कल्पना शक्ति के परिचायक हैं, यह चित्र प्रायः उसे गुण-स्वभाव-चित्रण, भाव-मनोविकार-चित्रण, कार्य-व्यापार-चित्रण, घटना-चित्रण, और वस्तु-चित्रण में सहायता प्रदान करते हैं, और कवि इन चित्रों का बहुत ही कम प्रयोग केवल अपनी कल्पना प्रदर्शन के लिए करता है; इन सब विषयों में से वस्तु चित्रण ही इन चित्रों के प्रयोग के लिए कवि का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करता है; कवि के सब से सफल अलंकार 'उत्प्रेक्षा', 'रूपक' और 'उदाहरण' हैं, और हमारे कवि में इन अलंकारों के समन्वय की भी असाधारण क्षमता है, दूसरे अनेक अलंकारों के रूप में भी उसके द्वारा अंकित उत्कृष्ट काल्पनिक चित्रों की कमी नहीं है और उनका भी जब समन्वय हुआ है वह कलापूर्ण है। फिर भी एक बात बिना विवेचन और विश्लेषण के केवल इसलिए रह जाती है कि उसका विवेचन और विश्लेषण असंभव है : वह यह है कि इन कल्पना चित्रों और अलंकारों को अपनी रचनाओं में लाने के लिए कवि को किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है, और यह उसकी विशेषता भी उसे एक महान् कवि और कलाकार का आसन प्रदान करती है।

उक्ति-वैचित्र्य

६५. अपने किसी विश्वास की दृढ़ता, अथवा अपनी कथा के किसी पात्र अथवा किसी विषय के प्रति तीव्र सहानुभूति अथवा तीव्र विद्वेष के कारण उमंग में आकर कवि एक युक्ति पर दूसरी युक्ति, अथवा एक कल्पना-चित्र पर दूसरा कल्पना-चित्र, समान और बहुत सी बातों में पूर्वकथित के

अनुरूप प्रस्तुत करके अपनी व्यंजना को एक अद्भुत अंश तक प्रभावशाली बना देता है। उस की इस प्रवृत्ति पर अभी तक समालोचकों का ध्यान यथेष्ट रूप से नहीं गया है। अतः नीचे की कुछ पंक्तियों में हम कुशल कवि की इस विशेषता पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

६६ 'रामचरित मानस' की भूमिका में जब कवि राम कथा और राम चरित की महत्ता का गान करता है[1], वह चौपाइयों के अड़तालीस चरणों में अड़तालीस और सहयोगी तीन दोहा में तीन कल्पना चित्रों का प्रयोग करता है। समस्त प्रकरण में यह उक्तियाँ एक के पश्चात् एक क्रम-पूर्वक और समान अंतर से आती हैं, और विशेषता यह है कि राम-कथा संबंधिनी उक्तियाँ स्त्री लिंग की हैं और राम चरित संबंधिनी पुल्लिंग की। उदाहरण के लिए निम्न लिखित पंक्तियाँ यथेष्ट होंगी

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि कलुष बिभंजनि।
रामकथा कलि पंनग भरनी। पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी।
रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई।
सोइ बसुधातल सुधा तरंगिनि। भयभंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि।

(मानस, बाल० ३१)

राम चरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।
जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के।
सदगुरु ग्यान बिराग जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के।
जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के।

(मानस, बाल० ३२)

मानव देह पाकर भी जो हरि भक्ति नहीं करते, उन के विरुद्ध कवि की तीव्र भावना पुनः इसी प्रकार व्यक्त होती है। प्रसंग की इन छः अर्द्धालियों में शिव उन के अंग प्रत्यंग की निरर्थकता बता कर उन की भर्त्सना करते हैं :

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहि भवन समाना।
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोर पंख कर लेखा।
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला।
जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी।

[1] मानस, बाल० ३१-३२

जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती।
(मानस, बाल० ११३)

अन्यत्र धनुर्भंग के अनतर सीता को छीन लेने के लिए क्रूर राजाओं के कायर विचार का प्रतिवाद साधु राजाओं द्वारा सात काल्पनिक चित्रों की सहायता से यथाक्रम चौपाइयों के सात चरणों में इस प्रकार कराया जाता है:

बैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि ससु चहहि नाग अरि भागू।
जिमि चह कुसल अकारन कोही। सब संपदा चहै सिव द्रोही।
लोभी लोलुप कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई।
हरिपद बिमुख परम गति चाहा। तिमि तुम्हार लालच नर नाहा।
(मानस, बाल० २६७)

पुनः जब कवि अपनी कल्पना की उड़ान में अश्वारूढ़ राम का दूलह के रूप में वर्णन करता है, वह छः उत्कृष्ट भाव-चित्रों की कल्पना करता है, जिन को वह यथाक्रम समान अंतर पर छः अर्द्धालियों में इस प्रकार व्यक्त करता है :

संकरु राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे।
हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।
निरखि राम छबि बिधि हरषाने। आठइ नयन जानि पछिताने।
सुर सेनप उर बहुत उछाहू। बिधि तें डेवढ़ लोचन लाहू।
रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना।
देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं।
(मानस, बाल० ३१७)

पुत्रों के मिथिला से विवाहित लौटने पर जब वह माताओं के अपार हर्ष का वर्णन करता है, वह उसे केवल अर्द्धालियों के छः चरणों में, छः कल्पना-चित्रों द्वारा व्यक्त करता है :

पावा परम तत्व जनु जोगी। अमृतु लहेउ जनु संतत रोगी।
जनम रंकु जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभु सुहावा।
मूक बदन जस सारद छाई। मानहुँ सूर समर जय पाई।
इहि सुख तें सतकोटि गुन पावहिं मातु अनंदु।
भाइन्ह सहित बिआहि घर आए रघुकुलचंदु॥
(मानस, बाल० ३५०)

केवल पाँच अर्द्धालियों और एक दोहे में नौ भौतिक असभावनाओं की समता का आश्रय सुख प्राप्ति के लिए भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधनों की असमर्थता बताने में कवि इस प्रकार लेता है:

कमठ पीठि जामहि बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा।
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना।
अंधकारु बरु रबिहि नसावइ। राम बिमुख न जीव सुख पावइ।
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई।
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।

(मानस, उत्तर० १२२)

भुशुंडि गरुड संवाद के अंत की कुछ पंक्तियों में कवि इस युक्ति का बड़ा ही सरस प्रयोग करता है। केवल चार अर्द्धालियों में ही वह चौदह गुणों का उल्लेख करता है, और कहता है कि राम के चरणों में भक्ति होने पर यह सब स्वतः आ जाते हैं:

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता।
धर्म परायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जाकर मन राता।
नीतिनिपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना।
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा।

(मानस, उत्तर० १२७)

बाद की चार अर्द्धालियों और एक दोहे में पुनः वह इस जीवन की आठ वांछनीय वस्तुओं को गिनाता है, और अंत में रामभक्ति को सर्वाधिक श्रेयस्कर बताता है:

धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी।
धन्य सो भूप नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई।
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्यरत मति सोइ पाकी।
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा।
सो कुल उमा धन्य सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत॥

(मानस, उत्तर० १२७)

जब भुशुंडि गरुड़ से राम के ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं, तब भी इसी तरह की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।[1] दस अर्द्धालियों और दो दोहों में ही वह उस ऐश्वर्य की तुलना चौबीस छोटे-बड़े देवताओं में से प्रत्येक की करोड़ों गुनी शक्ति से करते हैं, और तब यह परिणाम निकालते हैं कि इतनी शक्ति बढ़ाने पर भी राम की तुलना में वे इसी प्रकार होंगे जैसे सूर्य की तुलना में कोटिशत खद्योत। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी :

राम काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन।
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा।
मरुत कोटि सत बिपुल बल रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल समन सकल भव त्रास॥
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सत कोटि सम दुराधरष भगवंत॥...
निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै।
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं॥
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

(मानस उत्तर० ९१–९२)

राजा से राम को वन भेजने का वर लेने के कैकेयी के कार्य पर टिप्पणी कराते हुए पुनः कवि अपनी इस प्रवृत्ति का प्रदर्शन करता है। चार अर्द्धालियों के द्वारा कवि उस के कार्य की समता उन्मादग्रस्त मनुष्यों के पाँच कार्यों से बड़ी सुंदरता के साथ करता है :

एहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ।
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिषु चाहत चीखा।
कुटिल कठोरि कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनु बन आगी।
पालव बैठि पेड़ येहि काटा। सुख महँ सोक ठाटु धरि ठाटा।

(मानस, अयोध्या० ४७)

राम को वन पहुँचाकर लौटते समय सुमंत्र की विचित्र दशा के चित्रण में फिर इस युक्ति का अवलंबन किया जाता है : चार अर्द्धालियों और

[1] मानस, उत्तर० ९१-९२

एक दाहे में कवि चार अत्यत मर्मस्पर्शी चित्रों का समावेश इस प्रकार करता है

मींजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहु कृपिन धन रासि गँवाई।
बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई।
बिप्र बिबेकी बेद बिद समत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति।
जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी।
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू।

(मानस अयोध्या० १४४)

परतु कवि की इस प्रवृत्ति का कदाचित् सब से सु दर उदाहरण भरद्वाज द्वारा राम के स्वागत के वाक्यों में मिलता है, इस स्थान पर केवल भाव सादृश्य ही नहीं है परतु शब्द भी एक कलात्मक क्रम से दुहराए गए हैं

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू।
सुफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू।
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी।

(मानस, अयोध्या० २००)

६७ कभी कभी परिणाम इतना सु दर नहीं होता जैसा उपर्युक्त उदाहरणों में हमने देखा है, और इस युक्ति का अनवसर, अथवा अनुपयुक्त माध्यम से, अथवा आवश्यक से कुछ अधिक मात्रा मे प्रयोग कलात्मक प्रभाव को नष्ट कर देता है।

अनुपयुक्त माध्यम द्वारा इसके प्रयोग का एक उदाहरण हमें उस समय दिखाई पड़ता है जब शूर्पणखा लछमण द्वारा विरूप किए जाने पर रावण को नीति धर्म के निम्नलिखित वाक्य सुनाती है

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पें बिनु सत कर्मा।
बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ।
सग तें जती कुमत्र तें राजा। मान तें ग्यान पान तें लाजा।
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी।

(मानस, अरण्य० २१)

यह शब्दावली, विशेष कर के 'हरिहि समर्पें बिनु सतकर्मा' शूर्पणखा ऐसे पात्र के मुख में और रावण ऐसे सुरारि को सबोधित करके कहते हुए शोभा नहीं देती।

अनवसर इस युक्ति के प्रयोग का एक उदाहरण हमें उस समय मिलता है जब कवि सात नीति-उपदेश सबधी विचारों को कुपित राम के मुख में उस क्षण रखता है जब वे समुद्र पर बाण-सधान करने का अवसर होते हैं। प्रसग की कुछ पक्तियों के साथ वे इस प्रकार हैं .

विनय न मानत जलधि जड गए तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति ॥
लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू।
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपिन सन सुंदर नीती।
ममता रत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी।
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बएँ फल जथा।

(मानस, सुं०, ५७ ५८)

इसी प्रकार, भुशु डि का लोमस के क्रोधाभिभूत होने के सबध में लगातार बीस नैतिक अप्रस्तुतों के प्रसग म सोचना उपर्युक्त युक्ति का उचित से कुछ अधिक माना में प्रयाग प्रतीत होता है

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ॥
कबहुँ कि दुख सब कर हित ताकें। तेहि कि दरिद्र परस मनि जाकें।
परद्रोही कि होहिं निस्संका। कामी पुनि कि रहहिं अकलका।
बस कि रह द्विज अनहित कीन्हें। कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।
काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभ गति पाव कि परतियगामी।
भव कि परहिं परमातम बिंदक। सुखी कि होहिं कबहुँ हरिनिंदक।
राजु कि रहै नीति बिनु जानें। अघ कि रहहिं हरिचरित बखानें।
पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।
लाभु कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना।
हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिय न रामहिं नर तनु पाई।
अघ कि पिसुनता सम किछु आना। धर्म कि दया सरिस हरि जाना।
एहि बिधि अमित जुगति मन गुनेउँ। मुनि उपदेस न सादर सुनेउँ।

(मानस, उत्तर० ११२)

निम्नलिखित पक्तियों म क्रुद्ध अगद का रावण से एक दर्जन ऐसे प्रश्न पूछना जिनका उत्तर नकारात्मक ही मिलने की सभावना थी, यद्यपि बिल्कुल

एक दोहे में कवि चार अत्यंत मर्मस्पर्शी चित्रों का समावेश इस प्रकार करता है :

मींजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहु कृपिन धन रासि गँवाई।
बिरिद बाँधि बर बीर कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई।
बिप्र बिबेकी बेद बिद संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति।
जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी।
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू।
(मानस, अयोध्या० १४४)

परंतु कवि की इस प्रवृत्ति का कदाचित् सब से सुंदर उदाहरण भरद्वाज द्वारा राम के स्वागत के वाक्यों में मिलता है; इस स्थान पर केवल भाव-सादृश्य ही नहीं है परंतु शब्द भी एक कलात्मक क्रम से दुहराए गए हैं :

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू।
सुफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू।
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी।
(मानस, अयोध्या० १०

६७ कभी-कभी परिणाम इतना सुंदर नहीं होता जैसा उपर्युक्त उदाहरणों में हमने देखा है, और इस युक्ति का अनवसर, अथवा अनुपयुक्त माध्यम से, अथवा आवश्यक से कुछ अधिक मात्रा में प्रयोग कलात्मक प्रभाव को नष्ट कर देता है।

अनुपयुक्त माध्यम द्वारा इसके प्रयोग का एक उदाहरण हमें उस समय दिखाई पड़ता है जब शूर्पणखा लक्ष्मण द्वारा विरूप किए जाने पर रावण को नीति-धर्म के निम्नलिखित वाक्य सुनाती है :

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सत कर्मा।
बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ।
संग तें जती कुमंत्र तें राजा। मान तें ग्यान पान तें लाजा।
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी।
(मानस, अरण्य० २१)

यह शब्दावली, विशेष कर के 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा', शूर्पणखा ऐसे पात्र के मुख में और रावण ऐसे सुरारि को संबोधित करके कहते हुए शोभा नहीं देती।

अनवसर इस युक्ति के प्रयोग का एक उदाहरण हमें उस समय मिलता है जब कवि सात नीति-उपदेश सबंधी विचारों को कुपित राम के मुख में उस क्षण रखता है जब वे समुद्र पर बाण सधान करने को अग्रसर होते हैं। प्रसंग की कुछ पंक्तियों के साथ वे इस प्रकार हैं :

बिनय न मानत जलधि जड गए तीन दिन बीति ।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति ॥
लछिमन बान सरासन आनू। सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू ।
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती । सहज कृपिन सन सुंदर नीती ।
ममता रत सन ग्यान कहानी । अति लोभी सन बिरति बखानी ।
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा । ऊसर बीज बएँ फल जथा ।
(मानस, सु०२० ५७ ५८)

इसी प्रकार, भुशुंडि का लोमस के क्रोधाभिभूत होने के संबंध में लगातार बीस नैतिक अप्रस्तुतों के प्रसग म सोचना उपर्युक्त युक्ति का उचित से कुछ अधिक मात्रा में प्रयोग प्रतीत होता है :

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान ।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ॥
कबहुँ कि दुख सब कर हित ताकें । तेहि कि दरिद्र परस मनि जाकें ।
परद्रोही कि होहिं निसंका । कामी पुनि कि रहहिं अकलंका ।
बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें । कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें ।
काहू सुमति कि खल सँग जामी । सुभ गति पाव कि परतियगामी ।
भव कि परहिं परमातम बिंदक । सुखी कि होहिं कबहुँ हरिनिंदक ।
राजु कि रहै नीति बिनु जानें । अघ कि रहहिं हरिचरित बखानें ।
पावन जस कि पुन्य बिनु होई । बिनु अघ अजस कि पावइ कोई ।
लाभु कि कछु हरि भगति समाना । जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना ।
हानि कि जग एहि सम किछु भाई । भजिय न रामहिं नर तनु पाई ।
अघ कि पिसुनता सम किछु आना । धर्म कि दया सरिस हरि जाना ।
एहि बिधि अमित भाँति मन गुनेऊँ । मुनि उपदेस न सादर सुनेऊँ ।
(मानस, उत्तर० ११२)

निम्नलिखित पंक्तियों में क्रुद्ध अगद का रावण से एक दर्जन ऐसे प्रश्न पूछना जिनका उत्तर नकारात्मक ही मिलने की सभावना थी, यद्यपि बिल्कुल

अस्वाभाविकता नहीं, उसी वस्तु का आधिक्य सा अवश्य लगता है

राम मनुज कस रे सठ बगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा।
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा।
बैनतेय खग अहि सहसानन। चिंतामनि पुनि उपल दसानन।
सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा।

(मानस लंका० २६)

६८ इस प्रसग म हम कवि की इसी प्रकार की एक और प्रवृत्ति पर विचार कर सकते हैं कभी कभी कवि अपने पाठकों की सौंदर्य बुद्धि का प्रभावित करने का प्रयत्न विपरीत भावनाओं के एकत्र प्रदर्शन द्वारा करता है वह एक घटना का किसी प्रसग में वर्णन करता है, और फिर भाव अथवा स्वार्थ वैचित्र्य के अनुसार उसके प्रभावों का अनेक प्रकार से विकास दिखाता है।

इस प्रकार का एक प्रयत्न कवि मदन दहन के अवसर पर करता है जब वह घटना का नाना प्रकार के भावों, त्रास, हर्ष, भय, निराशा और सुख का उदय करती हुई दिखाता है

तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा।
हाहाकार भयउ जग भारी। डरपे सुर भए असुर सुखारी।
समुझि कामसुखु सोचहिं भोगी। भए अकंटक साधक जोगी।

(मानस बाल० ८७)

जनकपुर म राम जब रगभूमि में प्रवेश करते हैं तब कवि उनको देख कर स्वार्थ वैचित्र्य के कारण उत्पन्न विभिन्न प्रकार की भावनाओं के वर्णन म पुन इस प्रकार का आकर्षक प्रयत्न करता है।[1] किंतु इस प्रयास में न्यूनता इतनी अवश्य है कि इसके अधिकाश के लिए कवि का 'भागवत' का सहारा लेना पड़ा है।[2]

जनक के उत्तर में लक्ष्मण द्वारा दिए गए भाषण के प्रभाव पुन इसी युक्ति द्वारा वर्णित हुआ है जब एक दिशा म वह एक शका उत्पन्न करता है, दूसरे में उसका हर्षपूर्वक स्वागत होता है, एक तीसरी दिशा म वह लज्जा का भाव उत्पन्न करता है, और एक अन्य चौथी दिशा म वह बड़ी ही

[1] मानस, बाल० २४१ ४२

[2] 'भागवत', दशम स्कध (४३) १७

प्रसन्नता देने वाला होता है :

सखन सकोप बचन जे बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले।
सकल लोक सब भूप डेराने। सिय हियँ हरषु जनक सकुचाने।
गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं।

(मानस, बाल० २५४)

धनुर्भंग के लिए राम के अग्रसर होने और फिर धनुष के टूटने पर उपस्थित जन समूहों के स्वार्थ वैभिन्न्य जनित विभिन्न भावों को चित्रण[1] कवि को इस युक्ति के प्रयोग के लिए अवसर पुन. प्रदान करते हैं। इन दोनों स्थलों का एक अन्य प्रसग में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है,[2] इसलिए पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी।

लगभग इसी प्रकार का एक प्रयत्न बाद को, जब कवि राम राज्य के प्रभाव का वर्णन करता है, किया गया है :

जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा।
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका।
जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अबिद्या निसा सिरानी।
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने।
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहिं न काऊ।
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा।
धरम तड़ाग ग्यान बिज्ञाना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना।
सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका।
एहि प्रताप रबि जाकें उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नास॥

(मानस, उत्तर० ३१)

किंतु इस दृष्टि से कदाचित् सब से अधिक ध्यान देने योग्य पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं, जिन में कवि धनुर्भंग का प्रभाव विभिन्न स्वार्थों के दर्शकों में विभिन्न प्रकार से अंकित करता है :

सखिन्ह सहित हरषी अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी।
जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई।

[1] मानस, बाल० २५४-५५ तथा २६०-६१ [2] देखिए ऊपर पृ० ३४७, ३४८

श्रीहत भए भूप धनु टूटे। जैसें दिवस दीप छबि छूटे।
सीय सुखहि बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।
रामहि लखनु बिलोकत कैसें। ससिहि चकोर किसोरकु जैसें।

(मानस, बाल० २६३)

'गीतावली' में भी इस प्रसंग का वर्णन इसी युक्ति के सहारे कवि ने किया है। सात विभिन्न भावों का उल्लेख सात विभिन्न संबंधों में हुआ है, और वह भी गीत के केवल चार चरणों में है :

गहि करतल मुनि पुलक सहित कौतुकहि उठाय लियो।
नृपगन मुखनि समेत नमिति करि सजि सुख सबहि दियो।
आकरष्यो सिय मन समेत हरि हरष्यो जनक हियो।
भंज्यो भृगुपति गरब सहित तिहुँ लोक बिमोह कियो।

(गीता०, बाल० ८८)

६९. उपर्युक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के अध्ययन में एक बात समान रूप से देखी जा सकती है : कुशल कवि उक्ति-वैचित्र्य का आश्रय चाहे अपने विश्वास की दृढ़ता, तीव्र सहानुभूति अथवा तीव्र विद्वेष के कारण लेता है, चाहे अपने पाठकों की सौंदर्य-बुद्धि को प्रभावित करने के लिए, दोनों ही दशाओं में उस की विचार एवं व्यंजन-विशदता अपने चरमउत्कर्ष को जा पहुँचती है;-फलतः उस की यह विशेषता भी उसके एक सफल कलाकार होने का सुंदर प्रमाण है :

शैली

७०. *किसी लेखक की शैली का अध्ययन साधारण दो प्रकार से किया* जा सकता है : या तो केवल उस के व्यक्तित्व के प्रकाशन के रूप में, या उस व्यक्तित्व के क्रमिक विकास की इतिवृत्ति के रूप में; प्रथम उस के स्थिर पक्ष का अध्ययन है, और दूसरा उस के गत्यात्मक पक्ष का। किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि दूसरा एक अपेक्षाकृत विस्तृत अध्ययन है, क्यों कि इस के अंतर्गत प्रथम प्रकार का अध्ययन भी आ जाता है, और कदाचित् दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण भी है। खेद का विषय है कि हमारे कवि की शैली का अध्ययन अभी तक उपर्युक्त दो में से एक प्रकार से भी भली भाँति नहीं हुआ है। यहाँ कवि की शैली का अध्ययन उस की कृतियों के उस काल-

क्रम के अनुसार करेंगे जिस में कुछ ही पहले हम ने उन्हें रक्खा है।[१]

७१. कवि की प्रारंभिक रचनाएँ स्वभावतः उस की अप्रौढ शैली की द्योतक हैं। 'रामलला नहछू' में अभिव्यंजना-शक्ति की ऐसी चिन्त्य दुर्बलता और शब्द-चयन में ऐसी असफलता लक्षित होती है जो एक सुकवि के लिए सर्वथा असामान्य जान पड़ती है। उदाहरण के लिए कृति की हम निम्न-लिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं :

जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइँ हो।
सो पगधूरि सिद्ध मुनि दरस न पावइ हो।
अतिसय पुहुप क माल राम उर सोहइ हो।
तिरछी चितवनि आनँद मुनि मुख जोहइ हो।
नख काटत मुसिकाहि बरनि नहिं जातहि हो।
पदुम पराग मनि मानहुँ कोमल गातहि हो।
जावक रचि क अँगुरियन्ह मृदुल सुढारी हो।
प्रभु कर चरन पछालि तौ अति सुकुमारी हो॥

(रा० ल० न० १४, १५)

'अतिसय' एक गुणवाचक क्रिया-विशेषण अव्यय है, जिस का अर्थ होता है 'अत्यंत',[२] परंतु वह उपर्युक्त उद्धरण में 'पुहुप क माल' के लिए कदाचित् एक संख्यावाचक विशेषण के समान प्रयुक्त हुआ है। 'जातहि' का अर्थ है 'जाते ही', परतु उपर्युक्त प्रसग में इस का यह अर्थ प्रतीत नहीं होता; कवि कदाचित् इस शब्द का प्रयोग वहाँ 'जाता' के अर्थ में करता है, जिस का अर्थ नकारात्मक 'नहिं' की सहायता से 'संभव नहीं है' होता है। इसी प्रकार कदाचित् वह 'पदुम पराग मनि' का प्रयोग 'पदुमराग मनि' के स्थान पर करता है, जो स्पष्ट ही अशुद्ध है। उपर्युक्त उद्धरण में आए हुए 'तौ' शब्द का प्रयोग भी चिंत्य है। 'तौ' शब्द निश्चयबोधक होता है, किन्तु उपर्युक्त प्रसंग में इस अर्थ की कोई आवश्यकता नहीं है, इसलिए वह निरर्थक है।

७२. वैराग्य-संदीपिनी' की शैली भी बहुत कुछ 'रामलला नहछू' के समान ही है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पंक्तियाँ ले सकते हैं :

रमल अदाग शांतिपद सारा। सकल कलेसन करत प्रहारा।

[१] ऊपर पृ० २५३-५४   [२] उदाहरणार्थ: देखिए मानस, बाल० १८४

तुलसी उर धारै जो कोई। रहै अनंद सिंधु महँ सोई।
बिबिध पाप संभव जो तापा। मिटहि दोषदुख दुसह कलापा।
परम सांति सुख रहे समाई। तहँ उतपात न भेदै आई।
(वै० स० ४५, ४६)

यदि देखा जावे तो ज्ञात होगा कि उद्धरण में 'अदाग' 'दाग रहित' शब्द का प्रयोग केवल उस 'अमल' शब्द की अनावश्यक पुनरावृत्ति मात्र लगता है जो उस के कुछ ही पहिले प्रयुक्त हुआ है। इस के अतिरिक्त यह एक अत्यंत भद्दे शब्द निर्माण का उदाहरण है, जो संस्कृत उपसर्ग 'अ' को फारसी शब्द 'दाग' में जोड़ने से बना है। 'धारइ' 'धारण करता है' क्रिया का कर्म 'सांतिपद' है, परंतु वास्तव में 'शांतिपद' हृदय में धारण करने की कोई वस्तु नहीं है, 'शांति' अवश्य धारण की जाती है। 'सारा' भी एक निरर्थक विशेषण ज्ञात होता है। फिर 'प्रहारा' क्रिया का प्रयोग भी चिंत्य है: उस का कर्म संभवतः 'कलेसन' है, पर 'कलेसन' का अर्थ 'क्लेशों को' ही हो सकता है, 'क्लेशों पर' नहीं, जो 'प्रहारा' के लिए आवश्यक होगा। फलतः भाव की अनुपयुक्तता और असंगति का प्रश्न यदि छोड़ दिया जावे तो भी शैली में असमर्थता से इन्कार करना कठिन होगा।

७३. 'रामाज्ञा प्रश्न' की शैली उपर्युक्त रचनाओं की शैली से कुछ भिन्न है। यहीं पहले पहल हम उस सरल शैली के दर्शन होते हैं जो कथा वर्णन के लिए आवश्यक प्रवाहयुक्त भी होती है। 'मानस' की शैली के अंकुर इस में आसानी से देखे जा सकते हैं। तो भी इस में उस प्रौढ़ता और चारुता के गुणों का अभाव है जो हमें आने वाली कृतियों की शैली में मिलेंगे: दोहों के चौथे चरणों में प्रायः भरती के शब्द होते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ यथेष्ट होंगी:

रघुबर आयसु नरपति अमिय सींचि कपि भालु।
सकल जियाए सगुन सुभ सुमिरहु राम कृपालु॥
सादर आनी जानकी हनुमान प्रभु पास।
प्रीति परसपर समउ सुभ सगुन सुमंगल बास॥
(रामाज्ञा० षष्ठ सर्ग १, २)

७४. 'जानकीमंगल' की शैली 'मानस' की शैली के अत्यंत निकट है, वस्तुतः वह वही है जो 'मानस' की है, 'मानस' की शैली की सरलता, विशदता,

और लालित्य सभी कुछ 'जानकी मगल' की शैली म भी है अतर कुछ है तो दोनों की प्रौढता और दोनों के शब्द भडार में है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पक्तियाँ कृति से ले सकते हैं

> गए सुभाय राम जय चाप समीपहि।
> सोच सहित परिवार विदेह महीपहि॥
> कहि न सकति कछु सकुचनि सिय हिय सोचइ
> गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ॥
>
> (जा० म० १११ १२)

उपर्युक्त उद्धरण में हम देख सकते हैं कि 'सोच' तथा 'सोचइ' 'चिंतित होती है' क्रिया रूप म, और इसी प्रकार 'सकुच' तथा 'सकोचइ' 'लज्जित करती है' क्रिया रूप म दुहराइ गइ है। फिर भी 'जानकी मगल' म कवि अपने कवि-स्वरूप का अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है, जैसा निम्नलिखित पक्ति से ध्वनित होता है

> बरनि सकै अतुलित छवि अस कवि का इइ।

कोई प्रयास नहीं है ध्वनि सकलन ऐसा है जो श्रोता के कानों को कभी कर्कश नहीं प्रतीत होता। प्रधान रूप से 'मानस' की शैली की विशेषताएँ ये हैं। उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

७६ 'सतसई' की शैली नियम का अपवाद सी प्रतीत होती है। कृति की कथित रचना तिथि, जैसा कि पहिले उल्लेख किया जा चुका है,[1] 'राम चरित मानस' के दस वर्ष पश्चात् की है, जो इस बात की द्योतक है कि हमें कृति में 'रामचरित मानस' की अपेक्षा कम प्रौढ शैली पाने की आशा न करनी चाहिए। परतु यह बात वस्तुस्थिति से प्रमाणित नहीं होती। यदि हम इस सग्रह से ऐसे पद्यों को निकाल देते हैं जो कवि के दूसरे सग्रह 'दोहावली' में भी पाए जाते हैं,[2] तो शेष दोहे 'रामचरित मानस' की तुलना में अप्रौढ शैली में लिखे गए जान पडते हैं। यह एक दूसरे अर्थ में भी अपवाद है—यह तुलसीदास की उस सरल सुचारु और प्रवाहयुक्त शैली से बहुत दूर है जो उन की समस्त प्रामाणिक कृतियों में हमें मिलती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित दोहों को ले सकते हैं, जो प्रारभ के ही हैं

नमो नमो नारायण परमातम परधाम।
जेहि सुमिरत सिधि होत है तुलसी जन मन काम॥
परम पुरुष परधाम बर जापर अपर न आन।
तुलसी सो समुझत सुनत राम सोइ निरवान॥
सकल सुखद गुन जासु सो राम कामना हीन।
सकल कामप्रद सर्व हित तुलसी कहहिं प्रवीन॥
जाके रोमे रोम प्रति अमित अमित ब्रह्मड।
सो देखत तुलसी प्रगट अमल सुअचल अखड॥

(सत० प्रथम सर्ग १, ३, ४, ५)

उपर्युक्त उद्धरण म आई हुई पक्तियों पर यदि ध्यान दिया जावे तो ज्ञात होगा कि उन में कुछ ऐसे शब्दों और ऐसे रूपों का प्रयोग हुआ है जो हमें कवि की रचनाओं में अन्यत्र नहीं मिलते। उदाहरण के लिए 'नमो नमो' को लीजिए, 'नम' के 'नमत', 'नमाम', 'नमामि' रूपों का प्रयोग तो तुलसी ग्रथावली में मिलता है किंतु 'नमो नमो' का प्रयोग कहीं नहीं मिलता

[1] देखिए ऊपर पृ० २५२

[2] देखिए परिशिष्ट ३

इसी प्रकार 'सिधि' 'सिद्धि' का प्रयोग भी बहुतायत से मिलता है किंतु केवल संज्ञा-रूप में, कहीं भी उस का प्रयोग किसी कर्म के साथ सकर्मक क्रियापद रूप में नहीं मिलता। फिर 'रोमै रोम' प्रयोग भी चिंत्य है; 'रोम', 'रोम रोम', 'रोमावलि', 'रोमराजि' आदि प्रयोग तो मिलते हैं, 'रोमै रोम' प्रयोग भी तुलसी-ग्रंथावली में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। असमर्थ दोष भी पाया जाता है : जैसे 'जापर अपर न आन' में 'अपर' और 'आन' पर्यायवाची हैं, फलतः 'अपर' और 'आन' में से एक निश्चयपूर्वक भरती का शब्द है। केवल प्रयोग-वैचित्र्य की बात होती तो विशेष कठिनाई नहीं थी, किंतु इस पिछले प्रकार की त्रुटियों का मिलना, जो 'मानस' के दस वर्ष बाद की रचना में कदापि न होनी चाहिए थीं, इस संदेह को पुष्ट करता है कि 'सतसई' अपने प्रस्तुत रूप में हमारे कवि की रचना नहीं है। वह सरलता, वह लालित्य, और वह आदर्श प्रवाह जो हमें कवि की रचनाओं में साधारणतः मिलते हैं, इन दोहों में नहीं हैं, और यह आसानी से देखा जा सकता है।

७७. दूसरी ओर 'पार्वती मंगल' की शैली, जैसी कि आशा करनी चाहिए थी, मूल रूप में वैसी ही है जैसी 'रामचरित मानस' की है। यह फिर उसी ऋजुता, चारुता, एवं प्रवाह से युक्त है जो हमें 'जानकी मंगल' की शैली में मिलते हैं, किंतु उक्त कृति की तुलना में संभवतः यह अधिक प्रौढ़ है। 'मानस' की शैली की प्रधान विशेषताएँ बहुत कुछ अंशों में 'पार्वती मंगल' की शैली में भी पाई जाती हैं, अतः हमें इस कृति की शैली के अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ यथेष्ट होंगी :

जनि कहहि कछु बिपरीत जानत प्रीति रीति न बात की।
सिव साधु निंदकु मंद अति जो सुनै सोउ बड़ पातकी।
सुनि बचन सोधि सनेहु तुलसी साँच अबिचल पावनो।
भए प्रगट करुनासिंधु संकर भाल चंद्र सुहावनो॥
(पा० मं० ७१)

७८. 'गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' तुलसीदास के कवि-जीवन के एक विस्तृत काल-क्षेत्र से संबंध रखती हैं,[1] इस लिए इन के गीतों के भिन्न-

[1] देखिए ऊपर पृ० २३३–४४

कोई प्रयास नहीं है; ध्वनि-संकलन ऐसा है जो श्रोता के कानों को कभी कर्कश नहीं प्रतीत होता। प्रधान रूप से 'मानस' की शैली की विशेषताएँ ये हैं। उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

७६. 'सतसई' की शैली नियम का अपवाद सी प्रतीत होती है। कृति की कथित रचना-तिथि, जैसा कि पहिले उल्लेख किया जा चुका है,[1] 'रामचरित मानस' के दस वर्ष पश्चात् की है, जो इस बात की द्योतक है कि हमें कृति में 'रामचरित मानस' की अपेक्षा कम प्रौढ़ शैली पाने की आशा न करनी चाहिए। परंतु यह बात वस्तुस्थिति में प्रमाणित नहीं होती। यदि हम इस संग्रह से ऐसे पद्यों को निकाल देते हैं जो कवि के दूसरे संग्रह 'दोहावली' में भी पाए जाते हैं,[2] तो शेष दोहे 'रामचरित मानस' की तुलना में अप्रौढ़ शैली में लिखे गए जान पड़ते हैं। यह एक दूसरे अर्थ में भी अपवाद है—यह तुलसीदास की उस सरल सुचारु और प्रवाहयुक्त शैली से बहुत दूर है जो उन की समस्त प्रामाणिक कृतियों में हमें मिलती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित दोहों को ले सकते हैं, जो प्रारंभ के ही हैं:

नमो नमो नारायण परमातम परधाम।
जेहि सुमिरत सिधि होत है तुलसी जन मन काम॥
परम पुरुष परधाम बर जापर अपर न आन।
तुलसी सो समुझत सुनत राम सोइ निरवान॥
सकल सुखद गुन जासु सो राम कामना हीन।
सकल कामप्रद, सर्व हित तुलसी कहहिं प्रबीन॥
जाके रोमै रोम प्रति अमित अमित ब्रह्मंड।
सो देखत तुलसी प्रगट अमल सुअचल अखंड॥

(सत० प्रथम सर्ग १, ३, ४, ५)

उपर्युक्त उद्धरण में आई हुई पंक्तियों पर यदि ध्यान दिया जावे तो ज्ञात होगा कि उन में कुछ ऐसे शब्दों और ऐसे रूपों का प्रयोग हुआ है जो हमें कवि की रचनाओं में अन्यत्र नहीं मिलते। उदाहरण के लिए 'नमो नमो' को लीजिए; 'नम' के 'नमत', 'नमाम', 'नमामि' रूपों का प्रयोग तो तुलसी-ग्रंथावली में मिलता है किंतु 'नमो नमो' का प्रयोग कहीं नहीं मिलता

[1] देखिए ऊपर पृ० २५३ [2] देखिए परिशिष्ट ३

इसी प्रकार 'सिधि' 'सिद्धि' का प्रयोग भी बहुतायत से मिलता है किन्तु केवल सज्ञा-रूप में, कहीं भी उस का प्रयोग किसी कर्म के साथ सकर्मक क्रियापद रूप में नहीं मिलता। फिर 'रोमें रोम' प्रयोग भी चित्य है, 'रोम', 'रोम रोम', 'रोमावलि', 'रोमराजि' आदि प्रयोग तो मिलते हैं, 'रामें रोम' प्रयोग भी तुलसी-ग्रथावली में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। असमर्थ दोष भी पाया जाता है: जैसे 'जापर अपर न आन' में 'अपर' और 'आन' पर्यायवाची है, फलत. 'अपर' और 'आन' में से एक निश्चयपूर्वक भरती का शब्द है। केवल प्रयोग-वैचित्र्य की बात होती तो विशेष कठिनाई नहीं थी, किंतु इस पिछले प्रकार की त्रुटियों का मिलना, जो 'मानस' के दस वर्ष बाद की रचना में कदापि न होनी चाहिए थीं, इस सदेह को पुष्ट करता है कि 'सतसई' अपने प्रस्तुत रूप में हमारे कवि की रचना नहीं है। वह सरलता, वह लालित्य, और वह आदर्श प्रवाह जो हमें कवि की रचनाओं में साधारणतः मिलते हैं, इन दोहों में नहीं हैं, और यह आसानी से देखा जा सकता है।

७७. दूसरी ओर 'पार्वती मगल' की शैली, जैसी कि आशा करनी चाहिए थी, मूल रूप में वैसी ही है जैसी 'रामचरित मानस' की है। यह फिर उसी ऋजुता, चारुता, एव प्रवाह से युक्त है जो हमें 'जानकी मगल' की शैली में मिलते हैं, किंतु उक्त कृति की तुलना में सभवत यह अधिक प्रौढ है। 'मानस' की शैली की प्रधान विशेषताएँ बहुत कुछ अशों में 'पार्वती मगल' की शैली में भी पाई जाती हैं, अतः हम इस कृति की शैली के अधिक विस्तार मे जाने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्तियाँ यथेष्ट होंगी:

> जनि कहहि कछु बिपरीत जानत प्रीति रीति न बात की।
> सिव साधु निंदकु मद अति जो सुनै सोउ बड़ पातकी।
> सुनि बचन सोधि सनेहु तुलसी साँच अबिचल पावनो।
> भए प्रगट करुनासिधु संकर भाल चंद्र सुहावनो॥
>
> (पा० म० ७४)

७८ 'गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' तुलसीदास के कवि-जीवन के एक विस्तृत काल-क्षेत्र से सबध रखती हैं,[1] इस लिए इन के गीतों के भिन्न-

[1] देखिए ऊपर पृ० २३३–४४

भिन्न समूहों की शैलियों म परस्पर कुछ अंतर पाया जाना स्वाभाविक है। किंतु इन समूहों का आकार प्रकार और काल-क्रम भली भाँति निश्चित हुए बिना हम इस सूक्ष्म अंतर की समीक्षा में नहीं जा सकते, इस लिये हम यहाँ अधिक से अधिक इतना ही देखने का प्रयत्न कर सकते हैं कि इन गीतों की शैली गीतात्मक भावाभिव्यक्ति के लिए माध्यम के रूप में कहाँ तक सफल हुई है।

आंतरिक प्रेरणा, आवेग, प्रसाधन की उपेक्षा और आत्माभिव्यंजन की प्रमुखता प्रत्येक उत्कृष्ट गीति-काव्य की शैली के लक्षण होते हैं। किन्तु जब गीति-काव्य शुद्ध गीति काव्य नहीं रहता, और विशेष कर के जब वह किसी कथा का आश्रय ले कर चलता है, तो उत्कृष्ट गीति के यह लक्षण हमें उन्हीं स्थलों पर मिलते हैं जिन स्थलों पर गीतिकार की चित्त-वृत्ति अपने विषय के साथ पूर्ण रूप से रमती है। इस लिए 'विनय पत्रिका' में तो—स्तोत्रों को छोड़ कर—गीति-काव्य की शैली की उपर्युक्त विशेषताएँ प्राय सर्वत्र मिलती हैं, किंतु 'गीतावली' में वे सर्वत्र नहीं मिलतीं। अन्यथा कवि की शैली के मूल लक्षण अर्थात् आर्जव, लालित्य और प्रवाह दोनों ही पद-समूहों में समान रूप से पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित गीतों को ले सकते हैं :

> आजु को भोर और सो माई।
> सुनौं न द्वार वेद बंदी धुनि गुनि गन गिरा सोहाई।
> निज निज सुंदर पति सदननि तें रूप सील छबि छाई।
> लेन असीस सीय आगे करि मोपै सुतबधू न आईं।
> बूझी हौं न बिहँसि मेरे रघुबर कहाँ री सुमित्रा माता।
> तुलसी मनहुँ महा सुख मेरो देखि न सक्यो बिधाता॥
>
> (गीता० अयोध्या० ५१)

> अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
> राम कृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं।
> पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर तें न खसैहौं।
> स्याम रूप सुचिरुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं।
> परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन निजबस ह्वै न हँसैहौं।
> मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पदकमल बसैहौं।
>
> (विनय० १०५)

७९. 'कृष्ण-गीतावली' में गीतों की शैली में 'गीतावली' तथा 'विनय पत्रिका' की अपेक्षा अधिक एकरूपता प्रतीत होती है। एक श्रेष्ठ गीतात्मक शैली की उपर्युक्त विशेषताएँ यथेष्ट मात्रा में इस संग्रह में भी पाई जाती हैं, और वे सम्पूर्ण काव्य में समान रूप से विभक्त भी हैं। कवि की शैली की मृदुता, लालित्य तथा प्रवाह का सामान्य विशेषताएँ भी उस की दूसरी कृतियों की भाँति इस कृति में विद्यमान हैं। किन्तु, 'कृष्ण गीतावली' की शैली में एक विचित्रता है जो कि उस की अपनी है. वह यह है कि उस के गीतों में उन शब्दों के प्रयोग के कारण एक स्थानीय वातावरण लाने का प्रयत्न किया गया है जो केवल ब्रज प्रदेश में ही प्रयुक्त होते हैं : जैसे 'थाकु'[1] (अभाव), 'ठाली'[2] (बेकार), 'सिगरी'[3] (सम्पूर्ण), भटू (प्रिय), 'लगरी'[4] (झगड़ालू) इत्यादि। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित गीत ले सकते हैं :

> कबहुँ न जात पराये धामहिं।
> खेलत ही देखौं निज आँगन सदा सहित बलरामहिं।
> मेरे थाकु कहाँ गोरस का नवनिधि मंदिर यामहिं।
> ठाली ग्वालि ओरहनेके मिस आइ बकहिं बेकामहिं।
> हौं बलि जाउँ जाहु कितहूँ जनि मातु सिखावति स्यामहिं।
> बिनु कारन हठि दोष लगावति तात गए गृह तामहिं।
> हरि मुख निरखि परुष बानी सुनि अधिक अधिक अभिरामहिं।
> तुलसीदास प्रभु देख्योइ चाहति श्रीउर ललित ललामहिं॥
>
> (कृ० गी० ५)

८०. शैली की दृष्टि से 'रवे' को दो स्पष्ट भागों में विभक्त किया जा सकता है : एक बालकांड से लंकाकांड तक, और दूसरा उत्तरकांड। प्रथम भाग की शैली केवल सरल और प्रवाहयुक्त ही नहीं है बल्कि ललित भी है, परंतु दूसरे भाग की सरल और प्रवाहयुक्त तो है, अपेक्षाकृत ललित नहीं है। प्रथम भाग की शैली अत्यंत रमणीय है : छोटे पर उपयुक्त शब्दों का चयन और सामान्यतः केवल बारह शब्दों में खंड चित्रांकन का प्रयास प्रशंसनीय है। द्वितीय अंश की शैली में इस प्रकार की विशेषता नहीं है। दोनों प्रकार

[1] कृ० गी० १३।
[2] वही
[3] ५।
[4] वही
[5] वही, १५

के अंशों के उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित छंदों को ले सकते हैं :

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥
सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर॥

(बरवा० बाल० १, २)

चित्रकूट पयतीर सो सुरतरु बास।
लषन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥
पय नहाइ फल खाहु परिहरिय आस।
सीय रामपद सुमिरहु तुलसीदास॥

(बरवा० बाल० ४३, ४४)

८१. 'दोहावली में कुछ दोहे कवि की दूसरी रचनाओं से लिए गए हैं[1] और कुछ उस के अपने हैं। यदि हम ऐसे दोहों को जो कवि की दूसरी प्रामाणिक कृतियों में भी पाए जाते हैं, अलग कर देते हैं और अपना ध्यान 'दोहावली' के अपने दोहों पर ही केन्द्रित करते हैं तो हम बड़ी आसानी से उन्हें कवि की शैली के तीनों मौलिक गुणों अर्थात् सरलता, प्रवाह और लालित्य, अथवा केवल दो गुणों सरलता और प्रवाह से युक्त होने के अनुसार दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, जैसा कि ऊपर हम ने 'बरवै' के संबंध में किया है। किंतु यह प्रतीत होगा कि अधिकांश उत्तरोक्त प्रकार के हैं, और इन में काव्य की दृष्टि से बहुत कम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। यदि दोनों प्रकार के दोहों को तुलनात्मक दृष्टि से ध्यान पूर्वक पढ़ा जावे तो ज्ञात होगा कि प्रथम में छंद-रचना कला की भावना से प्रेरित होकर की गई है[2] जब कि दूसरे में यह भावना या तो है ही नहीं और या तो नितांत गौण है। दोनों

[1] देखिए परिशिष्ट उ

[2] उदाहरणार्थ : दोहा० (७), (२०), (२४), ४१, ४२, (६९), २४४, २५३, २६८, (२७७–२९६), २९७. २९८, (२९९), ३००, (३०१-३०४), ३०५, (३०६), ३०७, (३०८), (३०९), ३१०–३१४, (३१५), ३१६, (३१७), ३१८–३२०, ३३०, ३३१, (३७७), (५७२); कोष्ठकों में ऐसे दोहों के अंक हैं जो सत० में भी पाए जाते हैं।

प्रकार के दोहों के उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित को ले सकते हैं

हिय फाटहु फूटहु नयन जरउ सो तन केहि काम।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकहिं नहीं तुलसी सुमिरत राम॥
रामहिं सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय।
तुलसी जिनहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय॥
(दोहा० ४१, ४२)

तुलसी संगति पोच की सुजनहिं होति मदानि।
ज्यों हरि रूप सुताहि तें कीन जुहारी आनि॥
कलि कुचालि सुभ मति हरनि सरलै दंडै चक्र।
तुलसी यह निश्चय भई बाढ़ि लेत नव वक्र॥
(दोहा० ५३६, ५३७)

८२. 'गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' के समान 'कवितावली' भी तुलसीदास के कवि-जीवन के एक विस्तृत काल क्षेत्र से, जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं, संबंध रखती है और एक अत्यंत मिश्रित प्रकार की रचना है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि इस संग्रह ग्रंथ के विभिन्न अंशों की शैलियों में हमें पर्याप्त अंतर दिखाई पड़े। किन्तु यहाँ हम ऐसे अंतरों के निरीक्षण का प्रयास नहीं कर सकते। कदाचित् हम यहाँ इतना ही कर सकते हैं कि उस की शैली के प्रधान तत्वों का निर्देश कर दें।

शैली की दृष्टि से 'बरवै' की ही भाँति 'कवितावली' और 'बाहुक' को दो स्पष्ट भागों में विभक्त किया जा सकता है: एक बालकांड से लंकाकांड, और दूसरा उत्तरकांड तथा 'बाहुक'। प्रथम भाग की शैली न केवल सरल और प्रवाहयुक्त है वरन् ललित भी है, परंतु दूसरे भाग की शैली सरल और प्रवाहयुक्त तो है, अपेक्षाकृत ललित नहीं है। वस्तुतः प्रथम भाग की शैली अत्यंत रमणीय है। छंदों पर उपर्युक्त शब्दों के चयन के साथ साथ वाक्य निर्माण की एक विशेषता दर्शनीय है: प्रायः हम देखते हैं कि छंद के चार चरणों में से प्रत्येक एक वाक्य का निर्माण करता है और ये वाक्य समान रूप से परस्पर संतुलित प्रतीत होते हैं। दूसरे भाग में भी यद्यपि ये विशेषताएँ मिलती हैं, पर अपेक्षाकृत बहुत कम मात्रा में मिलती हैं। पहले प्रकार के छंदों के उदाहरण में हम निम्नलिखित को ले सकते हैं

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।

अवलोकि हौं सोच बिमोचन को ठगि सी रही जे न ठगे धिकसे।
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से बिकसे॥

(कवितां०, बाल० १

और, दूसरे प्रकार के छंदों के उदाहरण में हम निम्नलिखित को ले सकते हैं :

बालि से बीर बिदारि सुकंठ थप्यो हरषे सुर बाजने बाजे।
पल में दल्यो दासरथी दसकंधर लंक बिभीषन राज बिराजे।
राम सुभाव सुने तुलसी हुलसे अलसी हमसे गल गाजे।
कायर कूर कपूतन की हद तेउ गरीबनेवाज नेवाजे॥

(कविता०, उत्तर० १)

यदि दोनों छंदों का ध्यान पूर्वक पढ़ा जावे तो ऐसा प्रतीत होगा कि प्रथम में कवि ने छंद रचना कला की भावना से प्रेरित होकर की है, जब कि दूसरे में या तो ऐसी कोई भावना दिखाई नहीं पड़ती, और या तो वह बहुत गौण दिखाई पड़ती है। किन्तु, 'कवितावली' में ऐसे छंद अनेक हैं जिन का संबंध, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं,[1] निश्चित तिथियों के साथ स्थापित किया जा सकता है। इन में से एक उदाहरण के लिए लिया जा सकता है, जिस का समय सं० १६६६ और १६७१ के बीच किसी समय होगा[2] :

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें
कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन की।
बेद धर्म दूरि गए भूमिचोर भूप भए
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की।
दूबरे को दूसरो न द्वार राम दयाधाम
रावरी ई गति बल बिभव बिहीन की।
लागैगी पै लाज वा बिराजमान बिरुदहि
महाराज आजु जो न देत दादि दीन की॥

(कविता०, उत्तर० १७७)

८३. कवि की शैली का सिंहावलोकन करते हुए हम कह सकते हैं कि

[1] दे० ऊपर पृ०, २४५ [2] वही

कवि की शैली के मौलिक गुण हैं उस की मृदुता, उस की सरलता, उसकी सुबोधता, उस की निर्व्याजता, उस की अलंकार प्रियता, उस की चारुता, उस की रमणीयता और उसका प्रवाह। ऐसा प्रतीत होगा कि शैली की ये विशेषताएँ अपेक्षाकृत उस के जीवन का एक प्रतिरूप उपस्थित करती हैं। ये वास्तव में कवि के सुलझे हुए मस्तिष्क को, उस के सादे जीवन और उच्च विचार के आदर्श को, उस की स्वभावगत सरलता एवं आडंबर विहीनता के उस के प्रेम को, उस के ध्येय की एकाग्रता को, और इन सब से भी अधिक अपने विषय में उस की पूर्ण आत्म विस्मृति और उसके साथ उसकी पूर्ण तल्लीनता को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा अधिक व्यक्त करती हैं, और निस्सदेह शैली विषयक ये विशेषताएँ उसे प्रतिभाशाली कलाकारों में स्थान देती हैं।

८४. संक्षेप में कवि की कला का यही परिचय है। उपर्युक्त समस्त शीर्षकों के अध्ययन से हमें ज्ञात हुआ होगा कि उस की कृतियाँ का नितांत मौलिक अंश भी चरित्र चित्रण, भाव-चित्रण, वस्तु विन्यास, नख शिख, कल्पना-सृष्टि, उक्ति वैचित्र्य तथा शैली आदि विविध विषयों में कलात्मक परिणामों का ऐसा बाहुल्य प्रस्तुत करता है जो असाधारण है, और फिर भी विशेषता यह है कि उनमें उसकी ओर से सतर्क प्रयास का प्रायः अभाव और अपने व्यक्तित्व की अक्षुण्ण अभिव्यक्ति सर्वत्र प्रतिभासित होते हैं। फलतः इसमें सदेह नहीं है कि हमारे कवि की ये विशेषताएँ उसे संसार के नैसर्गिक प्रतिभा-संपन्न कलाकारों में स्थान देने के लिए पर्याप्त कारण उपस्थित करती हैं।

आध्यात्मिक विचार

१ तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों के अध्ययन में सम्यक् उपयोग अभी तक केवल 'रामचरित मानस' का किया गया है, और कवि के शेष ग्रंथों की उपेक्षा की गई है। यद्यपि यह सत्य है कि इस विषय में 'मानस' जितना सम्पन्न है उतना उसकी अन्य कृतियाँ नहीं हैं, फिर भी कदाचित् उसकी एक त्रुटि को, और अपेक्षाकृत कुछ अन्य कृतियों की एक विशेषता को, सर्वथा विस्मृत कर देना ठीक न होगा : कभी-कभी यह हो सकता है कि 'मानस' में "महाकवि ने कोई बात स्वतः या अपने पात्रों के द्वारा केवल इस कारण कह या कहला दी है कि वह एक 'श्रुतिसम्मत' या 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' कथा कह रहा था। कम से कम एक बात से हम लोग हमें आशा है असहमत नहीं हो सकते : 'मानस' में उसे वह अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं था जो उसे अपने कुछ अन्य ग्रंथों में था। इसलिए यह नितांत असंभव नहीं कि इस संबंध में उसकी उन अन्य कृतियों की उपेक्षा से हमें केवल अर्धसत्यों का लाभ हुआ हो।"[१] फलतः हमें 'मानस' के अतिरिक्त कवि की ऐसी कृतियों का भी इस संबंध में अध्ययन करना आवश्यक है जिनमें कवि को अपेक्षाकृत अधिक अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य था। कवि के समस्त ग्रंथों में से केवल 'वैराग्य-संदीपिनी', 'सतसई' 'विनय-पत्रिका' 'दोहावली', तथा 'बरवा' और 'कवितावली' के उत्तरकांड ही ऐसे दूसरे प्रकार के आधार हो सकते हैं। किंतु 'वैराग्य-संदीपिनी' और 'सतसई' की प्रामाणिकता के विषय में संदेह है, और वह अन्यत्र प्रकट किया जा चुका है;[२] 'दोहावली', तथा 'बरवा' और 'कवितावली' के उत्तरकांडों का न तो यथेष्ट रूप से संपादन हुआ है[३] और न उन में कवि के आध्यात्मिक विचारों के अध्ययन के लिए विशेष सामग्री ही मिलती है; इसलिए 'मानस' के अतिरिक्त 'विनय-पत्रिका'

का ही अध्ययन इस संबंध में विशेष रूप से किया जा सकता है। प्रस्तुत विवेचन में मैं ने इसी लिए 'मानस' का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए केवल 'विनय पत्रिका' का ही अध्ययन और प्रस्तुत किया है। और दोनों के अध्ययन मैं ने अलग अलग प्रस्तुत किए हैं, क्यों कि एक तो दोनों ग्रंथों में विषय और विषय निर्वाह संबंधी दृष्टिकोण में अंतर है, और दूसरे दोनों के रचना काल में भी एक विशेष प्रकार का अंतर है 'मानस' कवि के जीवनकाल के लगभग पचास वर्ष पूर्व की कृति है, जब कि 'विनय पत्रिका' में 'मानस' के कुछ वर्ष पूर्व से लेकर कवि के जीवनकाल के अपेक्षाकृत बहुत निकट तक की रचनाओं का संग्रह है, और इस प्रकार वह अपने दीर्घ रचना काल में जितना ही कवि के कविता काल के पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रारंभिक और मध्य कविता काल में पड़ती है, लगभग उतना ही उत्तरार्द्ध अर्थात् उत्तर और कदाचित् अंतिम कविता काल में भी पड़ती है।[1]

२. एक प्रश्न और रह जाता है: कवि के आध्यात्मिक सिद्धांतों पर प्रभाव किस मत का है और वह भी किस अंश तक है। यह प्रश्न कदाचित् सब से पीछे उठना चाहिए था—कम से कम उस समय जब कि उस के विचारों का पूर्ण निश्चय कर लिया जाता, किंतु हुआ अधिकतर यह है कि अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धांतों को लेकर कवि के आध्यात्मिक सिद्धांतों को बिना एक स्वतंत्र ढंग से समझे इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है कि गोस्वामी जी अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी, और इस संबंध में उन्हें एक न एक मत का सिद्ध करने के लिए खींचतान भी की गई है। और यदि उन के सिद्धांत निरूपण के बाद यह प्रश्न उठाया गया तो कहा गया कि "स्वतंत्र रूप से उन्हों ने कोई नई बात कहने का दावा नहीं किया, और जो कुछ कहा श्रुतिसम्मत ही कहा। उन की नवीनता यदि कुछ थी तो केवल उपयुक्त विषय के

अनौचित्य न होगा।"[1] किंतु मेरा ध्यान है कि तुलसीदास ने उपयुक्त विषय के समर्थन और अनुपयुक्त विषय के त्याग का भी कोई असामान्य प्रयास अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों के विषय में नहीं किया है। 'अध्यात्म रामायण' के मेरे अध्ययन से मुझे विश्वास हो गया है कि जो कुछ उन्हें 'अध्यात्म रामायण' में सिद्धांत रूप में मिला, प्रायः उसी का उन्होंने एक तर्कसंगत विकास किया। फलतः 'रामचरित मानस' और 'विनय पत्रिका' के आधार पर तुलसीदास के आध्यात्मिक सिद्धांत निर्धारण के अनंतर मैंने इसी अध्याय में 'अध्यात्म रामायण' के सिद्धांत निर्धारण का भी प्रयत्न किया है, और तदनंतर इस विषय पर विचार किया है कि तुलसी मत' कहाँ तक उस का एक तर्कसंगत विकास है और कहाँ तक उस में नवीनता है। विश्वास है कि इस प्रकार का अनुसंधान यदि तुलसीदास का प्रत्येक क्षेत्र में मौलिकता का श्रेय प्रदान करने में किसी अंश तक बाधक भी सिद्ध हो, वह वास्तविक तुलसीदास को समझने में हमारा सहायक होगा और हमारे अध्ययन का उद्देश्य भी यही होना चाहिए कदाचित् इस संबंध में किसी का मतभेद न होगा।

रामचरित मानस

३. (१) राम परम आत्मा हैं। विश्व के प्राणिमात्र में वही 'जीव' हो कर व्याप्त हैं (ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सीता 'मूलप्रकृति' होकर समस्त अनात्म सत्ता में व्याप्त हैं)

जड़ चेतन जगजीव जत सकल राम मय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(मानस, बाल० ७)

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

(मानस, बाल० ८)

निर्गुण ब्रह्म यही हैं

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।
व्यापक विस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना।

(मानस, बाल० १३)

[1] डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र 'तुलसी दर्शन', पृ० ३०७

इन्हीं का ध्यान बड़े बड़े मुनि, योगी, और सिद्ध भी किया करते हैं

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥
(मानस,

और यही परमेश्वर और परात्पर नाथ हैं :

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावरनाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ॥
(मानस, बाल० ११६)

विश्व की समस्त चेतना के मूल स्रोत यही हैं :

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू।
(मानस, बाल० ११७)

यही वेदोक्त ब्रह्म हैं :

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।
जेहि इमि गावहि बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान॥
(मानस०, बाल० १

इन्हीं राम को पुत्र रूप में प्राप्त करने के लिए मनु-सतरूपा ने तपस्या की :

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा।
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार मूल फल त्यागे।
उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा।
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।

ऐसेहु प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।
(मानस, बाल० १४

मनु सतरूपा की तपस्या पर प्रसन्न हो कर यही ब्रह्म राम रूप में प्रकट हुए थे, और इन्हीं ने उस का पुत्र बनना स्वीकार किया था। इन का वह स्वरूप भी धनुर्धर राम का था

करि कर सरिस सुभग भुज दंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा।
(मानस बाल० १४७)

और फिर यही दशरथ कौशल्या के पुत्र रूप में अवतरित हुए :

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद।
(मानस, बाल० १९८)

और इन्हीं ने अनेक प्रकार की लीलाएँ उन को सुख देने के लिए कीं :

ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप।
(मानस, बाल० २०५)

जनक इन्हें भली भाँति पहचान कर विदा इस प्रकार देते हैं :

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा।
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी।
ब्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुन रासी।
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस अहई।
नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईस अनुकूल॥
(मानस, बाल० ३४१)

निषाद को उपदेश देते हुए लक्ष्मण भी बहुत कुछ उपर्युक्त शब्दों में ही इन राम का परिचय देते हैं

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा।
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नेति नहिं निरूपहिं बेदा।

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहि जग जाल॥
(मानस, अयोध्या० ९३)

वाल्मीकि भी राम से उन के स्वरूप के अभिज्ञान का उल्लेख इसी प्रकार करते हैं :—

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥...
चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।
नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।
(मानस, अयोध्या० १२६-२७)

बंदरों के निराश होने पर जामवंत भी उन के संबंध में इसी प्रकार कहते हैं :

तात राम कहँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।
(मानस, किष्किंधा०

परामर्श लेने पर विभीषण भी रावण से यही कहते हैं:

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला।
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता।
गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनुधारी।
(मानस, सुन्दर०

रावण-वध के अनन्तर देवगण भी स्तुति में कहते हैं :

तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एक रस सहज उदासी।
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघ सक्ति करुनामय।
(मानस, लंका० ११

और अंत में, भुसुंडि भी गरुड़ को उपर्युक्त शब्दों में राम का परिचय देते हैं

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिग्यान रूप बल धामा।
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता।
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता।
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा।
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।...
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप।
(मानस, उत्तर० ७२

राम जिस प्रकार जगत की समस्त चेतना के मूलस्रोत होने के नाते 'ज्ञान स्वरूप' हैं, उसी प्रकार माया के स्वामी होने के नाते 'गुणधाम' सगुण' ब्रह्म भी हैं

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ज्ञान गुन धामू ।

(मानस बाल० ११७)

निक इसी लिए उन्हें 'निर्गुण' बतलाते हुए 'गुनरासी' कहते हैं

चिदानन्द निरगुन गुनरासी ।

(मानस, बाल० ३४१)

तीक्ष्ण भी इसी प्रकार उन्हें 'निर्गुण सगुण' कहते हैं

निर्गुण सगुण बिषम सम रूप ।

(मानस, अरण्य० ११)

और सारूप्य प्राप्ति के अनन्तर जटायु भी राम को 'निर्गुण' कहते हुए 'सगुण' तथा 'गुण प्रेरक' कहता है

जय,राम रूप अनूप निर्गुण सगुन गुन प्रेरक सही ।

(मानस अरण्य० ३२)

इसी प्रकार निराश अंगद को राम का बोध कराते समय जामवंत भी राम को 'निर्गुण' के साथ साथ 'सगुण' कहते हैं

तात राम कहु नर जनि जानहु । निर्गुन ब्रह्म अजित अज मानहु ।
हम सेवक सब अति बड़भागी । सतत सगुन ब्रह्म अनुरागी ।
निज इच्छाँ प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि ।
सगुन उपासक सग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥

(मानस, किष्किंधा० २६)

उत्तरकांड में राज्याभिषेक के अनन्तर राम की स्तुति करते हुए वेद भी इन्हीं शब्दों में उन्हें सम्बोधन करते हैं

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने ।
जे ब्रह्म अजमद्वैत अनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं ।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ॥

(मानस उत्तर० १३)

और सनकादि भी कहते हैं

जय निर्गुन जय जय गुन सा

वस्तुत. 'निर्गुण' और 'सगुण' में कोई भी अंतर नहीं है, 'निर्गुण' ब्रह्म ही भक्त के प्रेम के कारण 'सगुण' हो जाता है :

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ।

(मानस, बाल० ११

(३) राम ने अपनी 'माया' के द्वारा ही मनुष्य शरीर धारण किया

माया मानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ ।

(मानस, किष्किंधा०

(४) इस 'सगुण' ब्रह्म का चरित्र साधारणतः इस प्रकार का हु करता है कि उसका रहस्य पूरा-पूरा ज्ञात नहीं होता :

चरित राम के सगुन भवानी । तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी ।

(मानस, लंका० ७

इस 'सगुण' रूप की अपेक्षा 'निर्गुण' रूप का समझना सरल और उसके समझने में भूल होने की उतनी आशंका भी नहीं होती है जित इस 'सगुण' रूप के समझने में :

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥

(मानस, उत्तर० ७

राम की इस सगुण लीला को समझ कर उससे आनंद लेने व इने-गिने बुद्धिमान ही हुआ करते हैं । बुद्धिहीन लोग उसे देखकर मोहमु हो जाते हैं :

गिरिजा सुनहु राम कै लीला । सुर हित दनुज बिमोहनसीला ।

(मानस, बाल० ११

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे । जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ।

(मानस, अयोध्या० १२७)

असि रघुपति लीला उरगारी । दनुज बिमोहनि जन सुखकारी ।

(मानस, उत्तर० ७३)

जो राम स्वतः विज्ञान-स्वरूप हैं, वह मोहमुग्ध नहीं हो सकते :

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ।

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा।
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना।
(मानस बाल० ११६)

राम विषयक मोह की यह धारणा हमारे ही भ्रम और अज्ञान के कारण होती है :

निजभ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी।
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी।
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहिके भाएँ।
उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा।
(मानस, बाल० ११७)

राम विषयक यह मोहाभास हमारी ही मति की मलिनता के कारण होता है; इसमें हमारा ही दृष्टिदोष होता है :

जे मति मलिन बिषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी।
नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह कोई।
जब जेहि दिसिभ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा।
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा।
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी।
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अग्यान प्रसंगा।
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदयँ जवनिका बहु बिधि लागी।
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं।
काम क्रोध मद लोभरत गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ़ परे तम कूप॥
(मानस, उत्तर०

राम तो सगुण लीलाएँ केवल एक नट की भावना लेकर [illegible] हैं, और वे सदैव ही अपनी उस सृष्टि से परे रहते हैं। जो रूप वे धारण [illegible] हैं, उसमें वस्तुतः वे वही हो नहीं जाते। उनकी लीला के इस रहस्य [illegible] अज्ञानी लोग नहीं समझ पाते। इसी लिए भगवान की सगुण लीला [illegible] विमोह में डाल देती है :

जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ [illegible] न होइ न सोइ॥

अपि रघुपति लीला उरगारी । दनुज विमोहनि जन सुखकारी ।

(मानस, उत्तर० ७२-७३)

(५) राम विष्णु के अवतार हैं। उन्हीं ने अपने भक्त उन द्वारपालों को मुक्त करने के लिए अवतार लिया जो तीसरे जन्म में विप्र-शाप से कुंभकर्ण और रावण हुए थे :

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ । जय अरु बिजय जान सब कोऊ ।
बिप्र श्राप तें दूनउ भाई । तामस असुर देह तिन्ह पाई ।
भये निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान ।
कुंभकरन रावन प्रकट सुर बिजई जग जान ॥
मुकुत न भए हते भगवाना । तीनि जनम द्विज बचन प्रमाना ।
एक बार तिन्हके हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी ।

(मानस, बाल० १२२-१२३)

जलधर की स्त्री के शाप के कारण भी, जब वह रावण हो कर उत्पन्न हुआ, उन्होंने रामावतार धारण किया :

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह ।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह ॥
तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना । कौतुकनिधि कृपाल भगवाना ।
तहाँ जलंधर रावन भयऊ । रन हति राम परम पद दयऊ ।

(मानस, बाल० १२३-१२४)

नारद के शाप देने पर भी विष्णु ने ही राम हो कर अवतार ग्रहण किया। 'नारद-मोह' प्रकरण[1] इसी लिए लिखा गया है। सीता हरण के अनन्तर नारद जब राम से मिलते हैं तो अपने उस मोह वाले प्रसंग की बातें चलाते हुए पूछते भी हैं :

राम जबहिं प्रेरेउ निज माया । मोहेहु मोहिं सुनहु रघुराया ।
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा । प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ।

(मानस, अरण्य० ४३)

और राम भी उस तथ्य को स्वीकार करते हुए उन की शंका का समाधान करते हैं।[2]

[1] मानस, बाल० १२४-३९ [2] मानस, अरण्य० ४३-४४

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ।
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ।
(मानस, बाल० ११६)

राम विषयक मोह की यह धारणा हमारे ही भ्रम और अज्ञान के कारण होती है :

निजभ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी । प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ।
जथा गगन घन पटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ।
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ । प्रगट जुगल ससि तेहिके भाएँ ।
उमा राम बिषइक अस मोहा । नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ।
(मानस, बाल० ११७)

राम विषयक यह मोहाभास हमारी ही मति की मलिनता के कारण होता है, इसमें हमारा ही दृष्टिदोष होता है :

जे मति मलिन बिषय बस कामी । प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ।
नयन दोष जाकहँ जब होई । पीत बरन ससि कहुँ कह कोई ।
जब जेहि दिसिभ्रम होइ खगेसा । सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ।
नौकारूढ़ चलत जग देखा । अचल मोह बस आपुहि लेखा ।
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी । कहहिं परसपर मिथ्याबादी ।
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा । सपनेहुँ नहिं अग्यान प्रसंगा ।
मायाबस मतिमंद अभागी । हृदयँ जवनिका बहु बिधि लागी ।
ते सठ हठ बस संसय करहीं । निज अज्ञान राम पर धरहीं ।
काम क्रोध मद लोभरत गृहासक्त दुख रूप ।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ़ परे तम कूप ॥
(मानस, उत्तर० ७३)

राम तो सगुण लीलाएँ केवल एक नट की भावना लेकर करते हैं, और वे सदैव ही अपनी उस सृष्टि से परे रहते हैं। जो रूप वे धारण करते हैं, उसमें वस्तुत. वे वही हो नहीं जाते। उनकी लीला के इस रहस्य को अज्ञानी लोग नहीं समझ पाते। इसी लिए भगवान की सगुण लीला उनको विमोह में डाल देती है :

जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ ॥

अति रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी।

(मानस, उत्तर० ७२-७३)

(५) राम विष्णु के अवतार हैं। उन्हीं ने अपने भक्त उन द्वारपालों को मुक्त करने के लिए अवतार लिया जो तीसरे जन्म में विप्र-शाप से कुंभकर्ण और रावण हुए थे :

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ।
बिप्र श्राप तें दूनउ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई।
भये निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान॥
मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रमाना।
एक बार तिन्हके हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी।

(मानस, बाल० १२२-१२३)

जलंधर की स्त्री के शाप के कारण भी, जब वह रावण हो कर उत्पन्न हुआ, उन्होंने रामावतार धारण किया :

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥
तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना।
तहाँ जलंधर रावन भयऊ। रन हति राम परम पद दयऊ।

(मानस, बाल० १२३-१२४)

नारद के शाप देने पर भी विष्णु ने ही राम हो कर अवतार ग्रहण किया। 'नारद-मोह' प्रकरण[१] इसी लिए लिखा गया है। सीता-हरण के अनंतर नारद जब राम से मिलते हैं तो आपने उस मोह वाले प्रसंग की बातें चलाते हुए पूछते भी हैं :

राम जबहिं प्रेरेउ निज माया। मोहेहु मोहिं सुनहु रघुराया।
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा।

(मानस, अरण्य० ४३)

और राम भी उस तथ्य को स्वीकार करते हुए उन की शंका का समाधान करते हैं।[२]

[१] मानस, बाल० १२४-३९ [२] मानस, अरण्य० ४३-४४

चित्रकूट के वैभव का वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि जिस पर्वत (चित्रकूट) पर राम निवास करते हैं, उस की सुंदरता का क्या कहना है, क्यों कि राम विष्णु हैं और क्षीर सागर छोड़ कर आए हुए हैं

सो बनु सैलु सुभायँ सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन।
महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू।
पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु राम रहे आई।

(मानस, अयोध्या० १३९)

अत्रि 'इंदिरापति' कह कर उन का स्तवन करते हैं :

नमामि इंदिरापति सुखाकरं सतां गतिं।

(मानस अरण्य० ४)

सुतीक्ष्ण को राम अपने चतुर्भुज रूप में ही पहले दर्शन देते हैं :

भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयं चतुर्भुज रूप दिखावा।

(मानस, अरण्य० १०)

यह राम रमानिवास हैं :

एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा।

(मानस, अरण्य० १२)

अभिषेक के अवसर पर इन विष्णु के अवतार राम तथा लक्ष्मी की अवतार सीता को देख कर माताएँ हर्षित होती हैं और अपने को धन्य मानती हैं :

राम बाम दिसि सोभित रमा रूप गुन खानि।
देखि मातु सब हरषीं जन्म सुफल निज जानि॥

(मानस उत्तर० ११)

अभिषिक्त राम का जो स्तवन शिव करते हैं वह उन को विष्णु मान कर करते हैं :

जय राम रमा रमनं समनं।..
अवधेस सुरेस रमेस बिभो।
प्रनमामि निरंतर श्री रमनं।
बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

(मानस, उत्तर० १४)

अयोध्या की संपदा और वैभव का वर्णन करते हुए कहा जाता है कि जहाँ पर

लक्ष्मी के पति स्वतः राजा हैं, उस पुर की संपदा का गान सम्यक् रूप से किस प्रकार किया जा सकता है :

जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइए।

(मानस, उत्त० २८)

रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।

(मानस, उत्तर० २९)

अंत में, काग भुशुंडि भी राम से वरदान प्राप्ति का उल्लेख करते हुए 'रमा-निवास' शब्द द्वारा उन को अभिहित करते हैं :

सुनि सप्रेम मम बानी देखि दीन निज दास।
बचन सुखद गंभीर मृदु बोले रमानिवास॥

(मानस, उत्तर० ८३)

(-) विष्णु परमात्मा हैं, वे ब्रह्म हैं। वैकुंठ तथा क्षीर सागर तट पर जा कर हरि से पृथ्वी का भार उतारने के लिए प्रार्थना करने की सम्मति के उत्तर में शिव कहते हैं :

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।

(मानस, बाल० १८५)

और ब्रह्मा उन की इस सम्मति से प्रभावित होकर वहीं के वहीं उन हरि का स्तवन करने लगते हैं। इस स्तवन में वे उन हरि को

जय जय अबिनासी सब घटबासी व्यापक परमानंदा।

कहते हुए भी उन्हें

गो द्विज हितकारी, जय असुरारी, सिंधुसुता प्रिय कंता।

(मानस, बाल० १८६)

कहते हैं, और प्रार्थित हरि इस स्तुति से प्रसन्न हो कर आकाश वाणी द्वारा कहते हैं :

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा।
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नर भूपा।
तिन्ह कें गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई।
नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई।

(मानस, बाल० १८७)

विष्णु के अवतार के जिन कारणों का उल्लेख ऊपर हुआ है उन में से दो का स्पष्ट उल्लेख यहाँ पर हो जाता है।

कौशल्या उन के अवतार ग्रहण करने पर उन के चतुर्भुज रूप का स्तवन करती हुई उन्हें उन समस्त ब्रह्मांडों का धारण करनेवाला कहती हैं जो माया द्वारा निर्मित होते हैं :

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहैं।

(मानस, बाल० १९२)

इसी प्रकार, ब्रह्मा रावण वध के अनंतर राम सीता का जो स्तवन करते हैं, उस में उन्हें

छबिधाम नमामि रमा सहितं।..

सुखमंदिर सुन्दर श्रीरमनं।.

कहते हुए ब्रह्म के साथ इस प्रकार उन का तादात्म्य स्थापित करते हैं :

अज व्यापकमेकमनादि सदा। करुनाकर राम नमामि मुदा।

गुन ज्ञान निधान अमान अजं। नित राम नमामि बिभुं बिरजं।

(मानस, लंका० १११)

और कथा के अंतिम दृश्य में सनकादिक भी राम का स्तवन करते हुए 'निर्गुन', 'सगुन', तथा 'इंदिरारमन' कहते हैं :

जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय।

जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख मंदिर सुन्दर अति नागर।

जय इंदिरारमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर।

ज्ञान निधान अमान मानप्रद। पावन सुजस पुरान बेद बद।

तज्ञ कृतज्ञ अज्ञता भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन।

सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय। बससि सदा हम कहुँ परिपालय।

(मानस, उत्तर० ३४)

किंतु, अन्यत्र तुलसीदास राम को विष्णु से श्रेष्ठ बतलाते हैं। ब्रह्मा तथा शिव की भाँति वह भी राम के चरणों की वंदना और उन की सेवा करते हैं। राम के ब्रह्मत्व पर शंका होने पर सती यही दृश्य देखती हैं :

देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका।

बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध रूप देखे सब देवा।

(मानस, बाल० ५४)

मनु-सतरूपा इन्हीं राम के उपासक हैं। विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव कोई भी उन्हें वर याचना के लिए तैयार नहीं कर पाते :

> बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा।
> माँगहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहि चलहिं चलाए।
> (मानस, बाल० १४५)

और इन राम के प्रकट होने पर मनु उन की अभ्यर्थना यह कहते हुए करते हैं कि उन के चरण विष्णु, ब्रह्मा, तथा शिव द्वारा पूजित हैं

> सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बंदित पद रेनू।
> (मानस, बाल० १४६

इन राम के अंश मात्र से अनेक विष्णु उत्पन्न होते हैं। इन्हीं राम को मनु सतरूपा पुत्र रूप में प्राप्त करना चाहते थे

> संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।
> ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई।
> जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।
> (मानस, बाल० १४४

विष्णु राम से भिन्न हैं। राम का विवाह देखने वह भी जनकनगर पहुँचते हैं और उन का दूलह वेष में देख कर उन पर मुग्ध हो जाते हैं

> हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।
> (मानस, बाल० ३१७

विष्णु अन्य देवताओं के साथ ब्राह्मण के वेष में उन के विवाह में सम्मिलित भी होते हैं :

> बिधि हरि हर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ।
> कपट बिप्र बर बेषु बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए।
> (मानस, बाल० ३२१,

राम ब्रह्मा, शिव, तथा विष्णु का भी नचाने वाले, अर्थात् अपनी माया से उन्हें मुग्ध करने वाले हैं, और वे भी राम की 'लीलाओं' का रहस्य—क्योंकि जो कुछ भी वह करते हैं वह सब उन की 'लीला' ही है—नहीं जानते। वाल्मीकि राम का स्तवन इसी प्रकार करते हैं :

> जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे।
> तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा।
> (मानस, अयोध्या० १२७)

राम के सच्चे भक्त विष्णुत्व प्राप्त कर के भी उस से उन्मत्त नहीं होते। भरत ऐसे ही भक्त हैं। स्वतः राम उन के संबंध में कहते हैं :

भरतहि होहि न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ॥
(मानस, अयोध्या० २३१)

जब भरत की मति फेरने के लिए जब देवता शारदा की शरण में आते हैं तो वह कहती है कि औरों का क्या प्रश्न, ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु तक की माया भी भरत की मति को भ्रम में नहीं डाल सकती :

बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी।
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर चोरी।
(मानस, अयोध्या० २९५)

विष्णु भी ब्रह्मा तथा शिव की भाँति राम के आज्ञानुवर्ती हैं, वशिष्ठ अयोध्या की सभा में ऐसा ही कहते हैं :

बिधि हरि हरु ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला।
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई।
करि बिचार जियँ देखहु नीकें। राम रजाइ सीस सबही कें।
(मानस, अयोध्या० २५४)

राम का ही बल प्राप्त कर विष्णु संसार का पालन, ब्रह्मा उस का सृजन, तथा शिव उस का संहार करते हैं। हनुमान लंका में पकड़े जाने पर इन्हीं राम का दूत कह कर अपना परिचय देते हैं :

जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।...
जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जाकर हरि आनेहु प्रिय नारि॥
(मानस, सुंदर० २१)

हजारों विष्णु भी हजारों शिव तथा ब्रह्मा की भाँति—राम के शत्रु की रक्षा नहीं कर सकते। हनुमान रावण को इस प्रकार कह कर राम के विरोध से विरत करना चाहते हैं :

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। राम बिमुख त्राता नहिं कोपी।
संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही।
(मानस, सुंदर०

रावण के दूत शुक के हाथ लक्ष्मण रावण के पास जो पत्रिका भेजते हैं उस का भी आशय इसी प्रकार का है :

बातन्ह मनहिं रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस।
राम बिरोध न उबरसि सरन बिस्नु अज ईस॥

(मानस, सुंदर० ५६)

अगणित लोकों में उन का पालन करने वाले विष्णु भी अगणित हैं, और वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। अकेले राम ही वह सत्ता हैं जो सर्वत्र अभिन्न रूप से दर्शनीय हैं। कागभुशुंडि अगणित ब्रह्मांडों के परिभ्रमण में इस तथ्य का दर्शन करते हैं :

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिस्नु सिव मनु दिसित्राता।
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥

(मानस, उत्तर० ८१)

शक्ति और सामर्थ्य में विष्णु और राम की कोई तुलना नहीं हो सकती; राम न केवल करोड़ विष्णुओं के समान सृष्टि के पालन में समर्थ हैं, वरन् सौ करोड़ ब्रह्मा के समान सृष्टि की रचना और सौ करोड़ रुद्र के समान उस के संहार में भी समर्थ हैं। यह बात कागभुशुंडि गरुड़ से इस प्रकार कहते हैं :

सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।
बिस्नु कोटि सम पालन कर्त्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्त्ता।

(मानस, उत्तर० ९२)

शिव के संबंध में आने पर राम और विष्णु का यह अंतर और भी स्पष्ट हो जाता है। शंकर की आदर्श भक्ति और साधना देखकर राम स्वतः प्रकट होते हैं, और विधुर शंकर को पार्वती के साथ विवाह करने पर तैयार कर लेते हैं। राम के इस आदेश का उत्तर देते हुए शिव कहते हैं :

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं।
मात पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी।
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी।

(मानस, बाल० ७७)

देवता लोग कामदेव को इस कार्य के लिए नियुक्त करते हैं कि वह शिव के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करे, और तदनतर वे शिव-पार्वती का विवाह कराने का

उद्योग करें। काम अपने प्रयत्न में असफल होता है। तब वे विष्णु और ब्रह्मा को लिवा कर शिव की सेवा में उपस्थित होते हैं :

सब सुर विष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपा निकेता।

(मानस, बाल० ८८)

और अलग अलग उन की स्तुति करते हैं। उन की स्तुति से प्रसन्न हो कर शिव उन से—और उन में विष्णु भी हैं—पूछते हैं :

कहहु अमर आए केहि हेतू।

(मानस, बाल० ८८)

यहाँ विष्णु का कोई विशेष स्थान नहीं है। सभी देवताओं की ओर से ब्रह्मा उत्तर में निवेदन करते हैं

सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बियाहु॥

कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी। तदपि भगति बस बिनवउँ स्वामी।
कामु जारि रति कहुँ बरु दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा।
सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ।
पारबतीं तपु कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा।
सुनि बिधि बिनय समुझि प्रभुबानी। ऐसेइ होउ कहा सुखु मानी।

(मानस, बाल० ८८-८९)

सभी देवताओं की ओर से ब्रह्मा का शिव को 'नाथ', 'प्रभु', आदि संबोधनों से संबोधित करना तथा इस प्रकार की चाटुकारिता की बातें करना और उन से विनय करना शिव का उन की अपेक्षा ऊँचा होना सिद्ध करता है। एक ओर इन देवताओं की—जिन में विष्णु भी हैं—'विनय' है और दूसरी प्रभु राम की 'आज्ञा'। फलतः राम विष्णु से कितने बड़े हैं, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

(७) राम की माया ही उन की भौंहों के इशारे पर सृष्टि की रचना और उस का संहार करती है, शिव पार्वती से कहते हैं :

उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा।

(मानस, लंका० ३५)

राम ही अखिल विश्व के 'कारण'—अर्थात् निमित्त कारण—हैं। विश्वामित्र के साथ मख रक्षा के लिए अग्रसर होते हुए राम के संबंध में यही कहा जाता है :

पुरुषसिंघ दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन ॥

(मानस, बाल० २०८)

(८) इन्हीं राम ने पहले भी अनेक अवतार धारण किए थे। पहले के कल्पों में वाराह, नृसिंह, तथा वामन अवतार इन्हीं हरि के हुए थे :

जनम एक दुइ कहउँ बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी।
द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ।
बिप्र श्राप तें दूनउ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई।
कनककसिपु अरु हाटकलोचन। जगत बिदित सुरपति मद मोचन।
बिजई समर बीर बिख्याता। धरि बराह बपु एक निपाता।
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा।
भए निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान ॥
मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रमाना।
एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी।
कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता।
एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किए संसारा।

(मानस, बाल० १२२)

मत्स्य, कच्छप, और परशुराम के रूप में भी यही परमात्मा राम अवतीर्ण हुए थे। रावण-वध के अनंतर उनके स्वरूप का निरूपण करते हुए देवगण उनसे इसी प्रकार कहते हैं

मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी।

(मानस, लंका० ११०)

(६) राम के अवतार किस लिए हुआ करते हैं, इस संबंध में अनिम वचन असंभव है। इस संबंध में शिव पार्वती से कहते हैं :

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई।
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी।
तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना।
तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोहीं। समुझि परइ जस कारन मोहीं।

(मानस, बा० १२१)

फिर भी, एक उद्देश्य तो दुष्कर्मियों का नाश और उनसे सत्कर्मियों की रक्षा करना, और अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना हुआ करता है, जैसा स्वतः शिव कहते हैं :

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।

(मानस, बाल० १२१)

अथवा जैसा निषाद का उपदेश करते हुए लक्ष्मण कहते हैं :

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल॥

(मानस, अयोध्या० ९३)

अथवा जैसा वाल्मीकि राम का स्तवन करते हुए कहते हैं :

नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।

(मानस अयोध्या० १२७)

दूसरा उद्देश्य राम का अवतार धारण करने में यह रहा करता है कि उन की इस अवतारी लीला का गान कर उनके भक्त भवसागर के पार हो जावें, उपर्युक्त कथन के अनंतर शिव कहते हैं :

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।

(मानस, बाल० १२२)

कागभुशुंडि अन्यत्र गरुड़ से इसी उद्देश्य का समर्थन करते हैं :

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥

(मानस, उत्तर० ७२)

और स्वतः कवि अपनी रचना का उद्देश्य बताते हुए रामावतार के इसी उद्देश्य का समर्थन करता है :

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई।
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा।
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।

बुध बरनहिं हरि जस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी।

(मानस, बाल० १३)

एक तीसरा उद्देश्य अपने भक्तों की भक्ति, उनके प्रेम और उनकी साधना को सफल करना हुआ करता है। इस उद्देश्य से भी, शिव कहते हैं, निर्गुण ब्रह्म को सगुण होना पड़ता है :

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।

(मानस, बाल० ११६)

और स्वतः राम भी विभीषण का स्वागत करते हुए इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं :

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं।
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें।
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें।

(मानस, सुदर० ४८)

(१०) राम का यह अवतार चार अंशों में हुआ। मनु-सतरूपा की आराधना से प्रसन्न होकर स्वतः राम-रूप में प्रकट होकर उन्हों ने कहा था :

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी।
तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत॥
इच्छामय नर बेष सँवारें। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारें।
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुख दाता।

(मानस, बाल० १५१–५२)

देवताओं की प्रार्थना पर हरि ने भी उन्हें आकाश-वाणी द्वारा यही वचन दिया था :

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिन कर बंस उदारा।

(मानस, बाल० १८७)

और उन्होंने इन वचनों की पूर्ति स्पष्ट ही राम, भरत तथा शत्रुघ्न के रूप में अवतार ग्रहण कर के की।

(११) लक्ष्मण शेष हैं :

फिर भी, एक उद्देश्य तो दुष्कर्मियों का नाश और उनसे सत्कर्मियों की रक्षा करना, और अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना हुआ करता है, जैसा स्वतः शिव कहते हैं :

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।
(मानस, बाल० १२१)

अथवा जैसा निषाद को उपदेश करते हुए लक्ष्मण कहते हैं :

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल॥
(मानस, अयोध्या० ९३)

अथवा जैसा वाल्मीकि राम का स्तवन करते हुए कहते हैं :

नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।
(मानस, अयोध्या० १२७)

दूसरा उद्देश्य राम का अवतार धारण करने में यह रहा करता है कि उन की इस अवतारी लीला का गान कर उनके भक्त भवसागर के पार हो जावें ; उपर्युक्त कथन के अनंतर शिव कहते हैं :

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।
(मानस, बाल० १२२)

कागभुशुंडि अन्यत्र गरुड़ से इसी उद्देश्य का समर्थन करते हैं :

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
(मानस, उत्तर० ७२)

और स्वतः कवि अपनी रचना का उद्देश्य बताते हुए रामावतार के इसी उद्देश्य का समर्थन करता है :

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई।
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा।
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।

बुध बरनहिं हरि जस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी।
(मानस बाल० १३)

एक तीसरा उद्देश्य अपने भक्तों का भक्ति, उनके प्रेम और उनकी साधना को सफल करना हुआ करता है। इस उद्देश्य से भी, शिव कहते हैं, निर्गुण ब्रह्म का सगुण होना पड़ता है

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
(मानस बाल० ११६)

और स्वतः राम भी विभीषण का स्वागत करते हुए इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं।
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे।
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें।
(मानस, सुन्दर० ४८)

(१०) राम का यह अवतार चार अंशों में हुआ। मनु सतरूपा की आराधना से प्रसन्न होकर स्वतः राम रूप में प्रकट होकर उन्हों ने कहा था

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी।
तहँ करि भोग बिसाल तात गए कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत॥
इच्छामय नर बेष सँवारें। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारें।
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुख दाता।
(मानस, बाल० १५१-५२)

देवताओं की प्रार्थना पर हरि ने भी उन्हें आकाश-वाणी द्वारा यही वचन दिया था

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा।
(मानस, बाल० १८७)

और उन्होंने इन वचनों की पूर्ति स्पष्ट ही राम, भरत तथा शत्रुघ्न के रूप में अवतार ग्रहण कर के की।

(११) लक्ष्मण शेष हैं

बंदउँ लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुख दाता।
सेष सहस्र सीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन।
(मानस, बाल० १७)

नामकरण करते हुए वशिष्ठ उन्हें "सकल जगत आधार" कहते हैं :
लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार।
(मानस, बाल० १९७)

लक्ष्मण (शेष) पृथ्वी को धारण करने वाले हैं। वाल्मीकि राम का स्तवन करते हुए कहते हैं :
जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।
(मानस, अयोध्या० १२६)

इन लक्ष्मण (शेष) का मूल निवास स्थान पय पयोधि है :
पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई।
(मानस अयोध्या० १३९)

इसलिए 'अनंत' शब्द भी प्राय लक्ष्मण के पर्याय के रूप में व्यवहृत हुए हैं :
जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसियाइ।
(मानस, लंका० ५४)

रघुपति चरन नाइ सिरु चलेउ तुरंत अनंत।
(मानस, लंका० ७५)

प्रभु कहँ छाँड़ेसि सूल प्रचंडा। सर हति कृत अनंत जुग खंडा।
(मानस, लंका० ७६)

सुनु सुत सद्‌गुन सकल तव हृदयँ बसहुँ हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति रहहु समेत अनंत॥
(मानस, लंका० १०७)

और एक स्थल पर 'अनंत' तथा 'शेष' दोनों का प्रयोग लक्ष्मण के पर्याय रूप में हुआ है :
क्रोधवंत तब भयउ अनंता। भंजेउ रथ सारथी तुरंता।
नाना बिधि प्रहार कर सेषा। राच्छस भयउ प्रान अवसेषा।
(मानस, लंका ५४)

(१२) लक्ष्मण (शेष) अखिल विश्व के 'करण' हैं—इन्हीं को लेकर समस्त विश्व का निर्माण हुआ है—विश्वामित्र के साथ साधुओं के परित्राण और दुष्कृतों के विनाश के लिए अग्रसर होते हुए राम-लक्ष्मण का परिचय तुलसीदास इसी प्रकार देते हैं :

पुरुषसिंघ दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन॥

(मानस, बाल० २०८)

और कदाचित् 'करण' होने के नाते ही उसके 'कारण' अर्थात् उपादान कारण भी हैं :

सेष सहस्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन।

(मानस, बाल० १७)

और वे चराचर के स्वामी हैं :

जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचर धनी।
सुर काज धरि नर राज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।

(मानस, अयोध्या० १२६)

और "त्रिभुवन धनी" हैं :

ब्रह्मांड भवन बिराज जाकें एक सिर जिमि रज कनी।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुवनधनी।

(मानस, लंका० ८३)

(१३) लक्ष्मण (शेष) राम के ही एक स्वरूप हैं। राम ही 'अनंत' हैं, और पृथ्वी को धारण करनेवाले हैं। सनकादिक ने राम का स्तवन करते हुए उन्हें 'अनंत' और 'भूधर' कहा है; एक होते हुए वही अनेक रूपवाले भी हैं :

जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय।
जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख मंदिर सुंदर अति नागर।
जय इंदिरारमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर।

(मानस, उत्तर० ३४)

(१४) लक्ष्मण भी राम की भाँति अपरिवर्तनशील हैं। राम के ब्रह्मत्व के संबंध में शंका करने पर सती जो अद्भुत दृश्य देखती हैं उस में शिव, विधि और विष्णु नाना रूपों में दिखाई पड़ते हैं, किंतु लक्ष्मण राम-सीता के साथ अपने वास्तविक रूप में ही बने रहते हैं (और इस प्रकार वह भी विष्णु से श्रेष्ठ हैं) :

देखे सिव विधि विष्णु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका।
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा।
पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा। राम रूप दूसर नहिं देखा।
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे।
सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भईं सभीता।
(मानस, बाल० ५४–५५)

किंतु, अन्यत्र काकभुशुंडि गरुड़ से जो इस प्रकार के एक अन्य अनुभव का उल्लेख करते हैं, उस में वे कहते हैं कि प्रत्येक लोक में उन के विभिन्न ब्रह्मा, विष्णु, और शिव दिखाई पड़ते हैं, राम अपरिवर्तित रहते हैं, और "भरतादिक भ्राता"—जिस में लक्ष्मण को भी मानना चाहिये—परिवर्तनशील पाए जाते हैं :

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता।
अवधपुरी प्रति भुवन निहारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी।
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखउँ बाल बिनोद उदारा।
भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥
(मानस, उत्तर० ८१)

(१५) भरत विश्व का भरण-पोषण करने वाले हैं। उन का नामकरण करते हुए वशिष्ठ कहते हैं :

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।
(मानस, बाल० १९७)

(१६) शत्रुघ्न शत्रुसूदन हैं। उन का नामकरण करते समय वशिष्ठ कहते हैं;

जाके सुमिरन तें रिपुनासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।
(मानस, बाल० १९७)

(१७) वानरादि देवता हैं। हरि से पृथ्वी का भार उतारने के लिए आश्वासन पाकर ब्रह्मा देवताओं को वानर शरीर धारण करने का आदेश करते हैं, और फिर सभी देवता वानर शरीर धारण कर पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं

निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानर तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ॥

गए देव सब निज निज धामा। भूमि सहित मन कहुँ बिश्रामा।
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा।
बनचर देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं।
गिरि तरु नख आयुध सब बीरा। हरि मारग चितहिं मतिधीरा।

(मानस, बाल० १८७-१८८)

वानरादि देवांश हैं। महायुद्ध की समाप्ति होने पर राम का आदेश प्राप्त कर इंद्र ने जो सुधावृष्टि की उस से वानरादि जीवित हो जाते हैं; उस का कारण यह है कि वानरादि देवांश हैं:

सुधा बृष्टि भै दुहु दल ऊपर। जिए भालु कपि नहिं रजनीचर।
सुर अंसिक कपि सब अरु रीछा। जिए सकल रघुपति की इच्छा।

(मानस, लंका० ११४)

(१८) यह वानरादि सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, और जब निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर अवतार धारण करता है, तब उसके सगुण रूप के यह उपासक मोक्ष सुख का परित्याग कर उसकी 'लीला' का आनन्द लेने के लिए उसके साथ ही अवतीर्ण होते हैं। सीता की खोज में निराश अंगद से जामवंत इस रहस्य का उद्घाटन करते हैं:

तात राम कहुँ नर जनि जानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।
हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।
निज इच्छाँ अवतरइ प्रभु सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥

(मानस, किष्किंधा० २६

(१९) सीता वह 'आदि शक्ति' हैं जिससे विश्व की उत्पत्ति होती है नु-सतरूपा की तपस्या पर प्रसन्न होकर राम ने इसी 'आदि शक्ति' के सा न्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया था:

बाम भाग सोभति अनुकूला। आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला।..
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई।

(मानस, बाल० १४८

और कहा था:

आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।

(मानस, बाल० १५२)

यही ब्रह्म की वह 'माया' और 'मूल प्रकृति' है जिससे जगत का उद्भव, उसकी स्थिति, और उसका संहार हुआ करते हैं :

उद्भव स्थिति संहारकारिणीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।

(मानस, बाल० १)

श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।

(मानस, अयोध्या० १२६)

(२०) सीता आदि नारायण राम की 'योगमाया' है। वे राम से इसी प्रकार अभिन्न हैं जिस प्रकार 'गिरा' से उसका 'अर्थ' अथवा 'जल' से उसकी 'वीचि' अभिन्न हुआ करते हैं। इसीलिए तुलसीदास सीता और राम की एक साथ वंदना करते हैं :

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

(मानस, बाल० १८)

वही अविनाशी परमात्मा की परम शक्ति हैं। देवताओं की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए आकाशवाणी द्वारा भगवान स्वयं कहते हैं :

नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।

(मानस, बाल० १८७)

अभिषेकोत्सव में पधारे हुए वेद राम का स्तवन करते हुए कहते हैं :

अवतार नर संसार भार विभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे।

(मानस,उत्तर० १३)

(२१) इस लोक में राम (परम आत्मा) और सीता (मूल प्रकृति) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए समस्त संसार को राम और सीता में व्याप्त समझ कर तुलसीदास सीता राम को एक साथ वंदना करते हैं :

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

(मानस, बाल० ८)

(२२) सीता लक्ष्मी हैं। कहा जाता है कि जनक नगर की संपदा का बखान शारदा और शेष भी इसीलिए नहीं कर सकते कि वहाँ लक्ष्मी माया नारी (सीता) के [illegible] हैं :

बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु।
तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहि सारद सेषु॥

(मानस, बाल० २८९)

और, इन सीता (लक्ष्मी) का मूल निवास-स्थान क्षीरसागर बताया जाता है:

पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई।

(मानस, अयोध्या० १३९)

कभी कभी 'रमा' नाम का प्रयोग भी 'सीता' के पर्याय रूप में होता है:

अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।

(मानस, लंका० १०७)

राम बाम दिसि सोभति रमा रूप गुन खानि।

(मानस, उत्तर० ११)

इसके अतिरिक्त, ऊपर जिन स्थलों पर राम को 'रमानिवास', 'इंदिरापति', 'रमारमन', 'इंदिरारमन', 'रमेश', 'श्रीरंग', तथा 'रमानाथ' कहा गया है और विष्णु के साथ उन का तादात्म्य किया गया है, उन सभी स्थलों पर सीता ही लक्ष्मी हैं, क्योंकि उपर्युक्त नामों का प्रयोग 'राम' के पर्याय रूप में हुआ है।

किंतु अन्यत्र तुलसीदास सीता का लक्ष्मी से भिन्न बताते हैं। तुलसीदास के अनुसार सीता राम-विवाह में वह भी विवाह के साथ सम्मिलित होती हैं, और विष्णु के साथ ही वह भी दूलह राम को देखकर मुग्ध हो जाती हैं:

हरि हिय सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।

(मानस, बाल० ३१७)

और तदनंतर रनिवासकी अन्य स्त्रियों के साथ मिल जाती हैं:

सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी।
कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनवासहि जाई।

(मानस, बाल० ३१८)

अन्यत्र तुलसीदास सीता को लक्ष्मी से श्रेष्ठ भी बताते हैं, और कहते हैं कि राम की भाँति वे भी अपरिवर्तनशील हैं। राम के ब्रह्मत्व पर शंका करने पर सती जिस प्रकार राम को उन विविध रूपों में परिवर्तित होने वाले देवताओं के बीच अपरिवर्तित पाती हैं उसी प्रकार सीता को भी अपरिवर्तित पाती हैं, जब कि इंदिरा आदि अनेकों रूपों में दिखाई पड़ती हैं:

सती विधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप ।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप ॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे । सीता सहित न बेष घनेरे ।
सोइ रघुबर सोइ लछमनु सीता । देखि सती अति भईं सभीता ।
(मानस, बाल० ५४-५५)

उनके अंश मात्र से अगणित लक्ष्मी, उमा, और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं। मनु सतरूपा को उनकी तपस्या का फल देने के लिए राम के साथ प्रकट होने वाली सीता के संबंध में तुलसीदास कहते हैं

जासु अंस उपजहिं गुनखानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ।
भृकुटि बिलास जासु जग होई । राम बाम दिसि सीता सोई ।
(मानस, बाल० १४८)

यह सीता लक्ष्मी, तथा ब्रह्माणी द्वारा वंदित भी हैं :

उमा रमा ब्रह्मानि बंदिता । जगदंबा सततमनिंदिता ।
(मानस, उत्तर० २४)

(२३) विष्णु जिस प्रकार 'परमात्मा' हैं, उसी प्रकार लक्ष्मी 'परमशक्ति' भी हैं। इसी लिए जब रावणादि के अत्याचार से व्यथित पृथ्वी को लेकर समस्त देवता विष्णु का लक्ष्मीपति कहते हुए

गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधु सुता प्रियकंता ।
(मानस, बाल० १८६)

उन का तादात्म्य परमात्मा से करते हैं :

जय जय अबिनासी घट घट बासी ब्यापक परमानंदा ।
(मानस बाल० १८६)

विष्णु भी उत्तर में 'परम शक्ति' समेत अवतार लेने की आकाशवाणी करते हैं

नारद बचन सत्य सब करिहउँ । परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ।
(मानस, बाल० १८७)

(२४) माया त्रिगुणात्मिका है और गुणों की सहायता से ही यह विश्व की रचना करती है :

एक रचइ जग गुन बस जाकें ।
(मानस, अरण्य० १५)

(२५) माया ही समस्त सृष्टि की रचना, स्थिति, और संहार करने

वाली है। समस्त संसार को उत्पन्न करने वाली 'आदि शक्ति' वही है, यह अनेक स्थलों पर कहा गया है :

लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया।
(मानस, बाल० २२५)

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।
(मानस, अरण्य० १५)

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया।
(मानस, सुंदर० २१)

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी।
तव प्रेरित मायाँ उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए।
(मानस, सुंदर० ५९)

और ऊपर इस 'आदि शक्ति' का तादात्म्य सीता से किया गया है; और सीता का तादात्म्य ब्रह्म की उस माया (मूल प्रकृति) से भी किया गया है जो उद्भव, स्थिति, और संहार कारिणी है; फलतः यह स्पष्ट है कि सृष्टि का पालन, और संहार भी इसी माया द्वारा होता है।

(२६) अखिल विश्व, ब्रह्मादि देवासुर भी, इस राम की माया के वशवर्ती हैं :

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा।
(मानस, बाल० १)

इसने चराचर सभी जीवों को वश में कर रक्खा है :

जीव चराचर बस कै राखे।
(मानस, बाल० २००)

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।
(मानस, अरण्य० १५)

(२७) माया स्वतः निर्बल है, यह राम का बल प्राप्त कर के ही ब्रह्मांड की रचना करती है :

एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।
(मानस, अरण्य० १५)

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया।
(मानस, सुंदर० २१)

माया स्वतः जड़ है, वह राम का आश्रय पाकर ही सत्य भासती है

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।
रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि।
हि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।

(मानस, बाल० ११७ १८)

यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

(मानस, बाल० १)

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू।

(मानस, बाल० ११७)

राम ही इस जड़ माया को भी चैतन्य (गतिशील) कर देते हैं :

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहि जीव ते धन्य॥

(मानस, उत्तर० ११९)

(२८) माया राम की चेरी है, राम उस के स्वामी हैं, और इसी नाते राम को 'मायाधीश', 'मायापति' आदि कहा जाता है.

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोऽपि।

(मानस, उत्तर० ७१)

मायाधीस ग्यान गुन धामू।

(मानस, बाल० ११७)

मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया।

(मानस, अयोध्या० २१८)

अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान।

(मानस, उत्तर० ६२)

यह माया राम से डरा भी करती है। कौशल्या को राम जो अपना अद्भुत और अखंड रूप दिखाते हैं, उस म कौशल्या माया को राम से अत्यत भयभीत पाती है

जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सौं भय भाखे।
भृकुटि बिलास नचावै ताही।

(मानस, बाल० २००)

देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी।
(मानस, बाल० २०२)

संसार को विमोहित करने वाली यह माया राम के इंगित पर नाचा करती है :

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुँ न पावा।
सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा।
(मानस, उत्तर० ७२)

और इस कारण भक्ति से डरा करती है कि भक्ति राम को प्रिय है, और वह स्वतः राम की नर्तकी मात्र है :

पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।
(मानस उत्तर० ११६)

(२६) हमारी इंद्रियाँ, और उन इंद्रियों के समस्त विषय माया से उत्पन्न हैं :

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई।
(मानस, अरण्य० १५)

राम की प्रेरणा से माया पंचस्थूल भूतों को उत्पन्न करती है, और इसी स्थूल भूत-समूह से संपूर्ण स्थावर-जंगम जगत् उत्पन्न होता है :

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी।
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाए।
(मानस, सुंदर० ५९)

(३०) 'विराट्' राम का स्थूल शरीर है : मंदोदरी रावण से राम का विश्वरूप इसी प्रकार स्पष्ट करती है :

पद पाताल सीस अजधामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा।
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला।
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा।
स्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी।
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला।
आनन अनल अम्बुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा।
रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा।
उदर उदधि अध गो जातना। जगमय प्रभु की बहु कल्पना।

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥
(मानस, लंका० १५)

(३१) संसार की सभी वस्तुएँ माया जनित होने के कारण मृषा हैं। केवल राम के सत्व से प्रतिभासित हो कर ही वे सत्य सी प्रतीत होती हैं

यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौयथाहेर्भ्रमः।
(मानस, बाल० १)

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।
रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।
ज्यौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई।
जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।
(मानस, बाल० ११७-१८)

जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रमफंदा।
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू।
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोहमूल परमारथु नाहीं।
सपनें होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ।
जागें हानि न लाभु कछु अस प्रपंच जियँ जोइ॥
मोहनिसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।
(मानस, अयोध्या० ९३)

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।
(मानस, अरण्य० ३९)

(३२) माया, ईश्वर, तथा अपने यथार्थ स्वरूप का जिसे ज्ञान नहीं रहता, वही 'जीव' है।

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
(मानस, अरण्य० १५)

द्वन्द्वात्मक हर्ष विषाद, ज्ञान अज्ञान, अहंकार तथा अभिमान ही जीव के धर्म हैं

हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना।

(मानस, बाल० ११६)

(३३) जीव पंचभौतिक शरीर से भिन्न है, वह नित्य है; वह जन्म-मरण के बंधन में नहीं पड़ता। बालि के शव को देख कर विलाप करती हुई तारा को राम इसी प्रकार समझाते हैं:

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा।
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।

(मानस, किष्किंधा० ११)

(३४) ईश्वर और जीव में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जो भेद दोनों में ज्ञात होता है वह मिथ्या है और वह केवल मायाजनित है। माया ने ही दोनों में यह भेद कर रक्खा है। दोनों में अंतर ज्ञान-अज्ञान का है। यदि जीव को अखंड एकरस ज्ञान की प्राप्ति हो जावे तब ईश्वर और जीव में भेद कैसा?

ग्यान अखंड एक सीतावर। मायाबस्य जीव सचराचर।
जौं सब के रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस।...
मुधा भेद जद्यपि कृत माया।

(मानस, उत्तर० ७८)

यह भेद हमारा भ्रम है, जो आत्मानुभूति से नष्ट हो जाता है:

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा।

(मानस, उत्तर० ११८)

और इसीलिए आत्मानुभूति प्राप्त 'संत' और 'अनंत' में कोई अंतर नहीं माना जाता:

जानेसु संत अनंत समाना।

(मानस, उत्तर० १०९)

(३५) माया ने जीव को मोहित कर रक्खा है—उसे मोह (अज्ञान) में डाल रक्खा है:

नाथ जीव तव मायाँ मोहा।

(मानस, किष्किंधा० ३)

और, वह राम की इस विषम माया के द्वारा बहकाया जाकर काल, कर्म, और गुणों में लगा हुआ भव-चक्र में पड़ गया है:

तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।
(मानस, उत्तर० १३)

(३६) इन कर्मों के अनुरूप ही उसकी गतियाँ होती हैं :
निज कृत करम भोग सबु भ्राता।
(मानस अयोध्या० ९२)

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।
(मानस अयोध्या० २१९)

(३७) राम की माया दो रूपों में भासती है : एक 'विद्या' और दूसरी 'अविद्या'
तेहि करि भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।
(मानस, अरण्य० १५)

(अनात्म में आत्म भावना ही 'अविद्या' है, और अनात्म से आत्म भावना का बाध ही 'विद्या' है।) 'अविद्या' संसृति का हेतु है, और 'विद्या' जीव को संसृति से मुक्त करने वाली है। प्रवृत्ति-मार्ग वाले 'अविद्या' के वशीभूत होते हैं। और निवृत्ति मार्ग वाले 'विद्या' मय होते हैं। कागभुशुंडि अपने ऊपर राम की माया का प्रभाव बतलाते हुए कहते हैं :

सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृति नाहीं।
नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना।..
हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या।
तातें नास न होइ दास कर।
भेद भगति बाढइ बिहग बर।
(मानस, उत्तर० ७८-७९)

(३८) 'अविद्या' माया के दो भेद होते हैं : 'आवरण' जो संपूर्ण ज्ञान को आवृत्त कर रखती है, और जिसके कारण जीव भव चक्र में पड़ा रहता है, तथा 'विक्षेप' जो विश्व की कल्पना करती है। लक्ष्मण को राम 'अविद्या' माया के यह दो भेद इस प्रकार समझाते हैं :

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।
(मानस, अरण्य० १

(३६) जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होने पर भ्रम और तज्जनित भव (संसृति) दोनों नष्ट हो जाते हैं :

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा।

(मानस, उत्तर० ११८)

(४०) ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जीव स्वतः ब्रह्म हो जाता है :

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।

(मानस, अयोध्या० १२७)

(४१) (अनात्म में आत्म का बाध करना, और अपने को नित्य शुद्ध-बुद्ध 'चिदात्मा' समझना 'बोधज्ञान' कहलाता है।) संसार एक मोह की रात्रि के समान है। उस रात्रि में सभी सोए हुए होते हैं। जागने वाले केवल वे होते हैं जो इस 'चिदात्मा' का बोध प्राप्त करने में उद्युक्त और अनात्म विश्व से वियुक्त होते हैं :

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।

(मानस, अयोध्या० ९३)

जीव को जगा हुआ ('बोधज्ञान' के पथ में अग्रसर) तभी समझना चाहिए जब उसे समस्त इंद्रियों के विषयों से और उन की वासनाओं से विरक्ति हो जावे :

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा।

(मानस, अयोध्या० ९३)

(४२) भव-चक्र और उस से उत्पन्न समस्त कष्टों से मुक्ति पाने का केवल एक ही मार्ग है, और वह यह है कि माया का त्याग किया जावे और 'परलोक' (परमार्थ) के साधन में दत्तचित्त हुआ जावे :

तजि माया सेइअ परलोका। मिटहिं सकल भवसंभव सोका।

(मानस, किष्किंधा० २३)

शरीरों में सब से अधिक दुर्लभ मानव शरीर है। इस के समान दूसरा शरीर नहीं है, क्यों कि इसी के द्वारा जीव को जैसी भी गति उस को अभीष्ट हो, वह प्राप्त कर सकता है :

नर तनु सम नहिं कवनिउँ देही। जीव चराचर जाचत जेही।
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।

(मानस, उत्तर० १२१)

इस मानव शरीर को प्राप्त कर मनुष्य का केवल एक ही लक्ष्य होना

चाहिए—परमार्थ-साधन। इस साधन धाम और मोक्ष के प्रवेशद्वार को प्राप्त कर के भी जिस ने 'परलोक' (परमार्थ) का साधन नहीं किया उस को अंत में दुःख उठाना ही पड़ेगा

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।
नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं।
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई।
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करनधार सद्गुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(मानस उत्तर० ४३ ४४)

(४३) अविद्या का बंधन कर्म के साधनों से टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ़ होता है। कर्म-सन्यास द्वारा ही उससे छुटकारा मिलता है। इस लिए बुद्धिमान और अनुभवी लोग शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों को छोड़ कर राम की भक्ति करते हैं

करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता।
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहिं संसृति दुख जाने।
त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहिं सुरनर मुनि नायक।

(मानस, उत्तर० ४१)

कर्म के संस्कारों का जो मल चित्त पर लगा हुआ है वह कर्म (प्रवृत्ति मार्ग) से नहीं छूटता, उस के लिए प्रेम-भक्ति का जल चाहिए

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोएँ।

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।

(मानस, उत्तर० ४९)

हरिभक्ति को प्राप्ति पर राम के भक्त आश्रम धर्म की मर्यादाओं का भी पालन नहीं करते :

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।

जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥

(मानस, किष्किंधा० १६)

(४४) भक्ति जीव को माया के पाश से मुक्त कर देती है :

देखो माया सबबिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी।

देखा जीव नचावइ जाही। देखो भगति जो छोरइ ताही।

(मानस, बाल० २०२)

भक्ति ही परम सुख का मार्ग है :

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू।

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।

(मानस, उत्तर० ४५)

(४५) वह भक्ति स्वतः एक साध्य है :

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।

(मानस, अयोध्या० ९३)

विमुक्त लोग भी भक्ति-लाभ की आकांक्षा करते हैं :

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषयी। लहहिं भगति गति संपति नई।

(मानस, उत्तर० १५)

यह भक्ति स्वतन्त्र और निरपेक्ष है :

सो सुतंत्र अवलंब न आना।

(मानस, अरण्य० १६)

ज्ञान और विज्ञान इस के आधीन हैं :

तेहि आधीन ग्यान बिग्याना।

(मानस, अरण्य० १६)

भक्ति ज्ञानादिक साधनों का सुंदर फल है :

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुतिसंभव नाना सुभ कर्मा।

ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धरम कहत श्रुति सज्जन।

आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर।
(मानस, उत्तर० ४९)

भक्ति समस्त साधनों का फल है :

जप तप मख सम दम व्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना।
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा।
(मानस, उत्तर० ९५)

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई।
नाना कर्म धर्म व्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना।
भूतदया द्विज गुरु सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई।
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।
(मानस, उत्तर० १२६)

इसीलिए इन समस्त साधनों की अपेक्षा विचारशील लोग राम से उन की निष्काम भक्ति की याचना करते हैं। राम को अपने आश्रम से विदा देते हुए अत्रि की मानसिक दशा का परिचय तुलसीदास इस प्रकार देते हैं :

तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिए।
मन ग्यान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए।
जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।
रघुबीर चरित पुनीत निसि दिन दासतुलसी गावई॥
(मानस, अरण्य, ६)

सरभंग तो अपनी समस्त साधना का फल राम को प्रदान कर सायुज्य मुक्ति भी नहीं स्वीकार करते :

जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा।
(मानस, अरण्य० ८)

अस कहि जोग अगिनि तन जारा। राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा।
ताते मुनि हरिलीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ।
(मानस, अरण्य० ९)

रामभक्त रामभक्ति के आगे मुक्ति को त्याग देते हैं :

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लोभाने।
(मानस, उत्तर० ११०)

कागभुशुंडि के स्तवन पर प्रसन्न हो कर राम उन्हें समस्त सिद्धियाँ देते हुए इस प्रकार उत्साहित करते हैं :

काकभुशुंडि माँगु बर अति प्रसन्न मोहिं जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोक्ष सकल सुख खानि ॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।
आजु देउँ सब संसय नाहीं। माँगु जो तोहि भाव मन माँहीं।

(मानस, उत्तर० ८३-८४)

किंतु, स्वामी की इस उदार वाक्यावली को सुन कर कागभुशुंडि चिंता में पड़ जाते हैं :

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ।
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे।
भजन हीन सुख कवने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खगराजा।

(मानस, उत्तर० ८४)

और वे राम से भक्ति की ही याचना करते हैं :

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मोपर करहु कृपा अरु नेहू।
मनभावत बर माँगउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी।
अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव ॥
भगत कल्पतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहिं प्रभु देहु दया करि राम ॥

(मानस, उत्तर० ८४)

राम-भक्ति विज्ञान से भी दुर्लभ है, क्यों कि विज्ञान एक निश्चित क्रम से साधन-सिद्ध है, पर भक्ति इस प्रकार साधन-सिद्ध नहीं है। काग की भक्ति-लाभ- कथा विषयक जिज्ञासा के साथ पार्वती शिव से कहती हैं :

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ इक होइ धर्म ब्रतधारी।
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई।
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई।
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ।
तिन सहस्र महँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी।

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।
सब तें सो दुरलभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया।
सो हरि भगति काग किमि पाई। बिस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई।

(मानस, उत्तर० ५४)

और शिव पार्वती के इस कथन का प्रतिवाद न कर के, पार्वती को काग-भुशुंडि की हरिभक्ति प्राप्ति की कथा सुनाते हैं।

राम ने काग को जो "निज सिद्धांत" सुनाया है उस से भी इस कथन का समर्थन होता है। दोनों में भाव-साम्य, शब्द साम्य, तथा क्रम साम्य दर्शनीय हैं। वे कहते हैं :

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी।
निज सिद्धांत सुनावउँ तोहीं। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोहीं।
मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहिं भाए।
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी।
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते प्रिय अति बिग्यानी।
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।

(मानस, उत्तर० ८६)

(४६) भव जनित क्लेश को नष्ट करने में ज्ञान और भक्ति दोनों समर्थ हैं :

भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा।

(मानस, उत्तर० ११५)

फिर भी ज्ञान का साधन पथ दुर्गम है, और उस का प्रमुख कारण यह है कि उस में मन को कोई आश्रय नहीं मिलता है :

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका।

(मानस, उत्तर० ४५)

इस विचार का कवि ने बड़ा विस्तार किया है। कागभुशुंडि ने गरुड़ से 'ज्ञान दीपक' का जो वर्णन किया है[१] उस के अंत में परिणाम भी यही निकाला गया है :

[१] मानस, उत्त० ११८-१९

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥
ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होत नहिं बारा।
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई।

(मानस, उत्तर० ११८–११९)

और उस का कहना है कि इन सब कठिनाइयों को झेलने पर भी जो वस्तु प्राप्त ही रहती है वह राम भक्त को अनायास ही प्राप्त हो जाती है :

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।

(मानस, उत्तर० ११९)

'ज्ञान दीपक' की तुलना में उस ने 'भक्ति मणि' का रूपक उपस्थित किया है.[1] और राम-भक्ति को चिन्तामणि बताते हुए उसकी प्राप्ति को सुगम बताया है; उसका कहना है कि अभागे मनुष्य स्वतः उसकी प्राप्ति का द्वार बंद कर लेते हैं:

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हत भाग्य देहिं भटमेरे।

(मानस, उत्तर० १२०)

इस रूपक में कवि ने दोनों की शक्तियों में भी अंतर बताया है। उस का कथन है कि यह ज्ञान का दीपक विषय की वायु का झोंका लगने पर बुझ सकता है—और इंद्रियाँ इन विषयों का स्वागत करने को सदा ही तत्पर रहती हैं— इस लिए बहुधा होता यह है कि समस्त कठिनाइयों के बाद भी प्रज्वलित होने पर यह दीपक बुझ जाया करता है, और परिणाम यह होता है कि जीव अपने अंतःकरण के अंधकार में पड़ी हुई माया की गाँठ को छुड़ा नहीं पाता। दूसरी ओर भक्ति का चिन्तामणि दिन रात स्वभावतः प्रकाशित रहता है, और उस पर विषय के वायु का झँकोरा कोई भी असर नहीं कर पाता :

एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥..
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उर गृहँ बैठि ग्रंथि निरवारा।
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तौ यह जीव कृतारथ होई।

[1] वही। १२०

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।
कल बल छल करि जाहिं समीपा। अचल बात बुझावहिं दीपा।
होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी।
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी।
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ बैठे सुर करि थाना।
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।
जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई।
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा।
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई।
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी।

तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावइ संसृति क्लेस।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहँगेस॥

(मानस, उत्तर० ११७-१८)

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड जाके उर अंतर।
परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती।
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं।
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें।

(मानस, उत्तर० १२०)

ज्ञान, विराग, योग और विज्ञान आदि साधन गोस्वामी जी के अनुसार पुरुष हैं—क्योंकि वे स्वावलम्बी और इसलिए पुरुषार्थ-प्रधान होते हैं, भक्ति नारी है—क्योंकि वह सर्वथा परावलम्बिनी और इसीलिए दैन्य और कार्पण्य प्रधान होती है, और माया भी स्त्री है—वह भी परावलम्बिनी है क्योंकि स्वतः जड़ है और अपने विस्तार के लिए उसे भी भगवान का आश्रय चाहिए, और पुरुष नारी पर मुग्ध हो सकता है और नारी उसको मोहित करती है, किंतु नारी नारी पर न मुग्ध हो सकती है और न नारी नारी को मोहित कर सकती है, इसलिए ज्ञान, वैराग्य आदि पुरुषार्थ-प्रधान साधन

माया विमुग्ध हो सकते हैं, पर भक्ति पर माया कभी अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। पुरुषार्थ प्रधान साधनों में अहंभाव किसी न किसी मात्रा में होना ही चाहिए, भक्ति में उस अहंकार का सर्वथा अभाव तथा एक मात्र भगवान की कृपा का अवलम्बन होता है, इसलिए दूसरे साधनों में माया विमुग्ध होने का भय रहता है, भक्ति का आश्रय ग्रहण करने पर वह भय नहीं होता

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती।
पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर॥
सोउ मुनि ग्याननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट॥
इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान संत मत भाखउँ।
माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारिबर्ग जानहिं सब कोऊ।
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।

(मानस, उत्तर० ११६)

भक्ति की इस साधना में जीव को भगवत्कृपा का भी सहारा मिल जाता है : कारण यह है कि यद्यपि माया और भक्ति दोनों ही भगवान की आश्रित हैं, फिर भी बहुरूपिणी माया नर्तकी मात्र है, उस के समस्त व्यापार भगवान को रिझाने के लिए ही हुआ करते हैं, और भक्ति पर भगवान की अनुकूलता रहती है, इस लिए माया भक्ति से डरा करती है और भक्त पर अपनी प्रभुता नहीं चला पाती, यही कारण है कि विज्ञानसम्पन्न मुनि भी भक्ति की याचना किया करते हैं :

पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी।
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई।
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी।

(मानस उत्तर० ११६)

फलतः इस संसार में सब से चतुर वे ही हैं जो इस मणि की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं :

चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सु जतन कराहीं।

(मानस, उत्तर० १२०)

इस के विरुद्ध जो ज्ञानाभिमानी साधक भक्ति का निरादर करते हैं वे कैवल्यादिक सुर-दुर्लभ पदों को प्राप्त कर के भी गिरते हुए देखे जाते हैं :

जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।

(मानस, उत्तर० १३)

(४७) इस लिए गोस्वामी जी का मत है कि राम भक्ति के बिना निर्वाण की प्राप्ति असंभव ही है।

रामचंद्र के भजन बिनु जो पद चह निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिपान॥

(मानस,उत्तर० ७८)

गोस्वामी जी का निश्चित विश्वास यह है कि राम से विमुख रहने पर चाहे कितने भी यत्न किए जावें भव से मुक्ति असंभव है :

रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भवबंधन छोरी।

(मानस, बाल० २००)

राम के चरण ही भवसागर को पार करने वालों के लिए एक मात्र नाव हैं :

यत्पादप्लवमेकमेवहि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।

(मानस, बाल० १)

जो राम के चरणों में अनुराग नहीं रखते, वे अगाध भवसागर में पड़े ही रहते हैं :

भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते।

(मानस, उत्तर० १४)

जीवन का क्लेश बिना राम-भक्ति के उसी प्रकार नहीं मिट सकता, जिस प्रकार बिना सूर्य के रात्रि का नाश असंभव है :

राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥
ऐसेहि बिनु हरिभजन खगेसा। मिटइ न जीवन केर कलेसा।

(मानस, उत्तर० ७८-७९)

समस्त साधनों के परिणाम-स्वरूप राम-भक्ति के बिना वास्तविक क्षेम किसी को भी नहीं प्राप्त हो सकता :

सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोइ न पावइ छेमा।

(मानस, उत्तर० ९५)

कमठ पीठि जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा।
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना।
अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै।
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई।
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(मानस, उत्तर० १२२)

क्योंकि जब तक जीव राम-भक्ति को नहीं अपनाता तब तक न उस के मानसिक शत्रुओं का नाश होता है और न उसे कभी भी सुख प्राप्त होता है :

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ नहिं बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम॥

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना।
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा।
ममता तरुन तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी।
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं।

(मानस, सुंदर० ४६–४७)

मोक्ष सुख भी भक्ति के बिना उसी प्रकार नहीं टिकता जिस प्रकार जल बिना भूमि के नहीं टिकता :

जिमि बिनु थल जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई।

(मानस, उत्तर० ११९)

और, इस कलिकाल में तो सद्‌गति का केवल एक ही साधन है : वह है राम-भक्ति। योग, यज्ञ, पूजादि साधन अन्य युगों के लिए उपयुक्त अवश्य थे, कलियुग के लिए वे उपयुक्त नहीं हैं :

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग।

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।

त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा।
कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा।
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार रामगुन गाना।
सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुनग्रामहि।
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।
कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।
कलिजुग सम जुग आन नहिं जो नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
(मानस, उत्तर० १०२–१०३)

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा।
रामहिं सुमिरिअ गाइअ रामहिं। संतत सुनिअ राम गुनग्रामहि।
जासु पतितपावन बड़ बाना। गावहि कबि श्रुति संत पुराना।
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहिं नहिं पाई।
(मानस, उत्तर० १३०)

मनुष्य देह की सार्थकता भी गोस्वामी जी भक्ति साधन में ही मानते हैं।

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना।
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख सम लेखा।
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला।
जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी।
जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती।
(मानस, बाल० ११३)

इस लिए इस मानव शरीर को—जो कि समस्त साधनों का साधन है—पाकर भी जा हरि-भक्ति नहीं करते, और विषयों में आसक्ति रखते हैं, वे अपने जीवन को उसी प्रकार गँवाते हैं जिस प्रकार कोई काँच के बदले में स्पर्शमणि गँवाता है :

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंद मंदतर।
काँच किरिच बदलें ते लेहीं। कर ते डारि परसमनि देहीं।
(मानस, उत्तर० १२१)

राम स्वतः इसी लिए सब साधनों के परित्याग के साथ अपनी भक्ति का आदेश करते हैं :

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी।
निज सिद्धांत सुनावउँ तोहीं। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोहीं।
(मानस, उत्तर० ८६)

(४८) जीव को मोहित करने वाली माया राम की दासी है, इस लिए राम की कृपा के बिना उस के बंधनों से कोई मुक्त नहीं हो सकता :

नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा।
(मानस, किष्किंधा० २)

अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया।
(मानस, किष्किंधा० २१)

प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ग्यानी।
ग्यानी भगत सिरोमनि त्रिभुवनपति कर जान।
ताहि मोह माया नर पाँवर करहिं गुमान॥
सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान॥
(मानस, उत्तर० ६२)

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पन रोपि॥

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुँ न पावा।
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा।
(मानस, उत्तर० ७१-७२)

नट कृत बिकट कपट खगराया। नट सेवकहिं न ब्यापइ माया।
हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥
(मानस, उत्तर० १०४)

काम-क्रोधादि का शमन भी केवल राम कृपा से संभव है, साधनों से वह संभव नहीं :

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा।
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।

यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई।

(मानस, किष्किंधा० २१)

राम के प्रसन्न होने पर मोक्ष आदि समस्त सुख तथा ज्ञान, विज्ञान, एवं वैराग्य आदि समस्त मुनि दुर्लभ गुण स्वत: प्राप्त हो जाते हैं :

जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें।

(मानस, अरण्य० ४२)

प्रसन्न होने पर राम कागभुशुंडि को यह सब बिना माँगे ही देने को तत्पर होते हैं:

कागभुसुंडि माँगु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।

अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि।

ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुरलभ गुन जे जग जाना।

आजु देउँ सब संसय नाहीं। माँगु जो तोहि भाव मनमाहीं।

(मानस, उत्तर० ८४)

और पुनः भक्ति का वर देते हुए उन्हें प्रदान भी करते हैं :

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें।

भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा।

जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहि साधन खेदा।

माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहि तोहि।

(मानस, उत्तर० ८५)

समस्त क्लेषहारिणी रामभक्ति भी बिना राम की कृपा के प्राप्त नहीं हो सकती :

निज अनुभव मैं कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई।

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।

प्रीति बिना नहि भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।

(मानस, उत्तर० ८९)

भक्ति रूपी चिन्तामणि बिना राम कृपा के प्राप्त नहीं होती :

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।

(मानस, उत्तर० १२०)

सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपाँ काहूँ एक पाई।

(मानस, उत्तर० १२६)

(४६) किंतु, रामकृपा की प्राप्ति कुछ कठिन नहीं है : यदि निर्मल हृदय से राम का भजन किया जावे, तो राम अवश्य कृपा करते हैं :

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।

(मानस, बाल० २००)

राम केवल एक वस्तु से प्रसन्न होते हैं—वह है उनका प्रेम, और प्रेम ही उन को प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त होता है :

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेहु जो जाननिहारा।

(मानस, अयोध्या० १३७)

स्वतः राम शबरी से कहते हैं कि वह केवल एक भक्ति का नाता मानते हैं :

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता।

(मानस, अरण्य० ३५)

भक्तों पर राम की कृपा निरंतर रहती है :

गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती।

(मानस, लंका० ३)

जो उनका दास हो जाता है और उनसे प्रेम करता है, उसके अवगुणों पर भी वे ध्यान नहीं देते :

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ।

(मानस, उत्तर० १)

अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति में अच्छाई यह है कि उसका अवलंबन ग्रहण करने से राम शीघ्र प्रसन्न होते हैं :

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।

(मानस, अरण्य० १६)

उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम ॥

(मानस, लंका० ११७)

इस तथ्य को राम कागभुशुंडि से अपने "सिद्धान्त" के रूप में बहुत सुंदर ढंग से व्यक्त करते हैं :

निज सिद्धांत सुनावउँ तोहीं। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोहीं।
मम माया संभव परिवारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।

कोउ सर्वज्ञ धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहिं बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥

पुरुष नपुंसक नारि नर जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

(मानस, उत्तर० ८७)

भक्त-शिशु के प्रति इस वात्सल्य से ही प्रेरित हो कर राम अपने सेवक के उस अभिमान का भी निवारण करते हैं जो उस की साधना में बाधक होता है, यद्यपि नारद के इसी अभिमान का निवारण करने के प्रयत्न में उन्हें अपने उस भक्त शिशु का शाप भी अंगीकार करना पड़ा :

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥..
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥

ससृत मूल सूलप्रद नाना । सकल सोक दायक अभिमाना।
ताते करहिं कृपानिधि दूरी । सेवक पर ममता अति भूरी।
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं । मातु चिराव कठिन की नाईं ।
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
व्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर ॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसीदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि।।

(मानस उत्तर० ७४)

राम की शरण म जाते हुए किसी का अपने घोर से घोर पापों के कारण भी डरने की आवश्यकता नहीं है, शरण म जाने पर वह सभी को ग्रहण कर लेते हैं

सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा । बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा।

(मानस, सु दर० ३९)

अपने इस शरणागत रक्षण धर्म का अत्यत सु दर और विशद नि पण राम स्वत विभीषण की शरणागति के अवसर पर करते हैं। सुग्रीव की तत्सबधी चेतावनी का निराकरण करते हुए वह कहते हैं

सखा नीति तुम्ह नीक बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी।
सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पामर पापमय तिन्हहिं बिलोकत हानि ॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजौं नहिं ताहू ।

(मानस, सु दर०४३ ४४)

उन का कथन है कि जीव जब ससार से व्याकुल हो कर उन की ओर अग्रसर होता है उसी समय उस के समस्त पापों का अत हो जाता है। जीव का रामोन्मुख होना ही उस के सपूर्ण अघों का निराकरण है, कारण यह है कि (समस्त पाप मन की ही विकृति से होते हैं, और उन का सस्कार भी मन ही पर पड़ता है, इस लिए) उस समय तक जीव रामोन्मुख होता ही नहीं जब तक कि उस का हृदय निष्कलुष और निर्मल नहीं हो जाता

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।
पापवत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोरि तेहि भाव न काऊ।
जो पै दुष्टहृदय सो होई। मेरे सनमुख आव कि सोई।

(मानस सु दर० ४४)

विभीषण से राम अपने इस प्रणत रक्षण धर्म का और भी स्पष्ट करते हैं

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि सभु गिरिजाऊ।
जौ नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।
जननी जनक बधु सुत दारा। तनु धनु भवनु सुहृद परिवारा।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं।
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धनु जैसे।
तुम्ह सारिखे सत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहि आन निहोरें।

(मानस, सु दर० ४८)

भगवान का यह प्रणत रक्षण धर्म ही भागवतों का एक मात्र अवलब है।

इस प्रकार शरणागत की रक्षा भगवान सभी अवसरों पर करते हैं। विभीषण पर महायुद्ध में रावण जब शक्ति का प्रयोग करता है, तो राम स्वत विभीषण के आगे आकर उस शक्ति का प्रहार सहन करते हैं

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा।
तुरत बिभीषण पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला।
लागि सक्ति मुरछा कछु भई। प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई।

(मानस, लका० ९४)

(५०) राम भक्त को अविद्या व्याप्त नहीं होती, उसे विद्या ही व्याप्त होती है, इस लिए उस का नाश नहीं होता, और वह भक्ति पथ में निरंतर अग्रसर होता चलता है :

हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या।
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढइ बिहंगबर।

(मानस, उत्तर० ७९)

(५१) राम भक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से कथा श्रवण से होता है

रघुपति भगति प्रेम परिमिति सी।

(मानस, बाल० ३१)

जननि जनक सिय राम प्रेम के।

(मानस, बाल० ३२)

कागभुसुंडि गरुड़ से रामभक्ति रूपी चिन्तामणि की प्राप्ति का उपाय

बताते हुए कहते हैं कि वह राम कथा रूपी खान से प्राप्त होती है :

पावन पर्वत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना।
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी।
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी।

(मानस, उत्तर० १२०)

और शिव कथा को समाप्त करते हुए पार्वती से कहते हैं कि इस कथा को मन लगा कर सुनने से राम भक्ति उत्पन्न होती है :

प्रनत कल्पतरु करुनापुंजा। उपजइ प्रीति राम पद कंजा।
मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई।

(मानस, उत्तर० १२६)

उनका कथन है कि वेदों ने जो अनेक साधन बताए हैं, उन सब का फल हरि-भक्ति ही है, और वह हरि-भक्ति कथा श्रवण से अनायास ही प्राप्त हो जाती है :

जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपाँ काहूँ एक पाई।
मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥

(मानस, उत्तर० १२६)

इसी लिए समस्त राम-भक्तों को यह इतना अधिक प्रिय हुआ करती है जितना संसार की कोई भी वस्तु नहीं .

राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं।

(मानस, उत्तर० १३०)

यह रामकथा भक्ति के अतिरिक्त वैराग्य और ज्ञान को भी दृढ़ता प्रदान करने वाली है, और इसलिए मोह-नदी के लिए सुंदर नौका के समान है :

बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुंदर तरनी।

(मानस, उत्तर० १५)

संसृति रोग के शमनार्थ इसीलिए यह संजीवनी के समान है :

रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी।
संसृति रोग सजीवन मूरी। राम कथा गावहिं श्रुति सूरी।

(मानस, उत्तर० १२९)

रामकथा समस्त सुखों को प्रदान करने वाली और भव का नाश करने वाली है; कथा की फलश्रुति कहते हुए शिव तथा स्वतः कवि कहते हैं :

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा।

(मानस, उत्तर० १२६)

एह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा।
भवभंजन गंजन संदेहा। जनरंजन सज्जनप्रिय एहा।

(मानस, उत्तर० १३०)

और फिर अंत में इस प्रकार कहते हुए ग्रंथ को समाप्त किया जाता है :

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञान भक्तिप्रदं।
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभं।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति ये।
ते संसार पतंग घोर किरणैर्दह्यन्ति नो मानवा.॥

(मानस, उत्तर० समाप्ति)

इस लिए, कवि का कथन है कि बिना हरिकथा के वस्तुतः मोह का नाश होता ही नहीं :

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।

(मानस, उत्तर० ६१)

इसी लिए कथा-श्रवण में अतृप्त अनुराग राम-भक्ति की सर्वप्रथम भूमिका मानी गई है, रामभक्ति की चौदह भूमिकाएँ बतलाते हुए वाल्मीकि सर्वप्रथम स्थान कथा-श्रवणानुराग को देते हैं :

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता।
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम कहुँ गृह रूरे।

(मानस, अयोध्या० १२८)

भागवत धर्म में अनुराग उत्पन्न होने के अनंतर उसको दृढ़ता देने के लिए भी राम लक्ष्मण से भक्ति-योग का निरूपण करते हुए 'श्रवण' का समर्थन करते हैं :

श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।

(मानस, अरण्य० १६)

और शबरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए भक्ति के नव भेदों में

पहला स्थान सत्संग को देते हुए राम कथानुराग को दूसरा ही स्थान देते हैं:

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।

(मानस, अरण्य० ३५)

इस कथा में श्रद्धा हरि-कृपा से ही होती है :

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई।

(मानस, उत्तर० १२९)

(५२) राम की यह कथा संत-समाज में ही प्राप्त होती है। 'साधु समाज-प्रयाग' का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसमें वह हरि तथा हर की कथा मिलती है जो समस्त विश्व का मंगल करने वाली होती है :

हरि हर कथा बिराजत बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी।

(मानस, बाल० २)

और पुनः रामकथा की प्रशंसा करते हुए बार-बार उसका संबंध वह संतों से बताता है :

सुजन सजीवन मूरि सुहाई।...
संत समाज पयोधि रमा सी।...
संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।...
राम चरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु॥

(मानस, बाल० ३१-२)

इस लिए राम-कथा जिन्हें प्रिय होती है, वे संतों का इतना ही आदर करते हैं जितना भगवान का, राज्यारोहण के अनंतर शिव राम का स्तवन करते हुए यही कहते हैं :

अवलंब भवंत कथा जिन्ह के। प्रिय संत अनंत सदा तिन्ह कें।

(मानस, उत्तर० १४)

इस सिद्धांत का एक सुंदर स्पष्टीकरण गोस्वामी जी ने गरुड़ को कागभुसुंडि के सत्संग के लिए शिव द्वारा प्रेरित कराते हुए किया है :

तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा।
सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।
जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।
नित हरि कथा होत जहँ भाई। पठवौं तहाँ सुनहु तुम्ह जाई।

रामकथा समस्त सुखों को प्रदान करने वाली और भव का नाश करने वाली है; कथा की फलश्रुति कहते हुए शिव तथा स्वतः कवि कहते हैं :

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा।
(मानस, उत्तर० १२६)

एह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा।
भवभंजन गंजन संदेहा। जनरंजन सज्जनप्रिय एहा।
(मानस, उत्तर० १३०)

और फिर अंत में इस प्रकार कहते हुए ग्रंथ को समाप्त किया जाता है :

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञान भक्तिप्रदं।
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभं।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति ये।
ते संसार पतंग घोर किरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥
(मानस, उत्तर० समाप्ति)

इस लिए, कवि का कथन है कि बिना हरिकथा के, वस्तुतः मोह का नाश होता ही नहीं :

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
(मानस, उत्तर० ६१)

इसी लिए कथा-श्रवण में अतृप्त अनुराग राम-भक्ति की सर्वप्रथम भूमिका मानी गई है; रामभक्ति की चौदह भूमिकाएँ बतलाते हुए वाल्मीकि सर्वप्रथम स्थान कथा-श्रवणानुराग को देते हैं :

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता।
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम कहुँ गृह रूरे।
(मानस, अयोध्या० १२८)

भागवत धर्म में अनुराग उत्पन्न होने के अनंतर उसको दृढ़ता देने के लिए भी राम लक्ष्मण से भक्ति-योग का निरूपण करते हुए 'श्रवण' का समर्थन करते हैं :

श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।
(मानस, अरण्य० १६)

और शबरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए भक्ति के नव भेदों में

पहला स्थान सत्संग को देते हुए राम कथानुराग को दूसरा ही स्थान देते हैं:

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।

(मानस, अरण्य० ३५)

इस कथा में श्रद्धा हरि-कृपा से ही होती है :

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई।

(मानस, उत्तर० १२९)

(५२) राम की यह कथा संत-समाज में ही प्राप्त होती है। 'साधु समाज-प्रयाग' का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसमें वह हरि तथा हर की कथा मिलती है जो समस्त विश्व का मंगल करने वाली होती है :

हरि हर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी।

(मानस, बाल० २)

और पुनः रामकथा की प्रशंसा करते हुए बार-बार उसका संबंध वह संतों से बताता है :

सुजन सजीवन मूरि सुहाई।...
संत समाज पयोधि रमा सी।...
संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।...
राम चरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।
मज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु॥

(मानस, बाल० ३१-२)

इस लिए राम-कथा जिन्हें प्रिय होती है, वे संतों का इतना ही आदर करते हैं जितना भगवान का; राज्यारोहण के अनंतर शिव राम का स्तवन करते हुए यही कहते हैं :

अवलंब भवंत कथा जिन्हकें। प्रिय संत अनंत सदा तिन्ह कें।

(मानस, उत्तर० १४)

इस सिद्धांत का एक सुंदर स्पष्टीकरण गोस्वामी जी ने गरुड़ को कागभुशुंडि सत्संग के लिए शिव द्वारा प्रेरित कराते हुए किया है :

तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा।
सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।
जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।
नित हरि कथा होत जहँ भाई। पठवौं तहाँ सुनहु तुम्ह जाई।

जाइहि सुनत सकल संदेहा। राम चरन होइहि अति नेहा।
बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(मानस, उत्तर० ६१)

इस लिए जिस प्रकार भक्ति के लिए वह हरि-कृपा को प्रारंभिक साधन के रूप में बताते हैं, उसी प्रकार संतों की अनुकूलता को भी, लक्ष्मण से भक्ति-योग का निरूपण करते हुए उस के साधनों की व्याख्या करने के पूर्व ही राम इस तथ्य की ओर निर्देश करते हैं :

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला।
(मानस, अरण्य० १६)

तुलसी संतों का स्थान शिव तथा विष्णु से नीचा नहीं मानते हैं, और एक स्थान पर शिव निंदा का प्रकरण आने पर अनवसर भी संत निंदा को वे उतना ही गर्हित कहते हैं जितना शिव अथवा विष्णु की निंदा को। शिव में वे वस्तुतः संत का आदर्श उपस्थित करते हैं. कदाचित् इस लिए भी वे शंभु निंदा का प्रकरण आने पर वे संत निंदा का उल्लेख भी करते हैं :

संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा।
काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई।
(मानस, बाल० ६४)

एक स्थान पर तो उन्हों ने संतों का स्थान अनंत के समान कहा है :

जानेसु संत अनंत समाना।
(मानस, उत्तर० १०९)

और एक अन्य स्थान पर संत को अनंत के साथ ही स्थान भी दिया है.

प्रिय संत अनंत सदा तिन्हके।
(मानस, उत्तर० १४)

और कहीं कहीं, तो उन्हें राम से भी अधिक कहा है :

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा।
(मानस, उत्तर० १२०)

फलतः इस में आश्चर्य ही क्या यदि शारदा तथा श्रुतियाँ भी उन के गुणों का गान नहीं कर सकतीं.

मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं श्रुति सारद तेते।
(मानस, अरण्य० ४६)

और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भी 'साधु महिमा' कहते हुए सकुचाते हैं :

विधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।

(मानस, बाल० ३)

कदाचित् यही कारण है कि 'मानस' में मंगलाचरण, सुर-वंदना, और गुरुवंदना, के बाद ही कवि ने संतों की वंदना की है और उन का गुण-वर्णन किया है।[1]

तुलसी संत भक्ति को राम-भक्ति के लक्षणों में एक प्रमुख स्थान देते हैं। लक्ष्मण से भक्ति-योग का निरूपण करते हुए तो राम उस का ऐसा उल्लेख करते ही हैं :

संत चरन पंकज अति प्रेमा।

(मानस, अरण्य० १६)

शबरी से 'नवधा भक्ति' का निरूपण करते हुए संत-संग को वे अपनी भक्ति का प्रथम रूप बतलाते हैं :

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।

(मानस, अरण्य० ३५)

और पुनः अयोध्या निवासियों के सम्मुख भक्ति-पथ का निरूपण करते हुए संत-संग को अपने भक्ति का एक प्रमुख लक्षण बताते हैं:

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।

(मानस, उत्तर० ४६)

(५३) संतों के लक्षण कवि ने स्थान-स्थान पर बताए हैं। पर उन का सर्व प्रधान लक्षण यह है कि वे निरंतर दूसरों का हित साधन करते हैं, साथ ही सज्जन सुखदाताओं तथा दुःखदाताओं दोनों में समान बुद्धि रखते हैं, और दोनों का हित करते हैं :

बदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।

अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥

(मानस, बाल० ३)

लोक-मंगल की कामना उन में प्रमुख रूप से पाई जाती है :

संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।

(मानस, बाल० ३)

[1] मानस, बाल० ३-५

और वे नि स्वार्थ भाव से दूसरों का हित करते हैं:

हेतु रहित परहित रत सीला।

(मानस, अरण्य० ४६)

विश्व-मैत्री की भावना उन में हुआ ही करती है:

श्रद्धा छमा मयत्री दाया।

(मानस, अरण्य० ४६)

सीतलता सरलता मयत्री।

(मानस, उत्तर० ३८)

उन के साथ जो कोई अपकार करते हैं, उन का भी वे उपकार ही करते हैं:

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करहिं भलाई।

(मानस, सुंदर० ४१)

निरादर तथा आदर दोनों में ही वह सुखी रहते हैं, और निंदा तथा स्तुति में वह समान भावना रखते हैं:

सम मानि निरादर आदर ही। सब संत सुखी बिचरंति मही।

(मानस, उत्तर० १४)

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।

(मानस, उत्तर० ३८)

संत तो उस चंदन के वृक्ष के समान होते हैं जो अपना समूल नाश करने वाले को भी अपनी स्वाभाविक शीतलता और सुगंधि प्रदान करता है:

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंधि बसाई।

(मानस, उत्तर० ३७)

संत दूसरों के ही दु ख से दुखी और दूसरों के ही सुख से सुखी हुआ करते हैं:

पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।

(मानस, उत्तर० ३८)

उन का प्रेम मानवमात्र तक नहीं सीमित रहता बल्कि वे जीवमात्र से निर्वैर हुआ करते हैं:

सम अभूत रिपु...

(मानस, उत्तर० ३८)

दूसरों का बचन, मन तथा कर्म से—सभी प्रकार से—उपकार करना संतों का सहज स्वभाव हुआ करता है। वे दूसरों के लिए, दूसरों को सुख पहुँचाने के

लिए, स्वतः कष्ट उठाया करते हैं :

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।
संत सहहिं दुख परहित लागी।

(मानस, उत्तर० १२१)

वे भोजपत्र के वृक्षों के समान होते हैं जो दूसरों को लाभ पहुँचाने के लिए नित्य ही यातनाएँ सहा करते हैं :

भूर्ज तरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला।

(मानस, उत्तर० १२१)

अधिकतर कवि संत-हृदय की तुलना नवनीत से किया करते हैं, किंतु हमारे कवि का कथन है कि वस्तुतः यह तुलना ठीक नहीं है, क्योंकि नवनीत तो कभी-कभी स्वतः भी द्रवित हो जाया करता है, किंतु सतजन अपने दुःख से कभी नहीं द्रवित होते—वे सदैव दूसरों के ही दुःख से द्रवित होते हैं :

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।

(मानस, उत्तर० १२५)

संतों के अन्य लक्षणों में सर्वप्रधान है उन का राम-भक्त होना :

मुद मंगल मय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।
राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा।

(मानस, बाल० २)

राम के चरणों को छोड़कर उन्हें और कुछ भी—यहाँ तक कि अपना शरीर भी—प्रिय नहीं होता :

तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेहु।

(मानस, अरण्य० ४५)

वे सर्वदा ही राम की लीलाओं का गान किया करते हैं और उन्हें सुना करते हैं :

गावहिं सुनहिं सदा मम लीला।

(मानस, अरण्य० ४६)

वे मन, कर्म, और वचन, से राम के भक्त हुआ करते हैं :

मम बच क्रम मन भगत अमाया।

(मानस, उत्तर० ३८)

उन्हें राम के चरणों में ममत्व हुआ करता है :

.. ममता मम पद कज ।

(मानस, उत्तर० ३८)

वे निष्काम भाव से राम के नाम म रत रहने वाले हुआ करते हैं .

बिगत काम मम नामपरायण ।

(मानस, उत्तर० ३८)

इसी लिए राम भक्तों के भी लक्षण वे ही बताए हैं जो सतों के, राम भक्तों को तो सत होना ही चाहिए; •

सब के प्रिय सब के हितकारी । दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ।

(मानस, अयोध्या० १३०)

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम ।

(मानस, सुंदर० ४८)

वैर न बिग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ।

(मानस, उत्तर० ४६)

राम भगत परहित निरत परदुख दुखी दयालु ।

(मानस, अयोध्या० २१९)

जे हरपहि पर सपति देखी । दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी ।

जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे । तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे ।

(मानस, अयोध्या० १३०)

सो अन्यय जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत ।

(मानस, किष्किंधा ३)

सतों के शेप लक्षण राम-भक्त के लक्षणों में आ जाते हैं, इस लिए उन के सबध मे किसी प्रकार के विस्तार की आवश्यकता यहाँ पर नहीं है। प्रमुख रूप से सतों की इन्हीं के दो विशेषताओं के कारण उन का सत्सग करने के लिए स्थान स्थान पर आदेश किया जाता है।

खलों का परिचय कराते हुए इसी प्रकार सतो के इन दो लक्षणों के विलोम प्रमुख रूप से सामने रक्खे जाते हैं :

बहुरि बंदि खल गन सति भाएँ । जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ ।

परहित हानि लाभ जिन्हकेरें । उजरें हरप बिपाद बसेरें ।

हरि हर जस राकेस राहु से । पर अकाज भट सहसबाहु से ।

जे पर दोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिन्हके मन माखी।
तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा।
उदय केतु सम हित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके।
पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।
उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।
जानु पानि जुग जोरि जन बिनती करइ सप्रीति ॥
(मानस, बाल० ४)

सुनहु असंतन केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिअ न काऊ।
तिन्हकर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई। ..
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा।
(मानस, उत्तर० ३९-४०)

और इसी प्रसग मे धर्म के सबध में अपना वक्तव्य देते हुए राम कहते हैं :

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर।
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भवभीरा।
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता।
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहिं सुर नर मुनि नायक।
संत असंतन्ह के गुन भाषे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे।
(मानस, उत्तर० ४१)

सत-असत सबधी प्रथम भेद पर कागभुशुडि भी बल देते हैं—बल्कि उसे ही वे वहाँ दोनों में एकमात्र भेद के रूप में बताते हैं :

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी।
भूर्ज तरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला।
सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई।
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी।
पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिमउपल बिलाहीं।
दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू।
संत उदय संतत हितकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी।
(मानस, उत्तर० १२१)

स्वतः कवि ने भी पहले अंतर पर इस प्रकार का बल दिया है :

> बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।
> बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुख देहीं।
>
> (मानस, बाल० ५)

संतों-असंतों के संबंध में इतने विस्तृत परिचय की आवश्यकता कवि ने कदाचित् इस लिए समझी है कि जिस प्रकार संतों का संग प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, उसी प्रकार असंतों के संग से बचने के लिए भी प्रत्येक साधक को सतर्क रहना चाहिए ; और यह बात बिना दोनों के गुण-दोष ज्ञान के हो नहीं सकती, इस लिए वे कहते हैं :

> खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा।
> तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।...
> जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार।
> संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥
>
> (मानस, बाल० ६)

जिस प्रकार खलों का त्याग इस साधना में आवश्यक है उसी प्रकार नारी का भी। वस्तुतः किसी अज्ञात कारण से कवि ने आवश्यकता से अधिक, और कभी-कभी अपने प्रसंग से कुछ बाहर निकल कर भी, नारी-भर्त्सना की है। ऊपर हम इस संबंध में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं, इस लिए यहाँ पुनरुक्ति अनावश्यक होगी।[1]

(५४) भक्ति संतों के अनुकूल होने पर ही प्राप्त होती है :

> भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होहिं अनुकूला।
>
> (मानस, अरण्य० १६)

बिना संतों की सहायता के भक्ति किसी को नहीं प्राप्त हुई है; वस्तुतः संतों ने ही ग्रंथ-पयोनिधि का मंथन कर उस कथा-रूपी सुधा को निकाला है जिस की मधुरता भक्ति है :

> राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा।
> सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई।
> अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा।

[1] देखिए ऊपर पृ० २११

मह्य पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं॥
(मानस, उत्तर० १२०)

भक्ति बिना सत्संग के नहीं हो सकती, और सत्संग का प्राप्त होना ही संसृति का अंत है :

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता।
(मानस, उत्तर० ४५)

बड़े भाग पाइअ सतसंगा। बिनहि प्रयास होइ भवभंगा।
(मानस, उत्तर० ३३)

इस लिए सत्संग ही समस्त सुख का मूल है और वही समस्त साधनों का सुंदर फल है :

सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला।
(मानस, बाल० ३)

इस सत्संग से जो सुख प्राप्त होता है, अन्य सुखों की तो उस के साथ कोई तुलना ही नहीं हो सकती; यह तो स्वर्ग और अपवर्ग (निर्वाण) के सुख से भी बड़ा है :

संत मिलन सम सुख जग नाहीं।
(मानस, उत्तर० १२१)

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥
(मानस, सुंदर० ४)

इसी लिए शिव भी राम की भक्ति के साथ उन से उस सत्संग की याचना करते हैं जो उस का अनिवार्य साधन है :

बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्री रंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥
(मानस, उत्तर० १४)

यह सत्संग भी राम कृपा के बिना प्राप्त नहीं होता :

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।
(मानस, बाल० ३)

हरि कृपा के बिना सत कभी नहीं मिलते। हनुमान-दर्शन पर विभीषण यही कहते हैं :

अब मोहि भा भरोस हनुमता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।
(मानस सुंदर० ७)

कागभुशुंडि भी गरुड से यही कहते हैं

निगमागम पुरान मत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा।
संत बिसुद्ध मिलहिं पै तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही।
(मानस, उत्तर० ६९)

और पार्वती से शिव भी इसी बात का समर्थन करते हैं

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥
(मानस, उत्तर० १२५)

"पुण्य पुंज" से भी वे प्राप्त हो सकते हैं—किंतु "पुण्य पुंज" से तो कदाचित् हरिकृपा भी प्राप्त हो जाती होगी :

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता।
(मानस, उत्तर० ४५)

(५५) इस साधन पथ में गुरुकृपा भी बड़ी सहायक हुआ करती है : उन के चरण-नख का प्रकाश मोहतम का नाश करता है, और उस रामचरित्र का सम्यक् परिचय कराता है जो अन्यथा अधिकांश रहस्यपूर्ण हुआ करता है

श्री गुर पद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।
सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।
जथा सुअंजन अंजि दृग साधक, सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान॥
(मानस, बाल० १)

इसी कारण गुरु की समता सूर्य से करते हुए कवि उन के उपदेश रूपी किरणों को मोहांधकार का नाश करने वाला बताता है

बंदउँ गुरु पदकंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर॥
(मानस, बाल० १)

और इसी लिए गुरु के चरणों की धूलि को वह भव-नाशक कहता है :

अमिअ मूरि मय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू।

(मानस, बाल० १)

इन गुरु की सहायता से समस्त संशय-भ्रम-समुदाय उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार शरद ऋतु के आने पर बरसाती कीड़े-मकोड़े नष्ट हो जाते हैं :

भूमि जीव संकुल रहे गए सरद रितु पाइ।
सदगुरु मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ॥

(मानस, किष्किंधा १७)

कवि का तो कथन है, गुरु की सहायता के बिना किसी भी व्यक्ति के लिए—चाहे वह ब्रह्मा या शंकर के ही समान क्यों न हो—भवसागर को पार करना असंभव है :

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।

(मानस, उत्तर० ९३)

इसी लिए राम-भक्ति की चौदह भूमिकाओं में से एक में गुरु-भक्ति को स्थान देते हुए वाल्मीकि गुरु को आराध्य से भी बढ़कर समझने का उल्लेख करते हैं:

तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी।

(मानस, अयोध्या० १२९)

और राम स्वतः शबरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए कथानुराग और सत्संग के बाद ही इस को भक्ति के तीसरे स्वरूप के रूप में स्थान देते हैं :

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।

(मानस, आरण्य० ३५)

(५६) नाम-स्मरण राम भक्ति के प्रादुर्भाव के लिए एक अत्यंत उपयोगी और सुलभ साधन है। 'मानस' के प्रारंभ में ही[1] नाम का विषय लेकर कवि ने जितनी युक्ति और सहृदयता पूर्वक उस का निर्वाह किया है उस से यह ज्ञात होता ही है कि महाकवि नीरस से नीरस विषय को कितना सरल बना कर उपस्थित कर सकता है, साथ ही नाम के प्रति उस का असीम और अनुपम अनुराग भी दिखाई पड़ता है। पूरा प्रकरण ऐसा है कि कदाचित् उस का प्रत्येक अंश यहाँ पर दिया जा सकता है। अनेक दृष्टिकोणों से विचार कर

[1] मानस, बाल० १९–२६

कवि ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि "राम" नाम न केवल निर्गुण ब्रह्म से बड़ा है बल्कि सगुण ब्रह्म राम से भी बड़ा है—और यहाँ पर कदाचित् वह अपनी एक रहस्य मयी विचार धारा का किंचित् परिचय देता है। नाम स्मरण को वह भक्ति का एक अनिवार्य अंग उसी प्रकार बताता है जिस प्रकार सावन और भादों मास वर्षा ऋतु के लिए हुआ करते हैं :

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास॥

(मानस, बाल० १९)

तुलसीदास के लिए तो 'राम' नाम के दोनों अक्षर राम लक्ष्मण के समान प्रिय हैं :

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के।

(मानस, बाल० २०)

और, उन की भक्ति रूपी सुंदरी के लिए वे कर्णाभूषणों के समान हैं

भगति सुतिय कल करन बिभूषन।

(मानस, बाल० २०)

नाम-स्मरण से रूप ज्ञान के बिना भी स्नेह का प्रादुर्भाव हो जाता है, इसी लिए नाम स्मरण वास्तविक भक्ति का एक सुलभ साधन है :

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें।

(मानस, बाल० २१)

राम भक्त चार प्रकार के हुआ करते हैं ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त, इन चारों प्रकार के भक्तों के लिए नाम एक प्रमुख आधार हुआ करता है

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।
ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ।
साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ।
जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।
राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।
चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेष पिआरा।

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥
(मानस, बाल० २२)

नाम की महिमा तो ऐसी है कि राम भी उस का गान नहीं कर सकते :

कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई।
(मानस, बाल० २६)

कलिकाल में नाम-स्मरण अन्य समस्त आध्यात्मिक साधनों से अधिक प्रभाव-शाली है :

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू।
(मानस, बाल० २७)

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
(मानस, उत्तर० १०२)

शिव काशी में मुक्ति के लिए इसी "राम" मंत्र का उपदेश किया करते हैं :

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू।
(मानस, बाल० १९)

इसी नाम के बल पर काशी में मृत्यु प्राप्त करते हुए व्यक्ति को वे अनंत शांति और सुख प्रदान करते हैं :

कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी।
(मानस, बाल० ११९)

नाम-स्मरण से भवसागर को पापी भी तर जाते हैं :

पापिउ जा कर नाम सुमिरहीं। अति अपार भव सागर तरहीं।
(मानस, किष्किंधा० २९)

भवसागर को पार करने के लिए राम का नाम सेतु के *समान* है, इस का आश्रय लेकर अनायास ही जीव उसको पार कर जाता है :

सुनहु भानुकुल केतु जामवंत कर जोरि कह।
नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भव सागर तरहिं॥
(मानस, लंका० १)

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामि हे।
(मानस, उत्तर० १३)

इस नाम ने गणिका, अजामिल, व्याध, गीध, और गज जैसे खलों और पापियों को तार दिया, यह कहते हुए तो गोस्वामी जी थकते ही नहीं। ग्रंथ की समाप्ति ही वह इसी नाम के नाते राम को नमस्कार करते हुए करते हैं :

पाई न केहिं गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥

(मानस उत्तर० १३०)

और अपनी रचना में वह केवल एक "राम" नाम का ही गुण बतलाते हैं—अर्थात् केवल इसी नाते वह रचना में प्रवृत्त होते हैं :

भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्हके बिमल बिबेक॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।
मगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी।

(मानस, बाल, ९ १०)

और इसी के अनुसार वे काव्य रचना सबधी अपना सिद्धांत निरूपित करते हैं :

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी।
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस सत गुन ग्राही।

(मानस, बाल० १०)

भगवान के समस्त नामों में से "राम" हमारे कवि को सर्वाधिक प्रिय है, इसी कारण वह नारद से तद्विषयक एक वर की याचना भी करवाता है

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका।
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका।
राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम॥

(मानस, अरण्य० ४२)

इसलिए कवि के अनुसार अन्य धर्माचरणों के साथ ही "राम" मत्र-जाप राम भक्ति की एक आवश्यक भूमिका है, वाल्मीकि इसको राम भक्ति की चौदह

भूमिकाओं में पाँचवाँ स्थान देते हुए कहते हैं :

मन्त्र राजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।
सबु करि माँगहिं एक फलु रामचरन रति होउ।
तिन्हके मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥

(मानस, अयोध्या० १२९)

राम स्वत. नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए उसे पाँचवाँ स्थान देते हैं :

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।

(मानस, अरण्य० ३६)

और पुनः वे भक्ति पथ का निरूपण करते हुए अपने "नाम रत" को "परानंद पूर्ण" भक्तों में स्थान देते हैं :

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

(मानस, उत्तर० ४६)

(५७) स्वरूपासक्ति अर्थात् राम के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार करने की प्रबल आकांक्षा भक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है : रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में दूसरा स्थान वाल्मीकि इसी को देते हैं :

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक।

(मानस, अयोध्या० १२८)

(५८) यश-कीर्तनासक्ति भक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है; उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में तीसरा स्थान वाल्मीकि इसी को देते हैं :

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकुताहल गुन गन चुनइ बसहु राम हियँ तासु॥

(मानस, अयोध्या० १२८)

लक्ष्मण से भक्तियोग का निरूपण करते हुए इस गुणगान को राम अपनी भक्ति के लक्षणों में पाँचवाँ स्थान देते हैं :

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा।

(मानस, अरण्य० १६)

शबरी से नवधा-भक्ति का निरूपण करते हुए राम अपने *"गुनगन गान"* को

भक्ति के स्वरूपों में चौथा स्थान देते हैं :

चौथि भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान॥

(मानस, अरण्य० ३५)

अवध-निवासियों से भक्तिपथ का निरूपण करते हुए राम पुनः अपने गुनग्राम रत को "परानंद पूर्ण" भक्तों में स्थान देते हैं :

मम गुन ग्राम नाम रत...

(मानस, उत्तर० ४६)

अपने अंतःकरण के तम की शांति के लिए तुलसीदास ने भी इसी का अवलंबन लिया :

मत्वातद्रघुनाथ नाम निरतं स्वान्तस्तमःशान्तये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।

(मानस, उत्तर० समाप्ति)

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहि होई।...
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी।

(मानस, बाल० ३१)

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबंधमतिमञ्जलमातनोति।

(मानस, बाल० ९)

जीवन का एक मात्र लक्ष्य तुलसीदास ने इसी को बनाया, और उन्होंने अनेक छंदों में और अनेक काव्य-परिपाटियों में इसी लिए राम-कथा का गान किया

(५६) पूजासक्ति अर्थात् रामार्चन में अनुराग रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है ; वाल्मीकि इस को रामभक्ति की चौदह भूमिकाओं से चौथी में स्थान देते हैं :

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा।
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।..
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा।..
राम बसहु तिन्हके मन माहीं।

(मानस, अयोध्या० १२

(६०) रामतीर्थों की यात्रा रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमि है; उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में से चौथी में इसे भी स्थान देते वाल्मीकि कहते हैं :

धरम रामतीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं।
(मानस, अयोध्या० १२९)

राम-तीर्थों का सेवन भव-शांति के लिए भी एक प्रयासहीन साधन बताया जाता है; स्वतः राम ने स्वसामीप्य तथा स्वसालोक्य की प्राप्ति के लिए सरयू-स्नान तथा अयोध्या-निवास को सब से सुगम उपाय बताया है :

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा।
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना।
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि सरजू बह पावनि।
जा मज्जन तें बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।
अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी।
(मानस, उत्तर०)

स्वकृत सेतु को भी राम इसी प्रकार महत्व देते हैं :

मम कृत सेतु जो दरसनु करिहीं। सो बिनु श्रम भवसागर तरिहीं।
(मानस, लंका० ३

(६१) ब्राह्मण-सेवा को भी तुलसीदास भक्ति की आवश्यक भूमिकाओं में स्थान देते हैं। वाल्मीकि रामभक्ति की चौदह भूमिकाओं में से इसे चौथ और पाँचवाँ स्थान देते हैं :

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी।
(मानस, अयोध्या०.१२९

बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना।
(मानस, अयोध्या० १२९

स्वतः राम कबंध से "निज धर्म" का निरूपण करते हुए ब्राह्मण-सेवा को असाधारण महत्व देते हैं :

सुनु गंधर्ब कहउँ मैं तोही। मोहिं न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही।
मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहिं समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव॥
सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।
(मानस, अरण्य० ३३-३४)

और अन्यत्र अपने मायाप्रिय भक्तों की अन्य विशेषताओं के साथ एक विशेषता यह भी बताते हैं कि उन में द्विजपद-प्रेम होना चाहिए :

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम ॥
(मानस, सुंदर० ४८)

शिव ने भी कागभुशुंडि को भगवत्-कृपा प्राप्ति के लिए द्विज-सेवा का उपदेश किया है :

सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई।
अब जनि करहि बिप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना।
(मानस, उत्तर० १०९)

द्विज-द्रोही राम-कथा सुनने का पात्र नहीं है :

द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।
(मानस, उत्तर० १२८)

(६२) माया (अनात्म विषयों) से मन का निर्लिप्त रखना रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है; वाल्मीकि रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में इसे छठा स्थान देते हैं :

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया।
(मानस, अयोध्या० १३०)

लक्ष्मण से भक्तियोग का विवेचन करते हुए राम भी इस भावना को अपनी भक्ति के लक्षणों में छठा स्थान देते हैं; और कहते हैं :

काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें।
(मानस, अरण्य० १६)

और पुनः शबरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए भक्ति का छठा भेद राम इसी को बताते हैं :

छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा।
(मानस, अरण्य० ३६)

भक्तिपक्ष का निरूपण करते हुए राम अपने अंतिम संदेश में भक्त का लक्षण इस प्रकार देते हैं :

अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी।
(मानस, उत्तर० ४६)

और "गत ममता मद मोह" को परानंद का अधिकारी बताते हैं :

गत ममता मद मोह ।

ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ॥

(मानस, उत्तर० ४६)

राम सुग्रीव से भी विभीषण की शरणागति के अवसर पर मन की निर्मलता अपनी प्राप्ति के लिए अनिवार्य बताते हैं :

निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ।

(मानस, सुंदर० ४४)

(६३) लोक-निरपेक्षा युक्त अनन्य बुद्धि रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है, वाल्मीकि ने रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में इसे सातवाँ स्थान दिया है :

सब के प्रिय सब के हितकारी । दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ।

कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी । जागत सोवत सरन तुम्हारी ।

तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं । राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ।

(मानस, अयोध्या० १३०)

शबरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए राम इस भावना को नवम स्थान देते हैं :

नवम सरल सब सन छलहीना । मम भरोस हियँ हरष न दीना ।

(मानस, अरण्य० ३६)

भक्ति पथ का निरूपण करते हुए अपने अंतिम संदेश में राम पुनः इस का समावेश इस प्रकार करते हैं :

सरल सुभाव न मन कुटिलाई । जथा लाभ संतोष सदाई ।

मोर दास कहाइ नर आसा । करइ तौ कहहु कवन बिस्वासा ।

बैर न बिग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ।

(मानस, उत्तर० ४६)

(६४) वासनाहीन तथा व्यापक प्रेम रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है, रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में वाल्मीकि इसे आठवाँ स्थान देते हैं :

जननी सम जानहिं पर नारी । धनु पराव बिष तें बिष भारी ।

जे हरषहिं पर संपति देखी । दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी ।

जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे।

(मानस, अयोध्या० १३०)

(६५) सर्वस्व भाव, अर्थात् समस्त प्रेम सूत्रों को एकत्र कर उन्हें राम में स्थापित करना, रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है, रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में वाल्मीकि इसे नवाँ स्थान देते हैं :

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

(मानस, अयोध्या० १३०)

लक्ष्मण से भक्तियोग का निरूपण करते हुए राम इस भावना को चौथा स्थान देते हैं :

गुर पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा।

(मानस, अरण्य० १६)

विभीषण को शरण में लेते हुए अपने प्रेमपात्र की व्याख्या भी राम इसी प्रकार करते हैं :

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक नहिं भय मन माहीं।
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धन जैसे।

(मानस, सुंदर० ४८)

(६६) लोक-संग्रह वृत्ति भक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है, रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में इसे वाल्मीकि दसवाँ स्थान देते हैं :

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं।
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्हकर मनु नीका।

(मानस, अयोध्या० १३१)

शबरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए राम इस भावना को आठवाँ स्थान देते हैं :

आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा।

(मानस, अरण्य० ३६)

अन्यत्र भी राम भक्ति-पथ का निरूपण करते हुए इसे भक्ति की आवश्यक भूमिकाओं में बताते हैं :

जथा लाभ संतोष सदाई।

(मानस, उत्तर० ४६)

राम अपने प्राणप्रिय भक्तों की विशेषताओं की व्याख्या करते हुए भी नीति तत्परता का उल्लेख करते हैं

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥

(मानस सुंदर० ४८)

राम की भक्ति के लिए संसार त्याग आवश्यक नहीं। लोक में ही उस का निर्वाह उसकी चरम सीमा तक हो सकता है, शर्त इतनी ही है कि साधक के प्रेम का क्षेत्र संकुचित न हो, और वह प्राणिमात्र में अपने उपास्य का दर्शन करता हुआ उन की सेवा में तत्पर हो। हनुमान से राम कहते हैं

सो अनन्य जाके अस मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किंधा० ३)

अपने 'सखाओं' को दीक्षा देते हुए वह इसी तथ्य को इस प्रकार और भी स्पष्ट करते हैं

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहिं दृढ़ नेम।
सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम॥

(मानस, उत्तर० १६)

निषादराज को भी विदा करते हुए वह इसी प्रकार कहते हैं

जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू।

(मानस उत्तर० २०)

'धर्म' की व्याख्या करते हुए अन्यत्र वह परहित-साधन को ही धर्म का चरम स्वरूप और परपीड़न को भव-यातना का निश्चित कारण बताते हैं

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा।

(मानस, उत्तर० ४१)

यही कारण है कि संतों का लक्षण बताते हुए तुलसीदास ने परोपकार-वृत्ति को उनका एक सर्वप्रमुख लक्षण बताया है। तुलसीदास की लोक-मंगल की भावना का यह एक सुंदर प्रमाण है। राम की अनन्य भक्ति जन लोक के

बीच प्रस्फुटित होती है तो तुलसीदास के अनुसार यह अवश्यंभावी है कि उसका विकास परहित साधन की ओर हो :

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा ।

(मानस, उत्तर० १२१)

(६७) स्वदासानुभूति तथा भागवत-भक्ति भी रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है। वाल्मीकि इसे रामभक्ति की उपर्युक्त चौदह भूमिकाओं में से ग्यारहवीं भूमिका मे स्थान देते हैं :

गुन तुम्हार समुझइ निजदोषा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही । तेहि उर बसहु सहित बैदेही ।

(मानस, अयोध्या० १३१)

राम के भक्तों के गुणों और उनके चरित्रों का मनन करने से भी राम भक्ति प्राप्त होती है। विशेष करके भरत का चरित्र इस संबंध में उल्लेखनीय है। स्वतः तुलसीदास कहते हैं :

कहत सुनत सति भाउ भरत को । सीय राम पद होइ न रत को ।
सुमिरत भरतहिं प्रेमु राम को । जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को ।

(मानस, अयोध्या० ३०४)

और

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं ।
सीयराम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति ॥

(मानस, अयोध्या० ३२६)

(६८) वैराग्य-वृत्ति अर्थात् सांसारिक संबंधों से ममत्व का परित्याग भी रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है। वाल्मीकि ने रामभक्ति की चौदह भूमिकाओं में इसे बारहवाँ स्थान दिया है :

जाति पाँति धनु धरम बड़ाई । प्रिय परिवार सदनु सुखदाई ।
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई । तेहि के हृदय बसहु रघुराई ।

(मानस, अयोध्या० १३१)

भक्ति-पथ का निरूपण करते हुए राम स्वर्ग-अपवर्ग को भी विषयों की श्रेणी में स्थान देते हैं और उनकी उपेक्षा का उपदेश करते हैं :

तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ।

(मानस, उत्तर० ४६)

(६६) तन्मयता रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है, राम भक्ति की चौदह भूमिकाओं में वाल्मीकि इस को तेरहवाँ स्थान देते हैं :

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा।

(मानस अयोध्या० १३१)

शबरी से नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए राम इस सर्वात्म भावना को सातवाँ स्थान देते हैं

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मो तें अधिक संत कर लेखा।

(मानस, अरण्य० ३६)

(७०) शुद्ध प्रेमाभक्ति रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है, भक्ति की भूमिकाओं में वाल्मीकि इसे चौदहवाँ (अंतिम) स्थान देते हैं

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(मानस, अयोध्या० १३१)

लक्ष्मण का भक्तियोग का उपदेश करते हुए राम भक्ति के लक्षणों में इस भावना का भी उल्लेख करते हैं :

बचन कर्म मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम।
तिन्हके हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

(मानस अरण्य० १६)

(७१) भक्ति के साधन तीन प्रकार के कहे जा सकते हैं : कर्म-मूलक, ज्ञान मूलक तथा भक्ति-मूलक। वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए ब्राह्मणों में प्रीति रखने से मन विषयों से विरक्त होता है, विरक्ति से भागवत धर्म में अनुराग होता है, उसे श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन नामक नौ साधन और पुष्ट करते हैं, तब पुष्ट भक्ति के लक्षण प्रकट होते हैं :

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती।
एहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।

(मानस, अरण्य० १६)

अन्यत्र पुनः रामभक्ति की प्राप्ति की ओर इस प्रकार संकेत किया जाता है :

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म व्रत धारी।
धर्मसील कोटिन्ह महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई।
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई।
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ।
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी।
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।
सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया।

(मानस, उत्तर० ५४)

इस को कर्म-मूलक भक्तिमार्ग कहा जा सकता है।

तुलसीदास ने रामभक्ति के लिए पुनः 'विवेक मार्ग' का अनुमोदन किया है :

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।

(मानस, अयोध्या० ९३)

इसे ज्ञान-मूलक भक्तिमार्ग कहा जा सकता है।

गुरु के आदेशों का विश्वासपूर्वक पालन करते हुए विषयों की आशा (मृगतृष्णा) का नाश होता है, उस स्थिति में यदि रघुपति भक्ति रूपी औषधि का श्रद्धापूर्वक सेवन किया जावे तब मानसिक रोग नष्ट हो जाते हैं। मानसिक नीरोगता प्राप्त होने पर विराग और सुमति की वृद्धि होती है और विषयों की आशा (मृगतृष्णा) सर्वथा जाती रहती है। उस स्थिति में यदि विमल ज्ञान (विज्ञान) की सहायता ली जाती है तो अविरल हरिभक्ति प्राप्त हो जाती है—यह हरि भक्ति जो समस्त हृदय को आप्लावित कर देती है :

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संजोगा।
सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषै की आसा।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त कोटि जतन नहिं जाहीं।
जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई।
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई।
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई।

(मानस, उत्तर० १२२)

इस अंतिम मार्ग को भक्ति-मूलक भक्तिमार्ग कहा जा सकता है।

।(७२) शिवभक्ति रामभक्ति के लिए एक स्वतंत्र भूमिका है, राम शिवलिंग की स्थापना के समय स्वतः कहते हैं :

संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।

(मानस, लंका० २)

राम और शिव में से एक की भक्ति और दूसरे से द्रोह तुलसीदास के राम को कदापि सह्य नहीं हैं

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

(मानस, लंका० २)

रामेश्वर का दर्शन ही राम के साथ सालोक्य के लिए पर्याप्त है :

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं।

(मानस, लंका० ३)

और उसी प्रकार गंगाजल से शिव का अभिषेक सायुज्य के लिए :

जो गंगा जल आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि।

(मानस, लंका० ३)

निष्काम भाव से तथा निष्कपट हृदय से शिव की सेवा करने वाले तो राम-भक्ति के अधिकारी होते हैं—जो समस्त प्रकार की मुक्ति से भी श्रेष्ठ मानी गई है:

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि।

(मानस, लंका० ३)

अयोध्या निवासियों से भक्ति पथ का निरूपण करते हुए राम अपने इस गुप्त मत का प्रकटीकरण इस प्रकार करते हैं

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

(मानस, उत्तर० ४५)

शिव को विश्वास और पार्वती को श्रद्धा का रूप कहते हुए तुलसीदास कहते हैं कि इन की सहायता के बिना सिद्ध जन भी अपने अंतःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते :

भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

(मानस, बाल० आरंभ)

घने कमल के पत्तों के ऊपर फैल जाने पर तालाब-जल नहीं दिखाई पड़ता :

पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म ।
मायाछन्न न देखिऐ जैसें निर्गुन ब्रह्म ॥

(मानस, अरण्य० ३९)

इसी लिए वेद भी अज, अद्वैत, अनुभवगम्य, और मन के अविषय निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या और उस को जानने की चेष्टा छोड़ कर उस के सगुण (अवतारी) लीला का ही गान करते हैं, और इसी लिए वे राम से केवल उन की भक्ति की याचना करते हैं :

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं ।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ।
करनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं ।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं ॥

(मानस, उत्तर० १३)

राम की भक्ति भी उस समय तक वस्तुतः अपूर्ण है जब तक राम के इस पारमार्थिक स्वरूप का ध्यान अबाध रूप से हृदय में नहीं बना रहता। इसी लिए सुतीक्ष्ण राम से इस प्रकार का वर पा कर भी कि :

अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना । होहु सकल गुन ज्ञान निधाना ।

कहते हैं

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा । अब सो देहु मोहिं जो भावा ।
अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥

(मानस, अरण्य० ११)

राम के इस पारमार्थिक स्वरूप का ध्यान इतना अमोघ है कि किसी भी भाव से इस के निरंतर स्मरण से जीव को परम गति प्राप्त हो जाती है ; निशिचर गण राम का स्मरण वैर भाव से करते हैं, फिर भी इस स्मरण के कारण राम उन्हें परम गति देते हैं :

उमा राम मृदुचित करुनाकर । बयर भाव सुमिरत मोहिं निसिचर ।
देहिं परम गति सो जियँ जानी । अस कृपालु को कहहु भवानी ।

(मानस, लंका० ४५)

राम का निरंतर स्मरण करते-करते राक्षस रामाकार हो जाते हैं, इसी

लिए वे मुक्त हो जाते हैं और उन के समस्त भव-बंधन छूट जाते हैं :

सुधावृष्टि भइ दुहुँ दल ऊपर। जिए भालु कपि नहिं रजनीचर।
रामाकार भए तिन्हके मन। मुक्त भए छूटे भव बंधन।

(मानस, लंका० ११४)

राम के सगुण (अवतारी) रूपों में से किन्हीं के ध्यान का विषय उन का बालरूप होता है, जैसे शंकर और कागभुशुंडि के लिए, शंकर कहते हैं :

बंदउँ बालरूप सोइ रामू।

(मानस, बाल० ११२)

कागभुशुंडि कहते हैं :

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं।
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ।
जन्म महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई।
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा।

(मानस, उत्तर० ७५)

और कोई उन के भूपरूप के उपासक होते हैं। सुतीक्ष्ण उन के भूपरूप के उपासक हैं; राम जब अपना भूपरूप अन्तर्हित कर लेते हैं और उन के हृदय मे चतुर्भुजरूप का आविर्भाव करते हैं तो वे आकुल हो उठते हैं :

भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा।
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनिकर जैसें।

(मानस, अरण्य० १०)

और कोई उन से उन के काननचारी रूप के ही ध्यान की याचना करते हैं :

जदपि बिरज व्यापक अबिनासी। सबके हृदयँ निरंतर बासी।
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसहुँ मनसि मम काननचारी।

(मानस, अरण्य० ११)

(७६) योगाभ्यास के द्वारा वह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो मोक्ष का कारण होता है :

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।

(मानस, अरण्य० १६)

योग से चित्त की शुद्धि होती है ; किंतु राम के भक्त राग, लोभ, मान, मद से

रहित और सपत्ति विपत्ति में समत्व बुद्धि रखने वाले होते हैं, इस लिए उन्हें योग का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती :

नहिं राग न लोभ न मान मदा। तिन्हके सम बैभव वा बिपदा।
एहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा।
(मानस, उत्तर० १४)

(७७) ब्रह्मा भी राम के भक्त हैं—शिव तो राम के भक्त हैं ही—वे रावण-वध के अनंतर आकर राम का स्तवन करते हैं,[1] और विष्णु भी राम के भक्त कहे गए हैं।[2]

(७८) ब्रह्मादि भी अन्य जीवों की भाँति बाह्य पदार्थों में सत्य बुद्धि रखते हैं, राम से स्तुति करते हुए ब्रह्मा कहते हैं :

अब दीनदयाल दया करिऐ। मति मोरि बिभेदकरी हरिऐ।
जेहि ते बिपरीत क्रिया करिऐ। दुख सो सुख मानि सुखी चरिऐ।
(मानस, लका० १११)

शिव भी इस दुख सुख और राग द्वेष के द्वन्द्व के नाश के लिए राम से याचना करते हैं :

रघुनद निकदय द्वन्द्व घन। महिपाल बिलोकय दीन जनं।
(मानस, उत्तर० १४)

माया से वे भी मोहित हुआ करते हैं :

सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान॥
(मानस, उत्तर० ६२)

विष्णु के सबध में भी यही बात कही जाती है, जब तुलसीदास यह कहते हैं कि राम के चित्स्वरूप को ब्रह्मा और शिव भी नहीं जानते उस समय वह विष्णु को भी उन्हीं के समकक्ष रखते हैं और अनधिकारियों मे उनकी भी गणना करते हैं :

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहिं को जाननि हारा।
चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।
(मानस, अयोध्या० १२७)

[1] मानस, लका० १११ [2] देखिए ऊपर पृ० ३९२

(७६) मुक्ति के तीन भेद प्रमुख रूप से हमारे सामने आते हैं : सायुज्य, सालोक्य और सारूप्य।

शबरी योगाग्नि में देह-त्याग कर सायुज्य प्राप्त करती है :

तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।

(मानस, अरण्य० ३६)

कुंभकर्ण भी इसी सायुज्य को प्राप्त करता है :

तासु तेज प्रभु बदन समाना।

(मानस, लंका० ७१)

और रावण भी इसी परम गति को प्राप्त करता है :

तासु तेज समान प्रभु आनन।

(मानस, लंका० १०३)

बालि को सालोक्य प्राप्त होता है :

राम बालि निज धाम पठावा।

(मानस, किष्किंधा० ११)

विभीषण को भी राम इसी का वर देते हैं, और संतों को साधारणतः यही प्राप्त होता है :

करेउ कल्प भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं॥

(मानस, लंका० ११६)

अंत काल रघुपतिपुर जाहीं।

(मानस, उत्तर० १५)

...बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं।

(मानस, उत्तर० १३०)

जटायु को सारूप्य की प्राप्ति होती है :

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।
स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी।

(मानस, अरण्य० ३२)

पर साथ ही उसे सालोक्य की प्राप्ति होती है; राम उसे वर यही देते हैं और वह अंत में 'हरिधाम' को जाता भी है :

तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरन कामा।

(मानस, अरण्य० ३१)

अबिरल भगति माँगि बर गीध गयउ हरि धाम।

(मानस, अरण्य० ३२)

और जब पीछे उस की सद्गति का उल्लेख किया जाता है तो कहा जाता है कि वह 'हरिपुर' गया

हरिपुर गयउ परम बड़ भागी।

(मानस, किष्किंधा० २७)

राम के भक्त अभेदयुक्त मोक्ष का निरादर कर के राम से भेद-भक्ति की याचना करते हैं, इसी लिए वे हरिलीन न हो कर वैकुंठ की यात्रा करते हैं। सरभंग अपना योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत इत्यादि जो कुछ उन्हों ने किया था वह सब राम को दे कर उन से भक्ति का वरदान प्राप्त करते हैं, और इसी लिए योगाग्नि में शरीर को छोड़ कर वे हरिलीन नहीं होते :

जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा।
सीता अनुज समेत प्रभु नील नीरधर स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम॥
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा।
तातें मुनि हरिलीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ।

(मानस, अरण्य ८-९)

दशरथ भी भेद भक्ति में दत्तचित्त हैं, इस लिए राम उन्हें जब दृढ ज्ञान देते हैं, वे उस दृढ ज्ञान को प्राप्त कर भी मोक्ष नहीं लेते, बल्कि हर्षित होकर 'सुरधाम' जाते हैं :

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना।
तातें उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो।
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं।
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गएउ सुरधामा।

(मानस, लंका० ११२)

इस भेद-भक्ति को कागभुशुंडि आगे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

ग्यान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर।
जौं सब के रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस।
मायाबस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।

सुधाभेद यद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।...
हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि बिद्या।
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर।
(मानस, उत्तर० ७८-७९)

ईश्वर जीव का यह भेद 'मुधा' है जैसा ऊपर कहा गया है, और ज्ञान के प्राप्त होने पर यह 'भेद भ्रम' नष्ट हो जाता है :

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा।
(मानस, उत्तर० ११८)

फिर भी राम के भक्त राम की भक्ति भेद-भावना से ही करते हैं।

संक्षेप में यही 'राम चरित मानस' में उपस्थित किए हुए कवि के आध्यात्मिक विचार हैं।

विनय-पत्रिका

४. (१) राम सच्चिदानंद ब्रह्म हैं, और उन्हों ने ही लीलावतार धारण किया है :

नित्य निर्मोह निर्गुन निरंजन निजानंद निर्वाण निर्वाणदाता।
निर्भरानंद निःकंप निःसीम निर्मुक्त निरुपाधि निर्मम विधाता।
(विनय० ५६)

(२) जिस प्रकार वे निर्गुण ब्रह्म हैं, उसी प्रकार वे सगुण ब्रह्म भी हैं :

अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नर भूप रूपं।
(विनय० ५०)

परमकारन कंजनाभ जलदाभतनु सगुन निर्गुन सकल दृश्य द्रष्टा।
(विनय० ५३)

गुणगेह नरदेह धारण कर के तो वे अवश्य ही सगुण हो गए :

जयति सच्चिदानंद व्यापक ब्रह्म बिग्रह व्यक्त लीलावतारी।
बिकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचबस बिमल गुणगेह नर देह धारी।
(विनय० ४३)

(३) राम विष्णु हैं, और क्षीरसागर उन का निवास-स्थान है :

बसनकिंजल्कधर चक्र सारंग दर कंज कौमोदकी अति बिसाला।
(विनय० ४९)

परमकारन कंजनाभ जलदाभतनु

(विनय० ५३

सत्यसंकल्प अतिकल्प कल्पांतकृत कल्पनातीत अहितल्पवासी।

(विनय० ५४

सील समताभवन बिषमता मति समन राम रामारमन रावनारी।

(विनय० ५५

उरग नायक सयन तरुन पंकज नयन छीरसागार अयन सर्ववासी।

(विनय० ५५

बिन्दुमाधव का वर्णन करते हुए जहाँ तुलसीदास कहते हैं

चारिभुज चक्र कौमोदकी जलज दर सरसिजोपरि यथा राजहंसम्।

(विनय० ६१

सकल सौभाग्य संयुक्त त्रैलोक्यश्री दच्छदिसि रुचिर बारीशकन्या।

(विनय० ६१

बच्छभाग अनुराग सहित इंदिरा अधिक ललिताई।

(विनय० ६२

भुजँग भोग भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई।

(विनय० ६१

गदा कंज दर चारु चक्रधर नागसुंड सम भुज चारी।

(विनय० ६३

रूपसील गुन खानि बच्छदिसि सिंधुसुता रत पदसेवा।

(विनय० ६३

वहाँ वे उन्हें राम कह कर भी उन का स्तवन करते हैं

ग्रसित भवब्याल अति त्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारियानम्।

(विनय० ६१

(४) विष्णु परमात्मा हैं, वे ही सृष्टि की रचना, उस का पालन औ संहार भी करते हैं, बिन्दुमाधव को तुलसीदास कहते हैं

बिस्वबंद्य बिस्वहित अजित गोतीत शिव बिस्वपालनहरण बिस्वकर्ता।

(विनय० ६

किंतु अन्यत्र वे कहते हैं कि राम विष्णु से श्रेष्ठ हैं, उन्हीं से ह (विष्णु) को हरिता (विष्णुत्व) प्राप्त होती है :

हरिहि हरिता बिधिहि बिधिता सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई।

(विनय० १३५)

(५) परात्मा राम ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, तथा लय के कारण हैं:

सर्वरक्षक सर्वभक्ताध्यक्ष कूटस्थ गूढार्चि भक्तानुकूलं।

(विनय० ५३)

विश्वपोषन भरन विश्वकारन करन सरन तुलसीदास त्रासहंता।

(विनय० ५५)

और ऊपर जब विष्णु के साथ राम का तादात्म्य किया गया तो राम भी उन की भाँति सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारण हुए।

(६) वामनादि अवतार इन्हीं राम के हुए थे.

वामनाव्यक्त पावन परावर बिभो

(विनय० ४९)

वृष्णिकुल कुमुद राकेस राधारमन कंस बंसाटवी धूमकेतू।

(विनय० ५२)

शुद्धबोधैक घनज्ञान गुनधाम अज बुद्ध अवतार बन्दे कृपालं।

(विनय० ५२)

विष्णुयश पुत्र कल्कीदिवाकर उदित दासतुलसी हरन बिपति भारं।

(विनय० ५२)

छलन बलि कपट बटुरूप वामन ब्रह्म भुवन पर्यन्त पद तीनि करणम्।

(विनय० ५२)

दितिसुत त्रास त्रसित निसि दिन प्रहलाद प्रतिज्ञा राखी।

(विनय० ९३)

(७) अवतार लेने के कारण अनेक हुआ करते हैं। कभी वे देवताओं की रक्षा के लिए अवतार धारण करते हैं, कभी अपने भक्तों के लिए:

बिकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचवश बिमल गुणगेह नरदेह धारी।

(विनय० ४३)

भक्तहित हरन संसारभारं।

(विनय० ४६)

भूमि भर भारहर प्रगट परमातमा ब्रह्म नररूपधर भक्त हेतू।

(विनय० ५२)

जय जय जगजाल ब्याकुल करम काल
सब खल भूप भए भूतल भरन।
तब तब तनु धरि भूमि भार दूरि करि
थापे मुनि सुर साधु आस्रम बरन।

(विनय० २४८)

(८) लक्ष्मण 'भूधर' शेष (के अवतार) हैं। लक्ष्मण का स्तवन करते हुए तुलसीदास कहते हैं :

धरनी धरनहार भजन भुवनभार अवतार साहसी सहसफन के।

(विनय० ३७)

जयति लक्ष्मणानंत भगवंत भूधर भुजगराज भुवनेश भूभारहारी।

(विनय० ३८)

(९) जिस प्रकार तुलसीदास लक्ष्मण को 'भूधर' कहते हैं उसी प्रकार राम को भी वे 'भूधर' कहते हैं :

भूधरं सुंदरं श्रीवरं मदन मद मथन सौंदर्य सीमातिरम्यं।

(विनय० ५३)

(१०) भरत विश्व का पालन करने वाले हैं :

पादुका नृप सचिव पुहुमि पालक परम धीर गंभीर बर बीर भारी।

(विनय० ३९)

(११) शत्रुघ्न शत्रु-सूदन है :

जयतिजय सत्रु करि केसरी सत्रु हन सत्रु तमतुहिनहर किरन केतू।

(विनय० ४०)

(१२) वानरादि देवताओं के अवतार हैं यह ध्वनि कदाचित् इस ..थ्य से ली जा सकती है कि हनुमान को शिव का अवतार कहा गया है, हनुमान का स्तवन करते हुए तुलसीदास कहते हैं :

जयति रनधीर रघुबीर हित देवमनि रुद्र अवतार संसारपाता।

(विनय० २५)

जयति मर्कटाधीस मृगराज बिक्रम महादेव मुदमंगलालय कपाली।

(विनय० २६)

जय मंगलागार संसारभारापहर बानराकार बिग्रह पुरारी।

(विनय० २७)

जयति रुद्राग्रणी विश्वविद्याग्रणी विश्वविख्यात भट्ट चक्रवर्ती।
(विनय० २७)

सामगायक भक्त कामदायक वामदेव श्रीराम प्रिय प्रेमबंधो।
(विनय० २८)

रामपदपद्म मकरंद मधुकर पाहि दासतुलसी सरन सूलपानी।
(विनय० २९)

(१३) सीता जगत-जननी हैं :

जानकी जग जननि जन की किए बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुन गन गाइ।
(विनय० ४१)

(१४) माया राम के आधीन है, और राम की प्रेरणा से ही जीव को मोहरज्जु से बाँधती है :

तुलसीदास यहि जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।
(विनय० १०२)

दोप निलय यह विषय सोकप्रद कहत संत स्रुति टेरे।
जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे।
(विनय० १८७)

माधव अस तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया।
(विनय० ११६)

(१५) निर्गुण राम को उन की लीला से उन की माया जब ढँक लेती है तो उस की सज्ञा 'मूल प्रकृति' होती है। राम के क्षुभित होने पर इस 'मूल प्रकृति' से 'महत्तत्व' उत्पन्न होता है। फिर राम की ही प्रेरणा से 'महत्तत्व' से 'अहकार' प्रकट होता है। 'अहंकार' से शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध नामक पच तन्मात्राएँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी नामक पच स्थूल भूत, दश इद्रियाँ, उन इद्रियों के अधिष्ठाता देवता, बुद्धि, मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है। 'विनय पत्रिका' में इस सिद्धांत का निरूपण करते हुए तुलसीदास इसी लिये इस समस्त सृष्टि को 'त्वद्रूप' (रामरूप) कहते हैं :

प्रकृति महतत्व सब्दादि गुन देवता व्योम मरुदग्नि अमलांबु उर्वी।
बुद्धि मन इंद्रिय प्रान चित्तात्मा काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी।

सर्वमेवात्र स्वरूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।
भुवन भवदंस कामारि वंदित पदद्वन्द मन्दाकिनी जनक जिष्णो।

(विनय० ५४)

(१६) राम स्वतः ही सृष्टि भी हैं—सृष्टा तो वे हैं ही। सृष्टि से उन का संबंध 'पट तन्तु' 'घट-मृत्तिका' 'सर्प-स्रग' 'दारु-करि' 'कनक-कटकागदादि' न्याय से है। वे ही अखिल विश्व के 'कारण' भी हैं और 'करण' भी हैं :

सिद्धि साधक साध्य वाच्य वाचकरूप मंत्र जापक जाप्य सृष्टि स्रष्टा।

(विनय० ५३)

आदिमध्यान्त भगवंत त्व सर्वगतमीस पश्यंति ये ब्रह्मवादी।
यथा पटतंतु घटमृत्तिका सर्पस्रग दारुकरि कनककटकांगदादी।

(विनय० ५४)

विश्व पोषन भरन विश्व कारन करन सरन तुलसीदास त्रासहंता।

(विनय० ५५)

(१७) जगत्—अथवा जो कुछ भी इंद्रियों का विषय है—वह उसी प्रकार असत्य है जिस प्रकार 'नभ-वाटिका' अथवा 'धुवाँ का धौरहर'; वह उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार 'रात्रि का स्वप्न' अथवा 'मृग-वारि':

जग नभवाटिका रही है फल फूलि रे।
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे।

(विनय० ६६)

जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।...
सोवत सपने सहै संसृति संताप रे।
बूड़ो मृगबारि खायो जेवरी को साँप रे।
कहैं वेद बुध तू तौ बूझि मन माहिं रे।
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे।
तुलसी जागे तें जाइ ताप तिहूँ ताय रे।
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे।

(विनय० ७३)

(१८) यह विश्व जब तक सर्वथा आँखों के सामने से हट नहीं जाता—मिट नहीं जाता—और जब तक इस के सत्य और असत्य का प्रश्न बना रहता है, तब तक किसी को भी यह न समझना चाहिए कि उस को आत्म-

परिचय प्राप्त हो गया .

केसव कहि न जाइ का कहिए ।
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए ।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे ।
रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥

(विनय० १११)

इस भ्रम का नाश संसार और उस से उत्पन्न सस्कारों का परित्याग किए बिना नहीं हो सकता

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी ।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहि कृपा तुम्हारी ।
अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं ।
बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस पर्यो कीर की नाईं ।
सपने व्याधि विविध बाधा भइ मृत्यु उपस्थित आई ।
बैद्य अनेक उपाय करहिं जागे बिनु पीर न जाई ।
स्रुति गुर साधु सुमृति संमत यह दृश्य सदा दुखकारी ।
तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी ।
बहु उपाय संसार तरन कहँ बिमल गिरा स्रुति गावै ।
तुलसिदास मैं मोर गए बिन जिय सुख कबहुँ न पावै ॥

(विनय० १२०)

जब तक यह मायात्मक जगत् बना रहता है, तथा उस के विषयों के प्रति आत्मबुद्धि नष्ट नहीं हो जाती, तब तक भवसागर से पार कोई कैसे हो सकता है ?

मैं हरि साधन करै न जानी ।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस दोष कहा दिरमानी ।
सपने नृप कहँ घटै बिप्रबध बिकल फिरै अघ लागे ।
बाजिमेध सत कोटि करै नहिं सुद्ध होय बिनु जागे ।

सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।
भुवन भवदस कामारि वंदित पदद्वन्द मन्दाकिनी जनक जिष्णो।

(विनय० ५४)

(१६) राम स्वत. ही सृष्टि भी हैं—स्रष्टा तो वे हैं ही। सृष्टि से उन का सबध 'पट तन्तु' 'घट-मृत्तिका' 'सर्प-स्रग' 'दारु करि' 'कनक कटकागदादि' न्याय से है। वे ही अखिल विश्व के 'कारण' भी हैं और 'करण' भी हैं

सिद्धि साधक साध्य वाच्य वाचकरूप मन्त्र जापक जाप्य सृष्टि स्रष्टा।

(विनय० ५३)

आदिमध्यान्त भगवंत त्व सर्वगतमीस परयंति ये ब्रह्मवादी।
यथा पटतंतु घटमृत्तिका सर्पस्रग दारुकरि कनककटकांगदादी।

(विनय० ५४)

विश्व पोषन भरन विश्व कारन करन सरन तुलसीदास त्रासहंता।

(विनय० ५५)

(१७) जगत्—अथवा जो कुछ भी इन्द्रियों का विषय है—वह उसी प्रकार असत्य है जिस प्रकार 'नभ-वाटिका' अथवा 'धुवाँ का धौरहर', वह उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार 'रात्रि का स्वप्न' अथवा 'मृग-वारि'

जग नभवाटिका रही है फल फूलि रे।
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे।

(विनय० ६६)

जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।
सोवत सपने सहै संसृति संताप रे।
डूबो मृगवारि खायो जेवरी को साँप रे।
कहैं वेद बुध तू तौ बूझि मन माहि रे।
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे।
तुलसी जागे तें जाइ ताप तिहुँ ताय रे।
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे।

(विनय० ७३)

(१८) यह विश्व जब तक सर्वथा आँखों के सामने से हट नहीं जाता—मिट नहीं जाता—और जब तक इस के सत्य और असत्य का प्रश्न बना रहता है, तब तक किसी को भी यह न समझना चाहिए कि उस को आत्म

परिचय प्राप्त हो गया :

केसव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे।
रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥

(विनय० १११)

इस भ्रम का नाश संसार और उस से उत्पन्न संस्कारों का परित्याग किए बिना नहीं हो सकता -

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी।
अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं।
बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस परयो कीर की नाईं।
सपने ब्याधि बिबिध बाधा भइ मृत्यु उपस्थित आई।
बैद्य अनेक उपाय करहिं जागे बिनु पीर न जाई।
स्रु ति गुर साधु सुस्मृति संमत यह दृस्य सदा दुखकारी।
तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी।
बहु उपाय संसार तरन कहँ बिमल गिरा श्रुति गावै।
तुलसिदास मैं मोर गए बिन जिय सुख कबहुँ न पावै॥

(विनय० १२०)

जब तक यह मायात्मक जगत् बना रहता है, तथा उस के विषयों के प्रति आत्मबुद्धि नष्ट नहीं हो जाती, तब तक भवसागर से पार कोई कैसे हो सकता है ?

मैं हरि साधन करै न जानी।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस दोष कहा दिरमानी।
सपने नृप कहँ घटै बिप्रबध बिकल फिरै अघ लागे।
बाजिमेध सत कोटि करै नहिं सुद्ध होय बिनु जागे।

स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अबिचारे ।
बहु आयुध धरि बल अनेक करि हारहि मरै न मारे ।
निज भ्रम ते रबिकर संभव सागर अतिभय उपजावै ।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै ।
तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई ।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहिं भाई ।
(विनय० १२२)

तुलसीदास तो इस निस्सार ससार से भी यही प्रार्थना करते हैं कि वह उन से दूर ही दूर रहे :

मैं तोहिं अब जान्यों संसार ।
बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट-आगार ।
देखत ही कमनीय कछु नाहिंन पुनि किए बिचार ।
ज्यों कदलीतरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार ।
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार ।
महामोह मृगजल सरिता महँ बोरयो हौं बारहि बार ।
सुनु खल छल बल कोटि किए बस होहिं न भगत उदार ।
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नदकुमार ।
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार ।
सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझै नहिं व्यवहार ।
निज हित सुनु सठ हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार ।
तुलसिदास प्रभु के दासन तजि भजहि जहाँ मद मार ॥
(विनय० १८८)

(१६) जीव और परमात्मा मे भेद इतना अवश्य है कि परमात्मा मायापति है और जीव उस की माया से अभिभूत हो जाया करता है ((हौं जड जीव ईस रघुराया । तुम मायापति हौं बस माया ।)
(विनय० १७७)
पर द्वैतबुद्धि—आत्मा और परमात्मा में भेद की भावना—हमारे मन का विकार मात्र है :

जौं निज मन परिहरै बिकारा ।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा ।
(विनय० १२४)

और रामभक्ति प्राप्त करने के लिए इस द्वैत भावना का त्याग आवश्यक है :

सेवत साधु द्वैतभय भागे। श्री रघुबीर चरन लय लागे।

(विनय० १३६)

राम की इस माया से मुक्त संतों में और राम में कोई भी—किसी प्रकार का भी—अंतर नहीं होता :

संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मतिमलिन कह दासतुलसी।

(विनय० ५५)

(२०) हमारा मन स्वभावतः विषयों के पीछे लगा रहता है, और राग द्वेषादि की कल्पना किया करता है, और हम स्वतः अपने मन मे विवश हैं, [यहाँ तक कि हम ने मन को अपना लिंग (ज्ञान का साधन) मान रक्खा है,] इस लिए रागद्वेषादि के योग से वह जिन नाना प्रकार के कर्मों में लिप्त होता है, उन कर्मों के सस्कारवश हम निरतर जन्म-मरण के चक्र में पड़कर यातनाएँ भुगतते हैं :

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु विषय आस मन माहीं।

तुलसिदास तब लगि जगजोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं।

(विनय० १२३)

मन पछितैहै अवसर बीते। ..

अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी तें।

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी तें।

(विनय० १९८)

इस मन की शिकायत तुलसीदास ने 'विनय-पत्रिका' के अनेक पदों में बड़ी ही तल्लीनता के साथ की है :

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।

सुनहु नाथ मन जरत त्रिबिध ज्वर करत फिरत बौराई।

(विनय० ८१)

विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।

ताते सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक।

(विनय० १०२)

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।

काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि।

(विनय० १५८)

(२१) अनात्म में आत्म भावना—और आत्म में अनात्म भावना—ही संसृति का हेतु है, मायावश अपने सहज स्वरूप को भूल जाने के कारण ही जीव स्वतः अपने निर्मल निरंजन, निर्विकार, और उदार सुख को खो बैठा है, और अपने को कर्म चक्र में डाल कर परवश हो रहा है। 'विनय पत्रिका' में यह तथ्य इस प्रकार रक्खा जाता है :

जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।
मायावस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।
पायो जो दारुन दुसह दुख लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
भवसूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो।
बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यो नहीं।
श्री राम बिनु बिश्राम मूढ़ बिचारि लखि पायो कहीं॥
आनंद सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा।
मृग भ्रम बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी।
तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ।
निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्यो।
निःकाज राज बिहाय नृप इव स्वप्न कारागृह पर्यो॥
तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्ही। अपने करनि गाँठि गहि दीन्ही।
तातें परबस पर्यो अभागे। ता फल गर्भबास दुख आगे।
(विनय० १३६)

(२२) अनात्म में आत्म का बाध होने पर ही जीव को पुनः अपने सहज स्वरूप से अनुराग होता है, और अपने सहज स्वरूप से उस के अनुराग का अर्थ ही यही है कि वह जगत (अनात्म) से अपने (आत्म) को भिन्न और निर्मल, निरामय तथा एकरस समझता है। इस सिद्धांत को गोस्वामी जी 'विनय पत्रिका' में इस प्रकार उपस्थित करते हैं :

देहजनित विकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै।
अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिए।
संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिए।
निर्मल निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई।
त्रैलोक्य पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥
(विनय० १३६)

(२३) राम भक्ति के समाश्रय से उस संशय का अंत हो जाता है जो ससृति का मूल हुआ करता है; रामप्रेम तीनों तापों को स्वतः दूर करता है, और राम ऐसे कृपालु हैं कि वे भक्त के भवजाल का नाश कर देते हैं :

ये तु भवदंघ्रि पल्लव समाश्रित सदा भक्तिरत विगत संसय मुरारी ।
(विनय० ५७)

देखत रघुवर प्रताप बीते संताप पाप
ताप त्रिबिध प्रेम आप दूरि ही करे । ..
तुलसिदास प्रभु कृपालु निरखि जीवजन बिहालु
भंज्यो भवजालु परम मंगलाचरे ।
(विनय० ७४)

जो पै रामचरन रति होती ।
तौ कत त्रिबिध सूल निसि बासर सहते बिपति निसोती ।
(विनय० १६८)

तुलसिदास प्रभु बिनु पियास मरै पसु जद्यपि है निकट सुरसरि तीर ।
(विनय० १०६)

(२४) *ज्ञानादि का साधन तथा उन के द्वारा भव-नाश अत्यंत कठिन है :*

जोग मख बिबेक बिरति बेद बिहित करम ।
करिबे कहँ कटु कठोर सुनत मधुर नरम ।
(विनय० १३१)

जोग जाग जप बिराग तप सुतीरथ अटत ।
बाँधिबे को भवगयंद रेनु की रजु बटत ।
(विनय० १२९)

जो पै जानकी नाथ न जाने ।
तौ सब करम धरम स्रमदायक ऐसेइ कहत सयाने ।
जो सुर सिद्ध मुनीस जोगविद बेद पुरान बखाने ।
पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने ।
(विनय० २३६)

(२५) *रामभक्ति भी दुर्लभ और कठिन है :*

भगति दुरलभ परम संभु सुक मुनि मधुप
प्यास पदकंजमकरंदमधु पान की ।
(विनय० २०९)

रघुपति भक्ति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।
(विनय० १६७)

किंतु अपेक्षाकृत भक्ति का साधन सुगम है, और वैसा ही सुगम है उस से भवनाश :
जौ बिनु जोग जग्य ब्रत संजम गयो चहहि भव पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसि बासर हरिपद कमल बिसारहि।
(विनय० ८५)

तोसो हौं फिरि फिरि हित सत्य बचन कहत।
सुनि मन गुनि समुझि क्यों न सुगम सुमग गहत।...
तुलसी तकु तासु सरन जाते सब लहत।
(विनय० १३३)

(२६) राम से विमुख रहते हुए कितने भी यत्न कोई करे, उसे भवबंधन से मुक्ति नहीं मिल सकती :
संजम जप तप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेम हीन नहिं जाई।
(विनय० ८१)

तुलसिदास रघुनाथ बिमुख नहिं मिटै बिपति कबहूँ।
(विनय० ८६)

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरिपद बिमुख लह्यो न काहु सुख सठ यह समुझि सबेरो। ..
छूटै न बिपति भजे बिनु रघुपति स्रुति संदेह निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि होहि राम कर चेरो।
(विनय० ८७)

निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो।
(विनय० ८८)

उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभुपद बिमुख न पैहौं।
(विनय० १०४)

तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी।
(विनय० १२०)

ऐसेहि जन्म समूह सिराने ।...
सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने ।
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने ।
यह दीनता दूर करिबे को अमित जतन उर आने ।
तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने ॥
(विनय० २३५

कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो ।
राम रावरे बिन भए जन जनमि जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो ।...
तुलसी नमत अवलोकिए बलि बाँह बोल दै बिरदावली बुलायो ॥
(विनय० २७६

निम्नलिखित समस्त पद इस संबंध में पठनीय हैं :

याहि तें मैं हरि ज्ञान गँवायो ।
परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं बाहर फिरत बिकल भयो धायो ।
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद अति मतिहीन मरम नहिं पायो ।
खोजत गिरि तरु लता भूमि बिल परम सुगंधि कहाँ धौं आयो ।
ज्यों सर बिमल बारि परिपूरन ऊपर कछु सिवार तृन छायो ।
जारत हियो ताहि तजि हौं सठ चाहत यहि बिधि तृषा बुझायो ।
व्यापत त्रिबिध ताप तनु दारुन तापर दुसह दरिद्र सतायो ।
अपनेहिं धाम नाम सुरतरु तजि बिषय बबूर बाग मन लायो ।
तुम सम ज्ञाननिधान मोहि सम मूढ़ न आन पुराननि गायो ।
तुलसिदास प्रभु यह बिचारि जिय कीजै नाथ उचित मम भायो ॥
(विनय० २४४)

फिर कलिकाल में तो रामभक्ति का ही एक मात्र अवलंब है—क्यों के *अन्य साधन उस में निर्बल हो रहे हैं :*

एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि रे ।
ग्रसे कलि रोग जोग संयम समाधि रे ।
(विनय० ६६)

जप तप तीरथ जोग समाधी । कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी ।
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं । रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं ।
(विनय० १२८)

जो पै जानकि नाथ सौं नातो नेह न नीच।
स्वारथ परमारथ कहाँ कलि कुटिल बिगोयो बीच।
धरम बरन आस्रमनि के पैयत पोथि ही पुरान।
करतब बिनु बेष देखिए ज्यों सरीर बिनु प्रान।

(विनय० १९१)

एक समस्त पद इस प्रसग में भी पठनीय है :

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम फलनि फरो सो।
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो।
पापुहि पै जानिबो करम फल भरि भरि बेद परो सो।
आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरो सो।
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो।
बहु मत सुनि बहु पथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो।
तुलसी बिनु परतीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो।

(विनय० १७३)

फलत. मनुष्य-देह की सार्थकता केवल रामभक्ति में है :

कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय।
अति दुर्लभ तनु पाइ कपटि तजि भजे न राम मन बचन काय।

(विनय० ८३)

तौ तू पछितैहै मन मींजि हाथ।
भयो सुगम तोको अमर अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ।...
तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाउ रामपद कमल माथ।
जनि बरपहि तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ।

(विनय० ८४)

पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम।

(विनय० १३१)

जो पै रहनि राम सों नाहीं ।
तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं ।
(विनय० १७५)

जो अनुराग न राम सनेही सों ।
तो लह्यो लाहु कहा नर देही सों ।
(विनय० १९४)

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु ही ते ।
(विनय० १९८)

काम कहा मानुष तन पाए ।...
गई न निज पर बुद्धि सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लाए ।
तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनि के पछिताए ।
(विनय० २०१)

(२७) जीव को मोहित करनेवाली माया राम की दासी है इस लिए उस के बंधनों से छुटकारा पाने के लिए राम की कृपा का आश्रय आवश्यक है :

संसृति सन्निपात दारुन दुख बिनु हरिकृपा न नासै ।
(विनय० ८१)

तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी ।
(विनय० ११३)

तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे ।
(विनय० ११४)

तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु बिमल बिबेक न होई ।
बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई ।
(विनय० ११५)

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी ।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ।
(विनय० १२०)

अस कछु समुझि परत रघुराया ।
बिनु तव कृपा दयालु दासहित मोह न छूटै माया ।
(विनय० १२३)

नाहिनै नाथ अवलंब मोहि आन की।
करम मन वचन पन सत्य करुनानिधे।
एक गति राम भवदीय पदत्रान की।

(विनय० २०९)

माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया।
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै।
ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥

(विनय० ११६)

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागै।

(विनय० ११९)

एक पद इस प्रसंग में विशेष उल्लेखयोग्य है क्यों कि उस से 'भगवद् कृपा' संबंधी कवि की पूरी भावधारा का पता चलता है

देव दूसरो कौन दीन को दयालु।
सील निधान सुजान सिरोमनि सरनागत प्रिय प्रनतपालु।
को समर्थ सर्बग्य सकल प्रभु सिव सनेह मानस मरालु।
को साहिब किए मीत प्रीति बस खग निसिचर कपि भील भालु।
नाथ हाथ माया प्रपंच सब जीव दोष गुन करम कालु।
तुलसिदास भलो पोच रावरो नकु निरखि कीजै निहालु।

(विनय० १५४)

राम प्रसन्न होने पर ज्ञानादि अपने भक्त को स्वतः देते हैं
रामनाम लेत होत सुलभ सकल धरम।

(विनय० १३१)

राम की भक्ति भी राम-कृपा के बिना प्राप्त नहीं होती
सर्वभूतहित निर्व्यलीक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एक रस।
तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीसदस।

(विनय० २०४)

जान बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ।

समुझि सयाने नाथ पगनि परत।

(विनय० २५२)

(२८) किंतु, राम-कृपा की प्राप्ति कुछ कठिन नहीं है। यदि निर्मल हृदय से राम का भजन किया जावे तो वे अवश्य कृपा करते हैं :

काय न कलेस, लेस लेत मानि मन की।
सुमिरे सकुचि रुचि जोगवत जन की।

(विनय० ७१)

दूरि न सो हितू हेरि हिये ही है।
छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किए ही है।

(विनय० १३५)

राम तो स्वतः स्नेही, और स्वभाव से ही करुणाशील हैं :

मुनि मन अगम सुगम माइ बाप सो।
कृपासिंधु सहज सखा सनेही आप सो।

(विनय० ७१)

जब कब निज करुना सुभावतें द्रवहु तो निस्तरिए।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं कत पचि पचि मरिए।

(विनय० १८६)

सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेह।
तातें भव भाजन भयो सुनु अजहूँ सिखावन एह।

(विनय० १९०)

हरि सम आपदाहरन।
नहिं कोउ सहज कृपालु दुसह दुख सागर तरन।

(विनय० २१३)

राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिन दानि।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि।

(विनय० २१५)

तुम तजि हौं कासों कहौं और को हितु मेरे।
दीनबंधु सेवक सखा, आरत अनाथ पर सहज छोहु केहि केरे।

(विनय० २७३)

राम तो अपनी ही भलाई से भक्त का भला करते हैं :

मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।
हौं तौ साईं द्रोही पै सेवक हितु साईं।

(विनय० ७२)

राम भलाई आपनी भल कियो न काको।
जुग जुग जानकिनाथ को जग जागत साको।

(विनय० १५२)

वे तो प्रणत-पाल हैं :

जग सुपिता सुमातु सुगुरु सुहित सुमीत
सब को दाहिनो दीनबंधु काहू को न बाम।
आरतहरन सरनद अतुलित दानि
प्रनतपाल कृपालु पतित पावन नाम।

(विनय० ७७)

आपनो कबहुँ करि जानि हौ।
राम गरीबनिवाज राजमनि बिरद लाज उर आनि हौ।
सीलसिंधु सुंदर सब लायक समरथ सद्‌गुन खानि हौ।
पाल्यो है पालत पालहुगे प्रभु प्रनत प्रेम पहिचानि हौ।
वेद पुरान कहत जग जानत दीनदयालु दिन दानि हौ।
कहि आवत बलि जाउँ मनहुँ मेरी बार बिसारे बानि हौ।
आरत दीन अनाथनि के हित मानत लौकिक कानि हौ।
है परिनाम भलो तुलसी को सरनागत भय भानिहौ।

(विनय० २२३)

रघुपति बिपति दवन।
परम कृपालु प्रनत प्रतिपालक पतितपवन।

(विनय० २१२)

पाहि पाहि राम पाहि रामभद्र रामचंद्र सुजस स्रवन सुनि आयो हौं सरन।
दीनबंधु दीनता दरिद्र दाह दोष दुख दारुन दुसह दर दरप हरन।

(विनय० २४८)

जाउँ कहाँ ठौर है कहाँ देव दुखित दीन को।
को कृपालु स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग बलबिहीन को।
गनिहिं गुनिहिं साहिब लहै सेवा समीचीन को।

अधन अगुन आलसिन को पालिबो फबि आयो रघुनाथ नवीन को।

(विनय० २७४)

पतित पावनता तो उन्हीं की विशेषता है :

तुलसीदास पतितपावन प्रभु यह भरोस जिय आवै।

(विनय० ९२)

जौ चित चढ़ै नाम महिमा निज गुन गन पावन पन के।
तौ तुलसिहिं तारिहौ बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगन के।

(विनय० ९६)

जौ जग बिदित पतित पावन अति बाँकुर बिरद न बहते।
तौ बहुकल्प कुटिल तुलसी से सपनेहुँ सुगति न लहते।

(विनय० ९७)

कोल खस भिल्ल जमनादि खल राम कहि
नीच ह्वै ऊँच पद को न पायो।
दीन दुख दमन श्री रमन करुनाभवन।
पतितपावन बिरद बेद गायो।

(विनय० १०६)

मैं हरि पतितपावन सुने।
मैं पतित तुम पतित पावन दोउ बानक बने।

(विनय० १६०)

नाहिनै नाथ अवलंब मोहिं आन की।
करम मन बचन पन सत्य करुनानिधे एक गति राम भवदीय पदत्रान की।
कोह मद मोह ममतायतन जानि मन बात नहिं जाति कहि ग्यान बिग्यान की।
काम संकल्प उर निरखि बहु बासनहिं आस नहिं एकहू आँक निरबान की।
बेद बोधित करम धरम बिनु अगम अति जदपि जिय लालसा अमरपुर जान की।
सिद्ध सुर मनुज दनुजादि सेवत कठिन द्रवहिं हठजोग दिए भोग बलि प्रान की।
भगति दुरलभ परम संभु सुक मुनि मधुप प्यास पदकंज मकरंद मधु पान की।
पतितपावन सुनत नाम बिश्रामकृत भ्रमत पुनि समुझि चित ग्रंथि अभिमान की।
नरक अधिकार मम घोर संसार तम कूपकहिं भूप मोहि सक्ति आपान की।
दास तुलसी सोउ त्रास नहिं गनत मन सुमिरि गुह गीध गज ग्याति हनुमान की॥

(विनय० २०९)

श्रौर कहँ ठौर रघुबंसमनि मेरे।
पतितपावन प्रनतपाल श्रसरनसरन बाँकुरे बिरद बिरुदैत केहि केरे।

(विनय० २१०)

कबहुँ रघुबंस मनि सो कृपा करहुगे।
जेहि कृपा ब्याध गज बिप्र खल नर तरे।
तिन्हहिं सम मानि मोहिं नाथ उद्धरहुगे।

(विनय० २११)

ऐसी कौन प्रभु की रीति।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरन पर प्रीति।

(विनय० २१४)

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तो हौं बारहिं बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ।
काहि ममता दीन पर को पतितपावन नाम।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो अपनो धाम।

(विनय० २१७)

तब तुम मोहूँ से सठनि को हठि गति देते।
कैसेहुँ नाम लेहि कोउ पामर सुनि सादर आगे ह्वै लेते।

(विनय० २४१)

श्रौर उन का जैसा शील तो अन्यत्र सर्वथा अप्राप्य है : उन की उदारता, उन की दानशीलता, उन की अकारण उपकार-निरति तथा उन का स्नेह निर्वाह आदि उन के ऐसे गुण हैं जो साधक को स्वतः उन की भक्ति के लिए आकृष्ट करते हैं। तुलसीदास तो उन के इस शील का उल्लेख करते हुए थकते ही नहीं :

दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।...
सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो।

(विनय० ७८)

मन माधव को नेकु निहारहि।
सोभासील ग्यान गुन मंदिर सुंदर परम उदारहि।
रंजन संत अखिल अघ गंजन भंजन बिषय बिकारहि।

(विनय० ८५)

सेवा बिनु गुन बिहीन दीनता सुनाए ।
जे जे तैं निहाल किए फूले फिरत पाए ।

(विनय० ८०)

ऐसी हरि करत दास पर प्रीती ।
निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीती ।

(विनय० ९८)

सुनि सीतापति सील सुभाउ ।
मोद न मन तन पुलक नयनजल सो नर खेहर खाउ ।

(विनय० १००)

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे ।

(विनय० १०१)

सेइए सुसाहिब राम सो ।
सुखद सुसील सुजान सूर सुचि सुंदर कोटिक काम सो ।

(विनय० १५७)

ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ।

(विनय० १६२)

एकै दानि सिरोमनि साँचो ।
जोइ जाच्यो सोइ जाचकताबस फिरि बहु नाच न नाच्यो ।
सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाए ।
कोसलपाल कृपालु कलपतरु द्रवत सकृत सिर नाए ।

(विनय० १६३)

रघुबर रावरि यहै बड़ाई ।
निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई ।

(विनय० १६५)

यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई ।
दीनदयालु दीन तुलसी की काहु न सुरति कराई ।

(विनय० १६५)

ऐसे राम दीन हितकारी ।
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी ।

(विनय० १६६)

कहाँ जाउँ कासों कहौं को सुनै दीन की ।
त्रिभुवन तुहीं गति सब अंगहीन की ।
जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं ।
निराधार को अधार गुनगन तेरे हैं ।

(विनय० १७९)

करि बीत्यो अब करतु है करिबे हित मीत अपार ।
कबहुँ न कोउ रघुबीर सो नेह निबाहनिहार ।

(विनय० १९०)

आरत अधम अनाथहित को रघुबीर समान ।

(विनय० १९१)

तुलसीदास भरोस परम करुना कोस
प्रभु हरिहैं बिषम भवभीर ।

(विनय० १९७)

भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिँन ।

(विनय० २०७)

हरि तजि और भजिए काहि ।
नाहिनै कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि।

(विनय० २१६)

और देवन को कहा कहौं स्वारथहि के मीत ।
कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गयउ सभीत ।
को न सेवत देत संपति लोकहू यह रीति ।
दास तुलसी दीन पर इक राम ही की प्रीति ।

(विनय० २१६)

दीनता दारिद दलै को कृपा बारिधि बाज ।
दानि दसरथ राय के तुम बानइत सिरताज ।

(विनय० २१९)

अकारन को हितु और को है ।

बिरद गरीबनिवाज कौन को भौंह जासु जन जोहै।
(विनय० २३०)

दीनबंधु दूसरो कहँ पावौं।
को तुम बिनु पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावौं।
प्रभु अकृपालु कृपाल अलायक जहँ जहँ चितहिं डोलावौं।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गँवावौं।
(विनय० २३२)

सेइ साधु गुरु सुनि पुरान स्रुति बूझ्यो राग बाजी तांति।
तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सो ज्यों दरपन मुख कांति।
(विनय० २३३)

यहै जानि चरननि्ह चित लायो।
नाहिन नाथ अकारन को हितु तुम समान पुरान स्रुति गायो।
(विनय० २४३)

इस प्रसंग में भी निम्नलिखित समस्त पद उल्लेखनीय है :
नाहिन और कोउ सरन लायक दूजो श्री रघुपति सम बिपति निवारन
काको सहज सुभाउ सेवक बस काहि प्रनत पर प्रीति अकारन।
जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।
परम कृपालु भगत चिंतामनि बिरद पुनीत पतितजन तारन।
सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि चलत तुरत पटपीत सँभार न।
साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन।
जाको जस गावत कवि कोविद जिन्ह के लोभ मोह मद मार न।
तुलसिदास तजि आस सकल भजु कोसलपति मुनिबधू उधारन।
(विनय० २०६)

राम तो केवल प्रेम के भूखे हैं, और वे कुछ नहीं चाहते, इसी लिए अपनी भक्ति से वे तुरत प्रसन्न हो जाते हैं :

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि्हूँ सो तनु तोहि दियो।...
दूरि सो न हितू हेरि हिए ही है।
छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किए ही है।
(विनय० १३५)

एही दरबार है गरब तें सरब हानि लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता।
मोटो दसकंध सो न दूबरो बिभीषन सो बूझि परी रावरे की प्रेम पराधीनता।
(विनय० २६२)

यहाँ की सयानप अयानप सहस सम सूधो सतभाय कहे मिटति मलीनता।
गीध सिला सबरी की सुधि सब दिन किए होइगी न साईं सों सनेह हितहीनता।
(विनय० २६२)

प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की।
(विनय० ७१)

जौ जप जाग जोग ब्रत बरजित केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिबर बिहाय ब्रज गोप गेह बसि रहते।
(विनय० ९७)

बलि पूजा चाहत नहीं चाहै एकै प्रीति।
सुमिरत ही मानै भलो पावन सब रीति :
देह सकल सुख दुख दहै आरतजन बंधु।
गुन गहि अघ अवगुन हरै अस करनासिंधु।
(विनय० १०७)

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।
(विनय० १६४)

श्री रघुबीर की यह बानि।
नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।
(विनय० २१५)

मानत भलहि भलो भगतनि तें कछुक रीति पारथहिं जनाई।
तुलसी सहज सनेह राम बस और सबै जल की चिकनाई।
(विनय० २४०)

भक्तों का मान रखने के लिए ही वह अवतार भी धारण करते हैं :

एक सुख क्यों कहौं करनासिंधु के गुन गाथ।
भगतहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ।
(विनय० २१७)

राम शरणागत को साधु बना देते हैं और उसे भय से मुक्तकर

देते हैं :

बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु।
पाहि कृपानिधि प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु।

(विनय० १९३)

राम गरीबनिवाज के बड़ी बाँहबोल की लाज।

(विनय० १९३)

सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर।
गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भवभीर।

(विनय० १९३)

बाँधो हौं करम जड़ गरभ गूढ़ निगड़ सुनत दुसह हौं तो साँसति सहत हौं।
आरत अनाथ नाथ कोसलपाल कृपाल लीन्हों छीनि दीन देख्यो दुरित दहत हौं।
बूझ्यो ज्योंहीं कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वै हौं रावरो जू मेरो कोऊ कहूँ नाहिं चरन गहत हौं।
मींजो गुर पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौं।

(विनय० ७६)

जाने बिनु राम रीति पचि पचि जग मरत।
परिहरि छल सरन गए तुलसिउ से तरत।

(विनय० १३४)

बारक बिलोकि बलि कीजै मोहि आपनो।
राय दसरथ के तू उथपन थापनो।
साहिब सरनपाल सबल न दूसरो।
तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो।

(विनय० १८०)

(२६) राम द्वारा दिए हुए प्रकाश के बिना उस सशय से छुटकारा नहीं मिलता है जिस के कारण जीव द्वैतरूप तमकूप में पड़ता है :

सुनु अदभ्र करुना बारिज लोचन मोचन भयभारी।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी।

(विनय० ११३)

और इसी प्रकार उस मोहजनित सस्कार से भी उसे मुक्ति नहीं मिलती जो भव का कारण हुआ करता है :

मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।

जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई ।
नयन मलिन परनारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागे ।
हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे ।
परनिंदा सुनि स्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाए ।
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराए ।
तुलसिदास व्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै ।
रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै ।

(विनय० ८२)

वस्तुत रामभक्ति के बिना उस 'विवेक' की प्राप्ति नहीं होती जिससे उसे भव चक्र से मुक्ति मिले

जनम अनेक किए नाना बिधि करम कीच चित सान्यो ।
होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो ।
निज हित नाथ पिता गुरु हरिसों हरषि हृदय नहिं आन्यो ।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहि जनम सिरान्यो ।

(विनय० ८८)

(३०) रामभक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से राम के चरित्र श्रवण, मनन तथा कीर्तन से होता है, इस लिए 'विनय पत्रिका' में भक्ति के इस पक्ष पर बहुत बल दिया गया है। राम के शील स्वभाव का परिचय प्राप्त करने से उन की भक्ति तो अनायास ही प्राप्त हो जाती है

सुनि सीतापति सील सुभाउ ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ ।

(विनय० १००)

समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ ।
तुलसिदास अनयास राम पद पाइहै प्रेम पसाउ ।

(विनय० १००)

स्वामी को सुभाउ कह्यो सो जब उर आनि है ।
सोच सकल, मिटिहैं श्रीराम भलो मानिहै ।

(विनय० १३५)

जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुनग्राम रामहिं धरि हिए ।

बिचरहिं अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किए।

(विनय० १३५)

अकनि अजामिल की कथा सानंद न भा को।
नाम लेत कलिकाल हूँ हरिपुरहिं न गा को।

(विनय० १५२)

तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई।

(विनय० १६४)

बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान।
सुनि सनमुख जो न राम सों तिहि को उपदेसहि ज्ञान।

(विनय० १९३)

राग रोग इरषा बिमोह बस रुची न साधु समीति।
कहे न सुने गुनगन रघुबर के भइ न राम पद प्रीति।

(विनय० २३४)

बाद बिबाद स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहिं।
तुलसिदास भव तरहिं तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहिं।

(विनय० २३७)

(३१) रामभक्ति के प्रादुर्भाव के लिए सत्संग भी आवश्यक है। वह न केवल "भव भंग कारन" और मोक्ष-दायक है:

देहि सतसंग निज अंग श्रीरंग भव भंग कारन सरन सोकहारी।...
संतसंसर्ग अपवर्गपर परमपद प्राप्य निःप्राप्य गतिस्त्वयि प्रसन्ने।

(विनय० ५७)

रघुपति भगति संत संगति बिनु को भव त्रास नसावै।

(विनय० १२१)

द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई।

(विनय० १३६)

वरन् बिना सत्संग के भक्ति भी नहीं हो सकती:

बिनु सतसंग भगति नहिं होई।

(विनय० १३६)

सेवत साधु द्वैत भय भागे।
श्री रघुबीर चरन चित लागे।

(विनय० १३६)

संतजन तो भगवंत के समान ही हैं दोनों में परस्पर किसी प्रकार का अंतर नहीं है :

संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मतिमलिन कह दासतुलसी।

(विनय० ५७)

(१२) संतों के लक्षणों में सर्वप्रमुख हैं उन की परोपकार वृत्ति, और राम-भक्ति। इस संबंध में 'विनय पत्रिका' के दो पद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, एक तो स्तोत्र है जिस में श्री राम से सत्संग की याचना की गई है, और दूसरा एक पद है जिस में कवि ने 'संत सुभाउ' का आदर्श उपस्थित किया है। इन दोनों पदों का प्रत्येक शब्द ध्यान देने योग्य है। स्तोत्र इस प्रकार है

देहि सतसंग निज अंग श्रीरंग भवभंग कारन सरन सोकहारी।
ये तु भवदंघ्रि पल्लव समाश्रित सदा भक्तिरत बिगतसंसय मुरारी।
असुर सुर नाग नर यच्छ गंधर्व खग रजनिचर सिद्ध ये चापि अन्ये।
संतसंसर्ग त्रयवर्गपर परमपद प्राप निःप्राप्य गति त्वयि प्रसन्ने।
वृत्र बलि बाण प्रह्लाद मय व्याध गज गृद्ध द्विजबंधु निज धर्म त्यागी।
साधुपद सलिल निर्धूत कल्मष सकल स्वपच यवनादि कैवल्य भागी।
शांत निरपेच्छ निर्मम निरामय अगुन शब्द ब्रह्मैक परब्रह्म ज्ञानी।
दच्छ समदृक स्वदृक बिगत अति स्वपर मति परमरति तव बिरति चक्रपानी।
विश्व उपकार हित व्यग्रचित सर्वदा त्यक्तमदमन्यु कृत पुन्यरासी।
यत्रतिष्ठंति तत्रैव अज शर्व हरि सहित गच्छंति छीराब्धिवासी।
वेद पय सिंधु सुविचार मंदर महा अखिल मुनि वृन्द निर्मथन कर्ता।
सार सतसंगमुद्धृत्य इति निश्चित वदति श्रीकृष्ण वैदर्भिभर्ता।
सोक संदेह भय हर्षतम तर्षगण साधु सद्युक्ति बिच्छेदकारी।
यथा रघुनाथ सायक निसाचर चमू निचय निर्दलन पटु बेग भारी।
यत्रकुत्रापि मम जन्म निज कर्मबश भ्रमत जगयोनि संकट अनेकम्।
तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकम्।
प्रबल भवजनित त्रैव्याधि भेषज भक्ति भैषज्यमद्वैत दरसी।

संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी।

(विनय० ५७)

और, पद इस प्रकार है :

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
यथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन करि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो।

(विनय० १७२)

स्वत. तुलसीदास को इन संतों से ही रामभक्ति के लिए प्रेरणा मिली थी इस तथ्य को उन्होंने अपनी एक जीवन कथा में बड़े ही भावपूर्ण ढंग से उपस्थित किया है :

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
है दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलनछम कियो न संभाषन काहूँ।
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।
काहे को रोष दोस काहि धों मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुइ सब छाहूँ।
दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहूँ।
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिनाहूँ।
नाम की महिमा सील नाथ को मेरो भलो बिलोकि अब ते सकुचाहु सिहाहूँ।

(विनय० २७५)

(३३) संतों की कृपा होने पर राम भी बिना प्रयास ही मिल जाते हैं :

संसय समन दमन दुख सुख निधान हरि एक।
साधु कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक।..
भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन।

(विनय० २०३)

(३४) तुलसीदास का कथन है कि जिस प्रकार भगवत्कृपा तथा भागवत-कृपा उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है जिस से भवसागर से पार हुआ जाता है उसी प्रकार गुरु-कृपा भी आवश्यक है :

तुलसिदास हरि गुर करुना बिनु बिमल बिबेक न होई ।
बिनु बिबेक ससार घोर निधि पार न पावै कोई ।

(विनय० ११५)

तुलसीदास तो अपने गुरु के विशेष कृतज्ञ हैं, क्यों कि उन्हीं से उन को राम-भक्ति का राजमार्ग प्राप्त होता है :

बहुमत सुनि बहुपंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो ।
गुर कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो ।
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो ।
राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो ॥

(विनय० १७३)

(३५) नाम-जप को 'विनय पत्रिका' में भी रामभक्ति के प्रादुर्भाव तथा मोक्ष साधन के लिए अत्यंत उपयोगी बताया गया है, और इस पर अत्यधिक बल देते हुए इस के आधीन अनेक साधनों को बताया गया है :

सदा राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु मूढ़ मन बारबारं ।
सकल सौभाग्य सुखखानि जिय जानि सठ मानि बिस्वास बद बेदसारं ।. .
सोक संदेह पाथोद पटलानिलं पाप पर्वत कठिन कुलिस रूपं ।
संत जन कामधुक धेनु बिश्रामप्रद नाम कलिकलुष भंजन अनूपं ।
धर्म कल्पद्रुमाराम हरिधाम पथि संबलं मूलमिदमेव एकं ।
भक्ति वैराग्य बिज्ञान सम दान दम नाम आधीन साधन अनेकं ।
तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालं ।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालं ।
स्वपच खल भिल्ल यवनादि हरिलोकगत नाम बल बिपुल मति मलिन परसी ।
त्यागि सब आस संत्रास भवपास असि निसित हरि नाम जपु दासतुलसी ।

(विनय० ४६)

उस चातकवृत्ति को जिस को अन्यत्र रामभक्ति के प्रसंग में तुलसीदास सार्थक करना चाहते हैं 'विनय पत्रिका' में 'राम-नाम भक्ति' के प्रसंग में अत्यंत

तल्लीनता के साथ व्यवहृत करते हैं :

राम राम रमु राम राम रटु राम राम जपु जीहा ।
रामनाम नव नेह मेह को मन हठि होहि पपीहा ।
सब साधन फल कूप सरित सर सागर सलिल निरासा ।
राम नाम रति स्वाति सुधा सुभ सीकर प्रेम पियासा ।
गरजि तरजि पाषान बरसि पवि प्रीति परखि जिय जानै ।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर पर परमिति पहिचानै ।
राम नाम गति राम नाम मति राम नाम अनुरागी ।
ह्वै गए हैं जे होहिंगे आगे तेइ गनियत बड़भागी ।
एक अंग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहैं ।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहैं ॥

(विनय० ६५)

कलिकाल में अन्य साधन निर्बल हो रहे हैं, पर नाम एक ऐसा साधन है जो अक्षुण्ण है, और जिस से समस्त परमार्थ-साधन किया जा सकता है :

राम जपु राम जपु राम जपु बावरे । घोर भव नीरनिधि नाम निजु नाव रे ।
एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि रे । ग्रसे कलि रोग जोग संयम समाधि रे ।

(विनय० ६६)

कलि न बिराग जोग जाग तप त्याग रे । राम सुमिरन सब बिधि ही को राज रे ।
राम नाम प्रेम परमारथ को सार रे । राम नाम तुलसी को जीवन अधार रे ।

(विनय० ६७)

राम राम राम राम राम राम जपत ।
मंगल मुद उदित होत कलिमल छल छपत ।

(विनय० १३०)

बिस्वास एक राम नाम को ।
करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को ।
ग्यान बिराग जोग जप तप भय लोभ मोह कोह काम को ।

(विनय० १५५)

कलि नाम कामतरु राम को ।

(विनय० १५६)

रामनाम के जपे जाइ जिय की जरनि ।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भए जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि ।
करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि ।
दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके सुगति साधन भई उदर भरनि ।
मति राम नाम ही सों, रति राम नाम ही सों गति राम नाम ही की बिपति हरनि ।
राम नाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरेंगे राम आपनी ढरनि ।
(विनय० १८४)

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो ।
करम उपासन ज्ञान वेद मत सो सब भाँति खरो ।
मोहि तो सावन के अंधहिं ज्यों सूझत रंग हरो ।
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह जरो ।
अपनो भलो राम नामहि तें तुलसिहिं समुझि परो ।
(विनय० २२६)

राम नाम से प्रेम होने पर वैराग्य और योग स्वतः जाग पड़ते हैं :

राग राम नाम सों बिराग जोग जागिहै ।
(विनय० ७०)

बिना नाम जप के त्रिताप से भी मुक्ति असंभव है :

राम राम राम जीव जौलौं तू न जपि है ।
तौ लौं तू कहूँ जाय तिहूँ ताप तपि है ।
तुलसी तिलोक तिहूँ काल तोसे दीन को ।
राम नाम ही की गति जैसे जल मीन को ।
(विनय० ६८)

अन्य साधन वस्तुतः भव गयंद को बाँधने के लिए 'रेणुरज्जु' के समान हैं, नाम ही एकमात्र सरल साधन है :

जोग जाग जप बिराग तप सुतीरथ अटत ।
बाँधिबे को भवगयंद रेनुकी रजु बटत ।
परिहरि सुरमनि सुनाम गुंजा लखि लटत ।
लालच लघु तेरो लखि तुलसी तोहि हटत ।
(विनय० १२९)

राम-नाम के समान पतितपावन कोई दूसरा नहीं है :

सुमिरु सनेह सों तू नाम राम राय को।
सेतु भवसागर को हेतु सुखसार को।...
पतितपावन राम नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो।

(विनय० ६९)

राम-नाम का भी विरद 'गरीबनिवाज' का है :

बिरद गरीबनिवाज राम को।
गावत बेद पुरान संभु सुक प्रगट प्रभाव नाम को।
ध्रुव प्रह्लाद बिभीषन कपि जदुपति पांडव सुदाम को।
लोक सुजस परलोक सुगति इनमें को हो राम काम को।
गनिका कोल किरात आदिकबि इन तें अधिक बाम को।
बाजिमेध कब कियो अजामिल गज गायो कब साम को।
छली मलीन हीन सब ही अँग तुलसी सो छीन छाम को।
नाम नरेस प्रताप प्रबल जग जुग जुग चालत चाम को।

(विनय० ९९)

राम भी अपने इस नाम की लाज कर के प्रणत की रक्षा करते हैं :

सो धौं को जो नाम लाज तें नहिं राख्यो रघुबीर।

(विनय० १४४)

नाम-जप से सभी प्रकार का हित साधन हो सकता है :

प्रिय राम नाम तें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि मध्य परिनामो।

(विनय० २२८)

विमोहांधकार के लिए तो राम-नाम सूर्य के समान है :

रामनाम है बिमोह तिमिर तरनि।

(विनय० २४७)

और तुलसीदास के लिए वही सब कुछ है :

राम रावरो नाम मेरो मातु पितु है।
सुजन सनेही गुरु साहब सखा सुहृद राम नाम प्रेमपन अबिचल बितु है।

(विनय० २५४)

राम नाम का कवि की जीवन गाथा में एक विशेष योग है, और इस तथ्य की ओर उस ने बड़ी कृतज्ञतापूर्वक निर्देश किया है

नाम राम रावरोई हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे।
जननी जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे।
मोहुँ से कोउ कोउ कहत रामहि को सो प्रसंग केहि केरे।
फिर्यो ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहि हेरे।
नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे।
साधत साधु लोक परलोकहि सुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलंब नाम को एक गाँठि कई फेरे॥

(विनय० २२७)

(३६) स्वरूपासक्ति भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं।

(विनय० १०५)

जानकी जीवन की बलि जैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं।

(विनय० १०४)

एक पद में तो तुलसीदास राम से अपने चरण का दर्शन देने की याचना करते हैं, और एक दूसरे पद में उन से उन के कर स्पर्श की। यह दोनों ही पद अतीव सुंदर हैं और तल्लीनता के साथ लिखे गए जान पड़ते हैं। दोनों पद इस प्रकार हैं :

कबहिं देखाइहौ हरि चरन।
समन सकल कलेस कलिमल सकल मंगल करन।
सरद भव सुंदर तरुनतर अरुन बारिज बरन।
लच्छि लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन।
गंग जनक अनंग अरि प्रिय कपट बटु बलि छरन।
बिप्र तिय नृग बधिक के दुख दोष दारुन दरन।
सिद्ध सुर मुनि बृंद बंदित सुखद सब कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिन्हहिं जन होत तारन तरन।

कृपासिंधु सुजान रघुबर • प्रनत आरति हरन।
दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन॥
(विनय० २१८)

कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।
जेहि कर अभय किए जन आरत बारक बिबस नाम टेरे।
जेहि कर कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक संसय मेट्यो।
जेहि कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो।
जेहि कर कमल कृपालु गीध कहँ पिंडोदक दै धाम दियो।
जेहि कर बालि बिदारि दासहित कपिकुलपति सुग्रीव कियो।
आयो सरन सभीत बिभीषन जेहि कर कमल तिलक कीन्हों।
जेहि कर गहि सरचाप असुर हति अभयदान देवन दीन्हों।
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया।
(विनय० १३८)

एक अन्य पद में चरण कमलों के दर्शन के साथ साथ उन से उन के प्रकाश की भी याचना की गई है :

माधव अब न द्रवहु केहि लेखे।
प्रनत पाल प्रन तोर मोर मन जिअउँ कमल पद देखे।...
सुनु अदभ्र करुना बारिज लोचन मोचन भय भारी।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी।
(विनय० ११३)

(३७) यश कीर्तनासक्ति भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है :

जानकीजीवन की बलि जैहौं।...
स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
(विनय० १०४)

(३८) राम-तीर्थसेवन भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है। गंगा को राम (विष्णु) के चरणों से उत्पन्न मानते हुए तुलसीदास न केवल इस प्रकार उन की महत्ता बताते हैं :

बिज्ञान ज्ञानप्रदे
(विनय० १८)

मोह मद मदन* पाथोज हिम जामिनी।

(विनय० १८)

भंजनि भवभार भक्ति कल्प थालिका।

(विनय० १७)

महिमा की अवधि करसि बहु बिधि हरि हरनि।

(विनय० २०)

और उन से 'मति' की याचना करते हुए ·

तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुवंस बीर
बिचरत मति देहि मोह महिष कालिका।

(विनय० १७)

कहते हैं कि यदि गगा न हाती तो किस प्रकार तुलसीदास भवसागर को पार कर पाते

घोर भव अपार सिंधु तुलसी कैसे तरित।

(विनय० १९)

वरन् गगा से रामभक्ति की भी याचना करते हैं

देहि रघुबीर पद प्रीति निर्भर मातु दास तुलसी त्रास हरणि भव भामिनी।

(विनय० १८)

चित्रकूट की भी महिमा उन्हों ने इसी प्रकार कही है और उसे रामभक्ति का दाता कहा है

रस एक रहित गुन कर्म काल।

(विनय० २३)

सैलशृग भवभग हेतु लखु दलन-कपट पाखड दंभ दलु।
जहँ जनमे जग जनक जगत पति बिधि हरिहर परिहरि प्रपंच छलु।

(विनय० २४)

तुलसी जो राम पद चहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम।

(विनय० २३)

(३६) ब्राह्मण सेवा रामभक्ति की एक अन्य आवश्यक भूमिका है· विप्रद्रोह को तो गोस्वामी जी अघों में स्थान देते हैं:

सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि बिनय सुनावौं।
सकल धर्म बिपरीत करत केहि भाँति नाथ मन भावौं। ..

विप्रद्रोह जनु बाँट पर्यो हठि सब सों बैर बढ़ावौं।
ताहू पर निज मति विलास सब संतन माँझ गनावौं।

(विनय० १४२)

(४०) लोक से निरपेक्षता की भावना और उपास्य के प्रति अनन्य बुद्धि भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है :

दूसरो भरोसो नाहिं बासना उपासना को
वासव बिरंचि सुर नर मुनि गन की।...
सोंचे परे पाऊँ पान पंचन में पन प्रमान
तुलसी चातक आस राम स्यामघन की।

(विनय० ७१)

जानकी जीवन की बलि जैहौं।..
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि सीस ईस ही नैहौं।

(विनय० १०४)

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।
जानकीजीवन जनम जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं।

(विनय० २२९)

(४१) राम में सर्वस्व भाव भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है :

यहि जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि इक ठाईं।

(विनय० १०३)

नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।

(विनय० १०४)

कबहुँ कृपा करि रघुबीर मोहूँ चितै हौ।..
तुलसिदास कासों कहै तुमहीं सब मेरे प्रभु गुरु मातु पितै हौ।

(विनय० २७०)

तूँ उदार मैं कृपिन पतित मैं तैं पुनीत स्रुति गावै।
बहुत नात रघुनाथ तोहि मोहि अब न तजे बनि आवै।

जनक जननि गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।
द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी।

(विनय० ११३)

एक पद में तो यह सर्वस्वभाव अत्यधिक तल्लीनता के साथ कवि ने व्यक्त किया है :

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज हारी।
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसो।
ब्रह्म तू हौं जीव तुही ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हितु मेरो।
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै।

(विनय० ७९)

जितने भी गोस्वामी जी के संबंधी हैं सब से उन की यही याचना है कि वे रामचरण रति दें :

मातु पिता गुरु गनपति सारद। सिवा समेत संभु सुक नारद।
चरन बंदि बिनवौं सब काहू। देहु राम पद नेह निबाहू।

(विनय० ३६)

और जो भी उन की इस साधना में बाधक होना चाहते हैं उन का परित्याग वह तत्काल करना चाहते हैं; वे तो उन के संबंधी नहीं "कोटि बैरी सम" हैं :

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँडिए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रह्लाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितनि भए मुद मंगलकारी।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥

(विनय० १७४)

(४२) भागवत भक्ति भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है। देवताओं से तुलसीदास का जो संबंध है उस को भी इसी प्रसंग में देखना अच्छा होगा। सभी से वह रामभक्ति की याचना करते हैं, और इसी नाते वे "परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो" हैं अन्यथा वे सब के सब कैसे हैं इस का स्पष्ट कथन वे राम के शील की तुलना में बहुधा करते हैं।[१] गणेश से वे रामभक्ति की याचना करते हुए कहते हैं :

माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं राम सिय मानस मोरे।

(विनय० १)

सूर्य से इसी प्रकार वे भक्ति की याचना करते हुए कहते हैं :

तुलसी राम भगति बर मांगै।

(विनय० २)

शिव से इसी प्रकार रामभक्ति की याचना करते हुए वे कहते हैं :

देहु कामरिपु राम चरन रति।

(विनय० ३)

बिमल भगति रघुपति की पावै।

(विनय० ४)

तुलसिदास हरि चरन कमल हर देहु भगति अविनासी।

(विनय० ९)

देहि कामारि श्रीराम पद पंकजे भक्तिमनवरत गत भेद माया।

(विनय० १०)

करि कृपा हरिय भ्रम फंद काम। जेहि हृदय बसहिं सुख रासि राम।

(विनय० १४)

और पार्वती से भी वह इसी प्रकार की याचना करते हैं :

देहि मा मोहि प्रण प्रेम यह नेम निज राम घनश्याम तुलसी पपीहा।

(विनय० १५)

रघुपतिपद परम प्रेम तुलसी यह अचल नेम।
देहि ह्वै प्रसन्न पाहि प्रणतपालिका।

(विनय० १६)

[१] देखिए ऊपर पृ० ४८६-९०

(४३) स्वदोषानुभूति भी रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है। कवि की यह स्वदोषानुभूति 'विनयपत्रिका' में पग पग पर आगे आती है। यदि ध्यान पूर्वक देखा जावे तो यह भावना भक्ति की कतिपय आवश्यक भूमिकाओं की अवहेलना की अनुभूति मात्र है। इस संबंध में चार पद ऐसे हैं कि वे भावों की बड़ी तीव्रता के साथ कहे गए हैं, उन्हीं का उल्लेख यहाँ पर्याप्त होगा। निम्नलिखित पद वासनाविहीन व्यापक प्रेम नामानुराग, दंभ लाभादि से निर्विकारता तथा स्वरूपासक्ति के अभाव से संबंध रखता है

रामचंद्र रघुनायक तुम सों हौं बिनती केहि भाँति करौं।
अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमानि डरौं।
परदुख दुखी सुखी परसुख तें संतसील नहिं हृदय धरौं।
देखि आन की बिपति परम सुख सुनि संपति बिनु आगि जरौं।
भक्ति बिराग ज्ञान साधन कहि बहु बिधि डहँकत लोग फिरौं।
सिव सर्बस सुखधाम नाम तव बेंचि नरकप्रद उदर भरौं।
जानत हूँ निज पाप जलधि जिय जल सीकर सम सुनत लरौं।
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि गुनगिरि सम रज ते निदरौं।
नाना बेष बनाइ दिवस निसि पर बित जेहि तेहि जुगुति हरौं।
एकौ पल न कबहूँ अलोल चित हित दै पद सरोज सुमिरौं।
जो आचरन बिचारहु मेरो कलप कोटि लगि अवटि मरौं।
तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं॥

(विनय० १४१)

निम्नलिखित पद क्रमश मन की निर्विकारता अर्थात् माया (अनात्म विषयों) से मन को निर्लिप्त रखने और ब्राह्मण सेवा से संबंध रखता है

सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि बिनय सुनावौं।
सकल धर्म बिपरीत करत केहि भाँति नाथ मन भावौं।
जानत हूँ हरिरूप चराचर मैं हठि नयन न लावौं।
अंजन केस सिखा जुवती तहँ लोचन सलभ पठावौं।
स्रवनन को फल कथा तिहारी यह समुझौं समुझावौं।
तिन्ह स्रवनन पर दोष निरंतर सुनि सुनि भरि भरि तावौं।
जेहि रसना गुन गाइ तिहारे बिनु प्रयास सुख पावौं।
तेहि मुख पर अपवाद भेक ज्यों रटि रटि जनम नसावौं।

करहु हृदय अति बिमल बसहि हरि कहि कहि सबहि सिखावौं।
हौं निज उर अभिमान मोह मद खलमंडली बसावौं।
जो तनु धरि हरिपद साधहिं जन सो बिनु काज गवावौं।
हाटक घट भरि धर्‌यो सुधा गृह तजि नभ कूप खनावौं।
मन क्रम बचन लाइ कीन्हे अघ ते करि जतन दुरावौं।
पर प्रेरित इरषाबस कबहुँक कियो कछु सुभ सो जनावौं।
बिप्रद्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि सब सो बैर बढ़ावौं।
ताहू पर निज मतिबिलास सब संतन माँझ गनावौं।
निगम सेष सारद निहोरि जो अपने दोष कहावौं।
तौ न सिराहिं कलप सत लगि प्रभु कहा एक मुख गावौं।
जो करनी आपनी बिचारौं तौ कि सरन हौं आवौं।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को सो बल मनहिं दिखावौं।
तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं जेहि सपनेहु तुमहिं रिझावौं।
नाथ कृपा भवसिंधु धेनुपद सम जिय जानि सिरावौं।

(विनय० १४२)

निम्न लिखित पद क्रमशः मन निर्विकारता और लोक से निरपेक्षा के साथ अनन्याश्रय-बुद्धि से संबंध रखता है :

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।
काम लोलुप भ्रमत मन हरिभगति परिहरि तोरि।
बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि।
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
संग बस किये सुभ सुनाए सकल लोक निहोरि।
करौं जो कछु धरौं सचि पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि।
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि।
एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहि छोरि॥

(विनय० १५८)

और निम्नलिखित पद लोक निरपेक्षा युक्त अनन्याश्रय बुद्धि, नामानुराग तथा मन की निर्विकारता से संबंध रखता है :

नाथ सों कौन बिनती कहि सुनावौं ।
त्रिबिध अनगनित अवलोकि अघ आपने
सरन सनमुख होत सकुचि सिर नावौं ।
बिरचि हरि भगति को बेष बर टाटिका
कपट दल हरित पल्लवनि छावौं ।
नाम लगि लाइ लासा ललित बचन कहि
ब्याध ज्यों बिषय बिहँगनि बझावौं ।
कुटिल सतकोटि मेरे रोम पर वारियहि
साधु गनती मैं पहिलेहिं गनावौं ।
परम बर्बर खर्ब गर्ब पर्बत चढ्यो
अज्ञ सर्बज्ञ जनमनि जनावौं ।
साँच किधौं झूठ मोको कहत कोउ कोउ
राम रावरो हौंहुँ तुम्हरो कहावौं ।
बिरद की लाज करि दास तुलसिहि देव
लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं ।

(विनय० २०८)

अपने इन अघों के अपरिमित विस्तार के आधार पर ही तुलसीदास अपने उद्धार के लिए एक विनोदपूर्ण तर्क उपस्थित करते हैं :

राऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं ।
जौ जमराज काज सब परिहरि यही ख्याल उर अनिहैं ।
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के असमंजस जिय जनिहैं ।
देखि खलल अधिकार प्रभू सों मेरी भूरि भलाई भनि हैं ।
हँसि करिहैं परतीत भगत की भगत सिरोमनि मनिहैं ।
ज्यों ज्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायहि पर बनिहैं ॥

(विनय० ९५)

यह स्वदोषानुभूति मुख्यतः मन की तथा इंद्रियों की—और मन भी केवल एक इंद्रिय माना जाता है—स्वाभाविक विषय-लोलुपता के आधार पर अतिशयोक्ति का समाश्रय लेते हुए अपने ऊपर आरोपित की हुई है

यह स्पष्ट है, और इस में तुलसीदास कदाचित् अपने स्वामी का अनुकरण मात्र करते हैं :

कामिन्ह के दीनता देखाई । धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई ।

(मानस, अरण्य० ३९)

(४४) रामभक्ति की भूमिकाओं की समष्टि तुलसीदास ने प्राय की है, और इस प्रकार के समष्टिप्राय पदों में, जिन में से निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं, उपर्युक्त के अतिरिक्त रामभक्ति की अन्य आवश्यक भूमिकाओं को भी जैसे लोक संग्रह वृत्ति, वैराग्य वृत्ति, तन्मयता, तथा शुद्ध प्रेमासक्ति का भी यथेष्ट प्राधान्य मिला है

जौ मन लाग राम चरन अस ।
देह गेह सुत बित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किए जस ।
द्वंदरहित गतमान ज्ञानरत विषयबिरत खटाइ नाना कस ।
सुख निधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस ।
सर्वभूत हित निर्ब्यलीक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एकरस ।
तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीस दस ॥

(विनय० २०४)

जौ मन भज्यो चहै हरि सुरतरु ।
तौ तजि विषय बिकार सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु ।
सम संतोष बिचार बिमल अति सतसंगति ए चारि दृढ़ करि धरु ।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु ।
स्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु ।
नयननि निरखि कृपासमुद्र हरि अग जग रूप भूप सीताबरु ।
इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ ब्रत आचरु ।
तुलसिदास सिव मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु ।

(विनय० २०५)

तुम अपनायो जानिहौं जब मन फिरि परिहै ।
जेहि सुभाव बिषयनि लग्यो तेहि सहज
नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै ।
सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै ।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ बिधि

चातक ज्यौं एक टेक ते न टरिहै।
हरषिहै न अति आदरे निदरे न जरि मरिहै।
हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित
अनहित कलि कुचाल परिहरिहै।
प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम
लखि आनद उमगि उर भरिहै।

(विनय० २६८)

तौ तू मन पछितैहै मीजि हाथ।
भयो सुगम तोको अमर अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ।
सुख साधन हरि बिमुख वृथा जैसे श्रमफल घृत हित मथे पाथ।
यह बिचारि तजि कुपथ कुसंगति चलु सुपंथ मिलि भले साथ।
देखु राम सेवक सुनु कीरति रटहि नाम करि गान गाथ।
हृदय आनु धनु बान पानि प्रभु लसे मुनि पट कटि कसे भाथ।
तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाइ राम पदकमल माथ।
जनि डरपहि तो से अनेक खल अपनाये जानकीनाथ॥

(विनय० ८४)

कितनी सुंदरता के साथ भावाश्रित, कर्माश्रित, तथा ज्ञानाश्रित मार्ग की प्रायः समस्त प्रमुख भूमिकाएँ इन गीतों में समाविष्ट हुई हैं! इसी प्रसंग में एक और भी सुंदर पद का उल्लेख किया जा सकता है—वह जिसमें तुलसीदास ने अपने व्रत जीवन के आदर्श की व्याख्या की है[1]। ऊपर वह पद उद्धृत हो चुका है[2] इसलिए पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

(४५) रामभक्ति के लिए शिव भक्ति एक स्वतंत्र भूमिका है, बिना शिव कृपा के राम भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती

बिन तव कृपा राम पद पंकज सपनेहु भगति न होई।

(विनय० ९)

करि कृपा हरिय भ्रम फंद काम। जेहि हृदय बसहि सुखरासि राम।

(विनय० १४)

[1] विनय० १७२ [2] देखिए ऊपर पृ०

शिव राम के भक्त हैं :

अहि भूषन दूषनरिपु सेवक

(विनय० ९)

जाके चरन सरोज सेइ सिधि पाई संकर हू।

(विनय० ८६)

मोह का नाश और मोक्ष की प्राप्ति भी शिव कृपा से ही संभव है :

मोह निहार दिवाकर संकर

(विनय० ९)

देव मोह तम तरणि

(विनय० १०)

मोहतम भूरि भानु।

(विनय० १२)

अज्ञान पाथोधि घटसंभवं

(विनय० १२)

बिनु संभु कृपा नहिं भव विवेक।

(विनय० १३)

तव पद बिमुख न पार पाव कोउ कलप कोटि चलि जाहीं।

(विनय० ९)

महेन्द्र चन्द्रार्क वरुणाग्नि वसु मरुत यम
अर्चि भवदंघ्रि सर्वाधिकारी।

(विनय० १०)

प्रणत तुलसीदास त्रासहारी।

(विनय० ११)

दास तुलसी शरण सानुकूलं।

(विनय० १२)

कह तुलसिदास मम त्रास समन।

(विनय० १३)

संसार शिव के अंश से उत्पन्न है; वे ब्रह्म हैं; वे राम ही हैं और विष्णु तथा ब्रह्मा द्वारा पूजित हैं :

विस्व भवदंससंभव पुरारी।

(विनय० १०)

अकल निरुपाधि निर्गुण निरंजन ब्रह्म कर्मपथमेकमज निर्विकारं।
(विनय० १०)

(निर्मलं निर्गुणं निर्विकारं।
(विनय० १२)

राम रूपी रुद्र
(विनय० ११)

विष्णु विधिवंद्य चरणारविन्दं।
(विनय० १२)

निर्गुन गुननायक निराकार।
(विनय० १३)

(४६) हनुमान रुद्र के अवतार हैं यह हम ऊपर एक अन्य प्रसंग में देख चुके हैं।[1] तुलसीदास 'विनय पत्रिका' में इस बात पर यथेष्ट बल देते हैं। हनुमान भी राम के भक्त, और रामभक्तों के अनुगामी हैं :

जानकीनाथ चरनानुरागी।
(विनय० २९)

रामभक्तानुवर्त्ती।
(विनय० २७)

हनुमान भी धर्मार्थ-काम-मोक्ष को देने वाले हैं :

जयति धर्मार्थकामापवर्गद विभो
(विनय० २९)

और भव को नष्ट करने वाले हैं :

मोह मद कोह कामादि खल संकुल घोर संसार निसि किरनमाली।
(विनय० २६)

और हनुमान के प्रसन्न होने पर राम-शिवादि सभी प्रसन्न हो जाते हैं :

तापर सानुकूल गिरिजा हर लखन राम अरु जानकी।
(विनय० ३०)

(४७) तुलसीदास राम के नित्य रूप का ही ध्यान करते हैं। ऊपर हम स्वरूपासक्ति के संबंध में कवि की भावनाओं का अध्ययन करते हुए यह

[1] देखिए ऊपर पृ० ४७०

देख ही चुके हैं;[1] अन्यथा भी हमें इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। सीता से तुलसीदास यह निवेदन ही करते हैं कि अवसर देख कर वे तुलसीदास के ऊपर कृपादृष्टि के लिए राम से कहें,[2] पुनः राम की सेवा में उपस्थित होकर[3] वे अपनी 'विनय पत्रिका' उन के दरबार में पेश करते हैं,[4] जिस की दाद के लिए वे पवनसुवन, रिपुदमन, भरत लाल और लक्ष्मण से विनय करते हैं,[5] और फिर इनकी सम्मति प्राप्त कर राम वह 'विनय पत्रिका' स्वीकृत करते हैं।[6] फलतः तुलसीदास के राम निरे अवतारी राम नहीं हैं बल्कि उन की एक नित्य लीला है, और तुलसीदास इन्हीं राम का ध्यान करते हैं।

(४८) शिव और ब्रह्मा दूसरी ओर विष्णुरूप राम के भक्त हैं :

सकल सुखकंद आनंदघन पुण्यकृत विन्दुमाधव विपति द्वंद हारी।
यस्यांघ्रिपाथोज अज शंभु सनकादि सुक सेष मुनिवृंद अति निलयकारी।
(विनय० ६१)

और वे लक्ष्मी-रूपिणी सीता की कृपादृष्टि चाहते हैं :

रूप सील गुन खानि दच्छ दिसि सिंधुसुता रत पद सेवा।
जाकी कृपाकटाच्छ चहत सिव बिधि मुनि मनुज दनुज देवा।
(विनय० ६३)

(४६) मोक्ष के लिए क्रियामार्ग द्वारा राम की साङ्गपूजा का भी आश्रय लिया जा सकता है—राम की आरती की जो प्रशंसा तुलसीदास ने की है उस से यह ध्वनि ली जा सकती है :

हरति सब आरती आरती राम की।
दहति दुख क्रोध मिमूंजिनी काम की।
सुभग सौरभ धूप दीप वर मालिका।
उड़त अघ विहग करताल कर तालिका।
भक्त हृद्भवन अज्ञान तम हारिनी।
बिमल विज्ञानमय तेज बिस्तारिनी।

मोह मद कोह कलि कंज हिम जामिनी।
मुक्ति की दूतिका देह दुति दामिनी।
प्रनत जन कुमुद घन इंदु कर जालिका।
तुलसि अभिमान महिसेष बहु कालिका।

(विनय० ४८)

किन्तु उन का समान अनुराग एक आध्यात्मिक आरती पर भी प्रकट है :

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
हरन दुख द्वंद गोविंद आनन्द घन।
अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत इति बासना धूप दीजै।
दीप निज बोधगत क्रोध मद मोह तम प्रौढ़ अभिमान चितवृत्ति छीजै।
भाव अतिसय बिसद प्रवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम संतोषकारी।
प्रेम तांबूल गत सूल संसय सकल बिपुल भव बासना बीज हारी।
असुभ सुभ कर्म घृत पूर्ण दस वर्तिका त्याग पावक सतोगुन प्रकास।
भगति बैराग्य बिग्यान दीपावली अर्पि नीराजनं जगनिवासं।
बिमल हृदि भवन कृति सोंति पर्यंक सुभ सयन बिश्राम श्री राम राया।
छमा करुना प्रमुख तत्र परिचारिका यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया।
एहि आरती निरत सनकादि श्रुति सेष सिव देव ऋषि अखिलमुनि तत्वदरसी।
करै सोइ तरै परिहरै कामादि खल बदति इमि अमल मति दासतुलसी।

(विनय० ४७)

संक्षेप में 'विनय पत्रिका' में सुरक्षित तुलसीदास के आध्यात्मिक विचार ये हैं।

अध्यात्म रामायण

५ (१) राम परब्रह्म हैं, वे अव्यय नारायण हैं। वे निर्गुण, निराश्रय नित्य आनंदस्वरूप, निर्विकल्प, ज्ञानस्वरूप और अनादि हैं।[1]

[1] अध्यात्म०, बाल० (१) १, (१) २, (१) ३२-३३, (३) ६६; (४) १२, (५) ४९, (६) ५२, अयोध्या० (८) ३१; (९) ५७, किष्किन्धा० (७) ३६, सुंदर० (१) ४८, (५) ६३, युद्ध० (२) १५, (३) २०; (८) ६८; (४) ४०; (७) ५८, (३) २८-२९; (३) ७४, (१३) १७, (१५) ५७,

(२) राम अपनी माया के द्वारा ही सृष्टि की रचना तथा अन्य कार्य करते हैं, और वे निर्गुण से सगुण हो जाते हैं।[१]

(३) राम अपनी माया के द्वारा ही अवतार धारण करते हैं।[२]

(४) राम अपनी माया के द्वारा ही मनुष्य प्रतीत होते हैं।[३]

(५) राम अपनी अवतारी सृष्टि से परे हैं, उस का आरोप उन में न होना चाहिए। राम में कर्मों का आरोप अज्ञानी ही करते हैं।[४]

(६) राम विष्णु हैं। क्षीर सागर उन का स्थान है।[५]

(७) विष्णु परात्मा हैं; आदि नारायण हैं। विष्णु ही अपनी त्रिगुणात्मिका माया का आश्रय ग्रहण कर के इस जगत का निर्माण पालन और लय करते हैं, और फिर भी उस में लिप्त नहीं होते।[६]

(८) परात्मा राम ही माया के द्वारा रज, सत्व, और तम गुणों से युक्त होकर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, तथा लय के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र रूप धारण करते हैं, और मुग्ध-चित्तों को इन विविध रूपों में भासते हैं।[७]

(९) मत्स्यादि अवतार परात्मा राम ही के हुए हैं।[८]

(१०) अवतार लेने के कारण अनेक हुआ करते हैं :[९]

(क) पृथ्वी का भार उतारने के लिए,

(ख) अज्ञानके वशीभूत हुए जीवों को उससे छुटकारा दिलाने के लिए,

(ग) महाभागवतों के भक्तियोग का विधान करने के लिए,

(घ) कथा श्रवण की सिद्धि के लिए, और

(ङ) भक्तों का पथ प्रदर्शन करने के लिए वे अवतार धारण किया करते हैं और लीलाएँ किया करते हैं।

(११) विष्णु ने दशरथ के घर चार अंशों में अवतार धारण किया।[१]

(१२) लक्ष्मण शेष हैं, और अखिल भुवन आधार हैं।[२]

(१३) सृष्टि में माया से उत्पन्न जितनी शक्तियाँ हैं, लक्ष्मण (शेष) उन सब के आधार हैं।[३]

(१४) लक्ष्मण (शेष) राम के वहिर्प्राण और कर्त्ता भोक्ता हैं।[४]

(१५) लक्ष्मण (शेष) विष्णु के शरीर हैं।[५]

(१६) लक्ष्मण (शेष) 'विराट् पुरुष' हैं।[६]

(१७) लक्ष्मण (शेष) लोकाधार विष्णु हैं।[७]

(१८) लक्ष्मण (शेष) परमेश्वर हैं। राम ही शेष रूप हो कर नीचे से समस्त लोकों को धारण करते हैं।[८]

(१९) लक्ष्मण शेष के अंश हैं।[९]

(२०) लक्ष्मण साक्षात् नारायण (विष्णु) के अंश हैं।[१०]

(२१) भरत नारायण विष्णु के शंख हैं।[११]

(२२) शत्रुघ्न नारायण विष्णु के चक्र हैं।[१२]

[१] वही, बाल० (२) २७, (६) ६३ ६४

[२] वही, बाल० (४) १७, अयोध्या० (५) १२, (९) ४४, अरण्य० (२) १५–१७, किष्किंधा० (७) १८ युद्ध० (१४) २३, (८) ६७, (८) ६८

[३] वही, युद्ध० (६) ९

[४] वही, अयोध्या० (२) ३८

[५] वही, युद्ध (६) ९

[६] वही, युद्ध० (६) ११

[७] वही युद्ध० (६) ९, (६) ११

[८] अध्यात्म०, युद्ध० (६) १६, (१५) ५४

[९] वही, युद्ध० (६) ९

[१०] वही युद्ध० (६) १७

[११] वही, बाल० (४) १८, अरण्य० (२) १५ १६

[१२] वही, बाल० (४) १८, अरण्य० (२) १५ १६

(२३) वानरादि नारायण विष्णु के पार्षद देवता हैं।[1]

(२४) सीता जगत् की कारणरूपा साक्षात् जगद्रूपिणी चिच्छक्ति हैं, और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार कारिणी हैं।[2]

(२५) सीता आदिनारायण की योगमाया हैं।[3]

(२६) सीता अविनाशी परमात्मा की परम शक्ति हैं।[4]

(२७) इस लोक में जो कुछ पुरुष वाचक है वह राम हैं, और जो कुछ स्त्री वाचक है वह सीता हैं। इस लोक में राम-सीता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[5]

(२८) सीता लक्ष्मी हैं।[6]

(२९) *मूल प्रकृति, योगमाया, शक्ति तथा लक्ष्मी एक ही हैं।*[7]

(३०) माया; अविद्या, संसृति और बधन भी इसी शक्ति के नाम हैं।[8]

(३१) माया त्रिगुणात्मिका है।[9]

(३२) माया से ही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होते हैं।[10]

(३३) ब्रह्मा आदि प्रजाएँ इसी माया से उत्पन्न हैं।[11]

(३४) यह माया राम का सन्निधि प्राप्त कर सृष्टि करती है।[12]

(३५) यह माया निर्गुण राम का आश्रय पा कर ही भासमान होती है, उन्हीं में रहती है, और उन की शक्ति कही जाती हैं।[13]

(३६) यह माया राम के अधीन है। नाना आकार धारण करने के

[1] वही, बाल० (६) २७; किष्किंधा० (७) १९

[2] वही, युद्ध० (४) ४०; बाल० (१) ३४; अयोध्या० (५) २३ किष्किंधा० (७) १७

[3] वही, बाल० (२) २८; (४) १८; अयोध्या० (५) ११; (९) ४३-४४; सुंदर० (१) ४८

[4] वही, बाल० (७) २७

[5] वही, अयोध्या० (१) १८-१९

[6] वही, अयोध्या० (५) ११; (२) २३; (६) ३७; अरण्य० (२) १५-१६; युद्ध० (२) १६; (४) ४०; (७) ५८; (१४) २३

[7] वही, अयोध्या० (५) ११; अरण्य० (३) २२

[8] वही, अरण्य० (३) २२

[9] अध्यात्म०, अयोध्या० (१) ११

[10] वही, बाल० (१) ३४; अयोध्या० (५) २:

[11] वही, अयोध्या० (१) ११

[12] वही, बाल० (१) ३४, अयोध्या० (१) ११; युद्ध० (१४) २८

[13] वही, बाल० (१) २; अयोध्या० (१) ११; अरण्य० (३) २०

कारण यह एक बहुरूपिणी नर्तकी मात्र है और उन से डरती रहती है।[१]

(३७) निर्गुण राम को उन की लीला से जब यह शक्ति ढँक लेती है तो इसे 'अव्याकृत' कहा जाता है और उन्हें 'वैराज'।[२]

(३८) कोई इसे 'अव्याकृत' को 'मूल प्रकृति' भी कहते हैं, और इसे ही 'अविद्या', 'संसृति', 'बंधन' आदि भी कहते हैं।[३]

(३९) राम के द्वारा क्षुभित होने पर इस शक्ति से 'महत्तत्व' उत्पन्न होता है।[४]

(४०) राम की ही प्रेरणा से 'महत्तत्व' से 'अहंकार' प्रकट होता है।[५]

(४१) 'अहंकार' तीन प्रकार का होता है 'सात्विक', 'राजस', तथा 'तामस'।[६]

(४२) 'तामस' अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध नामक पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।[७]

(४३) इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच स्थूल भूत होते हैं।[८]

(४४) 'राजस' अहंकार से दश इंद्रियाँ होती हैं।[९]

(४५) 'सात्विक' अहंकार से इंद्रियों के अधिष्ठाता देवता तथा मन उत्पन्न होते हैं।[१०]

(४६) दश इंद्रियों, उन के अधिष्ठाता देवताओं, तथा मन की समष्टि से सर्वात्मक सूत्ररूप लिंग शरीर होता है।[११]

(४७) स्थूल भूत समूह से 'विराट्' उत्पन्न होता है।[१२]

(४८) इस 'विराट्' से संपूर्ण स्थावर जंगम जगत उत्पन्न होता है।[१३]

[१] वही, अयो० (२) ३२; (९) ५९, (९) ९२

[२] वही, अरण्य० (३) २१, अयोध्या० (१) २०, युद्ध० (३) ७४

[३] वही, अरण्य० २२

[४] वही, अरण्य० (३) २३, अयोध्या० (१) २०

[५] वही, अरण्य० (३) २३

[६] वही, अरण्य० (३) २४

[७] वही, अरण्य० (३) २५

[८] अध्यात्म०, अरण्य० (३) २५

[९] वही, अरण्य (३) २६

[१०] वही

[११] वही, अरण्य० (३) २६, (४) २८, अयोध्या० (१) २१

[१२] वही, अरण्य० (३) २७, (९) ३४

[१३] वही, अरण्य० (३) २७

(४६) 'विराट्' विष्णु का स्थूल शरीर है।[1]

(५०) 'सूत्र' विष्णु का सूक्ष्म शरीर है।[2]

(५१) सूर्य, चंद्र, वायु, औषध और वृष्टि हो कर राम नाना प्रकार से लोकों का पालन करते हैं।[3]

(५२) वे जठराग्नि होकर अन्न को पचाते और जगत का पालन करते हैं।[4]

(५३) राम अपने अंश से समस्त लोकों की रचना करते हैं।[5]

(५४) जीव की कारण उपाधि अविद्या है।[6]

(५५) बुद्धि अविद्या का कार्य है।[7]

(५६) बुद्धि में ज्ञानशक्ति नहीं है।[8]

(५७) बुद्धि के सत्व, रज, तम से ही क्रमश जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ होती हैं।[9]

(५८) जो कुछ भी इंद्रियों का विषय है वह स्वप्न और मनोरथों के समान असत्य है।[10]

(५९) रज्जु में सर्प के समान, सीपी में चाँदी के समान, तथा सूर्य की किरणों में जल के समान, परमात्मा और आत्मा में विश्व (सृष्टि) की कल्पना माया (अज्ञान) द्वारा ही होती है।[11]

(६०) विश्व के प्रति हमारा राग द्वेष केवल इसी अनादि 'अविद्या' तथा उस के कार्य 'अहंकार' के कारण होता है।[12]

(६१) महाकाश, जलावच्छिन्न आकाश तथा प्रतिबिम्बाकाश की तरह चैतन्य के भी तीन भेद हैं · पूर्ण चैतन्य, बुद्ध्यवच्छिन्न चैतन्य, तथा आभास चैतन्य।[13]

[1] वही, युद्ध० (१४) ३०
[2] वही, युद्ध० (१४) ३०
[3] वही, युद्ध० (१५) ५४
[4] वही, युद्ध० (१५) ५५
[5] वही, युद्ध० (१५) ५४
[6] वही, अयोध्या० (१) २२
[7] वही, बाल० (१) ४८
[8] वही
[9] वही, अरण्य० (३) ३०
[10] अध्यात्म०, अरण्य० (४) २६, किष्किंधा० (३) २०
[11] वही, अरण्य० (४) २५, युद्ध० (३) २३, (८) ४२-४३, किष्किंधा० (३) २०
[12] वही, किष्किंधा० (३) २०
[13] वही, बाल० (१) ४६

(६२) आभास चैतन्य युक्त बुद्धि में ही कर्त्तृत्व है।[१]

(६३) आभास चेतन्य युक्त बुद्धि ही जीव है।[२]

(६४) आभास चेतन्य युक्त बुद्धि के ही कर्तृत्व और जीवत्व को अज्ञानी लोग भ्रांतिवश निरवच्छिन्न, निर्विकार, साक्षी आत्मा में आरोपित करते हैं।[३]

(६५) आत्मा में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व न होने के कारण वह संसृति में नहीं पड़ता। उस में संसृति का आरोप मिथ्या है।[४]

(६६) स्थूल, सूक्ष्म, तथा कारण नाम की चेतन की तीन उपाधियाँ हैं। (वस्तुतः यह तीन भेद शरीर के हैं, जिन से आत्मा का तादात्म्य करना ही उन का उपाधि स्वरूप में ग्रहण करना है। इन उपाधियों से युक्त चेतन जीव कहलाता है। लिंगदेहाभिमानी चेतन मात्र ही जगत् में तन्मय हुआ जीव नाम से विख्यात है।[५]

(६७) इन उपाधियों से रहित होने पर वह परमेश्वर कहलाता है।[६]

(६८) आत्मा ही परात्मा है।[७]

(६९) पाँच स्थूल भूत, पंच तन्मात्राएँ, अहंकार, बुद्धि, दश इन्द्रियाँ, चिदाभास, मन और मूल प्रकृति इन सब की समष्टि क्षेत्र (शरीर) कहलाती है। जीव इन सब से भिन्न है।[८]

(७०) जीव तथा परमात्मा पर्याय हैं। इन में भेदबुद्धि न करनी चाहिए।[९]

(७१) आत्मा अनात्म मन को अपना लिंग (पहचान का साधन) बना कर उस से प्राप्त होने वाले विषयों का सेवन करता हुआ उस के द्वारा राग-द्वेषादि गुणों में बँधा रहता है।[१०]

(७२) राग द्वेषादि के योग से वह नाना प्रकार के (शुक्र यथा जप

१ वही, बाल० (१) ४७
२ वही
३ वही
४ वही, बाल० (६) ८६, किष्किंधा० (३) २९
५ वही, अयोध्या० (१) २३
६ वही
७ अध्यात्म०, अयोध्या० (७) १०७, अरण्य० (८) ३०
८ वही, अरण्य० (४) ३०
९ वही, अरण्य० (४) ३१
१० वही, किष्किंधा० (३) २३-२५

ध्यानादि, लोहित यथा हिंसामय यज्ञादि, तथा कृष्ण यथा मद्यपानादि) कर्म करता है। उन कर्मों के अनुसार ही उस की गतियाँ होती हैं, फलतः वह कर्मों के वशीभूत होकर आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है।[१]

(७३) राम की माया दो रूपों में भासती है : विद्या और अविद्या।[२]

(७४) अनात्म में आत्म-भावना ही अविद्या है।[३]

(७५) अनात्म से आत्म भावना का बाध ही विद्या है।[४]

(७६) अविद्या संसृति का हेतु है।[५]

(७७) विद्या संसृति से मुक्त करने वाली है।[६]

(७८) प्रवृत्ति मार्ग वाले अविद्या के वशीभूत होते हैं।[७]

(७९) निवृत्ति मार्ग वाले विद्यामय होते हैं।[८]

(८०) माया (अविद्या माया ?) के दो रूप हैं 'आवरण' तथा 'विक्षेप' और तदनुसार उस के दो कार्य हैं :[९]

(१) आवरण शक्ति संपूर्ण ज्ञान को आवृत कर के रखती है।

(२) विक्षेप शक्ति ही विश्व की कल्पना करती है।

(८१) जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान उत्पन्न होने पर अविद्या और तज्जनित दुःख नष्ट हो जाते हैं और वह अपने कार्य तथा समस्त साधनों के सत्य परमात्मा में लीन हो जाती है।[१०]

(८२) अविद्या की इस लयावस्था को ही मोक्ष कहते हैं।[११]

(८३) जीव और ब्रह्म की इस एकता को समझ लेने पर मनुष्य सारूप्य-मोक्ष का पात्र हो जाता है।[१२]

१ वही, अयोध्या० (६) ४-५; किष्किंधा० (३) २३-२५

२ वही अरण्य० (३) ३२

३ वही, अयोध्या० (४) ३३

४ वही

५ वही, अयोध्या० (४) ३४; अरण्य० (३) ३२ किष्किंधा० (३) १८; युद्ध० (४) १८; युद्ध० (३) २२; (४) ४७

६ वही, अयोध्या० (४) ३४; अरण्य० (३) ३३

७ वही, अरण्य० (३) ३३

८ वही, अरण्य० (३) ३३

९ वही, (४) २२-२४

१० वही, बाल० (१) ५०; अयोध्या० (१) २६; अरण्य० (४) ४३; (१०) २९; किष्किंधा० (३) ३१; सुन्दर० (४) १९.

११ वही, अरण्य० (४) ४४

१२ वही, बाल० (१) ५१

(८४) अनात्म में आत्म का बाध, और अपने को नित्य शुद्ध बुद्ध चिदात्मा समझना बोधज्ञान कहलाता है।[1]

(८५) इस ज्ञान का साक्षात् अनुभव ही विज्ञान कहलाता है।[2]

(८६) इस लिए मनुष्य को ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।[3]

(८७) अविद्या का बंधन कर्ममार्ग के साधनों से टूटता नहीं, बल्कि और दृढ़ होता है।[4]

(८८) भक्ति द्वारा विज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञानयोग नामक राज भवन के शिखर के लिए रामभक्ति सीढ़ी रूप है।[5]

(८९) भक्ति से विमुख मनुष्यों के लिए मोक्ष अत्यंत दुर्लभ है, भक्ति वाले ही मुक्ति के पात्र हैं।[6]

(९०) विद्या का प्रादुर्भाव मनुष्य के अंतःकरण में बिना रामभक्ति के नहीं होता।[7]

(९१) राम भक्ति का प्रादुर्भाव प्रमुख रूप से कथा श्रवण से होता है।[8]

(९२) कथा श्रवण में श्रद्धा साधुसंग से होती है—साधुओं के लक्षणों में से एक राम भक्ति भी है।[9]

(९३) साधुसंग ही मोक्ष का मुख्य साधन है। जिस में यह साधन होता है उस में रामभक्ति के अन्य साधन क्रमशः स्वतः आ जाते हैं।[10]

(९४) 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों से बोधज्ञान प्राप्त होने में यथेष्ट सहायता मिलती है।[11]

[1] वही, अरण्य० (४) ३८, (४) ४१
[2] वही, अरण्य० (४) ३९
[3] वही, अयोध्या० (१) २८
[4] वही, किष्किंधा० (१) ८०
[5] वही, बाल० (१) ११, (६) ३९, अयोध्या० (१) २९; अरण्य० (३) ४०; युद्ध (३) ३१, (३) ३६, (७) ६७
[6] वही, अरण्य० (१) ४५, (४) ४५-४६, (३) ३५, युद्ध० (७) ६७
[7] अध्यात्म०, अरण्य० (३) ३४
[8] वही, अरण्य० (३) ४०, किष्किंधा० (३) २९
[9] वही, अरण्य० (३) ३९, किष्किंधा० (३) २८-२९
[10] वही, अरण्य० (३) ३६, (१०) ३० ३१
[11] वही, बाल० (१) ४९, किष्किंधा० (३) ३१

(९५) 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अर्थज्ञान गुरुकृपा से होता है।[1]

(९६) नाम-जप भी रामभक्ति के प्रादुर्भाव और मोक्ष-साधन—के लिए अत्यंत उपयोगी हुआ करता है।[2]

(९७) प्रेमलक्षणा रामभक्ति के आविर्भाव के लिए नौ साधन (नवधा भक्ति) विशेष रूप से मान्य हैं। राम ने स्वतः कहा है कि "मेरी भक्ति का पहला साधन सतसंग है।[3]

(९८) मेरी कथा का गान करना दूसरा साधन है।[4]

(९९) मेरे गुणों की चर्चा करना तीसरा साधन है।[5]

(१००) मेरे वचनों (गीतादि) की व्याख्या करना चौथा साधन है।[6]

(१०१) अपने गुरुदेव की निष्कपट होकर भगवद्बुद्धि से सेवा करना पाँचवाँ साधन है।[7]

(१०२) पुण्य शीलता (पवित्र स्वभाव) यम-नियमादि का पालन, मेरी पूजा में अनवरत निष्ठा छठा साधन है।[8]

(१०३) मेरे मंत्र (राममंत्र) की सांगोपांग उपासना करना सातवाँ साधन है।[9]

(१०४) समस्त प्राणियों में मेरी भावना करना, बाह्य पदार्थों में अनासक्ति रखना, और शम-दमादि सम्पन्न होना आठवाँ साधन है।[10]

(१०५) तत्त्व-विचार नवाँ साधन है।[11]

(१०६) मोक्ष प्राप्ति का एक और साधन शिवपूजा है। (स्वतः राम ने सेतुबंध के आरंभ में रामेश्वर महादेव की स्थापना कर कहा है, "सेतुबंध

[1] वही, किष्किंधा० (३) ३१

[2] वही, अयोध्या० (६) ६३—६८; अरण्य० (२) २९; (२) ३१; अरण्य० (३) ८; (१०) ३; (४) ४९; किष्किंधा० (१) ८४; सुंदर० (१) ५; (४) ९९; युद्ध० (१५) ६२; (१६) ४९

[3] वही, अरण्य० (१०) २२—२७

[4] वही

[5] वही

[6] वही

[7] अध्यात्म०, अरण्य० (१०) २२—२७

[8] वही

[9] वही

[10] वही

[11] वही

में स्नान और रामेश्वर के दर्शन कर के जो मनुष्य काशी से गंगाजल लावेंगे और उस से रामेश्वर का अभिषेक करेंगे वे निस्संदेह ब्रह्म को प्राप्त होंगे।")[१]

(१०७) शिव राम के भक्त हैं (और उन्हों ने ही 'अध्यात्म-रामायण' की कथा भी कही है)।[२]

(१०८) वैष्णव जन राम के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार कर के भी संसृति-सागर को तर जाते हैं।[३]

(१०९) राम के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार उन के ध्यान द्वारा होता है।[४]

(११०) राम का निर्गुण स्वरूप मन का अविषय होने के कारण भक्ति के उपयुक्त नहीं है।[५]

(१११) विद्वान् लोग इस लिए राम के अवतारी रूप का ही ध्यान कर के संसृति-सागर को पार करते हैं।[६]

(११२) योगाभ्यास के द्वारा चित्त की शुद्धि की जा सकती है।[७]

(११३) ब्रह्मा भी राम के भक्त हैं—शिव तो हैं ही।[८]

(११४) ब्रह्मादि भी अन्य जीवों की भाँति बाह्य पदार्थों में सत्य बुद्धि (माया) के कारण राम के चित्स्वरूप को नहीं जान पाते।[९]

(११५) भरत विश्व का पोषण करने वाले हैं।[१०]

(११६) शत्रुघ्न शत्रु-शमन हैं।[११]

(११७) मुक्ति के तीन रूप प्रमुख हैं : सायुज्य, सारूप्य, तथा सालोक्य।[१२]

[१] वही, युद्ध० (४) ३–४

[२] वही, बाल० (५) ४३; (५) ४७, ४८, अरण्य० (२) २७, युद्ध० (१५) ६२, (१६) ४९; (१३) १६, (१३) ३१

[३] वही, अरण्य० (१०) २९, युद्ध० (३) ३०

[४] वही, युद्ध० (३) ३६

[५] वही, युद्ध० (८) ४४

[६] अध्यात्म०, युद्ध० (८) ४५

[७] वही, युद्ध० (१३) ११-२२; (१३) १४; (१३) २७

[८] वही, बाल० (५) ४३; (५) ४८, अरण्य० (२) २७, युद्ध० (१३) १०–१७

[९] वही, युद्ध० (१५) ६१

[१०] वही, बाल० (३) ४१

[११] वही

[१२] वही, अरण्य० (२) ३९; युद्ध० (११) ८१; (११) ८६; (१६) १५ युद्ध०

[परंतु इन तीनों में कोई मौलिक अंतर नहीं माना गया है। जटायु, उदाहरणार्थ, सारूप्य का वरदान प्राप्त करता है, विष्णु का रूप वह धारण करता है और तदनंतर उस को विष्णु लोक जाने का आदेश होता है, और वह परम धाम को जाता है। और जब आगे उस की सद्गति का उल्लेख होता है तो कहा जाता है कि उस ने राम में सायुज्य प्राप्त किया।][1]

(११८) मोक्ष के लिए क्रिया मार्ग द्वारा राम की साग पूजा का भी आश्रय लिया जा सकता है, और इस प्रकार की एक पूजा का सविस्तर विधान किया गया है।[2]

[किंतु इस प्रकार का विस्तृत क्रिया विधान वेदांत निर्भर[3] 'अध्यात्म रामायण' के अनुकूल नहीं जान पड़ता है।]

संक्षेप में 'अध्यात्म रामायण' के आध्यात्मिक विचार ये हैं।

उपसंहार

६ 'मानस', 'विनय पत्रिका' तथा 'अध्यात्म रामायण' के उपर्युक्त सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर तीनों के संबंध में तथ्य हमें इस प्रकार ज्ञात होता है। राम के परमात्मत्व, निर्गुण ब्रह्मत्व[4] तथा सगुण ब्रह्मत्व[5] के संबंध में 'मानस' 'विनय पत्रिका' तथा 'अध्यात्म रामायण' में परस्पर पूर्ण साम्य है। राम अपनी माया का आश्रय ले कर ही अवतार धारण करते हैं।[6] यह सिद्धांत 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में मिलता है, 'विनय पत्रिका' में नहीं मिलता। मायाश्रित राम के सगुण रूप तथा उन की सगुण लीला को देखकर भ्रम में पड़ने की संभावना तथा उस भ्रम से प्रेरित हो कर राम में कर्मों का आरोप किए जाने का विचार[7] जिस प्रकार 'मानस' में मिलता है उसी प्रकार वह 'अध्यात्म रामायण' में भी मिलता है, 'विनय पत्रिका' में यह विचार भी

(३) ४१; (१६) १९ किष्किंधा० (३) ६९

[1] वही, अरण्य० (८) ४०, (८) ५४, ५६; किष्किंधा (७) ४१

[2] वही, किष्किंधा० (४) ६–४०

[3] वही, बाल० (१) ५४

[4] उपर्युक्त मानस (१), विनय० (१), अध्यात्म० (१)

[5] वही, मानस (२) विनय० (२), अध्यात्म० (२)

[6] वही, मानस (३), अध्यात्म० (३)

[7] वही मानस (४), अध्यात्म० (४), (५)

नहीं मिलता। राम के विष्णुत्व के संबंध में[1] तीनों में पूर्ण साम्य है। विष्णु के अवतार के संबंध में[2] यद्यपि एक सीमा तक साम्य है किंतु उस के आगे 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' 'अध्यात्म रामायण' से मतभेद प्रदर्शित करते हैं। 'अध्यात्म रामायण' में जब कि विष्णु ही सब कुछ हैं, 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में विष्णु राम की तुलना में कुछ भी नहीं हैं। अपनी माया के द्वारा ही राम सृष्टि की रचना तथा उस का संहारादि करते हैं[3] इस संबंध में 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में परस्पर कोई अंतर नहीं है, 'विनय पत्रिका' में इन से इतना अंतर अवश्य है कि उस में माया के माध्यम का कोई उल्लेख नहीं होता है। वाराहादि अनेक अवतार इन्हीं राम के हुए थे[4] इस संबंध में तीनों एक मत हैं। अवतार धारण के कारणों के विषय में[5] यद्यपि 'मानस' और 'विनय पत्रिका' में वैसा विस्तार नहीं है जैसा 'अध्यात्म रामायण' में है पर यह चेष्टा तुलसीदास, जैसा वे 'मानस' में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं, इस लिए नहीं करते कि उस का पर्याप्त निरूपण नहीं हो सकता।

चतुर्व्यूहत्व[6] के विषय में 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में पूर्ण साम्य है, 'विनय पत्रिका' में इस संबंध का कोई उल्लेख नहीं होता। लक्ष्मण के शेषत्व[7] के संबंध में तीनों में पूर्ण साम्य है—'अध्यात्म रामायण' में उल्लिखित लक्ष्मण के शेषावतार को भी हम उन के शेषत्व के अंतर्गत ले सकते हैं। लक्ष्मण में विश्व के करण-कारणत्व का प्रतिपादन 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में ही मिलता है 'विनय पत्रिका' में नहीं मिलता, साथ ही उस का जितना विस्तार हमें 'अध्यात्म रामायण' में मिलता है उतना 'मानस' में नहीं मिलता यद्यपि उस का सार सिद्धांत हमें उस में अवश्य मिल जाता है। राम में शेषत्व[8] के विषय में तीनों परस्पर एकमत हैं।

[1] वही, मानस (५) विनय० (३), अध्यात्म० (६)

[2] वही, मानस (६), विनय० (४), अध्यात्म० (७)

[3] वही, मानस (७), विनय० (५), अध्यात्म० (८)

[4] वही, मानस (८), विनय० (६), अध्यात्म० (९)

[5] उपर्युक्त मानस (९), विनय० (७), अध्यात्म० (१०)

[6] वही, मानस (१०), अध्यात्म० (११)

[7] वही, मानस (११) विनय० (८), अध्यात्म० (१२), (१३)

[8] वही, मानस (१२), अध्यात्म० (१३)-(१६)

[9] वही, मानस (१३), विनय० (९), अध्यात्म० (१८)

लक्ष्मण के ब्रह्मत्व[1] के विषय में 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में कुछ साम्य अवश्य है, और 'अध्यात्म रामायण' में उल्लिखित लक्ष्मण के नारायणांशत्व को भी। हम इसी के अंतर्गत ले सकते हैं, पर भेद भी है; 'विनय पत्रिका' मे उस की कोई चर्चा नहीं मिलती है। 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' मे परस्पर इस विषय मे भेद यह है कि 'अध्यात्म रामायण' मे *लक्ष्मण को स्पष्ट रूप से लोकाधार विष्णु और परमेश्वर कहा* गया है, 'मानस' में इस प्रकार का कोई कथन नहीं किया जाता और *यद्यपि उन्हें राम के साथ एक स्थान पर अपरिवर्तनशील दिखाया जाता है,* अन्यत्र उन्हें राम से पृथक् अन्य भाइयों के साथ रखकर परिवर्तनशीलों में स्थान दिया जाता है। भरत मे विश्व के पोषकत्व[2] तथा शत्रुघ्न मे शत्रु-सूदनत्व[3] के संबंध मे तीनों में पूर्ण साम्य है, 'अध्यात्म रामायण' मे इतना और है कि भरत नारायण के शंख और शत्रुघ्न नारायण के चक्र हैं। वानरादि में देवत्व[4] और 'मानस' मे उल्लिखित देवांशत्व को भी उसके अंतर्गत हम ले सकते हैं—तथा सगुण ब्रह्म के उपासकत्व[5] के विषय में तीनों एकमत ज्ञात होते हैं यद्यपि 'विनय पत्रिका' मे स्पष्ट उल्लेख दोनों के संबंध मे नहीं मिलता।

सीता का मूलप्रकृतित्व[6], योगमायात्व और परमशक्तित्व[7] 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में समान रूप से मिलते हैं, 'विनय पत्रिका' में केवल प्रथम का अंशतः उल्लेख मिलता है शेष का वह भी नहीं। लोक मे राम सीता की *पूर्ण व्याप्ति*[8] के उल्लेख 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' मे एक से मिलते हैं, 'विनय पत्रिका' में नहीं मिलते। सीता के लक्ष्मीत्व[9] के विषय मे 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में आंशिक समानता है, 'विनय पत्रिका'

[1] वही, मानस (१४), अध्यात्म० (१७), (१८), (२०)

[2] वही, मानस (१५), विनय० (१०), अध्यात्म० (२१), (११५)

[3] उपर्युक्त मानस (१६), विनय० (११), अध्यात्म० (२२), (११६)

[4] वही, मानस (१७), विनय० (१२), अध्यात्म० (२३)

[5] वही, मानस (१८), विनय० (१२), अध्यात्म (२३)

[6] वही, मानस (१९), विनय० (१३), अध्यात्म० (२४)

[7] वही, मानस (२०), अध्यात्म० (२५), (२६)

[8] वही, मानस (२१), अध्यात्म० (२७)

[9] वही, मानस (२२), अध्यात्म० (२८)

में इस विषय का कोई उल्लेख नहीं है। 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' के बीच का यह अंतर उसी प्रकार का है जिस प्रकार का अंतर हम विष्णु के अज्ञत्व के सबंध में ऊपर देख चुके हैं। यों तो लक्ष्मी दोनों में परमशक्ति है[1] किन्तु सीता की तुलना में 'मानस' में वह कुछ भी नहीं है, पूर्वोक्त विचार में यह अंतर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

माया की त्रिगुणात्मकता[2] के सबंध में 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में पूर्ण एकरूपता है, 'विनय पत्रिका' में कोई उल्लेख नहीं होता है। माया के मूलप्रकृतित्व[3] के सबंध में भी इसी प्रकार दोनों में साम्य स्पष्ट है, 'विनय पत्रिका' में उस का कोई उल्लेख नहीं होता। माया के कार्यक्षेत्र[4] के सबंध में भी दोनों में यथेष्ट साम्य है, 'विनय पत्रिका' में इस विषय का भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं होता। माया के स्वत. जडत्व तथा रामाश्रय से क्रियाशीलत्व[5] के सबंध में तीनों समान हैं। माया के रामाधीनत्व[6] के विषय में 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में पर्याप्त साम्य है, 'विनय पत्रिका' में यद्यपि इस विषय का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर पूर्वोक्त उल्लेख से इस प्रकार की ध्वनि ली जा सकती है। माया की सृष्टि[7] का जो उल्लेख 'मानस' में है वह अत्यत अपर्याप्त है, 'विनय पत्रिका' में उस का यथेष्ट विस्तार मिलता है, और वह 'अध्यात्म रामायण' वाले उक्त विस्तार से पूर्ण एकरूपता रखता है। पुन. समस्त सृष्टि के राम रूप[8] होने का विचार भी तीनों में पाया जाता है, यद्यपि उस का जितना युक्तियुक्त प्रतिपादन 'विनय पत्रिका' में किया गया है उतना वह अन्य दो में से किसी में नहीं मिलता। ससार का मिथ्यात्व[9] तीनों में समान रूप से प्रतिपादित है।

जीवत्व[10] के विषय में 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में वस्तुतः

[1] वही, मानस (२३), अध्यात्म० (२९), (३०)

[2] वही, मानस (२४), अध्यात्म० (३१)

[3] वही, मानस (२५), अध्यात्म० (३२)

[4] वही, मानस (२६), अध्यात्म० (३३)

[5] उपर्युक्त मानस (२७), विनय० (१४), अध्यात्म० (३४), (३५)

[6] [illegible] (२८), [illegible]० (३६)

[7] वही, मानस (२९), विनय० (१५) अध्यात्म० (३७)–(५०)

[8] वही, मानस (३०), विनय० (१६) अध्यात्म० (५१)–(५३)

[9] वही, मानस (३१), विनय० (१७), अध्यात्म० (५८)

[10] वही, मानस (३२), अध्यात्म० (५४)–(५[illegible] (६१) (६४)

कोई अंतर नहीं है, और 'विनय पत्रिका' में कोई उल्लेख नहीं है। केवल 'अध्यात्म रामायण' में बुद्धि के कारण, उसकी शक्ति, उस के स्वभाव तथा कार्यादि का यथेष्ट विस्तार कर के जीवत्व के यथार्थ स्वरूप-निरूपण का जैसा प्रयत्न किया गया है वह अन्य दो में नहीं हुआ है। शरीर के अनात्मत्व[1] के विषय में 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में यथेष्ट साम्य है, 'विनय पत्रिका' में इस विषय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। जीव में यथार्थ ईश्वरत्व[2] के संबंध में भी इसी प्रकार दोनों में परस्पर कोई मतभेद नहीं है और 'विनय पत्रिका' में भी समान ध्वनि मिलती है। जीव पर माया के प्रभुत्व[3] और जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व[4] के संबंध में भी तीनों में यथेष्ट साम्य है। इस पिछले प्रसंग में 'विनय पत्रिका' और 'अध्यात्म रामायण' में मन के द्वारा होने वाले अनर्थ का जैसा विस्तार हुआ है वैसा हमें 'मानस' में नहीं मिलता।

माया के विद्या[5] और अविद्या[6] आदि विस्तारों के संबंध में 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' के बीच कोई अंतर नहीं है, 'विनय पत्रिका' में हमें यह विस्तार नहीं मिलता। जीव तथा ब्रह्म के अभेद ज्ञान से भवनाश[7] के संबंध में तीनों में यथेष्ट साम्य है। स्वरूप-ज्ञान से ब्रह्मत्व[8] तथा बोध ज्ञान के स्वरूप[9] के संबंध में भी तीनों में यद्यपि साम्य दिखाई पड़ता है किन्तु 'अध्यात्म रामायण' में इसी प्रसंग में 'विज्ञान' का भी स्वरूप निरूपण किया गया है जो अन्य दो में नहीं मिलता है। मुक्ति-साधन के लिए विषय-विराग तथा परमार्थ-चिंतन की आवश्यकता[10] का प्रतिपादन तीनों में किया गया

[1] वही, मानस (३३), अध्यात्म० (६९)

[2] वही, मानस (३४), विनय० (१९), अध्यात्म० (६५)–(६८), (७०)

[3] वही, मानस (३५), विनय० (२०) अध्यात्म० (५९), (६०), (७१)

[4] वही, मानस (३६), विनय० (२०), अध्यात्म० (७२)

[5] उपर्युक्त मानस (३७), विनय० (२१) अध्यात्म० (७३)–(७५), (७७, (७९)

[6] वही, मानस (३८), विनय० (२२) अध्यात्म० (७६) (७८) (८०)

[7] वही, मानस (३९), विनय० (२२) अध्यात्म० (८१), (८२)

[8] वही, मानस (४०), विनय० (२२), अध्यात्म० (८३)

[9] वही, मानस (४१), विनय० (२२), अध्यात्म० (८४), (८५)

[10] वही, मानस (४२), विनय० (१८), अध्यात्म० (८६),

है। कर्म-मार्ग से मुक्ति की असंभावना[१] और भक्ति-मार्ग से मुक्ति की अनिवार्यता[२] के संबंध में भी तीनों एक मत हैं, किन्तु और आगे बढ़ने पर 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में किंचित स्पष्ट अंतर ज्ञात होता है :[३] 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के अनुसार भक्ति ही चरम साध्य है, वह स्वतंत्र और निरपेक्ष है, ज्ञान-विज्ञानादि सभी उस के आधीन हैं, विमुक्त लोग भी उस की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, और हरिभक्त मुक्ति का निरादर कर के भी भक्ति पर लुब्ध रहते हैं। किन्तु 'अध्यात्म रामायण' के अनुसार भक्ति विज्ञान की प्राप्ति के लिए एक साधन---यद्यपि सर्वश्रेष्ठ साधन---मात्र है, वह उस ज्ञानयोग नामक राजभवन के लिए सीढ़ी है जिस से जीव को मुक्ति प्राप्ति होती है। और भी, 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' के अनुसार ज्ञानादि का साधन तथा उन के द्वारा भव-नाश अत्यंत कठिन है[४] किन्तु 'अध्यात्म रामायण' में इस आशय का कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी, इस विषय में तीनों समान हैं कि भक्ति से विमुख जीवों के लिए मोक्ष अत्यंत दुर्लभ है और भक्ति वाले ही मुक्ति प्राप्त करते हैं[५], यद्यपि 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में यह कथन भक्ति को ज्ञानादि की तुलना में श्रेष्ठ बता कर इस प्रकार का कथन किया गया है और 'अध्यात्म रामायण' में भक्ति को ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट साधन मानते हुए यह कहा जाता है। भक्ति पर बल देकर 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में मुक्ति-प्राप्ति के लिए उस राम कृपा की आवश्यकता[६] बताई गई है जिस का उल्लेख 'अध्यात्म रामायण' में नहीं होता, और इसी प्रकार रामकृपा की सुलभता[७] पर दोनों में बहुधा एक से कथन किए गए हैं जब कि 'अध्यात्म रामायण' में इस प्रकार के कथन नहीं आते। रामभक्ति से अंतःकरण में अविद्या व्याप्त नहीं होती और विद्या का प्रादुर्भाव होता है[८], इस प्रकार का कथन 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण'

[१] वही, मानस (४३), विनय० (२०), अध्यात्म० (८७)

[२] वही, मानस (४४), विनय० (२३), अध्यात्म० (८८)

[३] वही मानस (४५), विनय० (२४)—(२५), अध्यात्म (८८)

[४] उपर्युक्त मानस (४६), विनय० (२४)-(२५)

[५] वही, मानस (४७) विनय० (२६)—(२९), अध्यात्म० (८९)

[६] वही, मानस (४८), विनय० (२७)

[७] वही, मानस (४९), विनय० (२८)

[८] वही, मानस (५०), अध्यात्म० (९०)

में तो होता है किंतु 'विनय पत्रिका' म नहीं मिलता—कदाचित् इसलिए कि—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं—माया व विद्याविद्या भेद भी उस में हमें नहीं मिलते।

रामभक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से कथा-श्रवण से होता है[1] इस संबंध के उल्लेख तीनों म समान रूप से मिलते हैं। किन्तु, इस कथा श्रवण का लाभ सत्संग द्वारा ही होता है[2] इस प्रकार के कथन 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' म ही मिलते हैं 'विनय पत्रिका' में नहीं मिलते। फिर भी संतों के लक्षण का जो अपूर्व विस्तार 'मानस' और 'विनय पत्रिका' में किया गया है वह 'अध्यात्म रामायण' म नहीं हुआ है। राम कृपा की भाँति ही सत-कृपा की ही आवश्यकता[4] 'मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में बताई गई है, और पहले की भाँति इस पर भी 'अध्यात्म रामायण' में विशेष कथन नहीं किया गया है। गुरुकृपा[5] का तीनों में भक्ति साधना के लिए महत्व दिया गया है। नाम जप[6] का भी रामभक्ति व प्रादुर्भाव के लिए इसी प्रकार तीनों में प्राधान्य दिया गया है। भक्ति की अन्य आवश्यक भूमिकाओं में से स्वरूपासक्ति[7] का 'मानस' और 'विनय पत्रिका' में महत्वपूर्ण स्थान मिला है, किन्तु 'अध्यात्म रामायण' में नही। यश-कीर्तनासक्ति[8] का तीनों में समान स्थान मिला है। पूजा सक्ति[9] का रामभक्ति की भूमिका के रूप में 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में तो महत्वपूर्ण स्थान मिला है किन्तु 'विनय पत्रिका' में उस का कोई विशिष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। रामतीर्थों की यात्रा[10] तथा ब्राह्मण सेवा[11] का रामभक्ति की भूमिकाओं में 'मानस' तथा 'विनयपत्रिका

[1] वही, मानस (५१), विनय० (३०), अध्यात्म (९२)

[2] वही, मानस (५२) विनय० (३१) अध्यात्म० (९२), (९७)

[3] वही मानस (५३) विनय० (३२), अध्यात्म० (९३)

[4] उपर्युक्त मानस (५४), विनय० (३३) अध्यात्म (९३)

[5] वही, मानस (५५), विनय० (३४) अध्यात्म० (९४), (९५), (१०१)

[6] वही, मानस (५६), विनय० (३५), अध्यात्म० (९६), (१०३)

[7] वही, मानस (५७), विनय० (३६)

[8] वही, मानस (५८), विनय० (३७), अध्यात्म० (९८) (१००)

[9] वही, मानस (५९), अध्यात्म० (१०२)

[10] वही, मानस (६०), विनय० (३८)

[11] वही, मानस (६१), विनय० (३९)

में स्थान मिला है किंतु 'अध्यात्म-रामायण' में इन्हें कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है। अनात्म विषयों मे मन की निर्लिप्तता[1] को भक्ति की भूमिकाओं में तीनों में समान रूप से स्थान दिया गया है। लोक निरपेक्षा युक्त आराध्य में अनन्याश्रय बुद्धि[2] तथा वासना विहीन और व्यापक प्रेम[3] को 'मानस' और 'विनय पत्रिका' में महत्वपूर्ण स्थान मिला है किन्तु 'अध्यात्म रामायण' में उस का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। सर्वस्व भाव[4] को तीनों में समान स्थान मिला है। लोक-सग्रह वृत्ति[5] को 'मानस' और 'विनय पत्रिका' मे तो स्थान मिला है, 'अध्यात्म रामायण' में नहीं मिला है। स्वदोषानुभूति तथा भागवत भक्ति[6] को भी भक्ति की आवश्यक भूमिकाओं में इसी प्रकार प्रथम दो मे स्थान मिला है, 'अध्यात्म रामायण' में नहीं मिला है। वैराग्य-वृत्ति[7] तथा तन्मयता[8] को तीनों में स्थान मिला है। शुद्ध प्रेमासक्ति[9] को 'मानस' और 'विनय पत्रिका' मे स्थान मिला है, 'अध्यात्म रामायण' में नहीं। भक्ति के अनेक साधनों का समाहार[10] 'मानस' और 'विनय पत्रिका' मे जिस प्रकार हुआ है वैसा 'अध्यात्म रामायण' में नहीं हुआ है। शिवभक्ति[11] को रामभक्ति के लिए स्वतन्त्र भूमिका के रूप मे तीनों में स्वीकार किया गया है, किंतु इस के अतिरिक्त 'विनय पत्रिका' में हनुमान के रूप में भी शिव अवतीर्ण होते हैं और उन को भी वही स्थान प्रदान किया जाता है जो शिव को।

संसृति-सागर को पार करने के लिए राम के पारमार्थिक रूप का साक्षात्कार[12] तीनों मे महत्वपूर्ण माना गया है। राम के पारमार्थिक स्वरूप

[1] वही, मानस (६२), विनय० (४३), अध्यात्म० (२०२), (२०४)

[2] वही, मानस (६३), विनय० (४०)

[3] वही, मानस (६४) विनय० (४२)

[4] वही, मानस (६५) विनय० (४१), अध्यात्म० (२०४)

[5] वही, मानस (६६), विनय० (४४)

[6] उपर्युक्त मानस (६७), विनय० (४२), (४३)

[7] वही, मानस (६८), विनय० (४४)

[8] वही, मानस (६९), विनय० (४४) अध्यात्म० (२०४) (२०५)

[9] वही, मानस (७०), विनय० (४४)

[10] वही, मानस (७१), विनय० (४४)

[11] वही, मानस (७२), विनय० (४५) (४६) अध्यात्म० (२०६)-(२०७)

[12] वही, मानस (७३), विनय० (४७) अध्यात्म० (२०८)

का यह साक्षात्कार उन के ध्यान द्वारा होता है[१] यह 'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में स्पष्ट रूप से मान्य है किन्तु 'विनय पत्रिका' में इस का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता। राम के निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण रूप के अधिकाधिक अवलम्बन के[२] पक्ष में भी इसी प्रकार 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' में स्पष्ट उल्लेख होते हैं किन्तु 'विनय पत्रिका' में नहीं होते। योगाभ्यास से मोक्ष तथा चित्त की शुद्धि हो सकती है[३] इस विषय में 'मानस' तथा 'अध्यात्म रामायण' सहमत हैं, किन्तु 'मानस' में यह भी कहा गया है कि रामभक्त को उस की कोई आवश्यकता नहीं होती, 'विनय पत्रिका' में इस विषय का भी कोई उल्लेख नहीं होता।

ब्रह्मा भी राम के भक्त[४] हैं इस प्रकार के उल्लेख तीनों में होते हैं। वे भी अन्य जीवों की भाँति बाह्य पदार्थों में सत्यबुद्धि रखते हैं[५] इस विषय के उल्लेख मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में मिलते हैं, 'विनय पत्रिका' में नहीं मिलते। सायुज्य, सारूप्य तथा सालोक्य नामक मुक्ति के तीन प्रमुख भेद[६] भी इसी प्रकार 'मानस' तथा अध्यात्म रामायण' में मिलते हैं, 'विनय पत्रिका' में नहीं मिलते। क्रिया-मार्ग द्वारा राम की पूजा का विधान[७] 'अध्यात्म रामायण' में किया गया है, 'मानस' में नहीं है, और 'विनय पत्रिका' में जब कि एक ओर राम की साधारण आरती का माहात्म्य कहा गया है दूसरी ओर एक आध्यात्मिक आरती का विधान किया गया है। सम्भवत यह दूसरा आध्यात्मिक विधान ही गोस्वामी जी को इष्ट है।

यहाँ पर तीनों का तुलनात्मक अध्ययन समाप्त होता है।

७ उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन को देखने पर ज्ञात हुआ होगा कि 'मानस' आध्यात्मिक सिद्धांतों की दृष्टिकोण से जितना सपन्न है उतना 'विनय पत्रिका' नहीं है—लगभग वैसे ही जैसे 'मानस' उतना सपन्न नहीं है जितना 'अध्यात्म

[१] वही, मानस (७४), अध्यात्म० (१०९)

[२] वही, मानस (७५), अध्यात्म० (११०), (१११)

[३] वही, मानस (७६), अध्यात्म० (११२)

[४] उपर्युक्त मानस (७७), विनय० (४८), अध्यात्म० (११३)

[५] वही, मानस (७८), अध्यात्म० (११४)

[६] वही, मानस (७९), अध्यात्म० (११७)

[७] वही, विनय० (४९), अध्यात्म० (११८)

रामायण' । इस अतर का कारण क्या हो सकता है ? एक तो यह हो सकता है कि 'मानस' एक विचार और प्रतिपादनप्रमुख प्रबध ग्रथ है और 'विनय पत्रिका' एक विश्वास और उद्गार प्रमुख गीति ग्रथ है—जिस से साधारणत ऐसे अनेक विस्तार जो हमें 'मानस' में मिलने चाहिएँ 'विनय पत्रिका' में स्वभावत. न मिलने चाहिएँ, किन्तु एक कारण इस का और हो सकता है : 'मानस' में 'अध्यात्म रामायण' की प्रतिच्छाया अत्यत स्पष्ट है—कदाचित् इस लिए कि "नानापुराणनिगमागमसम्मत" राम कथा कहने के लिए कवि ने 'अध्यात्म रामायण' को आधार रूप में ग्रहण किया था—और 'विनय पत्रिका' मे वह हमें बिल्कुल नहीं दिखाई पडती है, जिससे मूल सिद्धातों में अतर कम होते हुए भी हमें 'अध्यात्म रामायण' के वह सब विस्तार उस में नहीं मिल सकते जो 'मानस' मे मिलते हैं । फिर भी, एक बात हमें भूलनी न चाहिए जो कुछ भी कवि ने लिखा है उस का पूर्ण उत्तरदायित्व उसी पर है । फलत इस बात के झगडे में हमें पडने की आवश्यकता नहीं है कि वैसे सिद्धान्तो को कहाँ तक हम उस के निश्चित सिद्धात मानें जो 'मानस' के अतिरिक्त कवि की प्रामाणिक रचनाओं मे नहीं मिलते—और 'विनय पत्रिका' के अतिरिक्त भी कवि की ऐसी प्रामाणिक रचनाएँ हैं जिन मे आध्यात्मिक सिद्धातों का प्रतिपादन हुआ है यद्यपि उन का पाठ सर्वथा निश्चित होने के कारण हमने उन्हें यहाँ विवेचन के लिए नहीं लिया है । अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि ऐसे सिद्धात उस की दृष्टि मे उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने ये दूसरे जो इन अन्य रचनाओं में भी मिलते हैं ।

एक दूसरे प्रकार का भी अतर 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के आध्यात्मिक विचारों में दिखाई पडता है : ऐसे विचार भी हमें 'विनय पत्रिका' मे मिलते हैं जो 'मानस' मे नहीं मिलते । इन मे से कुछ तो ऐसे हैं जो 'अध्यात्म रामायण' में मिल जाते हैं, फिर भी कुछ ऐसे हैं जो दो में से किसी में नहीं मिलते । इन के सबध मे भी साधारणत दो में से एक बात हो सकती है: या तो ये विचार 'मानस' की कथा के ढाँचे में सुसगत रूप में रक्खे नहीं जा सकते थे, अथवा ये विचार 'मानस' रचना के समय कवि के मस्तिष्क में नहीं थे ।

यहाँ तक तो 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के पारस्परिक अतर के सबध में हुआ । हमे देखना यह भी है कि सम्मिलित रूप से इन दोनों से जो सिद्धात हमें प्राप्त होते हैं 'अध्यात्म रामायण' से उन का क्या सबध है । साधारणत

हम यह देखते हैं कि 'अध्यात्म रामायण' के सिद्धांत हम यदि समस्त विस्तार के साथ नहीं तो मुख्यत दोनों म से किसी न किसी में या दानों म ही मिल जाते हैं। इस लिए हम यह मानना पड़ेगा कि कवि के आध्यात्मिक सिद्धातों पर प्रभाव 'अध्यात्म रामायण' का ही है, यह बात दूसरी है कि स्वत 'अध्यात्म रामायण' किस सप्रदाय विशेष का मुख ग्रथ था। यह अतर प्रमुखरूप से किन सिद्धातों के सबध में है, साधारणत कहाँ तक हम इस अतर का समाधान 'अध्यात्म रामायण' के सिद्धातों से कर सकते हैं, और कहाँ तक हमें उन के लिए अन्य समाधान या समाधानों का आश्रय लेना पड़ेगा इस पर विचार करना शेष है।

ऊपर के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होगा कि प्रमुख रूप से 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के निम्नलिखित विचार 'अध्यात्म रामायण' सम्मत नहीं हैं

(क) विष्णु का हीन ब्रह्मत्व,
(ख) लक्ष्मी का हीन शक्तित्व,
(ग) भक्ति का चरम साध्यत्व,
(घ) ज्ञानादि की भवनाश के लिए असमर्थता,
(ङ) मुक्ति के लिए रामकृपा की आवश्यकता,
(च) रामकृपा की सुलभता,
(छ) सतकृपा की आवश्यकता,
(ज) भक्ति की भूमिकाओं की बहुलता,
(झ) क्रियात्मक पूजा विधान की गौणता, और
(ञ) हनुमद्भक्ति की आवश्यकता।

इन में से (ङ), (च), (छ), (ज) और (झ) यदि ध्यानपूर्वक देखा जावे ता 'अध्यात्म रामायण' के कुछ विचारों के तर्क-सगत विकास मान कहे जा सकते हैं। भक्ति का जिस समय चरम आध्यात्मिक साधन[1] के रूप में ग्रहण किया जाता है भगवत् कृपा के सिद्धात उस के विकास के साथ स्वभावत उपस्थित हो जाते हैं, फलत (ङ) और (च) 'अध्यात्म रामायण' के भक्ति प्रधान सिद्धातों के तर्क सगत विकास अवश्य ही कहे जा सकते हैं। (छ) 'अध्यात्म रामायण' के साधुसग सबधी उस सिद्धात का तर्कसगत विकास है जिस में कहा जाता है

[1] उपर्युक्त अध्यात्म० (८९), (९०)

कि वह मोक्ष का मुख्य साधन है और जिस में वह होता है उस में रामभक्ति के अन्य साधन स्वतः आ जाते हैं।[1] (ज) भक्ति को प्राधान्य[2] देने पर स्वाभाविक ही है, और इस संबंध में विशेष तर्क-वितर्क अनावश्यक होगा। (झ) तो—जैसा ऊपर कहा जा चुका है- स्वतः 'अध्यात्म रामायण' के वेदांतपरक स्वभाव के अनुकूल नहीं है[3] फलतः यदि तुलसीदास ने उसे महत्व नहीं दिया तो उन्हों ने 'अध्यात्म रामायण' का केवल एक तर्क-संगत अनुसरण किया।

किन्तु (क), (ख), (ग), (घ) तथा (ञ) इस प्रकार के विस्तार हैं कि उन्हें 'अध्यात्म रामायण' का तर्कसंगत विकास मात्र नहीं कहा जा सकता। (क) और (ख) में विष्णु को राम की तुलना में और लक्ष्मी सीता की तुलना में जैसा हीन स्थान तुलसीदास देते हैं वह कोई भी वैष्णव नहीं दे सकता, और इस दृष्टि से देखा जावे तो तुलसीदास विष्णुभक्त नहीं हैं, वे रामभक्त हैं; वे विष्णु को पूर्ण रूप से वह स्थान नहीं दे सकते जो उन के आराध्य का है : विष्णु को भी राम की चरण-सेवा ही करनी पड़ेगी यदि तुलसीदास की रामभक्ति में उन को स्थान लेना है। इसी प्रकार, विष्णु की योग-माया लक्ष्मी को भी वे वह स्थान नहीं दे सकते जो उन के आराध्य की परम शक्ति का है : उसे भी सीता की चरण-सेवा करनी पड़ेगी अगर उस को उन की राम भक्ति में स्थान लेना है। (ग) में पुनः भक्त होने के नाते तुलसीदास यह स्थिति किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते कि भक्ति उस ज्ञान के लिए एक साधन मात्र है जिस से जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। स्वभावतः वे भक्ति को ही चरम साध्य बताते हैं और कहते हैं कि ज्ञान-विज्ञानादि तो उस से स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, और वह मोक्ष जो ज्ञान-विज्ञानादि के द्वारा प्राप्त होता है उस को रामभक्त पाकर भी उस की अवहेलना करते हैं और भक्ति पर लुब्ध रहते हैं। (घ) में इस प्रकार भवनाश के संबंध में ज्ञान के विरुद्ध उन के द्वारा भक्ति का पक्ष-प्रतिपादन है। जब कि 'अध्यात्म रामायण' उस के लिए ज्ञान का प्रतिपादन करता है और भक्ति की अनिवार्यता उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए बताता है, तुलसीदास जी भक्त होने के नाते ही यह स्वीकार नहीं कर सकते कि भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से भी पूर्णतः भव-

[1] वही, (९३)

[2] वही, (८९), (९०)

[3] वही, (११८)

नाश हो सकता है। (अ) में हनुमान रूप में शिव के अवतरित होने तथा हनुमद्भक्ति की आवश्यकता कदाचित् 'मानस' से स्वतंत्र और संभवतः बाद का विकास है। 'मानस' और 'मानस' के पूर्व के ग्रंथों में अवतार की यह बात हमें नहीं मिलती किन्तु 'विनय पत्रिका' और उस के पीछे के दो संग्रहों 'दोहावली' और 'बाहुक' में हमें यह बराबर मिलती है 'दोहावली' के दो दोहों में वानरादि को देवताओं का अवतार बताते हुए हनुमान को शिव का अवतार इस प्रकार कहा जाता है :

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरैं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेह बस बानर भे हनुमान॥
जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरखा ते बानर भए हर ते भे हनुमान॥

(दोहा० १४२, १४३)

'बाहुक' में हनुमान का स्तवन करते हुए कहा जाता है :

बामदेव रूप भूप राम के सनेही नाम
लेत देत अर्थ धर्म काम के निधान हौ।

(बाहुक १४)

फिर भी नितांत निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इन उल्लेखों का रचनाकाल 'मानस' से पीछे का है। एक कथन ऐसा अवश्य है जिस के संबंध में कदाचित् यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह कवि के जीवनांत के लगभग का—और इसलिए 'मानस' के बाद का—अवश्य होगा, क्यों कि वह बाहुपीड़ा[1] के अवसर पर हनुमान से किया गया है :

पाल्यो तेरे टूक को परेहू चूक मूकिए न
कूर कौड़ी दू को हौं आपनी ओर हेरिए।
भोरानाथ भोरे ही सरोष होत थोरे दोष
पोषि तोषि थापि आपने न अवडेरिए।
अंबु तू हौं अंबुचर अंब तू हौं डिंभ सो न
बूझिए विलंब अवलंब मेरे तेरिए।

[1] देखिए ऊपर पृ० १५५-५६

बालक बिकल जानि पाहि प्रेम पहिचानि
तुलसी की बाँह पर लामी लूम फेरिए।
(बाहुक ३४)

अस्तु, यदि इन दसों अंतरों पर समष्टि रूप से विचार किया जावे तो एक समाधान सब के मूल में समान रूप से ज्ञात होगा : वह है हमारे कवि की असीम रामभक्ति—उसी के प्रकाश में हमारे कवि ने 'अध्यात्म रामायण' से प्राप्त समस्त आध्यात्मिक सिद्धांतों को कुछ न कुछ अपना रूप देने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर पुनः हम अपने कवि के स्वतंत्र और महान् व्यक्तित्व को देख सकते हैं जैसा हम ने अन्य क्षेत्रों में देखा है। यही कारण है कि हम को उस के आध्यात्मिक विचारों में एक नवीनता ज्ञात होती है जो अन्यथा न ज्ञात होती, और इसी लिए उस के व्यक्तित्व का यह योगदान भी कदाचित् साधारण नहीं कहा जा सकता।

———

परिशिष्ट अ

तुलसीदास द्वारा दी हुई तिथियाँ

जो तिथियाँ स्वय कवि के द्वारा दी गई मानी जाती हैं निम्नलिखित हैं :—

(अ) 'रामचरित मानस' की तिथि[1] : सवत् १६३१, चैत्र शुक्र ६, मगलवार।

(आ) एक गीति की तिथि[2] : सवत् १६३१, ज्येष्ठ ६, स्वाती

(१) संवत् १६३१, ज्येष्ठ शुक्र ६,

(२) संवत् १६३१, ज्येष्ठ कृष्ण ६।

(इ) 'ज्ञान दीपिका' की तिथि[3] : सवत् १६३१, आषाढ शुक्र २, गुरुवार।

(ई) 'वाल्मीकि-रामायण' की हस्तलिखित प्रति की तिथि[4] : सवत् १६४१, मार्ग शुक्र ७, रविवार।

(उ) 'सतसई' की तिथि[5] : सवत् १६४२, वैशाख शुक्र १, गुरुवार।

(ऊ) *'पार्वती मंगल' की तिथि[6] : जय सवत्, फाल्गुन शुक्र ५, गुरुवार, अश्विनी।*

(ए) 'रामाज्ञा प्रश्न' की हस्तलिखित प्रति की तिथि[7] : सवत् १६५५, ज्येष्ठ शुक्र १०, रविवार।

(ऐ) पचायतनामे की तिथि[8] : सवत् १६६६, आश्विन शुक्र १३, शुभ दिन (रविवार)।

(ओ) मीन के शनि की तिथि[9]

(१) सवत् १६४०, चैत्र शुक्र ५,

(२) सवत् १६६६, चैत्र शुक्र २।

[1] मानस, बाल० ३४

[2] देखिए ऊपर पृ० २४०

[3] 'ज्ञानदीपिका' ७

[4] देखिए ऊपर पृ० २६४

[5] सत० (१) ९

[6] पा० म० ५

[7] देखिए ऊपर पृ० १७६

[8] वही, पृ० १६३

[9] इ० ऐ० सन् १८९३, पृ० ९७

उपर्युक्त सभी तिथियों की गणना नीचे श्री एल० डी० स्वामी कन्नू पिलाइ की प्रसिद्ध कृति 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी' में दिए हुए चक्रों और निर्दिष्ट विधियों के अनुसार दोनों विगत और प्रचलित संवत्-वर्ष-प्रणालियों[1] में की गई है।

(अ) संवत् १६३१, चैत्र शुक्ल ६, मंगलवार

(१) सं० १६३१ विगत = सन् १५७४

	सप्ताह-दिवस	मास	मास दिवस अंश
चैत्र अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(२)	मार्च	२२·४६
६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	८ + १		८·८६
	११		३१·३२

सौर उत्केन्द्रता ५·०६३२
३२४·८३६४
८·८६००
३३८·७८६६ ... सौर समी० + ·१७

चांद्र उत्केन्द्रता १·३३६
२१·७३६
८·८६०
३१·६३२

सौर समी० + ·१७०
३२·१०२
— २७·५५०
४·५५२ ... चांद्र समी० — ·३४
— ·१७

— ·१७
३१·१५

३ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २८·२६५ को प्रारंभ होता है) + ·०३
३१·१८

= बुधवार, मार्च ३१, सन् १५७४

[1] "हिन्दू प्राय: विगत वर्षों का प्रयोग करते हैं, प्रचलित वर्षों का नहीं जैसा कि यूरोपीय पंचांगों में होता है। हिन्दू वर्ष-प्रणाली का प्रथम वर्ष, जो १८ फर्वरी ३१०२ पू० ई० को प्रारंभ हुआ था, हिन्दू गणित के विचार से ० वर्ष है।" (स्वामी कन्नू पिलाइ: इंडियन क्रॉनॉलॉजी, धारा ५)

(२) संवत् १६३१ वर्त्तमान = सन् १५७३

चैत्र अमावचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल ... (३) मार्च ३·५६

६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ८+१ / १२ ... ८·८५ / १२·४२

सौर उत्केन्द्रता १५·९८४१
३२४·८३६४
८·८६००
३४९·६८१३ ... सौर समी० + ·१८

चांद्र उत्केन्द्रता ५·१७६
२१·७३६
८·८६०
३५·७७५
सौर समी० +·१८०
३५·९५५
—२७·५५०
८·४०५ ... चांद्र समी० —·४०
—·२२

—·२२
१२·२०

३४८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २८·०० को प्रारंभ होता है) +·०२
१२·२२

=गुरुवार, मार्च १२, सन् १५७३

(आ) (२) संवत् १६३१ ज्येष्ठ शुक्ल ६

क. संवत् १६३१ विगत = सन् १५७४

ज्येष्ठ अमावचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल (५) मई २०·५३

६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ५+१ / ११ ... ५·९१ / २६·४४

सौर उत्केन्द्रता २९·५३०५
२३·७३२१
५·९१००
५९·१७२६ ... सौर समी० +·०६

चांद्र उत्केन्द्रता २७·०२४
१·९७६
५·९१०
३४·९१०

सौर समी +·०६०
३४·९७०
—२७·५५०
७·४२ ∴ चाद्र समी० —·४१
—·३५
—·३५
२६·०९

५८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि } +·०५
(सौर वर्ष मार्च २८·२६ को प्रारम्भ होता है) } २६·१४

२६·१४ मई सन् १५७४ = सौर दिवस ५८·८८५

५८ दिवसों के लिए (चक्र ८)	४·५१३७
·८८५ दिवस के लिए (चक्र ५)	·०६५०
६ तिथियों के लिए	५·९१००
	१०·४८८७

मघा ९·८४३५ से १०·९३७२ तक वर्तमान रहता है (चक्र ३)

∴ ६ ठी तिथि मघा में समाप्त होती है।

ग. संवत् १६३१ वर्त्तमान = सन् १५७३

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल } (६) मई १·६३

६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ५+१/१२ ५·९१
७·५४

सौर उत्केन्द्रता ५·०९३२
२९·५३०५
५·९१००
४०·५३३७ ∴ सौर समी० +·११

चाद्र उत्केन्द्रता १·३३६
१·९७६
५·९१०
९·२२२

सौर समी० +·११०
९·३३२ ∴ चाद्र समी० —·३७
—·२६

—·२६
७·२८

४० सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २८·०० को प्रारम होता है) +·०५
७·३३

७·३३ मई, सन् १५७३ = सौर दिवस ४०·३३

४० दिवसों के लिए (चक्र ८)	३·०५८४
·३३ दिवस के लिए (चक्र ५)	·०२६६
६ तिथियों के लिए	५·९१००
	८·९९५०

अश्लेषा ८·७४९८ से ९·८४३५ तक वर्तमान रहती है (चक्र ३)

∴ ६ ठी तिथि अश्लेषा में समाप्त होती है।

(आ) (२) सवत् १६३१ ज्येष्ठ कृष्ण ६

क- सवत् १६३१ विगत = सन् १५७४

वैशाख अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(४)	अप्रैल २१·००
२१ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२०	२०·६७
	२४	४१·६७

सौर उत्केन्द्रता २३·७३२१
२०·६७००
४४·४०२१ ∴सौर समी० +·१०

चाद्र उत्केन्द्रता २७·०२४
२०·६७०
४७·६९४

सौर समी० +·१००
४७·७९४
—२७·५५०
२०·२४४ ∴चाद्र समी० +·९९
+·५१

+·५१
४२·१८

४४ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष मार्च २८·२६ को प्रारंभ होता है) +·०५
४३·२३

१२·२३ मई सन् १५७४ = सौर दिवस ४४·६७

४४ दिवसों के लिए (चक्र ८)	३·३८१८
६७ दिवस के लिए (चक्र ५)	·०७८३
२१ तिथियों के लिए	२०·६७००
	२४·१३०१

धनिष्ठा २४·०६१६ से २५·१५५६ तक वर्तमान रहती है (चक्र ३)
∴ ६ ठी तिथि धनिष्ठा में समाप्त होती है।

स. सं० १६३१ वर्त्तमान = सन् १५७३

वैशाख अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (५) अप्रैल २·१०
२१ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल २० — २०·६७
२५ — २२·७७

सौर उत्केन्द्रता ५·०६३२
२०·६७००
२५·७६३२ ···सौर समी० +·१४

चाद्र उत्केन्द्रता १·३३६
२०·६७०
२२·००६

सौर समी० +·१४०
२२·१४६ ···चांद्र समी० +·३८
+·५२

+·५२
२३·२९

२९ सौर दिवासों के लिए काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष मार्च २८ ०० को प्रारंभ होता है) +·०४
२३·३३

२३·३३ अप्रैल सन् १५७३ = सौर दिवस २९·३३

२६ दिवसों के लिए (चक्र ८) १·९२६६०
३३ दिवस के लिए (चक्र ५) ·०२६६४
२१ तिथियों के लिए २०·६७०००
२२·६२३२४

उत्तराषाढ़ २१·८७४५१ से २२·९६८२३ तक वर्तमान रहता है (चक्र ३)

∴ छठी तिथि उत्तराषाढ़ में समाप्त होती है।

(ङ) संवत् १६३१, आषाढ़ शुक्ल २, गुरुवार

(१) सं० १६३१ विगत = सन् १५७४

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (७) जून १९·०६

२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल $\frac{१+१}{९}$ १·९७
२१·०३

सौर उत्केन्द्रता २३·७३२१
५९·०६११
१·९७००
८४·७६३२ ...सौर समी० —·०१

चांद्र उत्केन्द्रता २७·०२४
३·९५२
१·९७०
३२·९४६

सौर समी० —·०१०
३२·९३६
—२७·५५०
५·३८६ ...चांद्र समी० —·३८
—·३९ —·३९
२०·६४

८४ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·६५ मार्च को प्रारंभ होता है) } +·०५
२०·६९

= चंद्रवार, जून २०, सन् १५७४

(२) स० १६३१ वर्त्तमान = सन् १५७३
आषाढ़ अमाचद्र का मध्यन्य समाप्ति काल } (२) जून २६.६६
२ तिथियों का समस्त व्याप्ति काल $\frac{१+१}{४}$ $\frac{१.६७}{३१.६६}$

सौर उत्केन्द्रता ५६.०६११
५.०६३२
१.६७००
६६.०२४३ .. सौर समी० +.२५

चाद्र उत्केन्द्रता ३.६५२
१.३३६
१.६७०
७.२५८
सौर समी० +.२५०
७.५०८ चाद्र समी० −.४१
−.१६

−.१६
३१.५०

६५ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८.०० को प्रारभ होता है) } +.०४
बुधवार, जुलाई १, सन् १५७३ ३१.५४

(ई) सवत् १६४१, मार्ग शुक्ल ७, रविवार

(१) स० १६४१ विगत = सन् १५८४
मार्ग अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (१) नववर २२.५०
७ तिथियों के लिये समस्त व्याप्तिकाल $\frac{६+१}{८}$ $\frac{६.८६}{२६.३६}$

सौर उत्केन्द्रता २०६.७१४१
३.४०६६
६.८६००
२१७.०११० . सौर समी० −.१३

चाद्र उत्केन्द्रता १३.८३२
१२.५२७
६.८६०
३३.२४६

सौर समी० —·१३०
३३·११६
—२७·५५०
५·५६६ ···चांद्र समी० —·८८
—·५१

—·५१
२८·८८

२४६ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७·०७ मार्च को प्रारंभ होता है) —·०१
२८·८७
=रविवार, नवंबर २८, सन् १५८४

(२) स० १६४१ वर्त्तमान=सन् १५८३

मार्ग अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (२) नवंबर ४·६१

७ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल $\frac{६+१}{६}$ ६·८६
११·५०

सौर उत्केन्द्रता १४·२६८६
२०६·७१४१
६·८६००
२२७·६०२७ ···सौर समी०—·१०

चांद्र उत्केन्द्रता २५·६२२
१३·८३२
६·८६०
४६·६४४
सौर समी० —·१००
४६·५४४
—२७·५५०
१८·६६४ ...चांद्र समी० +·४०
+·३०

+·३०
११·८०

२२८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·५६ मार्च को प्रारंभ होता है) +·००
११·८०
=चंद्रवार- नवंबर ११, सन् १५८३

(उ) सवत् १६४२, वैशाख ६, गुरुवार

(१) स० १६४२ विगत = सन् १५८५

वैशाख अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (२) अप्रैल १६·१६

६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ८+१ / ११ ८·८६ / २८·०२

सौर उत्केन्द्रता २२·०४५
८·८६०
३०·६०५ सौर समी० +·१३

चाद्र उत्केन्द्रता २०·२१२
८·८६०
२६·०७२

सौर समी० +·१३०
२६·२०२
—२७·५५०
१·६५२ चाद्र समी० —·१४
—·०१

—·०१
२८·०१

२१ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·५६ मार्च को प्रारभ होता है) } +·०४
२८·०५

= बुधवार, अप्रैल २८, सन् १५८५

(२) सवत् १६४२ वर्त्तमान = सन् १५८४

वैशाख अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (३) मार्च ३१·२६

६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ८+१ / १२ ८·८६ / ४०·१२

सौर उत्केन्द्रता ३·४०६
८·८६०
१२·२६६ . सौर समी० +·१६

चाद्र उत्केन्द्रता २२·०७६
८८६०
३०·६३६
सौर समी० +·१६०
३१·०६६
—२७·५५०
३·५४६. चाद्र समी० —·२८
—·१२

—·१२
४०

१३ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष मार्च २७ ८५ को प्रारंभ होता है) +·०४
४०·०४

= गुरुवार, अप्रैल ६, सन् १५८४

(ऊ) जय संवत्, फाल्गुन शुक्ल ५, गुरुवार

(१) जय वर्ष वर्तमान = स० १६४२ विगत = सन् १५८६

फाल्गुन अमाचद्र का मध्यन्य समातिकाल (३) फर्वरी ८·४६

५ तिथियों का समस्त व्यासिकाल $\frac{४+१}{८}$ ४६२
१३·३८

सौर उत्केन्द्रता २२·०४५७
२६५·३०५८
४·६२००
३२२·२७१५...सौर समी० +·१५

चाद्र उत्केन्द्रता २०·२१२
१६७६०
४·६२०
४४·८६२

सौर समी० +·१५०
४५·०४२
—२७·५५०
१७·४६२ . चाद्र समी० +·३३
—४८

+·४८
१३·८६

३२१ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·११ मार्च को प्रारंभ होता है) — ·००

१३·८६

=रविवार, फर्वरी १३, सन् १५८६

१३·८६ फर्वरी, सन् १५८६ = सौर दिवस ३२२·७५

३२२ दिवसों के लिए (चक्र ८) -५·८५७७

·७५ दिवस के लिए (चक्र ५) ·०६०६

५ तिथियों के लिए ४·९२००

३०·८३८३

— २९·५३०६

·३०७७

अश्विनी का व्याप्तिकाल ० से १·०९३७ तक (चक्र ३)

.. जब ५ मी समाप्त हुई तो अश्विनी ·३०७७ दिवस व्यतीत हो चुकी थी।

(२) जब वर्ष विगत = स० १६४३ विगत = सन् १५८७

फाल्गुन अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (७) जनवरी २८·८३

५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ४ + १ = ५ · ४·९२

३३·७५

सौर उत्केन्द्रता ११·१२४०

२९५·३०५८

४·९२००

३११·३७९८...सौर समी० +·१३

चाद्र उत्केन्द्रता १६·३७०

१९·७६०

४·९२०

४१·०५०

सौर समी० +·१३०

४१·१८०

—२७·५५०

१३·६३० ... चाद्र समी० —·०२

+·११

	+·११
	३३·८६
३१० सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·६२ मार्च को प्रारंभ होता है)	−·०१
	३३·८५
=गुरुवार, फर्वरी २, सन् १५८७	
२·८५ फर्वरी, सन् १५८७= सौर दिवस	३११·३८
३११ दिवसों के लिए (चक्र ८)	२४·६६८३
·३८ दिवसों के लिए (चक्र ५)	·०३०७
५ तिथियों के लिए	४·६२००
	२६·६१६०
	−२६·५३०६
	·३८८४

अश्विनी का व्याप्तिकाल ० से १·०६३७ तक (चक्र ३)

∴जब पंचमी समाप्त हुई अश्विनी ·३८८४ दिवस व्यतीत हो गई थी।

(ए) सवत् १६५५, ज्येष्ठ शुक्ल १०, रविवार

(१) सवत् १६५५, विगत = सन् १५६८

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(५)	मई	२५·११
१० तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	६		६·८४
	१४		३४·६५[1]

सौर उत्केन्द्रता	२८·१०६६	
	२६·५३०५	
	६·८४००	
	६७·४७७१	... सौर समी० +·०४
चाद्र उत्केन्द्रता	७·६६१	
	१·६७६	
	६·८४०	
	१६·५०७	
सौर समी०	+·०४०	
	१६·५४७	... चाद्र समी० +·४१
		+·४५

[1] पृष्ठ ५५४ पर पाद टिप्पणी देखिए

+·४५
३५·४०

६८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·४७ मार्च को प्रारम्भ होता है) } +·०५

=शनिवार, जून ४, सन् १५९८ ३५·४५

(२) सं० १६५५ वर्तमान = सन् १५९७

ज्येष्ठ अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (६) मई ६·२१

१० तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ९+१ / १६ ९·८४
१६·०५[1]

सौर उत्केन्द्रता ९·४६७७
२९·५३०५
९·८४००
४८·८३८२ . सौर समी० +·०९

चाद्र उत्केन्द्रता ९·५५८
१·९७६
९·८४०
२१·३७४

सौर समी० +·०९०
२१·४६४...चाद्र समी० +·४०
+·४९

+·४९
१६·५४

४९ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८ २१ मार्च का प्रारम्भ होता है) } +·०५
१६·५९

=चद्रवार, मई १६, सन् १५९७

[1] दोनों दशाओं म पूर्णांश के अतर इतना कम है—केवल ·०५ है—कि यदि किसी दूसरे प्रकार स गणित द्वारा परिणाम म एक दिन का अतर आवे तो कदाचित् असम्भव नहीं है। ग्रियसन का कहना है, 'चैत्रादि विगत वर्ष लेने स यह रविवार, जून ४, सन् १५९८ के बराबर होता है" (इ० ऐं० १८९३, पृ० ९६)। यह परिणाम याकोबी के चक्रों के आधार पर प्राप्त प्रतीत होता है, जैसे कि उन के दूसरे परिणाम है, अत ठीक हो सकता है।

(ऐ) संवत् १६६६, शुक्ल १३, रविवार (शुभ दिन)

(१) स० १६६६ विगत = सन् १६१२

आश्विन अमाचद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(२)	सितंबर	१५.०३
१३ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	१२		१२.८०
	१५		२७.८३

सौर उत्केन्द्रता १४७.३५२६
२३.२७५७
१२.८०००
१८३.७२८६ ... सौर समी० —.१७५

चाद्र उत्केन्द्रता ६.८८०
१६.००४
१२.८००
४१.६८४
२७.५५०
१४.१३४

सौर समी० —.३७५
१३.६५६ .. चाद्र समी० +.०२०
—.१५५

—.१५५
२७.६७५

१८३ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८.०६ मार्च को प्रारंभ होता है) +.०२
२७.६६५

= रविवार, सितंबर २७, सन् १६२१

(२) स० १६६६ वर्त्तमान = सन् १६११

आश्विन अमाचद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(५)	सितंबर	२६.६६
१३ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	१३ + १		१२.८०
	१८		३६.४६

सौर उत्केन्द्रता ४.६३६८
१४७.६५२६
२२.८०००
१७५.०८६७ . सौर समी० —.१८

चांद्र उत्केन्द्रता २०·८७१
९·८८०
१२·८००
४३·५५१

सौर समी० —·१८०
४३·३७१
—२७·५५०
१५·८२१ ···चांद्र समी० +·२०
+·०२

+·०२
३६·४८०

१६५ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·८४ मार्च को प्रारम्भ होता है) +·०१५
३६·४६५

=बुधवार, अक्टूबर ६, सन् १६११

(ओ) (१) शनि : संवत् १६४०, चैत्र शुक्ल ५

क० सं० १६४० विगत = सन् १५८३ —

चैत्र अमाचांद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(४)	मार्च	१३·३६
५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	४+१		४·९२
	६		१८·२८

सौर उत्केन्द्रता २५·१९०
३२४·८३६
४·९२०
३५४·९४६...सौर समी० +·१८

चांद्र उत्केन्द्रता २·२१०
२१·७३६
४·९२०
२८·८६६

सौर समी० +·१८०
२९·०४६
—२७·५५०
१·४९६ ···चांद्र समी० —·१३
+·०५

+·०५

३५५ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·३३ मार्च को प्रारंभ होता है) १८·३३ +·०२

१८·३५

= मार्च १८·३३, सन् १५८३

मार्च १८·३५, सन् १५८३ = सौर दिवस ३५५·०१४

(१) सौर मध्यन्य देशान्तर ऋण शनि का मध्यन्य देशांतर

सौर मध्यन्य देशांतर

३५५ दिवस (चक्र १७ ए) ३४७·७४६५°

·०१४ दिवस (चक्र १७ सी) ·०१३८°

३४७·७६३३°

शनि का मध्यन्य देशांतर

सन् १५०० के लिए (पृ० २०५) ३९·१४१९°

८३ वर्षों के लिए (पृ० २०६) २९४·१८००°

३५५ दिवसों के लिए (पृ० २०६) ११·८८००°

३४५·२०१९°

− ३४५·२०१९°

२·५६१४°(१)

(२) शनि के उच्चनीच विन्दु का देशांतर ऋण शनि का मध्यन्य देशांतर

शनि के उच्चनीच विन्दु का देशांतर (पृ० २०५) २३६·६२४२°

३६०°

५९६·६२४२°

शनि का मध्यन्य देशांतर − ३४५·२०१९°

२५१·४२२३°(२)

(३) शनि का मध्यन्य देशांतर ३४५·२०१९°(३)

(४) शनि का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २०६) +१·२°(४)

(५) विपरीत चिह्न सहित (४) का आधा लीजिए − ·६०००°

और (२) में जोड़िए २५१·४२२३°

२५०·८२२३°(५)

(६) शनि का केन्द्र संबंधी समी० (५) के लिये (पृ० २०६)—७·२° (६)

(७) विपरीत चिह्न सहित (६) का आधा ले कर (५) में जोड़िए

+ ३·६०००° + २५०·८२२३ = २५४·४२२३° (७)

(८) केन्द्र संबंधी समी० (७) के लिए — ७·४° (८)

(९) विपरीत चिह्न सहित (८) लेकर (१) में जोड़िए

+७·४०००° + २·५६१४° = ९·९६१४° (९)

(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २०६) +१·००° (१०)

(११) जोड़ो (८) और (१०) —७·४+१·०० = ६·४° (११)

(१२) जोड़ो (३) और ११) ३४५·२०१६—६·४००० = ३३८·८०१६°(१२)

मीन का प्रारंभ ३३०°

∴ मीन में शनि ८·८०१६°

(२) शनि : संवत् १६६६, चैत्र शुक्ल २

सं० १६६६ विगत = सन् १६१२

चैत्र अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(७)	मार्च	२१·८४
२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	१+१		१·९७
	९		२३·८१

सौर उत्केन्द्रता ४·६३६८

३२४·८३६४

१·९७००

३३१·४४३२ ...सौर समी० +·१७

चाद्र उत्केन्द्रता २०·८७१

२१·७३६

१·९७०

४४·५७७

सौर समी० +·१७०

४४·७४७

—२७·५५०

१७·१९७ ...चांद्र समी० +·३१

+·४८

+·४८
२४·२९

३६१ सौर दिनों के लिए काशी की शुद्धि } (सौर वर्ष २८-८३ को प्रारंभ होता है) } +·०२
२४·३१

=मार्च २४· ३१, सन् १६१२

मार्च २४· ३१, सन् १६१२ =सौर दिवस ३६१·४७

(१) सौर मध्यन्य देशान्तर ऋण शनि का मध्यन्य देशातर

सौर मध्यन्य देशातर

३६१ दिनों के लिये (चक्र १७ ए)	३५३·६६२१°
·४७ दिन के लिए (चक्र ११ सी)	·४४४५°
	३५४·१०६६°

शनि का मध्यन्य देशातर

सन् १६०० के लिए (पृ० २०५)	१८१·०४८८°
१२ वर्षों के लिए (पृ० २०६)	१४६·६३००°
३६१ दिवसों के लिए (पृ० २०६)	१२·०८००°
·४ दिवस के लिए	०·०१५०°
	३३९·७७३८°
	—३३९·७७३८°
	१४·३३२८° (१)

(२) शनि के उच्चनीच विन्दु का देशातर ऋण शनि का मध्यन्य देशातर

शनि के उच्चनीच विन्दु का देशातर (पृ० २०५)	२३६·६२४६°
	३६०°
	५९६·६२४६°
शनि का मध्यन्य देशातर	—३३९·७७३८°
	२५६·८५०८° (२)
(३) शनि का मध्यन्य देशातर	३३९·७७३८° (३)
(४) शनि का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २०६)	+१·४° (४)
(५) विपरीत चिह्न सहित (४) का आधा लीजिए	—·७०°
और (२) में जोड़िए	२५६·८५°
	२५६·१५° (५)

(६) शनि का केन्द्र संबंधी समी० (५) के लिए (पृ० २०६) — ७·४°(६)
(७) विपरीत चिह्न सहित (६) का आधा लीजिए
और (५) में जोड़िए +३·७०°+२५६·१५° =२५६·८५°(७)
(८) केन्द्र संबंधी समी० (७) के लिए — ७·५ (८)
(९) विपरीत चिह्न सहित (८) लेकर
(१) में जोड़िए +७·५०°+१४·३३° =२१·८३° (९)
(१०) वार्षिक समी० (७) के लिए (पृ० २०६) +२·१ (१०)
(११) (८) तथा (१०) को जोड़िए +७·५°+२·१°=—५·४° (११)
(१२) (३)तथा(११)को जोड़िए३३६·७७३८°—५·४° = ३३४·३७३८°(१२)
मीन का प्रारंभ ३३०°
∴मीन में शनि ४·३७३८°

अतः गणना से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं :

(अ) 'रामचरित मानस' की तिथिः सं० १६३१, चैत्र शुक्ला ६, मंगलवारः
(१) विगत सं० १६३१—बुधवार, मार्च ३१, सन् १५७४,
(२) वर्त्तमान सं० १६३१—गुरुवार, मार्च १२, सन् १५७३ ।

(आ) (१) एक गीति की तिथिः सं० १६३१, ज्येष्ठ शुक्ला ६, स्वातीः
क. विगत सं० १६३१—ज्येष्ठ शुक्ला ६, मघा,
ख. वर्त्तमान सं० १६३१—ज्येष्ठ शुक्ला ६, अश्लेषा ।
(२) एक गीति की तिथिः सं० १६३१, ज्येष्ठ कृष्णा ६, स्वातीः
क. विगत सं० १६३१—ज्येष्ठ कृष्णा ६, धनिष्टा,
ख. वर्त्तमान सं० १६३१—ज्येष्ठ कृष्णा ६, उत्तराषाढ़ ।

(इ) 'ज्ञान दीपिका' की तिथिः सं० १६३१, आषाढ़ शुक्ला २, गुरुवारः
(१) विगत सं० १६३१—चंद्रवार, जून २०, सन् १५७४,
(२) वर्त्तमान सं० १६३१—बुधवार, जुलाई १, सन् १५७३ ।

(ई) 'वाल्मीकि रामायण' की हस्तलिखित प्रति की तिथिः सं० १६४१, मार्ग शुक्ला ७, रविवार :
(१) विगत सं० १६४१—रविवार, नवंबर २८, सन् १५८४,
(२) वर्त्तमान सं० १६४१—चंद्रवार, नवंबर ११, सन् १५८३ ।

(उ) 'सतसई' की तिथिः सं० १६४२, वैशाख शुक्ला ६, गुरुवार :
(१) विगत सं० १६४२—बुधवार, अप्रैल २८, सन् १५८५,

(२) वर्त्तमान सं० १६४२—गुरुवार, अप्रैल ६, सन् १५८४।

(ऊ) 'पार्वती मंगल' की तिथि : जय संवत्, फाल्गुन शुक्ला ५, गुरुवार, अश्विनी :

(१) विगत जय—गुरुवार, फर्वरी २, सन् १५८७, अश्विनी,

(२) वर्त्तमान जय—रविवार, फर्वरी १३, सन् १५८६, अश्विनी।

(ए) 'रामाज्ञा प्रश्न' की हस्तलिखित प्रति की तिथि : सं० १६५५, ज्येष्ठ शुक्ला १०, रविवार :

(१) विगत सं० १६५५—शनिवार (या रविवार ?), जून ४, सन् १५६८,

(२) वर्त्तमान सं० १६५५—चंद्रवार (या रविवार ?), मई १६, सन् १५६७।

(ऐ) पंचायतनामे की तिथि—सं० १६६६, आश्विन शुक्ला १३, रविवार :

(१) विगत सं० १६६६—रविवार, सितंबर २७, सन् १६१२,

(२) वर्त्तमान सं० १६६६—बुधवार, अक्टूबर ६, सन् १६११।

(ओ) मीन के शनि की तिथि :

(१) सं० १६४० (विगत) चैत्र शुक्ला ५, मीन में,

(२) सं० १६६६ (विगत) चैत्र शुक्ला २, मीन में।

परिशिष्ट आ

वेनीमाधवदास द्वारा दी हुई तिथियाँ

निम्नलिखित तिथियाँ 'मूल गोसाईंचरित' के लेखक द्वारा दी गई हैं—

(अ) तुलसीदास की जन्म तिथि सं० १५५४, श्रावण शुक्ला ७, सायाह्न, जब बृहस्पति और चंद्रमा कर्क के थे, मंगल तुला के थे और शनि वृश्चिक के थे।[1]

(आ) तुलसीदास की यज्ञोपवीत संस्कार तिथि सं० १५६१, माघ शुक्ला ५ शुक्रवार।[2]

(इ) तुलसीदास की विवाह तिथि संवत् १५८३, ज्येष्ठ शुक्ला १३, गुरुवार।[3]

(ई) तुलसीदास की स्त्री की देहांत तिथि संवत् १५८६, आषाढ कृष्णा १०, बुधवार।[4]

(उ) तुलसी की रामदर्शन तिथि संवत् १६०७, माघ कृष्णा १५, बुधवार।[5]

(ऊ) 'रामचरित मानस' की समाप्ति तिथि संवत् १६३३, मार्गशीर्ष शुक्ला ५ मंगलवार।[6]

(ए) तुलसीदास की देहांत तिथि संवत् १६८०, श्रावण कृष्णा ३, शनिवार।[7]

इन सभी तिथियों की गणना एल० डी० स्वामी कन्नू पिलाइ की प्रसिद्ध कृति 'इन्डियन क्रॉनालॉजी' में दिए हुए चक्रों और निर्दिष्ट विधियों के अनुसार दोनों विगत और प्रचलित संवत्-वर्षों में की गई है, परंतु पहले में उन की गणना विस्तारपूर्वक की गई है, दूसरे में केवल दो तिथियों की विस्तार पूर्वक की गई है—अर्थात् कवि की जन्म तिथि और 'रामचरित मानस' की समाप्ति तिथि की, दूसरी तिथियाँ विगत संवत् वर्ष में शुद्ध ठहरती हैं, इस लिए उन के केवल सप्ताह दिवस प्रचलित संवत् वर्ष में मालूम निकाले गए हैं।

[1] मू० गो० च० २

[2] वही ६

[3] वही १६

[4] वही १९

[5] वही २३

[6] वही ४१

[7] वही ११९

(अ) श्रावण शुक्ला ७, सायाह्न, संवत् १५५४

(१) विगत संवत् १५५४ = सन् १४९७

	सप्ताह-दिवस	मास	मास-दिवस अंश
श्रावण[1] अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(७)	जुलाई	२९·४९
७ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	६ + १		६·८९
	१४		३६·३८

सौर उत्केन्द्रता . ६·००६०
८८·५९१७
६·८९
१०१·४९... सौर समी० —·०६

चांद्र उत्केन्द्रता १७·६२०
५·९२८
६·८९
३०·४४

सौर समी० —·०६
३०·३८
—२७·५५
२·८३ चांद्र समी० —·२३
—·२९

—·२९
३६·०९

१३१ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७·३४ मार्च को प्रारंभ होता है) +·०३
३६·१२

तिथि अगस्त ५, सन् १४९७ को सूर्योदय के ·१२ दिवस पश्चात् समाप्त हुई। 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी', धारा ११३ के अनुसार 'सायाह्न' सूर्योदय से २४ घटिका (·४० दिन, देखिए दृष्टि-चक्र) से ३० घटिका तक (·५० दिन, देखिए दृष्टि-चक्र) वर्तमान रहता है, और जैसा कि भाषा में 'साँझ' दिन के

१ यह मास शुद्ध और अधिक दोनों था (चक्र १०), इस लिए 'अधिक श्रावण' के किसी संकेत की अनुपस्थिति में गणना 'शुद्ध श्रावण' में करनी पड़ेगी।

सूर्यास्त में विलीन होते हुए समय का द्योतक होता है, उस से हम मोटे तौर पर सूर्योदय से २६ घटिका (·४८ दिन) बाद के काल का अर्थ ले सकते हैं। इस प्रकार तिथि अगस्त ५·४८, सन् १४६७ के बराबर होती है।

चंद्र : अगस्त ५·४८, सन् १४६७ = सौर दिवस १३१·१४ को

चांद्र विस्तार श्रावण शुक्ल ७ को   ७ × १२ = ८४°

चांद्र देशांतर = चांद्र विस्तार + सौर देशांतर (देखिए धारा २८७)

सौर देशांतर = मध्यन्य देशांतर + समी०

१३१ दिन   १२६·६७४५° + १·६६६७° = १२८·६४१२°

·१४ दिन   = ·१३८०°

१२८·७७६२°

चांद्र देशांतर   १२८·७७६२° + ८४° = २१२·७७६२°

वृश्चिक् का प्रारंभ   २१०°

∴ वृश्चिक् में   २·७७६°

वृहस्पति : अगस्त ५·४८, सन् १४६७ = सौर दिवस १३१·१४ को

(१) सौर मध्यन्य देशांतर ऋण बार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर

सौर मध्यन्य देशांतर

१३१ दिन (चक्र १७ ए)   १२६·६७४५°

·१४ दिन (चक्र १७ सी)   ·१३८०°

१२७·११२५°

३६०°

४८७·११२५°

बार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर (चक्र १७)

सन् १४०० वर्ष (पृ० २०२)   १६६·५६०१°

६७ वर्ष (पृ० २०३)   ६३·७०००°

१३१ दिन (पृ० २०३)   १०·८८००°

·१४ दिन   ·११००°

२४४·२८०१°

− २४४·२८०१°

२४२·८३२४° (१)

(१) बार्हस्पत्य उच्चनीच विन्दु का देशांतर ऋण बार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर

बार्हस्पत्य उच्चनीच विन्दु का देशातर (पृ० २०२) १७१·३३७४°
+३६०°
५३१·३३७४°
बार्हस्पत्य मध्यन्य देशातर −२४४·२८०१°
२८७·०५७३° (२)

(३) बार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर २४४·२८०१° (३)

(४) बार्हस्पत्य वर्षीय समी० (१) के लिए (पृ० २०३) −११° (४)

(५) विपरीत चिह्न सहित (४) का आधा लीजिए +५·५°
और (२) में जोड़िए २८७·०५७३°
२९२·५५७३° (५)

(६) बार्हस्पत्य केन्द्र संबंधी समी० (५) के लिए (पृ०२०४) −४·७° (६)

(७) विपरीत चिह्न सहित (६) का आधा लेकर +२·८५°
(५) में जोड़िए २९२·५५७३°
२९५·४०७३° (७)

(८) केन्द्र संबंधी समी० (७) के लिए (पृ० २०४) −४·६° (८)

(९) विपरीत चिह्न सहित (८) लीजिए +४·६°
और (३) में जोड़िए २४२·८३२४°
२४७·४३२४° (९)

(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २०३) −११·३° (१०)

(११) (८) और (१०) को जोड़िए − ४·६ − ११·६ = −१६·२° (११)

(१२) (३) और (११) को जोड़िए २४४·२८०१ − १६·२ = २२८·०८०१°
वृश्चिक का प्रारंभ २१०°
वृश्चिक में १८·०८°

मंगल : अगस्त ५·४८, सन् १४९७ = सौर दिवस १३१·१४ को

(१) सौर मध्यन्य देशांतर ऋण मंगल का मध्यन्य देशांतर

सौर मध्यन्य देशांतर (जैसा कि ऊपर है) ४८७.११२५°

मंगल का मध्यन्य देशांतर

सन् १४०० के लिए (पृ० २००) २२·१२२४°

९७ वर्षों के लिए २०६·३१००°

१३१ दिवसों के लिए ६८·६५००°

.१४ दिवस ·००५०°

२६७·१५७४°

− २६७·१५७४°

१८८·६५५१° (१)

(२) मगल के उच्चनीच विन्दु का देशातर ऋण मगल का देशातर

मगल के उच्च नीच विन्दु का देशातर (पृ० २००) ४६०·०५२८°

मगल का मध्यन्य देशातर − २६७·१५७४°

१६२·१५७४° (२)

(३) मगल का मध्यन्य देशातर २६७·१५७४° (३)

(४) मगल का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २००) − १७° (४)

(५) विपरीत चिह्न सहित (४) का आधा लेकर +८५°

(२) में जोडिए १६२·८६°

२०१·३६° (५)

(६) मगल का केन्द्र सबधी समी० (५) के लिए (पृ० २०१) − ४·३° (६)

(७) विपरीत चिह्न सहित (७) का आधा लेकर +२·१५°

(५) में जोडिए २०१·३६°

२०३·५८° (७)

(८) केन्द्र सबधी समी० (७) के लिए (पृ० २०१) − ४ ७° (८)

(९) विपरीत चिह्न सहित (८) को लेकर (१) में जोड़िए

४·७ + १८८ ६५५१° = १६४ ६५५१° (९)

(१०) वार्षिक समी० (६) के लिए (पृ० २००) − २४०° (१०)

(११) (८) और (१०) को जोड़िए − ४ ७ − २४ = − २८ ७° (११)

(१२) (३) और (११) को जोड़िए

२६७ १५७४ − २८ ७००० = २६८ ४५७४° (१२)

धनुप का प्रारभ २४०°

धनुप में २८ ४५°

शनि . अगस्त ५ ४८, सन् १४६७ = सौर दिवस १३१·१४ को

(१) सौर मध्यन्य देशांतर ऋण शनि का मध्यन्य देशातर

सौर मध्यन्य देशातर (ऊपर के अनुसार) ४८७·११२°

शनि का मध्यन्य देशांतर

सन् १४०० के लिए (पृ० २०५)	२५७·२३४६°	
६७ वर्षों के लिए (पृ० २०६)	१०५·२५०°	
१३१ दिवसों के लिए (पृ० २०६)	४·३८०°	
·१४ दिवस के लिए	·००४°	
	३६६·८६६°	
	− ३६६·८६६	
	१२०·२४३	(१)
(२) शनि के उचनीच विन्दु का मध्यन्य ऋण शनि का मध्यन्य देशांतर		
शनि के उचनीच विन्दु का मध्यन्य (पृ० २०५)	२३६·६२४२°	
	३६०°	
	५९६·६२४२°	
शनि का मध्यन्य देशांतर	− ३६६·८६६०°	
	२२९·७५५२°	(२)
(३) शनि का मध्यन्य देशांतर	३६६·८६६°	(३)
(४) शनि का वार्षिक समी० (३) के लिए (पृ० २०६)	+५·७°	(४)
(५) विपरीत चिह्न सहित (४) का आधा ले कर	− २·८५०°	
(२) में जोड़िए	२२९·७५५°	
	२२६.९०५°	(५)
(६) शनि का केन्द्र संबंधी समी० (५) के लिए (पृ० २०६)	— ५·६°	(६)
(७) विपरीत चिह्न सहित (६) का आधा ले कर	+ २·८००°	
(५) में जोड़िए	२२६·९०५°	
	२२९·७०५°	(७)
(८) केन्द्र संबंधी समी० (७) के लिए (पृ० २०६)	—५·९°	(८)
(९) विपरीत चिह्न सहित (८) ले कर	+५·९००°	
(१) में जोड़िए	१२०·२४३°	
	१२६·१४३°	(९)
(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २०६)	+५·५°	(१०)

(११) (८) और (१०) को जोड़िए −५.६ + ५.५ = −.४° (११)

(१२) (३) और (११) जोडिए ३६६.८६६°
−.४००°

३६६.४६६ (१२)
३६०°

मेष में ६.४६६°

(अ) (२) श्रावण शुक्ला ७, सायाह्न, संवत् १५५४

वर्त्तमान संवत् १५५४=सन् १८६६

श्रावण अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(१)	जुलाई १०.५८
७ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	६ + १	६.८६
	१४	१७.४७

सौर उत्केन्द्रता १६.८६७७
८८.५६१७
६.८६
११२.३७६४...सौर समी० —.०६

चान्द्र उत्केन्द्रता २१.४६३
५.६८
६.८६
३४.३३३

सौर समी० —.०६
३४.२४३
—२७.५५
६.६६३ ...चान्द्र समी० — ४१
— ५०

—.५०
१६.६७

११० सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७ ६००० मार्च को प्रारंभ होता है) +.०४
१७.०१

तिथि जुलाई १७, सन् १४४६ को सूर्योदय के पश्चात् ·०१ दिन व्यतीत होने पर समाप्त हुई, परन्तु चूँकि हमारा सबंध तिथि की साँझ से है, जिस को हम ने ·४८ दिन के बराबर माना है, इस लिए तिथि जुलाई १७·४८, सन् १४९६ के बराबर है।

चंद्र : जुलाई १७·४८, सन् १४९६ = सौर दिवस १११·८८

चान्द्र देशांतर = चांद्र विस्तार + सौर देशांतर (देखिए धारा २८७)

श्रावण शुक्ला ७ को चान्द्र विस्तार = ७ × १२ = ८४°

सौर देशांतर = सौर मध्यन्य देशांतर + सौर समी०

१११ दिन (पृ० २०७)	१०८·३६२५°
·८८ दिन	·८६७३°
	१०९·२२९८°

चान्द्र देशांतर = ८४° + १०९·२२° = २९३·२२°

मकर का प्रारंभ	२७०°
∴ मकर में	२३·२२

बृहस्पति : जुलाई १७·४८, सन् १४९६ = सौर दिवस १११·८८

(१) सौर मध्यन्य देशांतर ऋण बार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर

सौर मध्यन्य देशांतर (चक्र १७ ए और सी)

१०७·२६२५° + ·८६७३° + ३६०° = ४६८·१२९८°

बार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर (चक्र १७)

सन् १४०० (पृ० २०२)	१६६·५६०१°
९६ वर्ष (पृ० २०३)	३३·३५°
१११ दिवस (पृ० २०३)	९·२२°
८८ दिवस	·७०°
	२१२·८६०१°
	−२१२·८६०१°
	२५५·२२९७° (१)

(२) बार्हस्पत्य उच्चनीच बिन्दु का देशांतर ऋण बार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर

बार्हस्पत्य उच्चनीच बिन्दु का देशांतर (पृ० २०२)	५३१·३३७४°
बार्हस्पत्य मध्यन्य देशांतर	२१२·८६०१°
	३१८·४७७३° (२)

(३) गार्हस्पत्य मध्यन्य देशातर　　२१२.८६०१　(३)

(४) गार्हस्पत्य वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २०३)　−११.५°　(४)

(५) विपरीत चिह्न सहित (४) का आधा ले कर　+५.७५°
　(२) मे जोड़िए　३१८.४७७३°

　　३२४.२२७३° (५)

(६) वार्हस्पत्य केन्द्र सबधी समी० (५) के लिए (पृ० २०४) − ३.०° (६)

(७) विपरीत चिह्न सहित (६) का आधा लेकर　+१.५००
　(५) में जोडिए　३२४.२२७°

　　३२५.७२७° (७)

(८) केंद्र सबधी समी० (७) के लिए (पृ० २०४)　−२.६°　(८)

(९) विपरीत चिह्न सहित (८) को लेकर　+२.६°
　(१) म जोड़िए　२५५.२२६७°

　　२५८.१२६७°(९)

(१०) वार्षिक समी० (६) के लिए (पृ० २०३)　− ११.५४° (१०)

(११) (८) तथा (१०) का जोड़िए −२.६° − ११.५४° = − १४.४४　(११)

(१२) (३) और (११) को जोड़िए २१२.८६०१ − १४.४४ = १९८.४२०१° (१२

　　तुला का प्रारभ　१८०°

　　.. तुला में　१८.४२०१°

मगल : जुलाई १७.४८, सन् १४६६ = सौर दिवस　२११.८८८

(१) सौर मध्यन्य देशातर ऋण मगल का मध्यन्य देशातर
　सौर मध्यन्य देशातर (जैसा कि ऊपर है)　१०८.१२६८°
　मगल का मध्यन्य देशातर (चक्र १७)
　सन् १४०० के लिए (पृ० २००)　२२.१२२४°
　६६ वर्षों के लिए (पृ० २००)　१४.६१°
　२११ दिवसों के लिए　५८.१७°
　.८८ दिवस के लिए　.४६°
　　६५.६६२४°

　　−६५.६६२४°

　　१२.४६७४°　(१)

(२) मगल के उच्चनीच बिन्दु का देशातर ऋण मगल का मध्यन्य देशांतर

मगल के उच्चनीच बिन्दु का देशातर (पृ० २००)	४६०.०४२८°	
मगल का मध्यन्य देशातर	−६५.६६२४°	
	३६४.३६०४°	
	−३६०°	
	३४.३६०४°	(२)
(३) मंगल का मध्यन्य देशातर	६५.६६२४°	(३)
(४) मगल का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २००)	+५.०°	(४)
(५) विपरीत चिह्न सहित (४) का आधा ले कर	−२.५°	
(२) में जोड़िए	३४.३६°	
	३१.८६°	(५)
(६) मगल का केंद्र का सबधी समी० (५) के लिए (पृ० २०१°)	+६.२°	(६)
(७) विपरीत चिह्न सहित (६) का आधा ले कर	−३.१°	
(२) में जोड़िए	३४.३६°	
	३१.२६°	(७)
(८) केंद्र सबधी समी० (७) के लिए (पृ० २०१)	+६.१°	(८)
(९) विपरीत चिह्न सहित (८) को ले कर	−६.१°	
(१) में जोड़िए	१२.४६७°	
	६.२६७°	(९)
(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २००)	२°	(१०)
(११) (८ और ९) को जोड़िए ६.१ + २°	८.१°	(११)

(१२) (३) और (११) को जोड़िए ६५.६६२४° + ८.१° = १०३.७६२४ (१२)

कर्क का प्रारंभ	९०°
∴ कर्क में	१३.७६°

शनि जुलाई १७.४८, सन् १४९६ = सौर दिवस १११.५८

(१) सौर मध्यन्य देशातर ऋण शनि का मध्यन्य देशांतर

सौर मध्यन्य देशांतर (ऊपर के अनुसार) ४६८.१०६८°

शनि का मध्यन्य देशातर		
सन् १४०० के लिए (पृ० २०५)	२५७·२३४६°	
९६ वर्षों के लिए (पृ० २०६)	९३·०३००°	
१११ दिवसों के लिए (पृ० २०६)	३·७१००°	
·८८ दिवस के लिए	·०३००°	
	३५४·००४६°	
	– ३५४·००४६°	
	११४·१२४६°	(१)

(२) शनि के उच्चनीच विन्दु का देशातर ऋण शनि का मध्यन्य देशातर
शनि के उच्चनीच विन्दु का देशातर (पृ० २०५)

२३६·६२४ + ३६० = ५९६·६२४°

शनि का मध्यन्य देशातर	३५४·००४°	
	२४२·६२०°	(२)
(३) शनि का मध्यन्य देशातर	३५४·००४६°	(३)
(४) शनि का वार्षिक समी० (१) के लिए (पृ० २०६)	+६·८°	(४)
(५) विपरीत चिह्न सहित (४) का आधा ले कर	–३·४°	
(२) में जोड़िए	२४२·६२०°	
	२३९·२२००°	(५)
(६) शनि का केन्द्र सबधी समी० (५) के लिए (पृ० २०६) –६·६		(६)
(७) विपरीत चिह्न सहित (६) का आधा लेकर	+३·३°	
(५) में जोडिए	२३९·२२°	
	२४२·५२°	(७)
(८) केन्द्र सबधी समी० (७) के लिए (पृ० २०६)	–६·८°	(८)
(९) विपरीत चिह्न सहित (८) का लेकर	+६·८°	
(१) में जोडिए	११४·१२४°	
	१२०·९२४°	(९)
(१०) वार्षिक समी० (९) के लिए (पृ० २०६)	+५·८°	(१०)
(११) (८) और (१०) को जोड़िए–६·८+५·८ =	–१·०°	(११
(१२) (३) और (११) को जोडिए ३५४·००४–१·० =	३५३·००४°	(१२)

मीन का प्रारंभ ३३०°

∴ मीन में २३·००४°

(आ) संवत् १५६१, माघ शुक्ला ५, शुक्रवार

(१) विगत संवत् १५६१ = सन् १५०५

माघ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल		(१) जनवरी	५·२८
५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	४+१ / ६		४९२
			१०·२०

सौर उत्केन्द्रता
२६५·७७५२
१८·३५५६
४·६२००
२८८·०५११... सौर समी० +·०८

चांद्र उत्केन्द्रता
१७·७८४
२४·२०४
४·६२०
४६·६०८

सौर समी० +·०८
४६·६८८
−२७·५५०
१९·४३८ चांद्र समी० +·४१
१०·६९

२८८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७·११ मार्च को प्रारंभ होता है) −·०१
१०·६८

=शुक्रवार, जनवरी १०, १५०५ ई०

(२) वर्त्तमान संवत् १५६१ = सन् १५०४

माघ अमचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल		(२) जनवरी	१६·९१
५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	४+१ / ८		४·९२
			२१·८३

=रविवार

(इ) संवत् १५८३ ज्येष्ठ शुक्ला १३, गुरुवार

(१) विगत संवत् १५८३ = सन् १५२६

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(६)	मई ११·३६
१३ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	१२+१	१२·८०
	१६	२४·१६

सौर उत्केन्द्रता २५५३०५
१४ ६८३२
१२·८०००
५३·३१३७.. सौर समी० +०८

चांद्र उत्केन्द्रता १ ६७६
१०·५८०
१२ ८००
२५·३५६

सौर समी० +·०८
२५ ४३६... चांद्र समी० +·१८
२४ ४२

५८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २७·८४ मार्च को प्रारंभ होता है) +·०५
२४·४७

= गुरुवार, मई २४, सन् १५२६

(२) वर्त्तमान संवत् १५८३ = सन् १५२५

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल	(२)	मई २२·००
१३ तिथियों का समस्त व्याप्ति काल	१२	१२·८०
	१४	३४·८०

= शनिवार

(ई) संवत् १५८६, आषाढ़ कृष्णा १० बुधवार

(१) विगत संवत् १५८६ = सन् १५३२

ज्येष्ठ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(७),	मार्च ४ ६२
२५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२४+१	२४·६१
	३२	२६·२३

सौर उत्केन्द्रता ८·६६४१
५६·०६११
२४·६१००
६२·३६५२ ···सौर समी० +·०४

चाद्र उत्केन्द्रता १६·०३०
३·६५२
२४·६१०
४७·५६२
सौर समी० −·०४०
४७·५५२
−२७·५५०
२०·००२ ·· चाद्र समी० +·४१
२६·६८

६८ *सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि* (सौर वर्ष मार्च २७·३६ को प्रारभ होता है) +·०५
२६·७३

=बुधवार, मई २६, सन् १५३२

(२) वर्त्तमान सवत् १५८६ = सन् १५३१

ज्येष्ठ अमाचद्र का मध्यन्य समाप्ति काल (३) मई १६·३६
२५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल २४ २४·६१
२७ ४०·६७

=शुक्रवार

(उ) सवत् १६०७, माघ कृष्णा १५, बुधवार

(१) विगत सवत् १६०७ = सन् १५५१

पौष अमाचद्र का मध्यन्य समाप्ति काल (२) दिसंबर ८·६६
३० तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल २६ + १ २६·५३
३२ ३८·१६

या माघ अमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (४) जनवरी ७·१६

सौर उत्केन्द्रता १६·३५७६
२६५·७७५२
२८५·१३२८ ...सौर समी० +·०७

चाद्र उत्केन्द्रता १८·८०२
१७·७८४

३६·५८६
– २७·५५०

९·०३६
सौर समी० +·०७०

९·१०६ चाद्र समी० – ३८
– ६·८८

७० सौर दिवसों के लिए काशी की कालशुद्धि } +·०५
(सौर वर्ष २८·३१ मार्च को प्रारम्भ होता है) } ६·९३

=बुधवार, जनवरी ६, सन् १५५१

(२) वर्तमान सवत् १६०७ = सन् १५५०

माघ श्रमाचद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (६) जनवरी १७·८२

= शुक्रवार

(ऊ) सवत् १६३३ मार्गशीर्ष शुक्ला ५, मगलवार

(१) विगत सवत् १६३३ = सन् १५७६

· मार्ग श्रमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (२) नवबर २० ९७

५ तिथियों का समाप्तिकाल ४+१ ४·९२

·८ २५·८९

सौर उत्वेन्द्रता २०६·७१४१
१·९४८७
४ ९२

२१३·५८२८ .. सौर समी० – ·१४

चाद्र उत्वेन्द्रता १३ ८३२
१९·३३९
४ ९२°

३८·०९१

सौर समी०   −·१४०
३७·६५१
−२७·५५०
१०·४०१ ... चांद्र समी०   −·३१

२४३ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि }
(सौर वर्ष २७·७८ मार्च को प्रारंभ होता है) }   −·००५
२५·४३५

= रविवार, नवंबर २५, सन् १५७६

(२) वर्तमान संवत् १६३२ = सन् १५७५

मार्ग अमाचंद्र का }
मध्यन्य समाप्तिकाल }   (५)   नवंबर   ३·०७

५ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल   ४   ४·६२
६   ७·६६

सौर उत्केन्द्रता   १२·८४०४
२०६·७१४१
४·६२
२२४·४७४५ ... सौर समी०   −·११

चांद्र उत्केन्द्रता   २३·१८१
१३·८३२
४·६२०
४१·६३३

सौर समी०   −·११०
−४१·८२३
−२७·५५०
१४·२७३ ... चांद्र समी०   +·०५
७·६३

२२५ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि }
(सौर वर्ष २८·५२ मार्च को प्रारंभ होता है) }   +·००१
७·६३१

= चंद्रवार, नवंबर ७, सन् १५७५

(ए) संवत् १६८०, श्रावण कृष्णा ३, शनिवार

(१) विगत संवत् १६८० = सन् १६२३

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यम्य समाप्तिकाल } (३) जून १७ ५६

१८ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल १७ । १ १७ ७२

२१ ३५·३१

सौर उत्केन्द्रता २१·५८६३
५६·०६११
१७·७२००

६८ ३७०४ सौर समी० — ·०५

चांद्र उत्केन्द्रता १२·१६२
३·६५२
१०·७२०
३३·८६४
— २७ ५५०
६·३१४

सौर समी० — ·०५०

५·२६४ चांद्र समी० — ४०

३४ ८६

६६ सौर दिनों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८ ६४ मार्च को प्रारम्भ होता है) } + ·०४

३४ ६०

= शनिवार, जुलाई ४, सन् १६२३

(२) वर्तमान संवत् १६८० = सन् १६२२

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यम्य समाप्तिकाल } (६) जून २८·२३

१८ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल १७ १७ ७२

२३ ४५·६५

= चंद्रवार

उपर्युक्त गणना से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं —

(अ) तुलसीदास की जन्मतिथि सं० १५५४ श्रावण शुक्ला ७, जब बृहस्पति और चंद्रमा कर्क के थे, मंगल तुला के थे और शनि वृश्चिक के थे ;

(१) विगत सं० १५५४, श्रावण शुक्ला ७ : चंद्रमा वृश्चिक् के, वृहस्पति भी वृश्चिक् के, मंगल धनुष के और शनि मेष के,
(२) वर्त्तमान सं० १५५४, श्रावण शुक्ला ७ : चंद्रमा मकर के, वृहस्पति तुला के, मंगल कर्क के और शनि मीन के।

(आ) तुलसीदास की यज्ञोपवीत-संस्कार-तिथि : सं० १५६१, माघ शुक्ला ५, शुक्रवार :
(१) विगत सं० १५६१— शुक्रवार, जनवरी १०, सन् १५०५,
(२) वर्त्तमान सं० १५६१—रविवार।

(इ) तुलसीदास की विवाह-तिथि : सं० १५८३, ज्येष्ठ शुक्ला १३, गुरुवार :
(१) विगत स० १५८३—गुरुवार, मई २४, सन् १५२६,
(२) वर्त्तमान सं० १५८३—शनिवार।

(ई) तुलसीदास की स्त्री की देहात-तिथि : सं० १५८६, आषाढ़ कृष्णा १०, बुधवार :
(१) विगत सं० १५८६—बुधवार, मई २६, १५३२ ई०,
(२) वर्त्तमान सं० १५८६—शुक्रवार।

(उ) तुलसीदास की रामदर्शन-तिथि : स० १६०७, माघ कृष्णा ३०, बुधवार :
(१) विगत सं० १६०७—बुधवार, जनवरी ६, सन् १५५५,
(२) वर्त्तमान स० १६०७—शुक्रवार।

(ऊ) 'रामचरित मानस' की समाप्ति-तिथि : स० १६३३, मार्गशीर्ष शुक्ला ५, मंगलवार :
(१) विगत सं० १६३३—रविवार, नवम्बर २५, सन् १५७६,
(२) वर्त्तमान सं० १६३३—चंद्रवार, नवम्बर ७, सन् १५७५।

(ए) तुलसीदास की देहात-तिथि : सं० १६८०, श्रावण कृष्णा ३, शनिवार :
(१) विगत स० १६८०—शनिवार, जुलाई ४, सन् १६२३
(२) वर्त्तमान सं० १६८०—चंद्रवार।

———

परिशिष्ट इ

तुलसी साहिब द्वारा दी हुई तिथियाँ

निम्नलिखित तिथियाँ तुलसी साहिब ने अपने पूर्व जन्म की आत्मकथा में दी हैं :—

(अ) तुलसीदास की जन्म तिथि : संवत् १५८६, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार।[1]

(आ) वैराग्य धारण करने के पश्चात् उनके काशी-आगमन की तिथि : संवत् १६१५, चैत्र १२, मंगलवार।[2]

(इ) 'घट रामायण' की रचना-तिथि : संवत् १६१८, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार।[3]

आगे के पृष्ठों में इन तिथियों की गणना उन चक्रों और विधियों के अनुसार की गई है जिन्हें एल० डी० स्वामी कन्नू पिलाइ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इंडियन क्रॉनोलॉजी' में दिया है। समस्त तिथियों की गणना दोनों विगत और वर्त्तमान संवत् वर्ष प्रणालियों में की गई है। परंतु पहिली तिथि अर्थात् तुलसीदास की जन्म तिथि की गणना पूर्णरूप से की गई है, अन्य दो तिथियाँ सप्ताह के दिन निकाल कर छोड़ दी गई हैं क्यों कि वे चरित-लेखक द्वारा दिए गए सप्ताह-दिवसों में नहीं मिलतीं।

(अ) संवत् १५८६, शुद्ध[4] भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार

(१) १५८६ विगत = सन् १५३२

	सप्ताह-दिवस	मास	मास-दिवस	अंश
भाद्रपद अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(६)	अगस्त		३०·७४

[1] 'घट रामायण' (वेलवेडियर प्रेस संस्करण) पृ० ४१५

[2] वही पृ० ४१७

[3] वही

[4] इस वर्ष में 'अधिक' भाद्रपद भी था, किंतु 'अधिक' का निर्देश न होने के कारण 'शुद्ध' भाद्रपद में ही गणना समीचीन होगी।

११ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल $\frac{१०+१}{१७}$ — $\frac{,१०\cdot ८३}{४१\cdot ५७}$

सौर उत्केन्द्रता ८ ६६४१
११८·१२२०
१०·८३००
१३७ ६४६१ सौर समी० —·१५

चान्द्र उत्केन्द्रता १६·०३०
७ ६०४
१० ८३०
३७·७६४

सौर समी० —·१५०
३७·६१४
—२७ ५५०
१०·०६४ चान्द्र समी० —·३५
१०·०७०

१६७ दिनों के लिए काशी की शुद्धि
(सौर वर्ष २७·३६८ मार्च को प्रारंभ होता है) —·०२६
१० ०४४

= मगलवार, सितंबर १०, सन् १५३२

(२) स० १५८६ वर्तमान = सन् १५३१

भाद्रपद अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल } (७) अगस्त १२·८५

११ तिथियों का समस्त व्याप्ति काल $\frac{१०+१}{१८}$ १० ८३

= बुधवार

(अ) संवत् १६१५, चैत्र शुक्ला १२, मगलवार

(१) सं० १६१५ विगत = सन् १५५८

चैत्र अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल } (७) मार्च १६·४१

१२ तिथियों के लिए समस्त व्याप्तिकाल $\frac{११+१}{१६}$ ११·८१

= बृहस्पतिवार

(२) सं० १६२५ वर्त्तमान = सन् १५५७

चैत्र अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल (१) फर्वरी २८·५१

१२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ११ + १ ११·८१

१३

= शुक्रवार

(आ) संवत् १६१५, चैत्र कृष्णा १२, मंगलवार

(१) सं० १६१५ विगत = सन् १५५६

फाल्गुन अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (३) फर्वरी ७·२४

१२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल २६ २६·५८

२६

= रविवार

(२) सं० १६१५ वर्त्तमान = सन् १५५८

फाल्गुन अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (५) फर्वरी १७·८८

१२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल २६ + १ २६·५८

३२

= बुधवार

(इ) संवत् १६१८, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार

(१) सं० १६१८ विगत = सन् १५६१

भाद्रपद अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (१) अगस्त १०·७०

११ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल १० + १ १०·८३

१२

= बृहस्पतिवार

(२) सं० १६१८ वर्त्तमान = सन् १५६०

भाद्रपद अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल (४) अगस्त २१·३३

११ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल १० + १ १०·८३

१५

= रविवार

संक्षेप में गणना द्वारा निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं:—

(अ) तुलसीदास की जन्म-तिथि: सं० १५८६, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार:

(१) विगत सं० १५८६—मंगलवार, सितंबर १०, सन् १५३२,

(२) वर्त्तमान सं० १५८६—बुधवार, अगस्त ११, सन् १५३२।

(आ) वैराग्य धारण करने के पश्चात् उनके काशी-आगमन की तिथि: संवत् १६१५, चैत्र शुक्ला १२, मंगलवार:

(१) विगत, सं० १६१५—बृहस्पतिवार,

(२) वर्त्तमान सं० १६१५—शुक्रवार।

(आ) वही: संवत् १६१५, चैत्र कृष्णा १२, मंगलवार:

(१) विगत सं० १६१५—रविवार,

(२) वर्त्तमान सं० १६१५—बुधवार।

(इ) 'घट रामायण' की रचना-तिथि: संवत् १६१८, भाद्रपद शुक्ला ११, मंगलवार:

(१) विगत सं० १६१८—बृहस्पतिवार,

(२) वर्त्तमान सं० १६१८—रविवार।

परिशिष्ट ई

भगरात ब्राह्मण तथा एक दूसरे लिपिकार द्वारा दी हुई तिथियाँ

तिथियाँ निम्नलिखित हैं—

(अ) 'रामचरित मानस' बालकांड की एक हस्तलिखित प्रति की तिथि (पुष्पिका)[1] : संवत् १६६१, वैशाख शुक्ला ६, बुधवार।

(आ) 'रामगीतावली' की एक हस्तलिखित प्रति की तिथि (पुष्पिका) :[2]

(१) संवत् १६६६, श्रावण शुक्ला (?) १२, बुधवार,

(२) संवत् १६६६, श्रावण कृष्णा (?) १२, बुधवार।

नीचे के पृष्ठों में इन तिथियों की गणना एल्० डी० स्वामी कन्नू पिलाइ की प्रसिद्ध पुस्तक 'इंडियन क्रॉनॉलॉजी' में दिये गए चक्रों और निर्दिष्ट विधियों के अनुसार की गई है, और यह समस्त गणना विगत तथा प्रचलित संवत्-वर्ष की दोनों प्रणालियों में की गई है।

(अ) (१) संवत् १६६१, वैशाख शुक्ला ६, बुधवार

विगत सं० १६६१ = सन् १६०४

	सप्ताह दिवस	मास	मास-दिवस अंश
वैशाख अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल	(४)	अप्रैल	१८·८५
६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	५+१		५·९१
	१०		२४·७६

सौर उत्केन्द्रता २८८१७५
५९१००
३४·७२७५ ···सौर समी० +·१३

चांद्र उत्केन्द्रता १६ २६४
५·९१०

[1] देखिए ऊपर पृ० १८२ [2] वही पृ० २००

सौर समी० +·१३०
२२·३०४ .. चांद्र समी० +·३७
२५·२६

२८ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि } +·०२
(सौर वर्ष २८·०२ मार्च को प्रारम्भ होता है) } २५·२८

=मंगलवार, अप्रैल २५, सन् १६०४

(२) वर्तमान स० १६६१=सन् १६०३

वैशाख अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल }	(५)	मार्च	३१·६५
६ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	५+१ / ११		५·६१ / ३७·८६

सौर उत्केन्द्रता ३·१७८७
५·६१००
६·०८८७ .. सौर समी० + ·१७५

चांद्र उत्केन्द्रता १८·१३०
५·६१०

सौर समी० +·१७५
२४·२१५ .. चांद्र समी० +·२७०
३८·३०५

१० सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि } +·०४
(सौर वर्ष २८·७६ मार्च को प्रारम्भ होता है) } ३८·३४५

=बुधवार, अप्रैल ७, सन् १६०३

(आ) (१) संवत् १६६६ श्रावण शुक्ला १२, बुधवार

क. विगत स० १६६६=सन् १६०६

श्रावण अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल }	(६)	जुलाई	२१·३३
१२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	११+१ / १८		११·८१ / ३३·१४

सौर उत्केन्द्रता ८८·५६१७
२६·४२०२
११·८१००
१२६·८२१६ ... सौर समी० +·१३

चान्द्र उत्केन्द्रता ५·६२८
१·००२
११·८१०
सौर समी० +·१३०
१८·८७० ... चान्द्र समी० +·३१

१२७ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·३२ मार्च को प्रारंभ होता है) ३३·५८ +·०४ ३३·६२

=बुधवार, अगस्त २, सन् १६०६

ख. वर्त्तमान स० १६६६ = सन् १६०८

श्रावण अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्ति काल (७) जुलाई २·४४

१२ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल ११+१ / १६ ११·८१ / १४·२५

सौर उत्केन्द्रता ७·७८१३
८८·५६१३
११·८१००
१०८·१८२६ ...सौर समी० —·०८

चान्द्र उत्केन्द्रता २·८६८
५·६२८
११·८१०
२०·६०६
सौर समी० —·०८०
२०·५२६ ...चान्द्र समी +·४

१०७ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·०६ मार्च को प्रारंभ होता है) १४·५ +·० १४·६

=बृहस्पतिवार, जुलाई १४, सन् १६०८

(आ) (२) संवत् १६६६, श्रावण कृष्णा १२, बुधवार

क. विगत सं० १६६६ = सन् १६०६

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल		(४) जून	२१·८०
२७ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२६ + १		२६·५८
	३१		४८·३८

सौर उत्केन्द्रता ५६·०६११
२६·४२०२
२६·५८००
११२·०६१३ ... सौर समी० —·०६

चांद्र उत्केन्द्रता ३·६५२
१·००२
२६·५८०
३१·५३४
सौर समी० —·०६०
३१·४४४
—२७·५५०
३·८६४ ...चांद्र समी० —·३०

१११ सौर दिवसों के लिए काशी की शुद्धि (सौर वर्ष २८·२२ मार्च को प्रारंभ होता है) ४७·६६
+·०४
४८·०३

= मंगलवार जुलाई १८, सन् १६०६

ख. वर्तमान सं० १६६६ = सन् १६०८

आषाढ़ अमाचंद्र का मध्यन्य समाप्तिकाल		(५) जून	२·६१
२७ तिथियों का समस्त व्याप्तिकाल	२६ + १		२६·५८
	३२		२६·४६

सौर उत्केन्द्रता ७·७८१३
५६·०६११
२६·५८००
९३·४२२४ ... सौर समी० —·०४

चान्द्र उत्वेन्द्रता २ ८६८
३.६५२
२६ ४८०
३३.४००
सौर समी० —.०४०
३३ ३६०
— २७.४५०
५ ८१० ..चान्द्र समी० —.३६
२६.०६
६३ सौर दिनों के लिए काशी की शुद्धि } +.०४
(सौर वर्ष २८.०६ मार्च को प्रारंभ होता है) } २६.१०

= बुधवार, जून २६, १६०८ ई०

संक्षेप में गणना द्वारा निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं :

(अ) 'रामचरित मानस' बालकांड की हस्तलिखितप्रति की तिथि :
सवत् १६६१, वैशाख शुक्ला ६, बुधवार :
(१) विगत सवत् १६६१—मगलवार, अप्रैल २५, सन् १६०४,
(२) वर्त्तमान सवत् १६६१—बुधवार, अप्रैल ७, सन् १६०३।

(आ) 'राम गीतावली' की हस्तलिखित प्रति की तिथि :
(१) सवत् १६६६, श्रावण शुक्ला १२, बुधवार :
क. विगत सवत् १६६६—बुधवार, अगस्त २, सन् १६०६,
ख. वर्तमान सवत् १६६६—बृहस्पतिवार, जुलाई १४, सन् १६०८।
(२) सवत् १६६६, श्रावण कृष्णा १२, बुधवार :
क विगत सवत् १६६६—मगलवार, जुलाई १८, सन् १६०६,
ख वर्त्तमान सवत् १६६६—बुधवार, जून २६, सन् १६०८।

परिशिष्ट ३

कवि की अन्य रचनाओं में मिलने वाले दोहावली के दोहे[1]

दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है		दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है	
१	रामाज्ञा०	७ ३-७	११५	मानस, लंका०	४८
२	,,	३-१-७	११६	,, अयोध्या०	८७
३	,,	३-२-७	११७	रामाज्ञा०	४-३-१
४	,,	३ ५ ७	११८	,,	४-२-४
५	,,	७-४-७	११९	,,	४-२ ६
६	मानस, बाल०	२१	१२०	,,	४-३-३
९	,, ,,	२०	१२१	,,	४ ३-२
११	,, ,,	२६	१२२	,,	४-४-७
२५	,, ,,	१९	१२३	मानस, अयोध्या०	९२
२६	,, ,,	२७	१२४	,, किष्किंधा०	२७
२७	रामाज्ञा०	३-४ ४	१२६	मानस, उत्तर०	१२२
२८	,,	५-१-१	१२८	,, ,,	११९
३०	मानस, बाल०	२२	१२९	,, लंका०	३
३१	,, ,,	२५	१३०	,, ,,	१
३२	,, ,,	२४	१३१	,, सुंदर०	४६
३३	रामाज्ञा०	२-४ ७	१३२	,, उत्तर०	६१
३९	,,	६-४-७	१३३	,, ,,	९०
५०	मानस, बाल०	२९	१३४	,, ,,	९०
१०१	,, लंका०	२	१३६	,, ,,	९२
१०५	,, बाल०	२९	१३७	,, ,,	८९
११३	,, उत्तर०	७२	१३८	,, ,,	७८
११४	,, ,,	२५	१६१	,, ,,	१९

[1] ० ई० १८९३ पृ० १२४-१२७ भी देखो।

दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है		दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है	
१६३	मानस, सुंदर०	४६	२२८	रामाज्ञा०	६-५-७
१६४	रामाज्ञा०	६-३ ७	२२६	,,	६-४-१
१७१	,,	७-४-३	२३०	,,	२-३-१
१७२	,,	३-१-१	२३१	,,	७ १-२
१७४	,,	६-५-६	२३२	,,	३-४-१
१७५	,,	१-३-७	२३३	,,	५-४-१
१७६	मानस, उत्तर०	१३०	२३७	मानस, किष्किंधा०	१
१८१	,, बाल०	२८	२३८	,, ,,	,,
१८२	रामाज्ञा०	७-६-१	२४१	,, अयोध्या०	७७
१८४	,,	७-२ ७	२४७	,, ,,	६२
१८५	मानस, उत्तर०	२२	२६१	,, उत्तर०	७०
१८६	,, बाल०	२६५	२६२	,, ,,	,,
१६३	,, ,,	३२	२६३	,, ,,	७१
१६५	,, ,,	३१	२६४	,, अरण्य०	३६
१६६	,, ,,	१०	२६५	,, ,,	,,
१६६	,, अयोध्या०	१२६	२६६	,, ,,	४४
२०५	,, ,,	२३१	२६७	,, अयोध्या०	४७
२०६	,, ,,	२१५	२६६	,, अरण्य०	४७
२०६	रामाज्ञा०	४-४-२	२७०	,, उत्तर०	७३
२१०	,,	३ ४ ६	२७१	,, अयोध्या०	१८०
२११	,,	४-४-६	२७२	,, लंका०	७८
२१२	,,	७-३-३	२७३	,, उत्तर०	११८
२१३	,,	७-३-४	२७५	,, ,,	८६
२१४	,,	३-४-५	२७६	,, बाल०	१४०
२१७	मानस, अयोध्या०	४२	३३८	,, ,,	५
२१८	रामाज्ञा०	७-३-५	३४०	,, उत्तर०	३३
२२०	,,	२-३-७	३४७	,, अयोध्या०	२८१
२२६	,,	३-३-५	३६४	,, बाल०	७
२२७	,,	३-३-६	३६६	,, ,,	६

दोहा०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है		दो०	अन्यत्र कहाँ पाया जाता है	
३७०	मानस, उत्तर०	६५	५२४	मानस, सुंदर०	३७
३७२	,, बाल०	७	५४०	,, अयोध्या०	७०
३८६	,, उत्तर०	७८	५४१	,, ,,	१७४
४०७	,, ,,	३६	५४२	,, अरण्य०	५
४२०	रामाज्ञा०	७-४-२	५४३	,, सुंदर०	४३
४२१	मानस, अयोध्या०	६३	५५०	,, उत्तर०	६८
४३६	,, बाल०	२७४	५५१	,, ,,	,,
४५०	,, ,,	१५६	५५२	,, ,,	६६
४६१	रामाज्ञा०	७-३-१	५५३	,, ,,	,,
४६२	,,	१-३ ३	५५५	,, ,,	१००
४६३	,,	१-३-४	५६१	,, ,,	१०३
४८०	मानस, अयोध्या०	१७२	५६२	,, ,,	,,
४८४	,, लंका०	१६	५६५	,, बाल०	३२
५०३	,, अयोध्या०	१७६	५६७	रामाज्ञा०	६-४-४
५२२	,, ,,	२१५	५६६	,,	३-३ ७
५२३	मानस, अयोध्या०	३०६			

सहायक ग्रन्थ-सूची

नीचे की सूची इस विषय के ऐसे अत्यंत महत्वपूर्ण साहित्य तक ही सीमित है जिसका उपयोग प्रस्तुत लेखक ने इस ग्रंथ को तैयार करने में किया है। इस के अतिरिक्त कतिपय छोटे-मोटे संकेत पादटिप्पणियों में मिलेंगे जो इस सूची में सम्मिलित नहीं किए गए हैं। सहायक हस्तलिखित प्रतियों का किंचित पूर्ण परिचय पुस्तक में अन्यत्र दिया गया है, अतएव उन का परिचय न दे कर अन्यत्र दिए गए परिचय का स्थान संकेत मात्र यहाँ किया गया है। मुद्रित पुस्तकें प्राय प्रसिद्ध हैं, अत उनके परिचय की कोई आवश्यकता नहीं है।

हस्तलिखित प्रतियाँ

कवितावली (सं० १७६७) (हिं० खो० रि० १६२६-२८, नो० ४८२ एच् १) राजकीय पुस्तकालय प्रतापगढ (अवध)। यह प्रति कृति की प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों में सब से प्राचीन है।[1]

कवितावली (सं० १८२०) पं० विनयानद त्रिपाठी, भदैनी, काशी। यह कृति की दूसरी सर्वप्राचीन हस्तलिखित प्रति है। मुद्रित प्रति से इस के पाठ में बहुत अंतर है।[2]

कृष्ण गीतावली (सं० १७६७) (हिं० खो० रि० १६२६-२८ नो० ४८३ एच् १) राजकीय पुस्तकालय, प्रतापगढ (अवध)। यह कृति की प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों में सब से प्राचीन है।[3]

गीतावली (सं० १७६७) (हिं० खो० रि० १६२६-२८, नो० ४८२ आर) राजकीय पुस्तकालय, प्रतापगढ (अवध)।[4]

गीतावली (सं० १६८६ ?) प्रस्तुत लेखक को प्राप्त है। यदि यह वास्तव में कवि के देहावसान के ६ वर्ष बाद की है, तो यह इस कारण विशेष महत्वपूर्ण है।[5]

[1] देखिये ऊपर पृ० २०७

[2] वही, २०७

[3] वही, २०५

[4] वही, १९५

[5] वही, १८८ ९९

जानकी मंगल : (सं० १६३२), (हिं० खो० रि० १६२०-२२, नो० १६८६ ई) कामदकुंज, अयोध्या। प्रति इस समय अप्राप्य है।[१]

जानकी मंगल : (सं० १६१०) डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक, पट्टुवाडांगर, नैनीताल के पास है। प्रसिद्ध से भिन्न स्वतंत्र कृति है।[२]

दोहावली : (सं० १७६७) (खो० रि० १६२६ २८, नो० ४८२ क्यू) राजकीय पुस्तकालय प्रतापगढ़ (अवध)। 'दोहावली' की प्राप्त प्रतियों में यह सब से प्राचीन है।[३]

पदावली रामायण : (सं० १६६६ ?) राम नगर (बनारस स्टेट) के चौधरी छुन्नी-सिंह के पास है। 'गीतावली' के 'पदावली रामायण' पाठ की एक मात्र प्राप्य प्रति है, और 'गीतावली' पाठ की इस से प्राचीन प्रति उपलब्ध नहीं हुई है।[४]

बरवै : (सं० १७६७), (खो० रि० १६२६-२८, नो० ४८२ एम) राजकीय पुस्तकालय प्रतापगढ़ (अवध)। कृति की प्राप्य प्रतियों में यह सब से प्राचीन है।[५]

रत्नावली : (सं० १८६४) पं० भद्रदत्त वैद्यभूषण, बड़ी होली, कासगंज, ज़िला एटा।[६]

रत्नावली लघु दोहा संग्रह : (सं० १८७४) पंडित भद्रदत्तवैद्यभूषण, बड़ी होली, कासगंज, जिला एटा।[७]

रत्नावली लघु दोहा संग्रह : (सं० १८७५) पं० भद्रदत्त वैद्यभूषण, बड़ी होली कासगज, ज़िला एटा।[८]

राम गीतावली : (सं० १६६६) चौधरी छुन्नी सिंह, रामनगर (बनारस स्टेट) के पास है। 'विनय पत्रिका' की राम गीतावली पाठ की एक मात्र तथा 'विनय पत्रिका' के सब से पुरानी प्राप्य प्रति है।[९]

रामचरित मानस : (सं० १६६१) केवल बालकांड है (हिं० खो० रि० १६०१,

[१] देखिए ऊपर पृ० १७८

[२] वही, पृ० १८०-१८१

[३] वही, २०६ तथा परिशिष्ट उ

[४] वही, १९६

[५] वही, ८३

[६] वही, ८३-८४

[७] वही, ८४

[८] वही

[९] वही, १९९-२०४

नो० २२) यह जनककिशोरी शरण, आवशकु ज, वासुदेव घाट, अयोध्या के पास है ।[1]

रामचरित मानस (स० १६४३) केवल बालकाड है। पडित भद्रदत्त वैद्यभूषण, बडी होली कासगज, जिला एटा के पास है ।[2]

रामचरित मानस (तिथि नहीं है) केवल अयोध्या काड है। मुन्नीलाल उपाध्याय, राजापुर, जिला बाँदा के पास है। यह प्रति कवि की हस्तलिखित कही जाती है ।[3]

रामचरित मानस : (१६४३ स०) केवल अरण्यकाड । प० भद्रदत्त वैद्यभूषण, बडी होली कासगज, जिला एटा के पास है ।[4]

रामचरित मानस (स० १६७२) केवल सु दरकाड की दुलही की प्रति जिस का उल्लेख 'मानसांक' के सपादकों ने किया है ।[5]

रामचरित मानस (स० १६६४) केवल सु दरकाड है। प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है ।[6]

रामचरित मानस (स० १६६७) केवल लकाकांड है। प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है ।[7]

रामचरित मानस (स० १६६३) केवल उत्तरकाड है। प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है ।[8]

रामचरित मानस (स० १७०४) काशिराज पुस्तकालय, रामनगर (बनारस स्टेट) में है। पूरे ग्रथ की सब से प्राचीन प्राप्य प्रति है ।[9]

राममुक्तावली (स० १६८६) काशिराज पुस्तकालय, (रामनगर बनारस स्टेट) में है। यह कृति की सब से प्राचीन प्राप्य प्रति है ।[10]

रामलला नहछू (स० १६६५) प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है। कवि के जीवन-काल की है, और मुद्रित प्रति से कुछ भिन्न पाठ की

[1] देखिए ऊपर पृ० १८२ १८५
[2] वही, १८५ १८६
[3] वही, १८६ १८८
[4] वही, १८८ १९०
[5] वही, १९०-१९१
[6] वही, १९१ १९२
[7] वही, १९२ १९३
[8] वही, १९३ १९४
[9] वही, १९४ १९५
[10] वही, २०२ २०३

है। प्राप्त प्रतियों में सब से प्राचीन है।[1]

रामाज्ञा प्रश्न : (सं० १६५५) (हिं० खो० रि० पंजाब १६२२-२४, नो० ४८२ ई) प्राप्ति स्थान अनिर्दिष्ट है। कवि-हस्तलिखित कही जाती है।[2]

रामाज्ञा प्रश्न : (सं० १६८६) (हिं० खो० रि० १६०० नो० ७) काशिराज पुस्तकालय, रामनगर (बनारस स्टेट) में है। पाठ का नाम "रामायण सगुनौती" है।[3]

विनय-पत्रिका : (सं० १६०६) प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है। पाठ का नाम "राम गीतावली विनय पत्रिका" है।[4]

शूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा : (सं० १८७०) पं० भद्रदत्त वैद्यभूषण, बड़ी होली, कासगंज, ज़िला एटा के पास है।[5]

सतसई : (सं० १६०३) प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुई है।[6]

प्रकाशित ग्रंथ

अध्यात्म रामायण : संस्कृत मूल तथा मुनिलाल द्वारा हिन्दी अनुवाद, गीताप्रेस, गोरखपुर (सं० १६८६)।

इन्डेक्स वर्बोरम अव् दि तुलसी रामायण : डॉ० सूर्यकांत शास्त्री कृत, पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर (सन् १६३७)।

इम्पीरियल गजेटियर अव् इंडिया : जिल्द २ (नवीन संस्करण), क्लैरेन्डन प्रेस, ऑक्सफर्ड (सन् १६०८)।

इस्त्वार द ला लितरात्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी : गार्सां द तासी कृत, द्वितीय संस्करण, तीन जिल्दों में, अदोल्फ लाबीत, पेरिस (सन् १८७०-७१)।

एन्साइक्लोपीडिया अव् रिलिजन ऐन्ड एथिक्स : हेस्टिंग्ज़ द्वारा संपादित, टी० ऐन्ड टी० क्लार्क, एडिनबरा (सन् १६२१)।

[1] देखिए ऊपर पृ० १७३-१७५
[2] वही, १७६-७७
[3] वही, १७८
[4] वही, २००
[5] वही, ८२
[6] वही, १९५

कवितावली चपाराम मिश्र की टीका सहित, इडियन प्रेस प्रयाग (स० १९६०)।

कवितावली रामायण बैजनाथ कुर्मी की टीका सहित, चतुर्थ सस्करण, नवलकिशोर प्रस, लखनऊ (सन् १९१२)।

गज़े ग्यर अव् दि एटा डिस्ट्रिक्ट ई० आर० नीव, आई० सी० एस० द्वारा सपादित, यू० पी० गवर्नमेंट प्रस, इलाहाबाद (सन् १९११)।

गज़ेटियर अव् दि एन० डबल्यू० पी जिल्द १ (बु देलख ड) ई० टी० ऐट किंसन, बी० ए० द्वारा सपादित, एन० डबल्यू० पी० गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद (सन् १८७४)।

गज़ेटियर अव् दि एन० डबल्यू० पी० जि द ४, (आगरा डिवीजन) भाग १, ई० टी० ऐटकिंसन, बी० ए० द्वारा सपादित एन० डबल्यू० पी० गवर्नमेट प्रस, इलाहाबाद (सन् १८७६)।

गजेटियर अव् दि बनारस डिस्ट्रिक्ट एच० आर० नेविल, आई० सी० एस० द्वारा सपादित, यू० पी० गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद (सन् १९०९)।

गज़े टियर अव् दि बादा डिस्ट्रिक्ट डी० एल० ड्रेक ब्रोकमेन द्वारा सपादित, यू० पी० गवर्नमेट प्रेस, इलाहाबाद (सन् १९०९)।

गीतावली, कृष्ण गीतावली और विनय पत्रिका भागवतदास खत्री द्वारा सपादित, सरस्वती यत्रालय, काशी में मुद्रित (स० १९६३)।

गोस्वामी तुलसीदास डॉ० श्यामसु दर दास और डॉ० पीतांबरदत्त बड्थ्वाल द्वारा लिखित, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी० इलाहाबाद (सन् १९३१)।

घट रामायण तुलसी साहिब कृत, बलवेडियर प्रस, इलाहाबाद (सन् १९१६ १७)।

तुलसी के चार दल सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए० द्वारा लिखित, इण्डियन प्रेस, प्रयाग (सन् १०३५)।

तुलसी-ग्रथावली (तीन भागों में) प० रामचद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन तथा बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा सपादित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (स० १९८०)।

तुलसी दर्शन • डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र कृत, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

(सन् १६३८)।
तुलसीदास और उनकी कविता : रामनरेश त्रिपाठी लिखित, हिंदी मंदिर, प्रयाग (सन् १६३७)।
तुलसीदास कृत अयोध्याकांड : ('राम चरित मानस' का) राजापुर की प्रति से मुद्रित, स्व० लाला सीताराम द्वारा संपादित, किशोर ब्रदर्स, इलाहाबाद (सन् १६६८)।
तुलसी सतसई : बिहारीलाल चौबे द्वारा संपादित, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता।
तुलसी संदर्भ : प्रस्तुत लेखक कृत, विवेक कार्यालय, प्रयाग (सन् १६३५)।
थियॉलॉजी अव् तुलसीदास : रेव० जे० एन्० कारपेंटर, डी० डी० कृत, क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी, मद्रास (सन् १६१८)।
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता : रणछोर पुस्तकालय, डाकौर (सं० १६६०)।
प्रसन्न राघव नाटक : गोविन्द देव शास्त्री, काशी (सन् १८६८)।
भक्तमाल : नाभादास कृत, प्रियादास की टीका तथा सीताराम शरण भगवान प्रसाद 'रूपकला' की टिप्पणियों सहित। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (सन् १६२६)।
भविष्य (महा) पुराण : मूल संस्कृत वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई (सं० १६६७)।
महा नाटक : हनुमान कृत ('हनुमन्नाटक' नाम से प्रसिद्ध) कालीकृष्ण बहादुर, कलकत्ता, द्वारा अंग्रेज़ी अनुवाद सहित संपादित। (१७६२ शाके)
मानस-मयंक : शिवलाल पाठक कृत, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर (सन् १६२०)।
मानस हंस : यादवशंकर जामदार कृत, डा० केशव लक्ष्मण नातरे द्वारा हिंदी में अनूदित। नागपुर (सन् १६२६)।
मिश्रबंधु विनोद : स्व० पं० गणेश बिहारी मिश्र, रावराजा डॉ० श्याम बिहारी मिश्र, तथा रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र द्वारा लिखित, भाग १-२-३, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ (सं० १६६५)।
मूल गोसाईं चरित : वेनीमाधवदास कृत, गीता प्रेस, गोरखपुर (सं० १६६६)
मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिन्दुस्तान : सर जॉर्ज ए० ग्रियर्सन कृत,

एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल, कलकत्ता (सन् १८८६)।
रामचरित मानस : गीता प्रेस, गोरखपुर, (सं० १९९७)।
रामचरित मानस : रामनरेश त्रिपाठी कृत टीका सहित, हिन्दी मंदिर, प्रयाग (सं० १९९२)।
रामचरित मानस : विजयानंद त्रिपाठी द्वारा संपादित, भारती भंडार, काशी, (सन् १९३७)।
रामचरित मानस : पं० सुधाकर द्विवेदी, बाबू राधाकृष्णदास, डॉ० श्यामसुन्दर दास, बाबू कार्तिक प्रसाद तथा बाबू अमीर सिंह द्वारा संपादित, इंडियन प्रेस, प्रयाग (सन् १९०२)।
रामचरित मानस : रामकिशोर वकील द्वारा संपादित, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (सन् १९२५)।
रामायण अव् तुलसीदास ऑर दि बाइबिल अव् नॉर्दर्न इंडिया : जे० एम० मैक्फी, एम० ए०, पी एच्० डी० कृत, टी० एंड० टी क्लार्क, एडिनबरा (सन् १९३०)।
रामायण अव् तुलसीदास : एफ०एस० ग्राउस द्वारा अनूदित, राम नारायणलाल पुस्तक-विक्रेता, इलाहाबाद, छठा संस्करण (सन् १९२२)।
रामायण : रामचरण दास की टीका सहित, तृतीय संस्करण, नवल किशोर प्रेस लखनऊ, (सन् १९२४)।
वाल्मीकि रामायण : मूल पाठ तथा चंद्रशेखर शास्त्री की टीका, सस्ती पुस्तक माला, काशी।
शिवपुराण भाषा : शिवसिंह द्वारा अनुवादित, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ (सन् १९१५)।
शिवसिंह सरोज : शिवसिंह सेंगर कृत, रूपनारायण पांडे द्वारा संपादित, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, सप्तम संस्करण (सन् १९२६)।
शुकोक्ति सुधासागर : रूप नारायण पांडे द्वारा श्रीमद्भागवत का हिंदी में शब्दानुवाद। पांडुरंग जावजी, बंबई (सं० १९८७)।
श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी : शिवनंदन सहाय कृत, बिहार स्टोर, आरा (सन् १९१६)।
षोडस रामायण संग्रह : गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बंबई, (सं० १९७७)।
एकेच अव् हिन्दी लिटरेचर : ई० ग्रीव्ज, लिखित, क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी फॉर इंडिया (सन् १९१८)।

हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज रिपोर्टें : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित सन् १९००, १९०१, १९०२, १९०३, १९०४, १९०५, १९०६-०८, १९०९-११, १९१७-१९, १९२०-२२, १९२३ २५, और १९२६-२८ की रिपोर्टें ।

हिंदी नवरत्न : स्व० प० गणेश विहारी मिश्र, रावराजा डॉ० श्यामविहारी मिश्र और रायबहादुर प० शुकदेव विहारी मिश्र कृत, तृतीय संस्करण, गगा ग्रथागार, लखनऊ (स० १९९१) ।

पत्र-पत्रिकाएँ

अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन : चौबीसवाँ वार्षिकोत्सव अधिवेशन, इन्दौर, निबधमाला, स्वागत समिति, इन्दौर ।

इंटरनेशनल ओरियंटल कॉंग्रेस, वेन, प्रोसीडिंग्स : सन् १८८९ ।

इंडियन एंटीक्वेरी : सन् १८९३, १९१२, १९१३ ।

एशियाटिक रिसर्चेज : सन् १८३१, जिल्द १६ ।

एशियाटिक सोसाइटी अव् बगाल, प्रोसीडिंग्स : सन् १८७६ ।

कल्याण : मानसाक स० १९९५ ।

जर्नल अव् रायल एशियाटिक सोसाइटी : सन् १९०३, १९०७, १९१३, १९१४ ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका : जिल्द ३, ९ प्राचीन सस्करण, तथा जिल्द ७, ९ नवीन सस्करण ।

मर्यादा : सन् १९१२ ।

माधुरी : जिल्द ७, भाग २; जिल्द ८, भाग १; जिल्द १२, भाग २; जिल्द १३, भाग ३ ।

विशाल भारत : जिल्द ११ तथा २३ ।

वीणा : सन् १९३८ ।

सनाढ्य-जीवन : तुलसी स्मृति अक, सन् १९३८ ।

सरस्वती : जिल्द ११, भाग १, जिल्द १९-२०, १३ भाग २, जिल्द २७ भाग २ ।

सुधा : जिल्द ६, भाग २ ।

हिन्दुस्तानी : सन् १९३२, १९३३, १९३४, १९३७, १९३९ ।

नामानुक्रमणिका[1]

संख्याएँ पृष्ठों की हैं, पाद टिप्पणी के पृष्ठों के पूर्व 'पाठ' लिखा हुआ है।

[1] कवि और कथा के पात्रों के नामों के अतिरिक्त समस्त नामों की अनुक्रमणिका